

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj )**

Students can retain library books only for two weeks at the most

<b>BORROWER'S No</b>	<b>DUE DATE</b>	<b>SIGNATURE</b>

# KĀVYAPRAKĀŚA

OF

## MAMMATĀCĀRYA

WITH ĀDARŚA SANSKRIT

COMMENTARY OF  
MAHESWARĀCĀRYA

WITH AN INTRODUCTION  
IN HINDI



By

PT T C UPRAITI

Vol. 1.

1985

PARIMAL PUBLICATIONS

DELHI

INDIA

*Published by*  
Parimal Publications  
27/28 Shakti Nagar  
DELHI-110007  
INDIA

© *Publishers*

*Edition 1985*

(The text portion with commentary has been taken from the edition, published under Calcutta Sanskrit Series 1936)

*Price* Rs 250 00 (Two Vols)



*Printed at* Laxmi Composing Agency Babarpur main Road  
Delhi & Kwality offset Printing Press, Indira Market Naraina,  
New Delhi-110028.

परिमल सस्कृत ग्रन्थमाला सट्या-१६

श्रीमम्मटाचार्यप्रणीतः

# काव्यप्रकाशः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यकृत  
'आदर्शाध्यसस्कृतव्याख्यया'  
समुद्भासित



सूचिकालेखक

प० धानेशचन्द्र उग्रंती, साहित्याचार्य

प्रथमो भाग

१६८५

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली भारत



प्र . . .

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८ शक्ति नगर

दिल्ली-११०००७

(भारत)

© प्रकाशक

संस्करण १९८५

मूल्य . २५०.०० (२ भाग)

(ग्रन्थ का मूल भाग एवं संस्कृत व्याख्या कलकत्ता संस्कृत सीरिज के अन्तर्गत  
पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ से साभार गृहीत है)

मुद्रक . भूमिकाभाग—लक्ष्मी कम्पोजिंग एजेंसी बाबरपुर मेन रोड दिल्ली  
तथा मूलग्रन्थ—कवालिटी आफसेट प्रिंटिंग प्रेस, इन्दिरा मार्केट, नारायणा  
नई दिल्ली ११००२८

## काव्यप्रकाशः

यस्या वृषाकटाक्षेण स्पन्दते निष्क्रिय जगत् ।  
 ता वन्दे मानस याचा, रमणीयामव्यभिचारात् ॥१॥  
 वाग्देवताऽन्तरस्य मन्मदस्य कृताविह ।  
 भूमिकाकल्पनाऽनल्प जल्पनं विभाति मे ॥२॥  
 प्रवास सहसा योऽप्यमल्पज्ञस्य ममोऽपि यत् ।  
 सेवाधिकार एवाय मन्यता धीधनैरिह ॥३॥

सम्भूत वाङ्मय भारत का ही नहीं, अपितु यह विश्व की एक अमूल्य निधि है। इस वाङ्मय के अनन्त रत्नों की आभा से कभी यह निखिल भूमण्डल प्रकाशित था, जिनकी मन्द मन्द कुछ धूमिल किरणें आज भी सुदूर देश देशान्तर की आलोकित पर रही हैं। भारत ही प्राधान्येन इस अमृत कल्प-वाङ्मय की उत्तम भूमि रही है, क्योंकि इसी के अरुण प्रकाश से प्रकाशित प्राञ्जल प्राङ्गण में महर्षियों ने सर्वप्रथम सामगान किया था। शनं शनं इसके स्वर महाकाश के मध्य गूँजते हुए, यत्र तत्र संचर ही दिव्य सन्देश देते रहे।

परमपिता परमेश्वर के विश्वासस्वरूप वेद इसी वाङ्मय की दिव्य विभूति हैं, जहाँ से निरन्तर निगमागम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। वेद ही आर्य जाति के अमर काव्य है। जिनके विषय में कहा है—“पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीयंति” संस्कृत वाङ्मय सम्बन्धी आगम निगमादि शास्त्र-प्रस्थान व सिद्धांतों की जितनी भी शाखा प्रशाखाएँ हैं, वे सभी इसी वेद कल्पन के ही विवर्त हैं।

मनुष्य जीवन के समृद्धि-सुख-शान्ति व समुन्नत करने की जितनी भी विचार्यें हैं, वे सब वेदों में वर्णित हैं। धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों का सम्पादन कराने वाले सुन्दर साधनों का यहाँ मनोरम वर्णन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवनोपयोगी किसी भी विद्या या कला का कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसका यहाँ वर्णन न किया हो। पुरुषार्थ चतुष्टय सम्बन्धी जिन उपायों का वेद में वर्णन पाया जाता है, वे शास्त्र सरणि में

परिष्कृत विधे हुए प्रस्थान अनिगहन मूढमातिमूढम उहापोह में परिपूर्ण, व तर्क कर्कश होने से अत्यन्त दुर्बुद्ध हो गये हैं, इस कठिन मार्ग से लौकिक पुरुषार्थ विवर्ग—धर्म-धर्म-धर्म, तक प्राप्त करना ही जहाँ कठिन है, वहाँ परम पुरुषार्थ मोक्ष तब की पहुँचने की तो फिर चर्चा ही क्या ?

सुकुमारमति भी अनायास ही चारों पुरुषार्थों की जिम्मे प्राप्त कर सकें, ऐसे वाट्मय के इस वलित अण का नाम साहित्य शास्त्र, या काव्यमार्ग है। पुरुषार्थ चतुष्टय के सरलतया गम्पादन में यही काव्यमार्ग अत्यन्त उपादेय प्रतीत होता है। अन्य शास्त्रीय उपाय इसकी अपेक्षा कठिन, भ्रमसाध्य व दुर्बुद्ध होने के कारण सुकुमार मतिवालों के अनुष्ठान के योग्य नहीं है, वग एव काव्य की उपादेयता को ध्यान में रखते हुए साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कविराज का यह कथन भी युक्तियुक्त ही है—

चतुर्वर्गफलप्राप्ति सुखादल्पधियामपि ।

काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूप निरूप्यते ॥

“मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की तरह वाचरण करना चाहिए, न कि लङ्काधिपति रावण की तरह” इस तरह कृत्य में प्रवृत्ति तथा अकृत्य से निवृत्ति कराने के लिए काव्य के कान्तासम्मित उपदेश सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि परिनिष्ठित प्रौढ़ बुद्धि वाले मने ही बड़े अघ्यवसायपूर्वक वेदादिशास्त्रों से उक्त फल को कथञ्चित् प्राप्त कर लें, पर सरल तथा सुकुमार मति वालों के लिए तो यह कार्य अत्यन्त ही दुष्कर है। फिर अब एक सरल मार्ग का निर्माण उक्त गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए हो चुका है, तो कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो दुष्कर-गहन व कठिन मार्ग की शरण लेगा। कदवी औषधि के द्वारा शमनीय रोग यदि मीठी औषधि से भी शान्त हो जाता है, तो कहना न होगा कि रोगियों की प्रवृत्ति मीठी औषधि के लिए ही होगी।

दसीलिए अग्नि पुराण ने भी ऊँचे स्तर में काव्य की उपादेयता का उद्घोष किया है—

नराख दुर्लभ लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।

कविख दुर्लभ तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥

सर्वप्रथम इस सत्सार में प्रकृष्टसत्त्वसमनस्युत मानव जीवन ही मिलना मुश्किल है, जन्मजन्मान्तरो के परिणत पवित्र सत्कारों के परिपाकजन्य पुण्यसञ्चय के द्वारा ही प्राणी मानव जीवन को प्राप्त करता है, उसमें भी

मानवता की गम्पादिका विद्या (शास्त्रज्ञान) को प्राप्त करना और भी कठिन है। अध्ययन भी एत प्रकार का तप माना जाना है, अनेक प्रकार के समय नियमों का पालन कर कठिन परिश्रम में शास्त्रों का चिन्तन करते हुए विद्यार्थी विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती की उपासना करता है, तब किसी प्रकार विद्वान् बनता है।

अतः विद्या भी सर्वम धारण सुलभ नहीं है, इसलिये इस दुर्लभ कहा है। किसी प्रकार विद्या प्राप्त भी हो जाय तो कवि बनना तो और भी कठिन है, साधारण वृत्त पाद तुक् आदि का निश्चयानुसार पद्यव्ययन कार्य ही जब मुश्किल है, तो फिर कवित्वशक्ति (प्रतिभा) के विषय में तो कहना ही क्या, अर्थात्—कवित्वशक्ति तो पूर्वजन्म के असाधारण परिपक्व सुमस्कारों के परिणामरूप कोई विचित्र ही प्रसाद है, जो जनगामान्य के लिए सुलभ नहीं है।

इस पक्ष में ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति संबंधी युक्तियुक्त मालूम पड़ती है कि प्रतिभाशक्ति सम्पन्न महाकवि तो अङ्गुलिगणनीय दो तीन ज्यादा न ज्यादा पाँच छे ही होंगे। “येनाति विचित्र कविपरम्परावाहिनि ससारे कालिदास प्रभृतयो द्विषा प्रञ्चया वा महाकवयो इति गण्यते।”

कवि अपने लोकोत्तर प्रतिभा के द्वारा नीरस, प्रस्तरप्राय इस जगत् के पदार्थों को सरस तथा सजीव बना देता है किञ्च अपनी अलौकिक कविता द्वारा ही प्रपञ्चाभिमुख मानव के भोगावगम के निमित्त प्रवृत्ति निवृत्तिस्वरूप उभयविध मार्गों को प्रशस्त कर, परमपुरुषार्थ के उस महनीयप्रसाद के प्राङ्गणाभिमुख बना देता है। इसी हित को दृष्ट करके मनीषियों ने काव्यमार्ग को साहित्य कहा है। द्रुम शब्द की व्युत्पत्ति में भी यही अर्थ प्रतीत होता है—यथा—“हितेन निरतिशय प्रेमास्पडेन रसेन सहित इति। अथवा हित-पिहित आबृत सन्निहित (सत्य) यस्य तत्सहित तस्य भाव साहित्यम् उक्तञ्चापि हिरण्येन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।” इत्यादि।

यह साहित्य सदुपदेश का निधायन या शासक होने के कारण शास्त्र भी है, अतः यह भी काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। उपमेय—(प्राप्तव्य परमपुरुषार्थ) की प्राप्ति का मनोरम साधन होने के कारण ही समीत व साहित्य की वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के दो स्तनों की तरह माना है, जिनसे अमृतवाड्मघु निस्पन्दन होता रहता है, जिसका पान कर मनुष्य अमर हो जाता है—

समीतमथ साहित्य सरस्वत्या स्तनद्वयम्।

एकमापातमधुरमन्यदालोचनामृतम् ॥१॥

सगीत जहाँ आपातन श्रवणमात्र से रमणीय है, वहाँ साहित्य-आलोचना से चर्चित होकर आस्वादातिरेक समर्पण करता है ।

मच भी यही है कि किसी साहित्य की सुन्दर कसौटी आलोचना ही है, बिना आलोचना के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है, और न उसके दोषों का ही ठीक-ठीक पता चलता है । गुण दोषों के बिना जाने काव्य के वास्तविक आनन्द का आस्वादन नहीं हो सकता है । इसलिए काव्य के वैशिष्ट्य को समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है । आलोचक ही काव्य के मर्म को समझने में सफल होता है, कभी-कभी तो आलोचक कुछ ऐसे भावों को समझाना है, जो कवि की दृष्टि से भी ओझल रहते हैं ।

इस प्रकार “आलोचना” भी सस्कृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, आलोचक का पद भी कवि से कथमपि न्यून नहीं है । न सस्कृत साहित्य में इसकी उपेक्षा ही है, आलोचक की अपेक्षा रखते हुए सस्कृत साहित्य के भान्य आचार्य राजशेखर ने तो आलोचनाशास्त्र को वेद का सप्तम अङ्ग माना है ।

“उपकारस्त्वादितङ्कार सप्तममङ्गम् इति यायावरीयः” अत्रे च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः । यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सलाया समान वृक्ष परिप्लव्जते ॥

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनशनन्नभ्यो अभिचाकशीति ॥१॥

राजशेखर की सम्मति में बिना अतकार शास्त्र के जाने वेद के अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह ही हो नहीं सकता । इस प्रकार यह शास्त्र वेदाङ्ग के समान ही उपयोगी तथा उसी के समकक्ष माना जाता है ।

उक्त “द्वा सुपर्णा सयुजा” इत्यादि मन्त्र में ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीन घनादि अनन्त मौलिक तत्त्वों का वर्णन है । यहाँ इन तीन तत्त्वों का निरूपण अपने नामों से न बहकर “रूपकातिशयोक्ति” द्वारा दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित किया गया है । प्रकृति एक विशाल पिप्पल वृक्ष के रूप में है । ईश्वर और जीव दोनों सुन्दर पक्षी वाले और साथ-साथ रहने वाले मित्र रूप पक्षी हैं । वे दोनों पक्षी समानवृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित हैं । उन दोनों में से एक-जीव—उस वृक्ष के फलों को खाता है । अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार ससार में सुखदुःखरूप फलों का भोग करता है, और दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ, ससार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है । यही इस मन्त्र का भावार्थ है ।

वैदिक ऋषियों की रूपकातिशयोक्ति की यह कल्पना अत्यन्त रमणीय है । इसके साथ “सुपर्णा सयुजा, सलाया, समान, परिप्लव्जते”, के सुन्दर अनुप्रास

ने तो सोने में सुगन्ध का काम किया है। "अनन्यनन्य अभिर्वाक्येति" में नकारका अनुप्रास माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर रहा है, "कलिका" मोग न करते हुए भी अपने तेज (मोदय) को प्रकाशित कर रहा है, यह विभावना अलंकार का सुन्दर उदाहरण है, न केवल अलंकार ही उक्त मन्त्र को अलंकृत कर रहा है, अपितु सयुजा, सखाया ये विशेषण पदस्तोत्र ध्वनि के भी अभि व्यञ्जक हैं। इन पदों से जीवात्मा तथा परमात्मा की निरन्तरता एवं सच्चिदरूपता की भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार के मन्त्रों में साहित्यशास्त्र के अनेक मौलिक तत्वों का सुन्दर समावेश हुआ है।

इसीलिए वेद से लेकर व्यवहार तक साहित्यशास्त्र या अन्तरा शास्त्र भी उतना ही उपयोगी है, जितने अन्य शास्त्र। अतः राजशेखर की यह उक्ति भी अत्युक्ति नहीं है कि—वाक्य सभी विद्याओं का विश्राम घाम है कवि वृत्तना प्रसूत होते हुए भी हितोपदेशक होने से वह शास्त्र है।

"सर्वत विद्यास्थानैकायतन पञ्चदश वाक्य विद्यास्थानम्" इति, यायावरीय। गद्यपद्यमन्त्रात् कविधर्मम्यात् हितोपदेशक/वाच्य, तद्धि शास्त्राण्यनुधावति।"

अलङ्कार इस नाम का निदान—

आलोचना के लिए सम्भूत साहित्य में अनेक नामों का प्रचलन प्राचीन काल से होना आया है। इसका प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' प्रतीत होता है, वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं के भीतर क्रियाकल्प को भी एक विशिष्ट कला माना है। क्रिया का अर्थ है वाक्यग्रन्थ और कल्प का अर्थ है विधान।

इस प्रकार वाक्य के विधायकशास्त्र होने में इसका यह नाम सार्थक ही है। पर यह नाम आगे प्रसिद्धि नहीं पा सका।

इसी प्रकार दशम शती के प्रारम्भ में राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इसका नाम साहित्य विद्या रखा।

'पञ्चमी साहित्य विद्या' इति यायावरीय, सा हि चतसृणामपि विद्याना निष्पन्द" इति।

इसकी चारों वेदों का सारभूत माना है। परन्तु 'साहित्यविद्या विद्या' यह नाम भी आगे प्रचलित न हो सका।

वाक्य के सौन्दर्य का परीक्षण करने वाले इस आलोचनाशास्त्र का संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम 'अलङ्कारशास्त्र' है, और इस आलोचना या काव्य की सौन्दर्य समीक्षा के अभिज्ञ को "आलङ्कारिक" कहा जाता है। यद्यपि यह शास्त्र केवल अलङ्कार पर ही विचार न करके, वाक्य की सभी

विद्याभो, गुण-दोष-रस-रीति व ध्वनि आदि पर प्रकाश डालता है, अलङ्कार तो काव्य के अनेक शोभाघायक तत्वों में से अन्यतम है, वह भी स्वरूपाघायक न होकर, केवल उत्कर्षाघायक ही माना है, 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' दण्डी के ये वचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं। पर यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। "अलक्षियते अनेन इति अलङ्कार" इस सन्धीय अर्थ में नहीं हुआ है। अर्थात् काव्य केवल उत्कर्षाघायक तत्वों के लिए न होकर "अलक्षियते इति" या "अलङ्कुतिरङ्कार" इस व्यापक अर्थ में यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् काव्य के यावत् सौन्दर्याघायक तत्व। अलङ्कार को इस व्यापक अर्थ में लेने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलङ्कार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का बंधन भूषण मात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है—“सौन्दर्यमलङ्कार ॥२॥” अर्थात् सौन्दर्य ही अलङ्कार है। काव्य में सौन्दर्य के आघातक जितने भी तन्त्र हैं, उन सबका सामान्य अभिधान “अलङ्कार” है। फलतः “अलङ्कारशास्त्र” का अर्थ है, काव्य के सौन्दर्याघायक तत्वों का प्रतिपादक शास्त्र, इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अलङ्कार शब्द के सौन्दर्यपरक अर्थ पर टिप्पणी करते हुए काव्यालङ्कार सूत्रों के व्याख्यातार श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूषाल ने भी पूर्वोक्त पक्ष की ही पुष्टि की है। “यद्यपि काव्य साह्य सौन्दर्यात्, तद्दोषगुणालङ्कारहानो-दानाभ्याम् इति विन्यासाऽन्तरे लाघव भवति तथापि योऽयमलङ्कार काव्य ग्रहणहेतुस्त्वेनोपन्यस्यते तद्धृत्पादकवाञ्छास्त्रमप्यलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यते, इति शास्त्रस्यालङ्कारत्वेन प्रतिष्ठि प्रतिष्ठिता स्यादिति सूत्रयितुं विन्यास कृत—काव्यप्राह्यम् अलङ्कारादिति ॥२॥

अथवा—“प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति” इस न्याय के अनुसार रस-रीति-दोष-गुणों का प्रतिपादक होने पर भी समक उपमादि अलङ्कारों की प्रचुरता के कारण इन्हीं से काव्य का व्यवहार होने लगा, अर्थात् अलङ्कारों की प्रधानता के कारण उस समय अलङ्कार ही काव्य व्यवहार के प्रयोक्ता हो गये, “काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्” इस ध्वनिवाक्य को उचित से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अलङ्कारों में ही काव्य व्यवहार की प्रयोज्यता है।

साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था, यद्यपि ध्वन्यमान अर्थ, रस, रीति आदि भी काव्य के जीवनाघायक तत्व विद्यमान थे, परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य के पहले उन तत्वों की स्पष्ट व्याख्या नहीं थी, अतः भट्टोद्भट्ट, रघु, दण्डी आदि प्राचीन अलङ्कारिक ध्वन्यमान अर्थों की भी काव्य का उपस्कारक मानकर, काव्य में अलङ्कारों की

ही प्रधानता मानते थे, और अलङ्कार ही नाट्य व्यवहार का प्रयोजक मानते थे। जब अलङ्कार ही एकमात्र काव्य का अर्थ है तो उसके विवेचन या प्रतिपादनशास्त्र का नाम भी "अलङ्कारशास्त्र" होना स्वाभाविक है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में करीब नवम शतक के मध्य भाग का बाल स्वर्णाश्रम से उल्लेखनीय है। साहित्य की इस शुभ बेला में अनेक प्रान्तिशायी परिवर्तन हुए। यादव की गहरी मीमांसा करने पर ध्वनि तत्त्व का आविर्भाव हुआ, इसका श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। ये ही ध्वनि मार्ग के प्रवर्तक हैं। उन्होंने ध्वनि तत्त्व की प्रतिष्ठा करके वाच्य संग्रह में एक नई धारा बहाई, जो ध्वनि सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है, और इसका तात्त्विक विवेचन उन्होंने अपन युगान्तकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में किया, इसी ग्रन्थ में उन्होंने बड़े सरम्भ के साथ प्रतीयमान अर्थ की वाच्य में प्रत्यक्ष सत्ता सिद्ध की।

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा काव्य में प्रतीयमान तत्त्व को वाक्याङ्गों में पृथक् स्वतन्त्र कर दिया। यही से काव्याङ्गों का उचित मूल्याङ्कन हुआ, विशेषण इस अलङ्कार व गुणों को उनके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया अवकाव्य में अलङ्कार व अलङ्कार्य के विषय में भी विशेष विवेचन होने लगा। फलतः अलङ्कार्य को काव्यसाम्राज्य के उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर अलङ्कारों को उनका उत्कर्षाधायक अङ्ग माना गया।

आलोचन धीरे-धीरे काव्य के इस महत्वपूर्ण तत्त्व से परिचित होने लगे ।  
ध्वनि वी काव्य की आत्मा के रूप में उदघोषणा हो गई ।

तदनन्तर ध्वनि के व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी प्रौढ़ व्याख्या द्वारा ध्वनि प्रामाद की चहारदीवारी को भङ्गवूत किया, मम्मट ने अपने “काव्यप्रवाश” में सदा के लिए इस सिद्धान्त की पूर्णरूप से स्थापना की, इसी से इनकी ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य की पदवी मिली।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं, जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" छवि सम्प्रदाय का निरान्त परिपोषक प्रौढ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने छविकार को आलङ्कारिकी की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है।

“ध्वनिकृतामालङ्कारिक सरणि व्यवस्थापकत्वात् ।”

इस प्रकार उत्तरीतर साहित्य क्षेत्र में गहरी छान बोल होने लगी। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि अनेक काव्य तत्वों का उदय होने लगा। ध्वनि





हुआ, इस आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता वक्रोक्तिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्धर थे। इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा व प्रसर मेधा के द्वारा काव्य के मूल सिद्धान्तों का सव्या नवीनरूप में पुनराख्यान किया, और ध्वनिमिद्धान्त के उद्भावक आनन्दवदन की भावभौम प्रतिष्ठा को लक्ष्य कर—

‘निर्मलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कश्चिदपि साम्योपपत्तिरित्यल-  
मनुचितविषयचर्चायाचातुर्यचापल्येन ।’

अर्थात्—भाव और अभाव के समान उन दोनों ‘क्षिप्ती हस्तावतान्’  
इत्यादि पद्य में (तामी तथा सरागिनी के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों  
के साम्य का किसी प्रकार भी उपादान नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित  
विषय के समवन में चातुर्य दिखाने का (ध्वन्यालोककार) का प्रयत्न व्यर्थ  
है। इसी साहसपूर्ण मौलिक विवेचन व कारण कुन्धर का वक्रोक्ति सिद्धान्त  
केवल सिद्धान्त न रहकर सम्प्रदाय बन गया। पर ध्वनिवादी आचार्यों ने  
आगे इस पर विशेष ध्यान न देकर केवल ‘वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्’ कह कर  
ही मन्तोष कर लिया। उनके बाद ग्यारहवीं शती के मध्य में कश्मीर  
निवासी आचार्य महिमभट्ट ने द्वारा ध्वनि का प्रबल विरोध हुआ। महिमभट्ट  
मूलतः नैयायिक थे, इन्होंने ‘व्यक्तिविवेक’ नामक अपने प्रौढ ग्रन्थ में ध्वनि  
तथा व्यञ्जनावृत्ति का बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन किया। इनका कहना  
था कि ध्वनि नामक कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक  
प्रकार है। इसी ही मिडि र किए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य  
का प्रदर्शन किया है। मङ्गलाचरण में ही वे ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य बताने  
हुए लिखते हैं कि—

अनुमानेऽन्तर्भाव सवर्त्येव ध्वने प्रकाशयितुम् ।

व्यक्तिविवेक कुशने प्रथम्य महिमा परा वाचम ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में ही अन्तर्भाव दिखलाने के लिए  
महिमा नामक आचार्य परा वाचो की प्रणाम कर व्यक्तिविवेक (नामक  
ग्रन्थ) की रचना करते हैं।

इन्होंने आनन्दवदनाचार्य के ध्वनि लक्षण का प्रतिपद खण्डन कर यह  
दिखलाने की चेष्टा की है कि यह ध्वनि का लक्षण तो बन ही नहीं सकता है,  
अपितु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह अनुमान में ही सङ्गत होता है—  
‘एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव सङ्गच्छते नान्यस्य (व्यक्तिविवेक)। इस  
प्रकार ध्वनि के सभी प्रकारों का प्रौढ तर्कों द्वारा खण्डन कर, तृतीय विमर्श में  
‘ध्वन्यालोक’ के ध्वनि सिद्धान्त की कठोर समीक्षा करते हुए, लगभग  
चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर, उसे अनुमान में ही गतार्थ कर दिया।

सचमुच अरानी प्रौढ प्रतिभा ने महिममट्ट ने एक बार तो ध्वनि सिद्धान्त को मंदा के लिए झिटा देना चाहा, और ध्वनि सिद्धान्त के स्थान में अनुमतिवाद को सुप्रतिष्ठित कर देना था।

ध्वनि की प्रतिष्ठा की स्थापना का यह सारा भार मम्मट जैसे महिमाशाली आचार्य पर था, मम्मट ने अनुमितिवादी तथा अन्य ध्वनि-विरोधियों का जब एक बार मुंहनोड़ उत्तर दे दिया, तो फिर ध्वनि के विषय में धागे किसी को विरोध करने का साहस नहीं हुआ। आचार्य मम्मट के बड़े हाथों से ध्वनि सम्प्रदाय की सुप्रतिष्ठा हुई। इसलिए इन्हें ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया।

**मम्मट की कृति -**

अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में “काव्यप्रकाश” मम्मट की सर्वोत्कृष्ट कृति माना जाता है, जिसमें मम्मट काव्य नस्त्रों का समावेश किया गया है। शुद्ध शक्ति के विषय में इनका एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। जिसका नाम “शब्दशक्तिपरिचय” है। इस ग्रन्थ का विषय प्रायः काव्यप्रकाश के द्वितीय उत्तरास में गतार्थ हो जाता है।

भामह का “शब्दार्थो सहितो काव्यम्” वाला काव्यलक्षण काव्यप्रकाश में अधिक विशद, परिष्कृत तथा प्राञ्जल मौलुम पड़ता है। भामह व दण्डी ने न शब्दशक्तिपरिचय का विवेचन किया है, और न रस व ध्वनि का ही प्रतिपादन किया, इसलिए वे आज अलङ्कारशास्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण हैं, मम्मट ने भामह व दण्डी की इस कमी को समझा, और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश में इन सब विषयों का समावेश किया।

यह ग्रन्थ तीन अंशों में विभक्त है कारिका, वृत्ति, तथा उदाहरण, कारिका व वृत्ति के कर्ता एक ही हैं, कारिकाएँ स्वयं मम्मट विरचित हैं, और वृत्तिमात्र भी जिसमें कारिका या सूत्रों की व्याख्या, विषय के विस्तृत विवेचन के लिए है। उदाहरण स्वयं मम्मट के नहीं हैं, वे ग्रन्थ काव्यग्रन्थों से लिए गये हैं। कहीं-कहीं भरत के सूत्रों का भी समावेश किया गया है, “यथा—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति इति” पर जहाँ भी भरत के नाट्यशास्त्र से सूत्र लिये गये हैं, वहाँ “उक्तं हि भरतेन” कहकर उनका निर्देश भी किया गया है।

**कारिका तथा वृत्तिविषयक विवाद—**

काव्यप्रकाश के कारिका तथा वृत्ति के विषय में बहुत से विद्वानों का मत एक नहीं है। कुछ लोग कारिका तथा वृत्ति दोनों के निर्माता पृथक्-पृथक्

मानते हैं। ये श्लोक कारिका भाग के निर्माता भरत को मानते हैं, और वृत्ति-भाग मम्मट द्वारा विरचित मानते हैं।

यह मन बल्लदेशीय विद्वानों का है, जिनमें साहित्यकीमुदी के टीकाकार श्री विद्याभूषण व काव्यप्रकाश व आदर्श टीकाकार श्री महेस्वर हैं। विद्याभूषण ने अपनी साहित्य कीमुदी में दो बार इस बात का उल्लेख किया है—

मम्मटावृत्तिमाधित्य मिता साहित्यकीमुदीम्।

वृत्ति भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यात्॥

इसमें विद्याभूषण ने “काव्यप्रकाश” के सूत्रा को भरत सूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है—

“सूत्राणां भरतमुनीश्वरिणानां वृत्तीनां मितव्युत्पादकृतो ममास्याम्।”

इसी प्रकार काव्यप्रकाश के आदर्श व्याख्या के निर्माता महेस्वर भट्टाचार्य ने भी वृत्तिभाग को ही मम्मट की कृति माना है। कारिका भरतनिमित्त मानी है। उन्होंने “ग्रन्थकृत मरामृशति” इत्यादि उद्धरण करते हुए अपनी आदर्श टीका में लिखा है— ‘ग्रन्थकृत्कारिकाकृद् भरतमुनिरेव तदीय संहितामायासो पारिकाणा दशनात्। न तु वृत्तिकृदेव कारिकाकृत, परामृशतीत्यादिषु सवत्र नामणोगोचित् प्रथम पुरुष निर्देशस्वरसात्, ग्रन्थपाऽस्मद् योगोचितोत्तम पुरुष एव निर्दिश्येत।’

इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिन कारिकाओं की व्याख्या करने जा रहे हैं, उनका बनाने वाला कोई भिन्न भरत मुनि है, जिसके लिए परामृशति यह प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी हुई कारिका की वृत्ति मिलने तो प्रथम पुरुष का प्रयोग नहीं करते। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिका मम्मट की न होकर भरत की है।

कारिका तथा वृत्तिभाग के भिन्न वर्तुल्य स्पष्ट—

पूर्वपक्षियों में कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे विचार करने पर निम्नप्रतीत होती हैं। काव्यप्रकाश व आरम्भ में आये हुए “समुचितेष्ट देवता ग्रन्थकृत् परामृशति” इस प्रथम पुरुष के प्रयोग के आधार पर सूत्र या कारिकाभाष्य को वृत्तिकार से भिन्न की कृति सिद्ध करने का जो उपक्रम किया गया है, वह उपहास्यास्पद ही है। क्योंकि ग्रन्थों में इस प्रकार व अवसरो पर अपने लिए प्रथम पुरुष के प्रयोग की शैली तो मसृष्ट साहित्य की बहुत-समाहत तथा बहुत प्रचलित सामान्य होती है। अविवाश गोग ऐसे प्रगल्भों में प्रथम पुरुष का ही प्रयोग

करते हैं। जैसे—माहिन्द्रदण्डकार कविराज विश्वनाथ ने इसी प्रकार का प्रयोग कर “वाग्देवताया साध्मसुखमाद्यते” लिखा है।

“नागेश कुरुते सुधी” में नागेश ने भी प्रथम पुरुष का ही प्रयोग किया है। सम्बन्धित माहित्य के ग्रन्थकारों की तो यह एक अलङ्कार सी है।

आचार्य कुन्तक ने इसे पुरुष वैचित्र्य प्रयुक्त वक्त्रत्व कहा है—“पुरुष वैचित्र्यप्रबिहित वक्त्रत्र त्रिछते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासि प्रयुञ्जते वक्ष्य वाक्यवैचित्र्यार्थं युष्मादि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति—यथा—अस्मदभाष्यत्रिपर्यंयास्तदि पर द्वेषो न जानाति तम् ॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय “द्वेषो न जानाति” इत्युक्तम् ॥

अर्थात्—पुरुष वैचित्र्यवक्त्रत्व वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पुरुष का मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप अर्थ के साथ विपर्याय का कवि लोग प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि वाक्य के वैचित्र्य के लिए (मध्यम पुरुष बोधक) युष्मद् वाक् अथवा (उत्तम पुरुष बोधक) अस्मद् शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र (प्रथम पुरुष) का प्रयोग करते हैं।

जैसे—यदि आप (राजण) उभ (लोकप्रसिद्ध रामचन्द्र) की नहीं जानते हैं (यह अभिमानवाद कहते हैं) तो यह हमारे (लङ्कावासियों के) दुर्भाग्य में ही है। अर्थात्—हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

यहाँ “स्व न जानासि” हमके स्थान पर “द्वेषो न जानाति” यह प्रथम पुरुष प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार व्यक्तीयवैचकार महिमभट्ट ने भी इसे गुण ही माना है - उनका कहना है कि—“यस्तु क्वचित् कविभिः प्रयुग्यमानो दृश्यते स कर्तृत्व-व्यत्यासो नाम गुण एव न दोषः ।”

कही-कही कवियों के द्वारा प्रयुक्त यह कर्तृत्वव्यत्यास नाम प्रक्रम भेद भी गुण ही होता है।

यदाहु—जैसा कि वही कहा भी है—

प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्व युष्मदस्मदर्थस्य ।

चारुवायान्यन्नारोप्येत गुण स तु न दोषः ॥

अतः इन सब प्रमाणों के आधारों पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वृत्ति तथा कारिका भाग के कर्ता एक ही हैं। यदि मम्मद केवल वृत्तिभाग के ही रचयिता होते तो वे अपने वृत्ति ग्रन्थ के आरम्भ में अवश्य मङ्गलाचरण करते यह सब नहीं किया।

अतः मूल वा मङ्गलाचरण ही वृत्तिभाग का भी मङ्गलाचरण है। इसलिए दोनों भागों को मम्मटाचार्य की ही कृति मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

वाक्यप्रकाश के कर्ता के रूप में साधारणतः मम्मट ही प्रसिद्ध है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ निर्माना वे नहीं हैं, इसमें मम्मट के अतिरिक्त कश्मीर के एक दूसरे विद्वान् का भी इसके समाप्ति करने में हाथ है। दूसरे विद्वान् का नाम "अल्लट" है। अधिकांश टीकाकारों का भी यही मत है। काव्यप्रकाश के अन्त में एक श्लोक दिया गया है। जिससे इस ग्रन्थ की समन्वयात्मक रचना प्रतीत होती है।

द्वयेषां मार्गो विदुषा विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपं प्रतिभासते यत् ।

न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनं हेतु ॥

काव्यप्रकाश के पाचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

“अथ चाऽप्य ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विलङ्घोऽपि सङ्घटनादशादल्लटायते ।”

तात्पर्य यह है कि—किसी कारणवश मम्मटाचार्य इस ग्रन्थ को समाप्त न कर सके तब दूसरे विद्वान् ने इसे पूर्ण किया। परन्तु टीकाकारों ने यह स्पष्ट निर्देश नहीं किया कि कितना अंश मम्मटाचार्य का है और कितने अंश की पूर्ति दूसरे विद्वान् ने की है, और वह दूसरा विद्वान् कौन है जिसने शेष भाग की पूर्ति की है। इन दोनों बातों का स्पष्ट सङ्केत राजनक आनन्द की निदर्शना टीका में मिलता है, जो इस प्रकार है—

कृतं श्रीमम्मटाचार्यवर्यं परिकरावधि ।

ग्रन्थं सम्पूरितं शेषी विधायाल्लटसूरिणा ॥१॥

स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त ही काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना की है, उसके बाद ग्रन्थ का अवशिष्ट अंश “अल्लट” नाम के विद्वान् ने पूर्ण किया। इसी प्रकार की घटना “कादम्बरी” ग्रन्थ के विषय में भी हुई है। वाणभट्ट कादम्बरी के केवल पूर्वार्धभाग की ही रचना कर सके थे। उसके बाद उत्तरार्ध भाग की रचना उनके सुयोग्य पुत्र पुलिन्दभट्ट ने की थी। इसी प्रकार मम्मटाचार्य के इस काव्यप्रकाश की समाप्ति भी अल्लट या अलकसूरि ने की।

इस ग्रन्थ में दश उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः (१) वाक्यस्वरूप, (२) शब्दशक्तिविवेचन (३) शब्दार्थव्यञ्जकता का विवेचन (४) रस व ध्वनि

भेदों का वर्णन (५) व्यञ्जना स्थापना (६) शब्दार्थचित्रनिरूपण (७) दोषों का विश्लेषण (८) गुणविवेचन (९) शब्दालङ्कार निर्णय (१०) अर्थालङ्कार निर्णय ।

इन दश उत्पत्तियों में प्रायः काव्य के सभी तत्वों का समावेश हो जाता है ।

**काव्यप्रकाश की टीका सम्पत्ति—**

टीका सम्पत्ति की दृष्टि में काव्यप्रकाश एक शोभाग्रशाली ग्रन्थ है, धीमद्विभगवद्गीता को छोड़कर संस्कृत साहित्य में शायद ही कोई दूसरा ग्रन्थ हो जिस पर इतनी टीका लिखी गई हो । इसमें इसकी दुर्दृष्टता ही कारण है, प्राचीन आलङ्कारिकों में भामह, दण्डी, वामन, भोज आदि के ग्रन्थ प्रसादगुण-मण्डित प्राञ्जल प्रायः सूक्ष्मविवेचनरहित थे ।

वे अपने प्रकृतविषय के प्रतिपादन में सप्रयत्न थे । साहित्य के केवल शोभाधायक बाह्य तत्वों के प्रतिपादन में निर्विवाद उनका उत्कर्ष था । मम्मट के बाद भी पण्डितराज जगन्नाथ का रम गङ्गाधर ध्वनिप्रस्थान का एक प्रौढ तथा उत्कृष्ट ग्रन्थ है इसमें सन्देह नहीं है कि पण्डितराज ने प्रायः सभी विषयों को अपनी प्रौढ प्रतिभा से प्रकाशित किया है । सूक्ष्मातिमूर्ध्म अनुसन्धानपूर्वक पदार्थों का प्रतिपादन किया है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, केवल एक ही दोष है, वह है नव्यन्याय की शैली का अनुसरण । वस्तुतः यह दोष भी ग्रन्थकार पण्डितराज का अपना दोष नहीं है, यह तो उस बादयुग का दोष या गुण है जिसके बिना पाण्डित्य का रस एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता है । फिर दूसरा दायित्व पण्डितराज पर यह था कि साहित्य के क्षेत्र में बढ़ती हुई निरर्गलता का नियन्त्रण करना था, इसके लिए ही शकन, परिमार्जित व नवी-तुली भाषा की आवश्यकता थी । अतः उस युग की परिस्थिति को देखते हुए पण्डितराज का यह दोष न होकर गुण या भूषण ही कहना चाहिए ।

मम्मटाचार्य का यह काव्यप्रकाश तो सूक्ष्म विषय की विवेचना में निःसन्देह उत्कृष्ट है, परन्तु किसी-किसी अंश में यह काफी अटिल भी हो गया है । जिसका अभिप्राय सामान्य तो क्या प्रौढ पण्डित भी सहसा अवगत नहीं कर पाते । टीकाकारों का भी परस्पर किसी अंश विशेष में मतभेद मालूम पड़ता है । एक टीकाकार यदि किसी पक्ष का एक अर्थ करता है तो दूसरा टीकाकार कुछ दूसरा ही अर्थ कर देता है । यही कारण है इसकी टीकाओं की प्रचुरता का ।

साहित्य के क्षेत्र में काव्यप्रकाश ही सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ रहा । इस पर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था । अतः पण्डितमण्डली में

इसी ग्रन्थ का अध्ययन उ अध्ययन होना था । साहित्य का पण्डित या साहित्य का विद्यार्थी काव्यप्रकाश पर अपनी पूर्ण प्रतिभा का व्ययकर प्रति पन्ति के प्रतिपद का पददृष्ट्य करने में ही अपना सौभाग्य समझता था । काव्यप्रकाश के विषय में प्रसिद्ध है कि उसरी टीकायें घर-घर में विद्यमान हैं, किन्तु यह ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरूह बना हुआ है—काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे सन्ति टीका तथाप्येव ग्रन्थस्तथैव दुर्बोधा । करीब इमकी सत्तर टीकायें हैं, जिनमें—माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, विश्वनाथ रविचक्रण, प्रदीपभार, मुधासागरकार महेश्वर इत्यादि प्राचीनटीकाकारों की टीकायें प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार काव्यप्रकाश पर बारहवें शताब्दी से लेकर आज तक मसूदा व हिन्दी में कुछ न कुछ टीका टिप्पणी आदि शोध कार्य चल ही रहा है । रामनाचामंजरीकर की संस्कृत टीका वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित टीका है इसमें सभी टीकाओं का संग्रह है । इसी तरह आचार्य विवेकेश्वर की काव्यप्रकाशटीका टीका भी सुन्दर है । जिनमें पूर्व टीकाओं के सभी सारगर्भित अंश समूहीत हैं ।

**मम्मट का जन्मस्थान—**

काव्यप्रकाश की “मुधासागर” टीका के निर्माता भीमसेन ने मम्मट के परिचय के रूप में कुछ पद्य लिखे हैं । उनमें यह प्रतीत होता है कि मम्मट “कश्मीरदेशीय” जैशद के पुत्र थे । इन्होंने वाराणसी में आकर विद्याध्ययन किया, पतञ्जलि प्रणीतमहाभाष्य के टीकाकार कंयट तथा चतुर्वेदभाष्यकार-ओम्बट दोनों मम्मट के छोटे भाई थे । इस भाव का बयान भीमसेन ने अपने जिन श्लोकों में किया, वे इस प्रकार हैं—

शब्दब्रह्म सनातन न विदित शास्त्रे वचनित केनचित् ।  
तद्द्वेषो हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान् ॥१॥  
श्रीमज्जैशदपेहिनीमुजठराजजन्मास्य पुमानुज ।  
श्रीमन्मम्मटसञ्ज्ञाश्रिततनु सारस्वती सूचयन् ॥२॥  
मर्यादा क्लिप्त पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपद्यादरात् ।  
शास्त्र सर्वजनोपकाररसिञ् साहित्यसूत्र व्यधात् ॥३॥  
ततर्वात्ति च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाश स्फुटम् ।  
वेदार्थकनिदानमथिषु चतुर्वर्गप्रद सेवनात् ॥४॥  
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुम् ।  
शक्तः स्यात् किं मम्मटस्य भुवने वाग्देवताहपिण ॥५॥  
श्रीमान् कंयट-ओम्बटो ह्यवरजो यच्छान्ततामागतो ।  
भाष्याब्धि निगम यथाक्रमनुव्याख्याय सिद्धिं गतो ॥६॥



विशिष्टो शब्दायौ काव्यम् । तथोच्च वैशिष्ट्य धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्य-  
मुखेन, वेति त्रय पक्षा धाद्येऽपि अलकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि  
भणिति वैचित्र्येण, भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् । इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य,—  
उद्भटादिनिरङ्गीकृत, द्वितीयो वासनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो  
भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनाचार्येण ।”

उनका कल्पना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य होते हैं । शब्द और  
अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार में समझ है—

(१) धर्म से ।

(२) व्यापार से ।

(३) व्यङ्ग्य से ।

धर्म दो प्रकार के होते हैं । (१) नित्य और (२) अनित्य । अनित्यधर्म  
की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं होती जितनी नित्य धर्म की । अनित्य  
धर्म है अलङ्कार, और नित्य धर्म का नाम है गुण । इस प्रकार धर्म मूलक  
विशिष्टता की प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलङ्कार  
सम्प्रदाय (२) रीति या गुण सम्प्रदाय ।

व्यापार मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है । (१) वक्रोक्ति, और  
(२) भोजकत्व । वक्रोक्ति-उक्ति वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है । और हम  
वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य हैं कुन्तक । अतः  
उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय के नाम में प्रसिद्ध है ।

भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस निरूपण के प्रसङ्ग में भट्टनायक ने की  
है । परन्तु हमें अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही  
अन्तर्भूत मानना उचित है ।

शब्दार्थ में व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं,  
जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है, आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक  
के आरम्भ में ध्वनि विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है, जो उनसे प्राचीन  
हैं और काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं—इन तीनों  
सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं । (१) अभाववादी (२) भक्तिवादी (३)  
अनिर्वचनीयतावादी । आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक की पहली  
कारिका में इन तीनों वादों का निर्देश करते हुए, सहृदयजनों के हृदय में  
प्रकाशमान ध्वनि तत्त्व का मिथ्या प्रवाद करने वाले निराकरण के लिए ही  
यह हमारा प्रयास है कहा है, जिससे कि सहृदयों की मानसिक चिन्ता दूर हो  
इसी अमिप्राय को उन्होंने श्लोक के अन्तिमपाद में अभिव्यक्त किया है ।

“तेन श्रुम सहृदयमन ग्रीतये तत्स्वरूपम् ॥१॥”

उक्त पद्य का संक्षेप में रहस्योद्घाटन करते हुए अभिनव गुप्ताचार्यपाद ने इन तीन ध्वन्यभाववादियों को क्रमशः भ्रान्त, सन्दिग्ध, तथा अज्ञ माना है। क्योंकि काव्य में जो विलकुल भी ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे देहात्मवादी चार्वाक के समान हैं। जैसे चार्वाक दर्शन वह सेषपृष्ठा आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, इसी प्रकार ये भी ध्वन्यभाववादी भी काव्य में आत्मभूत ध्वनि की सत्ता नहीं मानते हैं। अतः ये विपर्ययज्ञान युक्त हैं अर्थात् भ्रान्त हैं।

दूसरे भक्तिवादी यह तो जानते ही हैं कि वाक्यातिरिक्त भी कोई अर्थ है परन्तु अभिप्राय व लक्षणा स्थापार में भी अतिरिक्त कोई स्थापार है या नहीं इस विषय के सम्बन्ध में मुक्त नहीं हैं। अतः ये सन्दिग्ध हैं। अन्तिम अनिर्वचनीयवादी यद्यपि भ्रान्त व सन्दिग्ध नहीं हैं, ये लाग ध्वनि के स्वरूप से अच्छी तरह परिचित भी हैं फिर भी ध्वनि लक्षण नहीं बना सकते अतः इनमें अज्ञान की प्रधानता है।

इस प्रकार ध्वनि के विषय में जब लोगों में अनेक प्रकार का विपरीत ज्ञान या विरोध है तो मनुष्यों के मनोप के लिए ध्वनि का विवेचन करना परमावश्यक है।

इस सब विरोधों के परिहार के लिए तथा साहित्य जगत में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता हेतु आनन्दवर्धन ने ध्वन्यामोः की रचना की।

यही में ध्वनि सम्प्रदाय की पुनः स्थापना हुई। छठा सम्प्रदाय "औचित्य" सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इनका उदय इन टीकाकारों के बाद में करीब एकादशशती के उत्तरार्ध में हुआ, अतः अलवारसवस्व की टीका में इस सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है।

संस्कृत आलोचना शास्त्र के ये मुख्यतः छ सम्प्रदाय हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस सम्प्रदाय	भरत मुनि
(२) दलङ्कार सम्प्रदाय	भामह
(३) गीति सम्प्रदाय	वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्नाड
(५) ध्वनिसम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र

(१) रस सम्प्रदाय

रस शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में सोम रस के अर्थ में हुआ है 'दधान कलशे रसम्' (१।६३.१३) तैत्तिरीय उपनिषद् में पुनः आनन्द के अर्थ में

भी इसका उल्लेख हुआ है, ("रसो वै स रस ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति ।" (११।७।१) इस प्रकार वैदिक साहित्य में रस के विषय में यत्र तत्र किञ्चित् चर्चा है ।

इधर लौकिक साहित्य में भी सर्व प्रथम रसो का वर्णन हमें आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण में मिलता है ।

"रस शृङ्गार करुणारौद्रवीरभयानकैः" (वा० ५।० २।६)

शृङ्गारादि आठ रसों का वर्णन यहाँ मिलता है, वैसे इस आदि काव्य को रस का ही विवर्तन या परिणाम माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है । महाकवि कालिदास की यह उक्ति भी इस बात को सुतरा पुष्ट करती है

निर्यादविद्याऽजबर्धनोत्प श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक (१४।२७)

व्याध के द्वारा जोञ्च पक्षी के वध को जब मुनि ने देखा तो वे बहुत दुःखी हुए, वही हृदयस्थ मुनि का शोक रसोत्प में परिणत हो गया ।

अतः यह मानना पटता है कि आदि काव्य का उदय करण रस से ही हुआ, इसीलिए रामायण करुण रस प्रधान आदि काव्य है इसको आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में इस प्रकार कहा है—“रामायणे हि कव्यो रस इयमादि कविना सुप्रित, “शोक इलोकत्वमापत्” इत्येव वादिना और महाभारत में दान्त रस को ही मुख्यतया विवेक्षा का विषय माना है ।

निलो में तेल की तरह अङ्गनाओं में लावण्य की तरह यह रस भी महा-कवियों के महाकाव्यों में व्याप्त हैं ।

इसका शास्त्रीय विवेचन करने का श्रेय भरत को है । भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं और उनका “नाट्यशास्त्र” रस सिद्धान्त का प्रतिपादक सर्व प्राचीन ग्रन्थ है ।

भरत के नाट्य शास्त्र की ललित कलाओं का विश्वकोष कहना चाहिए, नाट्य विषय का ही नहीं, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्दशास्त्र का, सङ्गीत का तथा अभिनय का भी यह आदि तथा प्रौढ ग्रन्थ है । इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारों के नाम से भी चल सकता है । इसके भी भाष्यकार हैं । जिनका नाम नीचे दिया जाता है—

(१) उदभट्ट (२) लोल्लट (३) शङ्खुक (४) भट्टनायक (५) राहुल (६) भट्ट यन्त्र (७) अभिनव गुप्त (८) कौनिधर (९) मातृ गुप्त । इन सब में अभिनव गुप्त की प्रख्यात व्याख्या “अभिनव भारती” ही आज उपलब्ध है और इसी में उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारों के अस्तित्व का पता चलता है । इन टीकाकारों में लोल्लट, शङ्खुक तथा भट्टनायक ने भरत

के रस सूत्र की विभिन्न व्याख्या की है, जिसका निर्देश अभिनव भारती में बहुश किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य में रस ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है। भरत मुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है इसीलिए रस को नाट्यरस की संज्ञा दी है। पिछले आलङ्कारिकों ने इसे श्रव्य काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है। रस का उन्मेष ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य है। इन तात्पर्य की मिथि के अभाव में काव्य नीरस, फीका तथा उद्देगकर होना है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण यही सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है। रस की मत्स्या के के विषय में भी मतभेद है। इन आठ रसों की संज्ञा के विषय में किसी की भी विमति नहीं है। शृङ्गार, हास्य, कृष्ण, रौद्र वीर भयानक वीरभक्त तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस है जिसकी काव्य तथा नाट्य में मत्स्या के विषय में आचार्यों में काफी मतभेद है। घनञ्जय शान्तरस को नाट्य में निषेध करते हैं, परंतु अभिनव गुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनों में इसकी संज्ञा मानते हैं। रद्वट ने 'पेयन' नामक रस को विश्वनाथ कविराज ने आत्मरस को, गीर्वाण वैष्णवों ने 'मधुर रस' को इस धेनी में जोड़कर रसों की संख्या को गृहन ही बढ़ा दिया है।

साहित्य में रसमत्त का सर्वनोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारों में "रसध्वनि" को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वन, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनों में अन्तिम मुख्यतम है।

भोजराज भी समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटते हैं—  
(१) स्वभावोक्ति (२) वक्रोक्ति, (३) रसोक्ति।

इनमें अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य में होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक काव्य को काव्य मानकर काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। अग्निपुराण की स्पष्ट उक्ति है—“वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।” काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होना है। भरत ने 'न हि रसादृते कश्चिदथ प्रवर्तते' का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों हुए जिनमें अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्त्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार रस सिद्धान्त की पूर्णरूपेण व्याख्या नहीं हो सकती है। क्योंकि भारतीय साहित्य में इसका अपना कुछ अलग ही महत्त्व

है, जिसका सम्बन्ध भारतीय दर्शन से है, जो आत्मानन्द सहोदर है, चिन्मय तथा प्रकाशस्वरूप है, उन पाश्चात्य मनोविज्ञान की परिधि से परे की बात है। जब आधुनिक विज्ञान केवल मन तथा उसकी वृत्तियों के विवेचन तक ही सीमित है, तो आत्मस्थानीय रमाम्वादजन्य अनौकिक अनुभूति की जासा करना तो दुराधामात्र है।

वहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द, (३) रमानन्द। विषयानन्द वासना पर अवलम्बित है, यह विषय चिन्तन में या विषयो के सदांग से उत्पन्न होने वाला लौकिक क्षणिक तथा वासनाओं की मलिनता के कारण सुखदुःखादि सासारिक भावों के द्वन्द्व में अभिभूत है। अतः यह सत्त्वप्रधान आनन्द न होकर मानवाभावाभावा है। आनन्द की उच्चतम कोटि है ब्रह्मानन्द, जिसके अन्वय में समस्त आनन्द सिमट कर एकत्र हो जाते हैं। रमानन्द भी करीब करीब इसी आनन्द की कोटि में आता है। विषयानन्द के लिए जिस प्रकार वासना अपेक्षित है रमानन्द में उस जगह वासना की शुद्धि अपेक्षित है, अर्थात् भावों का उदात्तीकरण, भावों की अशुद्धि का कारण है, उसका व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध, मेरी यह रति है इत्यादि जो परिमित प्रमाता का सम्बन्ध विशेष है वही होना तथा अशुद्धि का कारण है। इसी भावसंशोधन के लिए साहित्यशास्त्रियों ने रसनिर्वाण प्रक्रिया के लिए साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की है, जिसकी सहायता से प्रमाता में अपरिमित भाव आ जाता है। वासना विषयविषय में दूषित न होकर निष्काम भावना या उदात्तभावना से स्वच्छ हो जाती है। इसी दिशा में शनैः शनैः रत्यादि भाव से जो अज्ञानावरण से परिच्छिन्न थे वे व्यञ्जना व्यापार व साधारणीकरण व्यापार के सहयोग से अपरिच्छिन्न होते हुए मन्त्रिदानन्दव्यवस्था रस को प्राप्त कर लेते हैं। इसी रस के विषय में भरत ने लिखा है—

“न हि रसादूते कश्चिदर्थं प्रवर्तते।”

### अलङ्कार सम्प्रदाय

कव्य जगत् में अलङ्कारों का सर्वाधिक महत्त्व है, आपानत यही महत्त्व गुण व अलङ्कार ही काव्य के व्यावर्तक धर्म हैं। इसीलिए “काव्यवृत्तेस्तदाभ्यात्” इस आनन्दवर्धन की सूक्ति का आश्रय लेकर गुणालङ्कारादि से निरूपणीय काव्य को माना है। अर्थात् काव्य के काव्येतर से भेदज्ञान में साधन अलङ्कारादि ही हैं। “काव्य काव्येतराद् भिन्न गुणालङ्कारादिमत्वात्” यह अनुमानाकार है। वहने का तात्पर्य यह है कि काव्य में अलङ्कार की स्थिति अति आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ने जब काव्य के लक्षण में अलङ्कारों का विधान विस्तृत रूप से किया तो अलङ्कारवादियों को यह विरुद्ध समझ सा प्रतीत हुआ। जयदेव का तो यहाँ तक रहना है कि जो विद्वान अलङ्कार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि का भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता है? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असम्भव है, उसी प्रकार काव्य का अलङ्कार से रहित होना भी असम्भव है—

अङ्गीकरोति य काव्य शब्दार्थविनतश्चुत्सी ।

असौ न मयत् कस्मात् अनुष्णमनसश्चुत्सी ॥१॥ (चन्द्रालोक)

इस सम्प्रदाय में अलङ्कार का वाक्य की आत्मा है।

अलङ्कार मन के प्रवर्तन आचार्य भामह हैं इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उदयटः दण्डी द्रष्टा एवं प्रतिहारेन्द्रराज भी इस मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मन में काव्य के पोषक अर्थों को भी अलङ्कार कहने हैं। रुद्रट्ट व प्रतिहारेन्द्रराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलङ्कार को ही प्रधानता दी है।

रुप्यर ने स्पष्ट सम्मान है कि प्राचीन आचार्यों के मन में अलङ्कार ही काव्य में प्रधान होते हैं।

अलङ्कारों का विकास धीरे-धीरे होना आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलङ्कारों का निर्देश मिलता है—यमक उपाय रूपक व दीपक। साहित्य के मूलभूत अलङ्कार यही हैं जिनमें पहला अलङ्कार और तीन अर्थालङ्कार हैं। भरत के मत में यमक शब्दालङ्कार दस प्रकार का है और उपाय के पाँच भेद होते हैं—प्रसङ्ग निन्दा स्तुति तथा किञ्चित् सङ्गीत। रूपक तथा दीपक का एक-एक भेद होता है। इन्हीं चार अलङ्कारों से विकसित तथा वर्धित होकर अलङ्कारों की सरया कुवलयानन्द में सदा सौ के ऊपर तक पहुँच गयी है।

कालक्रम के अनुसार अलङ्कारों की सध्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र (अध्याय १७) में ३६ प्रकार के लक्षणा का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलङ्कार में सम्मिलित कर लिया, और इस प्रकार अलङ्कारों का विकास में इन लक्षणा का भी वम महत्त्व नहीं है। उदाहरणार्थ, हेतु, आशी तथा लेश के विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न भिन्न मम्मितियाँ हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलङ्कार नहीं मानते परन्तु आशी को अलङ्कार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलङ्कार माना है। परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न मत हैं। अप्यय दीक्षित ने कुवलयानन्द

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, और अलंकार अनित्य धर्म । अलंकारों की स्थिति काव्य में हो या न हो परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यम्भावी है ।

### ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है । कुछ लोग वृत्तिकार तथा कारिकाकार को मिश्र-भिन्न मानते हैं और "सहृदय" नामक किमी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं । परन्तु अधिकतर विद्वानों की सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की थी । आचार्य अभिनव गुप्त ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्त्व इसीलिए रखते हैं कि उन्होंने ध्वन्यालोक के ऊपर लीचन टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियों से पुष्टकर उसे प्रामाणिक बनाया, उसके अनन्तर मम्मटाचार्य ने ध्वनि विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त को दृढतर आधारों पर स्थापित किया । अपने ग्रन्थ में उन्होंने भिन्न भिन्न दर्शनों के मगानुयायी विद्वानों की युक्तियों का खण्डन कर व्यञ्जना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापना की । मम्मट के पश्चात्पूर्वों विश्वनाथ कविराज ने "साहित्यदर्पण" में ध्वनि की पर्याप्त भीमसा की है । पिछले युग के सबसे बड़े आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शती) हैं । जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ ग्रन्थ है । वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलंकारों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है—

ध्वनिकृतामलङ्कारसरणि-व्यवस्थापकत्वात्" (२० ग०)

यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था, तथापि काश्मीर के मान्य आलंकारिकों को यह सिद्धान्त प्रपन्न मान्य नहीं हुआ । "मृकुलभट्ट" सबसे प्राचीन ध्वनि विरोधी आचार्य हैं । अभिधा वृत्ति मानका में इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नहीं थी, और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे । इनके शिष्य "प्रति-हारेन्दुराज" ने ध्वनि को अलंकार के ही अन्तर्गत माना है । ध्वनि के खण्डन के लिए "भट्टनायक" ने "सहृदयदर्पण" नामक ग्रन्थ की रचना की है । ये काव्य में रस के पक्षपाती थे, परन्तु रस की व्याख्या के लिए व्यञ्जना का सिद्धान्त इन्हें मान्य न था । "कुन्तक" ध्वनि को वक्त्रोक्ति का ही दूसरा प्रकार मानते हैं । इनके मत में रस काव्य का स्वतन्त्र तत्त्व न होकर वक्त्रोक्ति का ही एक भेद मात्र है । "महिमभट्ट" के ग्रन्थ का नाम "व्यक्तिविवेक" है, जिसमें

उन्होंने ध्वनि को अनुमान में ही मतार्थ कहने का प्रयास किया है। इसकी विवेचना बड़ी मार्मिक और गम्भीरता पूर्ण है।

इन विरोधी आचार्यों को तर्कपूर्ण समाधान “काव्यप्रकाश” में मिलता है। जिसने बाद यह मिद्धान्तन एकान्तत प्रतिष्ठित हो गया और पिछले आचार्यों ने इसे सर्वथा मान्यता दी।

### (६) औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य साहित्यशास्त्र का व्यापकतम मिद्धान्त है। इसे काव्य की आत्मा या प्राण मानने का गौरव यद्यपि सेमेन्द्र को प्राप्त है तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य जगत में अत्यन्त प्राचीन ज्ञान में चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र में मिद्धान्त रूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है, भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है, उसका उसी वेश तथा उसी मुद्रा में, अनुकरण करना नाट्य का धर्म लक्ष्य है इसीलिए नाट्यशास्त्र (प्रवृत्ति) धर्म के भाषा वेष आदि में विधान पर उतना जोर देता है। भरत ने विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्णन अपने ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है। हमने स्पष्ट है कि भरत नाट्य में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे, काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है। इस प्रसङ्ग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभाञ्जनपिष्यति ।

मेतलोरसि ग्रन्थे च हास्याप्येव प्रजायते ॥ (ना० २३।८)

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने काव्य में औचित्य की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रसभङ्ग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था कि “अनौचित्य” ही रसभङ्ग का प्रधान कारण है।

अनुचित वस्तु के परिवेश में रस का परिष्कार काव्य में उत्पन्न नहीं हो सकता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन तथा काव्य में कल्पना और विधान। आनन्दवर्धन कहते हैं—

अनौचित्याद् भ्रूते नान्यत रसभङ्गस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्थोपनिषत् परा ॥१॥

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन नादमीरों आलोचकों की बड़ी आलोचना की है जो ध्वनि के मिद्धान्त से घिता सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे। उन्होंने दिखाया है कि



ध्वनि की सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को जोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन वधमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के रूप में काव्य जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में जमिनवगुप्त के प्रधान शिष्य "शेमेन्द्र" थे, ये स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि "औचित्यविचारचर्चा" नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। औचित्य को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य शेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए शेमेन्द्र लिखते हैं कि "उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाना है। जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिसमें उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' और उचित का ही भाव होता है—'औचित्य'"

"उचित प्राकुराचार्याः सद्वा किल यस्य यत् ।

उचितस्य यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ (श्री० वि० ७)

यह औचित्य ही रस का जीवनभूत है, उसका प्राण है, तथा वाक्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य यत्तत्त्वाकारिणश्चास्त्वर्थे ।

रसजोषितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ (श्री० वि० ३)

शेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिङ्ग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा हमके अभाव की अन्यत्र बतलाकर शेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विषय विवेचना कर शेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भ्रम है, शेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए ज्ञानद्वय तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद "ध्वन्यालोक" में पूर्णतया विद्यमान हैं, सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है, और न गुण ही रचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभित होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है।

शेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।

पाशे नूपुरबन्धनेन चरणे नेत्रपाशेन वा ।

सौर्येण करुणया प्रणते, रिपो नाथान्ति के हास्यताम्, ।

औचित्येन विना रुचिं प्रसक्तुते नालकृति नो गुणा ॥२॥

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलंकारिकों ने अपनी काव्य-कल्पना में औचित्य के तत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया और अपनी समीक्षा में इसका उपयोग किया ।

रसालङ्कृति-वक्रोक्ति-रीति ध्वन्यौचित्यी क्रमा ।

साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृता ॥१॥

**अलंकारशास्त्र के आचार्यों का संक्षिप्त इतिवृत्त—**

संस्कृत साहित्य में दोनों प्रकार के काव्य, श्रव्य व दृश्य, आलोचना के विषय होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य काव्य की ही समीक्षा भारतरत्न में सबसे पहले आरम्भ हुई पाणिनि के समय (७ शती विक्रम पूर्व) में नटों की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, उन्होंने "शिलालि" तथा "कुशाक्ष" के द्वारा चित्रित नट यंत्रों का निर्देश अपनी अष्टाध्यायी में किया है ।

श्रव्यकाव्य की आलोचना का उदय विक्रम की छठी शताब्दी के मध्य में हुआ जिस युग में भामह ने अपने "काव्यालङ्कार" की रचना की । भामह से पूर्ववर्ती आचार्यों में काश्यप ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु उनके ग्रन्थों की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है, उपलब्ध आचार्यों में मान्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(१) भरत (द्वितीय शताब्दी) —

भरत आलोचना शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य है । दो भरतों का पता चलता है, बृद्धभरत तथा भरत । बृद्धभरत का ग्रन्थ नाट्यवेद सम्भवतः बारह हजार श्लोकों में था, परन्तु वह आज अनुपलब्ध है, भरत का "नाट्य शास्त्र" आज उपलब्ध है, यह आलोचना का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण सलिनकलाओं की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है । "नाट्यशास्त्र" एक युग की रचना न होकर अनेक शतान्तरिकों के साहित्यिक प्रयत्न का परिणत फल है । आज यह कारिकावद्ध रूप में ही उपलब्ध है, परन्तु इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अंशों का पर्याप्त परिचय मिलता है ।

(१) —सूत्र भाष्य—यह गद्यात्मक अथ ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है । मूल ग्रन्थ सूत्र-रूप में ही था, जिस पर भरत ने ही भाष्य भी लिखा था—

(२) कारिका—मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को समझने के लिए कालान्तर में कारिकाओं का निर्माण हुआ, कुछ विस्तार से विषय का प्रतिपादन है ।

(३) अनुवक्ष्य-श्लोक—गुरुशिष्य परंपरा से जाने वाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप् में निबद्ध) जो अभिनव भारती के अनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा विरचित हैं, तथा सूत्रों की पुष्टि में यहाँ मग्न हैं ।

भरत के वर्तमान नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती से कम नहीं हो सकता । कालिदास भरत को देवों के नाट्याचार्यों के रूप में जानते हैं, और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने का वे स्पष्ट निर्देश करते हैं । अब भरत को कालिदास (पञ्चमशती) में पूर्ववर्ती होना चाहिए । मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है ।

नाट्यशास्त्र में मुख्यतः ३६ अध्याय हैं, तथा लगभग पाँच हजार श्लोक हैं । इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय के नामा प्रकारों से सम्बद्ध विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण है । रस तथा भाव का वर्णन पष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में है । यहाँ काव्य की आलोचना आक्षिप्त अभिनय के प्रसङ्ग में की गई है । १६ वें अध्याय में काव्यालोचन का मर्म समझाया गया है । भरत ने दश दोष, दश गुण तथा चार अलंकार (यमक-उपमा-रूपक-दीपक) की सीमा-माप कर इग शास्त्र का आरम्भ किया । इसके ऊपर अनेक टीका में लिखी गई, जिनमें आचार्य "अभिनवगुप्त" की "अभिनव भारती" ही आज उल्लेख प्रमुख व्याख्या है ।

(२) भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्ध) —

भरत के बाद आलंकारिकों में भामह ही मान्य आचार्य हैं । इन्होंने अलंकार शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया है । भामह से पूर्ववर्ती "मैत्रावरुण" नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है, भामह के पिता का नाम था "रुक्मिण गोपी" और ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं ।

भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय में विद्वानों में कभी पर्याप्त मतभेद था परन्तु अब तो यह सर्वमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य हैं । इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायदीप के वर्णन में बौद्ध न्याय से अपना विशेष परिचय दिखाया है । इनका प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण आचार्य विद्-नाग (षष्ठशती) के अनुसार है । धर्मकीर्ति (सप्तमशती) के अनुसार नहीं फलतः इनका समय इन दोनों बौद्धाचार्यों के मध्ययुग में होना चाहिए, जब इनका आविर्भाव काल पण्डितक का मध्यभाग माना जाता है ।

भामह बौद्ध न्याय में विशेष परिचय रखने पर भी बौद्ध नहीं है, प्रत्युत ब्राह्मण है । क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है, तथा बौद्धों के "अपरोहवाद" का खण्डन भी किया है

जो कोई भी बौद्ध नहीं कर सकता है। भामह का ग्रन्थ “काव्यालङ्कार” छे परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का प्रथम परिच्छेद में अलंकारों का द्वितीय तृतीय परिच्छेद में, दश दोषों का चतुर्थ परिच्छेद में, न्यायविरोधी दोष का पञ्चम परिच्छेद में, तथा शब्द शुद्धि का षष्ठ परिच्छेद में, वर्णन क्रमशः किया है। श्लोक चार सौ करीब हैं, भामह के सम्मत्ति मिद्वान्त इस शास्त्र में मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

(१) शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य होना “शब्दार्थौ काव्यम्”

(२) भरत के द्वारा वर्णित दश गुणों का गुणत्रयी माधुर्य-भोज-प्रसाद में अभ्यर्थाव।

(३) दक्खिण को सर्वस अलंकारों का प्राण मानना।

(४) दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन।

(५) रीति पर आग्रह न रखकर काव्य गुणों पर आस्था।

(३) दण्डी (सप्तम शती)—

दण्डी दक्षिण भारत के फल्लव नरेश सिंहविष्णु (सप्तमशती) के सभा पंडित माने जाते हैं। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ “काव्यादर्श” है। जिसके कतिपय मिद्वान्तों का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नडभाषा के प्राचीन ग्रन्थ ‘कविराज मार्ग’ तथा सिधली ग्रन्थ “सिय बस-सकर” (स्वभाषालंकार) में किया गया है। और ये दोनों अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका निम्ननी अनुवाद इषवी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय में विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

“काव्यादर्श” बड़ा ही माननीय ग्रन्थ है, इसमें चार परिच्छेद हैं। तथा श्लोकों की मख्या साठे छ सौ के आसपास है। पहिले परिच्छेद में काव्य का लक्षण भेद रीति-तथा गुण का विस्तृत वर्णन है। दूसरे में अर्थालंकारों का, तृतीय में शब्दालंकारों का, (विशेषण यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद में दशविध दोषों का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। ये सबमें पहिले आध्याय हैं जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

(४) वामन (अष्टम उत्तरार्ध)—

कल्हण पंडित के कथनानुसार वामन काश्मीर नरेश जयापीड (१७६-८१ ई०) के मन्त्री थे, वामन भवभूति के उत्तररामचरित ना एक पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, फलतः ये भवभूति (अष्टमशती पूर्वार्ध) से परवर्ती है। तथा राजशेखर (१० म शता) से प्राचीन है, क्योंकि काव्य भीमामा म वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं। वामन आनन्दवर्णन

(नवमशती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं जिन्होंने इनका नामतः उल्लेख तो नहीं किया है, परन्तु इनके रीति सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है।

इनके ग्रन्थ का नाम है—“काव्यालङ्कारसूत्र”—जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रों में प्रस्तुत की गई है। वामन ने इसके उपर अपनी वृत्ति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१६ है। तथा ग्रन्थ पाच अधिकरणों में विभक्त है। प्रथम अधिकरण में काव्य का रूप तथा प्रयोजन तथा रीतियों का वर्णन है। दूसरे में दोषों का, तीसरे में गुणों का, चौथे में अलंकारों का तथा पाचवें में शब्द युद्धि का वर्णन है।

वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक है।—रीति को काव्य की आत्मा मानने का ध्येय इन्हें ही प्राप्त है। “रीतिरात्मा काव्यस्य” इनके कतिपय सिद्धान्तों में है—

(क) गुण तथा अलंकारों परस्पर विभेद, तथा गुण की अलंकारों की अधिक महत्ता का प्रतिपादन।

(ख) रीति को काव्य की आत्मा मानना।

(ग) बँदनों गोड़ी तथा पाञ्चाली-इन तीन रीतियों की कल्पना।

(घ) “वक्त्रोक्ति” को सादृश्यभूलक लक्षणा मानना।

(ङ) समग्र वर्णालङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च मानना।

(च) दश प्रकार के गुणों को शब्द तथा अर्थ सम्बन्धित मानकर बीस प्रकार की कल्पना।

(५) उद्भट (अष्टम शती का उत्तरार्ध)—

अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में “उद्भट” नितान्त प्रह्लात हैं। ये भी वामन के समकालीन आचार्य थे, तथा जयापीठ के सभापति किसी उद्भट नामक विद्वान से भिन्न नहीं है। प्रतिहारेन्दुराज, द्रव्यक, तथा पटितराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनन्दवर्धन से प्राचीन माना है। आनन्द वर्धन ने व्याख्यानलोक में उद्भट के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय अष्टम शती उत्तरार्ध है। वामन और उद्भट एक ही राजा के राजदरबार में उपस्थित समकालीन विद्वान थे, जिनमें एक थे रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और दूसरे थे अलंकार सम्प्रदाय के उन्मादक, परन्तु किसी ने भी किसी का निर्देश नहीं किया।

उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ है—काव्यालङ्कारसार सग्रह, और प्रतिहारेन्दुराज द्वारा निर्दिष्ट-भामह के ग्रन्थ “काव्यालङ्कार” की टीका—“भामह विवरण” है जो आज उपलब्ध नहीं है। इसकी तीसरी वृत्ति है—“कुमार सम्भव काव्य” कालिदास के कुमार सम्भव के आदर्श पर लिखित एक लघुकाव्य है, जिसके अनेक पद्य प्रथम ग्रन्थ में उदाहरण के रूप में उद्धृत किये गये हैं।

इनके—“काव्यालङ्कारमारम्भग्रह” ग्रन्थ के दो टीकाकार हैं—प्रतिहारन्दुराज (दशम शती) जो मुकुलभट्ट के शिष्य थे, दाक्षणात्य थे, तथा अलङ्कारशास्त्र के मान्य आचार्य हैं। दूसरे व्याख्याकार काश्मीरी राजान, तिलक हैं, (१०७५-११२४ ई०) जिनकी “विवृति” नामक टीका बड़ौदा से सन् १९३१ में प्रकाशित हुई है।

काव्यालङ्कारमारम्भग्रह में अलङ्कारों का ही विवेचन है। परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। उद्भट के कल्पित विविध सिद्धान्त य हैं—

(१) अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना।

(२) श्लेष के दो प्रकार, शब्द श्लेष तथा अर्थश्लेष मानना। परन्तु दोनों को अर्थालङ्कार में ही परिगणित करना।

(३) अन्य अलङ्कारों को योग में श्लेष की ही प्रवृत्ति मानना।

(४) वाक्य का त्रिविध अभिधा व्यापार।

(५) अर्थ की द्विविध-कल्पना—विचारित मुख्य तथा अविचारितरमणीय

(६) काव्य गुणों को स्रष्टृता का धर्म मानना।

इसी सब विषयों के कारण उद्भट का ग्रन्थ अलङ्कारसम्प्रदाय में एक विशिष्ट ग्रन्थ तथा इस सम्प्रदाय का आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

(६) रदट (नवम शती का पूर्वार्ध)—

रदट भी काश्मीर निवासी ही थे। राजदेव ने अपने “काव्यमीमांसा” में रदट के द्वारा उद्भाषित “वक्रोक्ति” नामक शब्दालङ्कार का निर्देश किया है। “शिशुनाभ बभ्रु” के टीकाकार काश्मीरी कल्लभदेव (दशमशती पूर्वार्ध) ने इनके अलङ्कार ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है। फलतः इनका समय १० शती के पूर्वार्ध में भी प्राचीन है। ये वास्तव तथा उद्भट के पश्चात् वर्ती आचार्य हैं। रदट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है तथा प्राचीन आलङ्कारिकों से मेल नहीं खाती। “शृङ्गारतिलक” के कर्ता “रदभट्ट” रदट से भिन्न है या अभिन्न इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। परन्तु रदट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रदभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

इनका काव्यालङ्कार १५ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है तथा इसमें ७३४ श्लोक हैं। इसमें काव्यस्वरूप, शब्दालङ्कार चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रवच्य अर्थालङ्कार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है।

दशम रस का विस्तार से वर्णन है। रदट ने पहिले-पहल अलङ्कारों के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, औपम्य, जतिशय, तथा श्लेष को अलङ्कार का मूलतत्त्व निर्दिष्ट किया है।

इन्होंने नये नये अलंकारों की भी उद्भावना इस ग्रंथ में की है।

### (७) आनन्दवर्धन (नवम शती का उत्तरार्ध) —

आलोचनाशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं। इसका सर्वमान्य ग्रन्थ “ध्वन्यालोक” है। जिसमें ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ़ विषय ग्राहिता का अपूर्व परिचय मिलता है। ये कश्मीर के राजा अचन्तिवर्मा (५१५ ई०-५७३ ई०) के सभापण्डित थे और इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित रूप से है।

“ध्वन्यालोक” में मूलतः कारिकाएँ हैं जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है। कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति? इस प्रश्न की सीमासा दो प्रकार से की गई है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन ने वृत्ति और “सहृदय” नामक किसी प्राचीन पण्डित ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकाएँ लिखी थीं। परन्तु यह मत अब मान्य नहीं है। आनन्दवर्धन ही स्वयं कारिकाकार व वृत्तिकार हैं। इस बात के लिए अभिनवगुप्त के “लोचन” में अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं। इसके उपर “चन्द्रिका” नामक कोई प्राचीन टीका थी, जो आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध टीकाओं में सबसे पिछड़ापूर्ण व्याख्या “लोचन” ही है। इस टीका के निर्माता महामाहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त हैं। इस टीका की मौलिक-ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के उद्भावक आचार्य हैं। ध्वन्यालोक में धार उद्योत हैं। प्रथम में ध्वनि के विषय में प्राचीन आलंकारिकों के मतों का विस्तृत समीक्षण है।

द्वितीय तथा तृतीय उद्योत में ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि की उपयोगिता का विचार है।

आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, परन्तु इनके जीपनवृत्त का पता नहीं चलता है। हेमचन्द्र के कथनानुसार ये “नोण” के पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन-चरित, विषमवाणलीला, (प्राकृत काव्य) देवीशतक, तत्त्वालोक नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी, परन्तु इसमें “देवी शतक” ही मिलता है।

### (८) अभिनवगुप्त (दशम शती का उत्तरार्ध) —

अभिनव गुप्त कश्मीर निवासी हैं, ये शैवदर्शन तथा तन्त्रशास्त्र के भी अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। इनका “तन्त्रालोक” नामक ग्रन्थरत्न तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्यशास्त्र में इनकी प्रसिद्धि भरत के

समकालीन कदमोरी आचार्य हैं। अभिनव ने इनके नाम का तो नहीं, परन्तु इनके विशिष्ट मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है।

“वक्रोक्तिजीवित” कारिका तथा वृत्ति से सवलित ग्रन्थ है। इनमें चार उन्मेष हैं जिसमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का पूरा वर्णन किया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से मिलते हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अछूरे ही मिलते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ़ तथा प्रान्तिकारी ग्रन्थ है। इसका वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य-जगत् में एक निरासा सिद्धान्त है।

(१०) महिमभट्ट (११वीं शती का मध्यभाग) —

महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे, ये रसध्वनि आदि को मानते तो थे परन्तु इनके लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति को नहीं मानते थे, वे अनुमान के द्वारा रसादिकी प्रतीति मानते थे। इनके मन में व्यञ्जनावृत्ति की न तो ध्वनि के लिए कोई आवश्यकता है, और न इसके लिए कोई अवकाश ही।

ध्वनि के खण्डन के लिए ही इन्होंने “व्यक्तिविवेक” नामक ग्रन्थ की रचना की। इनके अनुसार ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक प्रकार विशेष है।

इसी बात की निद्रि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। यह ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि के लक्षण का खण्डन तथा उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव बड़ी प्रौढ़ता के साथ दिखलाया है।

द्वितीय विमर्श में “अनीचित्य” को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकारों का प्रगल्भ वर्णन है। अन्तरङ्ग अनीचित्य के भीतर “रसदोष” का अन्तर्भाव होना है। बहिरङ्ग के भीतर समस्त शब्दगत दोषों की गणना की गई है।

तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार “ध्वन्यालोक” के ध्वनि स्थापन पर दूट पड़ता है, और उसमें से लगभग चासी उदाहरणों की परीक्षा कर उन्हें अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है।

महिमभट्ट के पिता का नाम श्रीधर्य तथा गुरु का नाम स्यामल था। इन्होंने लोचन तथा वक्रोक्ति जीवितकार के सिद्धान्त का खण्डन किया है। मम्मट भट्ट ने इनके द्वारा उद्भावित दोषों को अपने काव्यप्रकाश में नष्टम उल्लास में ग्रहण किया है। अतः इसका समय दोनों के बीच (११वीं शती का मध्यकाल) होना चाहिए।

(११) धनञ्जय (१०वीं शती का उत्तरार्ध) —

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनि विरोधी आचार्यों में अन्यतम हैं। वे रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं, और व्यञ्जनावृत्ति के



खण्डनकर्ता हैं। घनञ्जय तथा इसके भ्राता घनिक, दोनों चारा नगरी के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (१७४ ई० १६० ई०) के मन्त्रा पण्डित थे। इनका ग्रन्थ है—“दशरूपक” जिसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में, परन्तु बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं। घनिक ने इस पर “अवलोक” नामक टीका लिखा है। इन्होंने “काव्यनिर्णय” नामक साहित्य विषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहले किया था। वनरूप मिथ की अप्रवासित टीका दशरूपक की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं, तथा सगण तीन सौ कारिकाएँ हैं जिसमें वस्तु (नाटक का कथानक) नेता, (नायक) रूपक के दस प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन कर्मका किया गया है। नाटयशास्त्र एक भारी भरकम ग्रन्थ है, जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठकों के लिए कठिन है। “दशरूपक” में यह कठिनता बहुत अंशों में दूर होती है। इसीलिए यह नाट्य का बहुत ही उपयोग तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है।

### (१२) भोजराज (११वें शती का पूर्वार्ध)—

घारा नरेश राजा भोज साहित्यशास्त्र का इतिहास में संग्राहक रूप से विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके दानों ग्रन्थ इस विषय में वस्तुतः विश्वकोष ही है। “मरस्वती कण्ठाभरण” जो बहुत समय में विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, दूसरा ग्रन्थ “शृङ्गारप्रकाश” है यह भी अब प्रकाश में आ चुका है।

मरस्वती कण्ठाभरण में पाँच परिच्छेद हैं।

प्रथम परिच्छेद में काव्य के ४ गुणों का व १६ दोषों का वर्णन अपने मतानुसार है। द्वितीय परिच्छेद में २४ अलंकारों का, तृतीय में २४ अर्थालंकारों का तथा चतुर्थ में २४ उपमातंत्रों का उदाहरण सहित वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस भाव, मन्थि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

शृङ्गार प्रकाश में रसों का विशेषण शृङ्गार का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है। भोज की दृष्टि ममत्ववादी है और अपने सिद्धान्तों को पृष्ठ करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलम्बिका के मतों का तथा उदाहरणों का पर्याप्त रूप में उद्धरण दिया है। दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ पर बहुत अधिक है।

### (१३) मम्मट (एकादश शती का उत्तरार्ध)—

पूर्ववर्ती चारों आचार्य ध्वनि विरोध का प्रामाणिक खण्डन कर मम्मट ने अपने “काव्य प्रकाश” में ध्वनि मार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया, वही आदर्श

माना जाने लगा, और सभी का अनुगमन पिछले आलंकारिकों ने किया कश्मीर ही मम्मट की जन्मभूमि थी, भीमसेन ने इन्हे जैयट का पुत्र तथा कैयट और उदवट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है।

मम्मट का समय निश्चित करने में ज्यादा कठिनाई नहीं है। इन्होंने अभिनव गुप्त के मत को तथा पद्म बुज (१०१० ई०) के आस-पास वर्तमान पद्यों को उद्धृत किया है। उधर इसके प्रथम टीकाकार माणिक्य चन्द्र सूरि ने "मकेत" की रचना (११६० ई०) में की। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

काव्यप्रकाश ग्रन्थ के समान प्रौढ तथा मौलिक है। इसके १० उल्लास हैं, जिनमें काव्यलक्षण, वृत्तिविचार, ध्वनिप्रकार तथा दोष गुण प्रलंकार का विस्तृत तथा विस्तृत विवरण है।

इति मार्ग का हममें मुन्दर विवेचन सङ्क्षेप में प्रिलता कठिन है। इस पर टीका का निर्माण करना पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था। टीका सम्पत्ति में यह देजोड है। इसकी मत्तर टीकाओं में से अनेक स्वतन्त्र रीति ग्रन्थ के कर्ताओं की भी रचनाएँ हैं। "अलंकार सर्वस्व" के लेखक दशरूपक तथा साहित्य दर्पण के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने भी इसे व्याख्याओं से मण्डित किया है।

(१४) सागरनन्दी (एकादश शती का पूर्वार्ध) —

ग्रन्थकार का नाम "सागर" है, पर नन्दीवश में उत्पन्न होने के कारण ये सागर-नन्दी के नाम से विख्यात थे। इनके ग्रन्थ का नाम "नाटकलक्षण-रत्नकोष" जिनमें नाटक के सब लक्षणों का वर्णन है। फलतः यह दशरूपक की कोटि का ग्रन्थ है। सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन है। इन्होंने राजशेखर (१२० ई०) के श्लोको को उद्धृत किया है, तथा इनके मत तथा पद्यों की सुभूति (१०६० ई०-११५० ई०) ने अपनी अमर टीका में उद्धृत किया है। फलतः इनका समय ११ शती का पूर्व भाग मानना उचित होगा। दशरूपक में यह ग्रन्थ अपने में वैशिष्ट्य रखता है।

(१५) अग्निपुराण (११वीं शती का अन्तिम भाग) —

अग्निपुराण वस्तुतः नाना विधाओं का लोकप्रिय कोष है। इसके दश अध्यायों में अलंकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं। इनमें किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। प्रत्युत प्राचीन आलंकारिकों के मती को आधार मानकर इसकी रचना की गई है। अधिकांश मत अलंकार सम्प्रदाय से मिलते हैं। ये ध्वनि मार्ग को अङ्गीकार नहीं करते हैं। इनके उपर भोजराज का विशेष प्रभाव नक्षित होता है। फलतः इस ग्रन्थ की रचना का समय ११वीं शती का अन्तिम भाग होना चाहिए।

का निरूपण किया है, जिनमें से “विकल्प” तथा “विचित्र” जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना इनकी मौलिक सूत्र का फल है।

विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं, तथा अण्णय्य दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकाएँ प्रकाशित हैं—(१) जयरथकृत विमर्शिणी तथा (२) विद्याधर चक्रवर्ती कृत अलंकार सञ्जीवनी। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ कहीं-कहीं जयरथ के मत की उद्धृत करते हैं, और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

(१८) हेमचन्द्र (१२वीं शती का उत्तरार्ध)—

गुजरात के राजा कुमारपाल (१२वीं शती उत्तरार्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य “हेमचन्द्र” ने साहित्यशास्त्र पर “काव्यानुशासन” नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनव गुप्त व मम्मट के विशेष ऋणी हैं। ये सवजनकर्ता ही अधिक हैं। काव्यानुशासन के रस प्रकरण में इन्होंने अभिनव भारती से रस प्रसङ्ग का पूरा अक्षरशः उदाहरण ही दे दिया है, जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने में तथा पाठ निर्धारण में आज भी सहायता देता है।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है—“नाट्यदर्पण”। इन दोनों शिष्यों के नाम हैं—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र। रामचन्द्र—“प्रबन्धशतवर्ती” की उपाधि में मण्डित हैं। ये गुजरात के अनेक तरेख सिद्धराज, कुमारपाल तथा जयपाल के समय में वर्तमान थे। फलतः इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

नाट्यदर्पण—नाट्यशास्त्र के विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। छोटा होने पर भी उपादेय है। ग्रन्थकारों ने इस पर व्याख्या भी लिखी है, जिसमें आज अज्ञान और अनुपलब्ध अनेक नाट्यग्रन्थों के नाम ही मिलते, प्रस्तुत उनके महत्त्वपूर्ण लक्ष्य-लक्ष्य उद्धरण भी मिलते हैं। ऐसे ही कई उद्धरणों में “रामगुप्त” के ऐतिहासिक रूप का परिचय इतिहास प्रेमियों को मिलता है, और इतिहास की एक विस्तृत कड़ी इसी ग्रन्थ की कृपा में उनके हाथ लगी है।

(१९) शारदातनय (१३वीं शती का मध्य भाग)—

शारदा तनय के व्यक्तिगत नाम में हम अपरिचित ही हैं। ये नश्मीर के निवासी थे अपने को शारदा का पुत्र मानते थे। भोज के शृङ्गार प्रकाश से और मम्मट के काव्यप्रकाश में यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। तिहभूपाल (१४वीं शती का प्रथम चरण) ने “रसार्णव सुपाकर” में

शारदातनय के मत का उल्लेख किया है। **ABC मन्त्र मम्मते** तथा मिहभूपाल के मध्यकाल में १२५० ई० के लगभग रचना चाहिए।

इनके ग्रन्थ का नाम "भावप्रकाश" है। यह ग्रन्थ नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इनमें दश अधिवाक हैं जिसमें रसभेद, रसभेद, नायक-नायिका भेद, शब्दार्थ-सम्बन्ध नाट्यप्रयोग, दर्शक-नृत्यभेद, तथा नाट्यप्रयोग इन दश विषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह नाट्य के सिद्धान्त के साथ ही साथ नाट्य के व्यवहार का भी सुन्दर विवेचन करता है। रस विषयक नामची अपूर्व है। रस के विषय में अनेक अज्ञात रसाचार्यों के जैसे नागद, वासुकि, व्यास आदि के मतों का ही निर्देश नहीं मिलता, प्रस्युत अभिनव गुप्त के भी मत का सुन्दर रूप में विस्तृत विवरण इस तिनास्त उपमागी बना रहा है। कतिपय आचार्यों के मत को तो यही पहली बार उपस्थापित किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ नाट्य की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए बहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

(२०) पीयूष वर्ण जयदेव (१३वीं शती उत्तरार्ध) — 103437

जयदेव मिथिला के निवासी थे, ये गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव से तो भिन्न है, परन्तु 'प्रमत्तराघव' नाटक के कर्ता जयदेव यही है या पक्षघर मिश्र व्यासशास्त्र के विद्वान हैं, इस विषय में अभी तक विद्वानों में सन्देह है।

पीयूष वर्ण जयदेव विश्वनाथ कविराज से तो प्राचीन हैं, क्योंकि इन्होंने जयदेव का एक पद्य साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अतः इनका समय १ वीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए।

"चन्द्रालोक" इनका अलंकार शास्त्र का सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ दश मयूखों में विभक्त है। इसमें ३५० अनुष्टुप् दोक्त हैं, इसमें काव्य के समस्त विषयों का संक्षिप्त वर्णन है। इसकी शैली बड़ी सुन्दर है, पद्य के पूर्वार्ध में लक्षण हैं, उत्तरार्ध में उदाहरण। इसी ग्रन्थ को अप्यय्यदीक्षित ने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" के लिए उपजीव्य माना है। चन्द्रालोक की टीकाओं में "शारदागम" प्राचीन तथा पण्डितपूर्ण टीका है। राजा जयवन्तमिह का "भाषाभूषण" इसी चन्द्रालोक का हिन्दी अनुवाद है, यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवश्यक है।

(२१) शोभाकर मिश्र (१४वीं शती) —

इनके ग्रन्थ "अलंकाररत्नाकर" का उल्लेख "रत्नाकर" के नाम से अप्यय्य दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ने किया। इसने मतका सकेत जयरथ ने विमर्शिणी के अनेक स्थलों पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१५शती) से प्राचीन हैं। अतः इनका समय १४वीं शती मानना उचित है। ये कश्मीर

के निवामी प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मित्र था। तथा काश्मीरी कवि यशस्कार ने इन्हीं के अलकारों के उदाहरण के लिए “देवी-स्तोत्र” नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका “अलकाररत्नाकर” सूत्र-वृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रन्थ है। इनमें इन्होंने लगभग एक सौ अलकारों का निरूपण किया है जिनमें कुछ अलकार इनकी मौखिक कल्पना हैं तथा कतिपय अलकार प्राचीन अलकारों के नाम बदलकर आये हैं। अलकारों के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने “रत्नाकर” के आधार पर “असम” तथा उदाहरण” नामक नवीन अलकारों की कल्पना की है जिसे अल्पछत्र दीक्षित नहीं मानते।

पण्डितराज ने “असम” के उदाहरण में दोष भले ही दिखलाया हो परन्तु उसकी कल्पना को मान्यता थी।

### (२२) विश्वनाथ कविराज (१४वीं शती का पूर्वार्ध) —

ये उत्कल के राजा के मन्थविग्रहिक थे। इनका वक्त पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रसेखर रचित “पुष्पमाला” तथा “भाषार्णव” के उल्लेख मिलते हैं। इनके पितामह के अनुज “चण्डीदाम” ने “काव्यप्रकाश” पर “दीपिका” नामक टीका लिखी थी। इन्होंने “कव्यक” के अलकार सर्वस्व” के कई नये अलकारों का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। तथा गीत-गोविन्द (११वीं शती) और नैषध काव्य (१२वीं शती का उत्तरार्ध) से पद्यों को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक में इन्होंने “अलाउद्दीन नूपति” का उल्लेख किया है जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन ही मालूम पड़ता है। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध मानना उचित है।

इनके अनेक ग्रन्थों का पता चलता है। परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भ-दीप है—“साहित्यदर्पण” जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। तथा आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों के जिज्ञासु पुरुषों के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमें दश परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य के तत्त्वों का विस्तृत वर्णन है। पष्ठ परिच्छेद में नाट्य का भी संक्षिप्त विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रन्थ में काव्य तथा नाट्य दोनों का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। यह काव्य प्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढ़ता इसमें नहीं है। विश्वनाथ आलौकिक होने की अपेक्षा कवि अधिक हैं। इसीलिए उदाहरणों के रूप में सुन्दर पद्यों का उपन्यास इस ग्रन्थ में किया गया है। विश्वनाथ के पुत्र “अनन्तदास” की टीका प्राचीन है पर इस ग्रन्थ पर रामचन्द्र तर्कवागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है।

### (२३) विद्याधर (१४वीं शती का पूर्वार्ध) —

विद्याधर का ग्रन्थ “एकावली” काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में आठ उन्मेष (अध्याय) हैं। जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालङ्कार तथा अर्थालंकार का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह काव्यप्रकाश तथा अलंकार-सर्वस्व पर आधारित है। इसके रचयिता “विद्याधर” ने समस्त उदाहरणों को अपने आश्रयदाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय, (शासन काल- १२८०-१३-१४ ई०) की स्तुति में स्वयं लिखा है। विद्याधर ने रम्यक तथा नैयधकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया है, तथा इसके ऊपर एक ही टीका “तरला” है, जिसके लेखक कालिदास के सञ्जीवनीकार मल्लीनाथ सूरि (१४वीं शती का अन्तिम चरण) हैं, फलतः इनका समय १३वीं शती का अन्त तथा १४वीं शती का आरम्भ है।

### (२४) विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्वार्ध) —

विद्यानाथ के ग्रन्थ “प्रतापसूत्रयशोभूषण” की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में बहुत ही अधिक है। ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता कन्नडीय नरेश “प्रतापसूत्र” की स्तुति में बह्मन् के लिए पद्यों की रचना की है। साथ ही साथ नाटकाय परिभाषा के सम्बन्धों के लिए इनकी स्तुति में “प्रतापकल्याण” नामक नाटक भी इसमें सम्मिलित कर दिया है। प्रतापसूत्र की राजधानी एकशिला (बारगल) आन्ध्र में पड़ती थी जो वहाँ के सप्तम नरेश में अभिन्न माने जाते थे। इनके शिलालेख (१२६८-१३१७ ई०) तक के मिलते हैं। फलतः इनका समय १४वीं शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं जिनमें काव्य के अङ्गों के साथ-साथ नाट्य के अङ्गों का भी पूरा विवरण मिलता है। मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रम्यक के अलंकारसर्वस्व का विशेष श्रेणी है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर “रत्नावली” नामक टीका लिखी है।

### (२५) अप्पय्य दीक्षित (१६वीं शती का अन्तिम भाग) —

अप्पय्य दीक्षित दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे, वे ब्रह्मिष्ठ थे। कुवलयानन्द ने इनको अपने आश्रयदाता का नाम बैरवर्धन लिखा है जो विजयनगर का राजा बैकट न होकर पेन्नकोण्डा का राजा बैकट प्रथम था जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं। फलतः इनका समय १६वीं शती का अन्तिम चरण है।

इनके तीन ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र विषयक वृत्तिवार्तिक चित्रमीमांसा व कुवलयानन्द हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का सफ़ाई “रसगङ्गाधर” में बस कर किया है तथा इनकी खिल्ली उड़ाई है। तुच्छ शब्द के प्रयोग से ये

पराङ्मुख नहीं हुए। तथ्य यह है कि अप्पय्य दीक्षित वेदान्ती तथा मीमांसक हैं। साहित्य इनका अपना विषय ही प्रधानरूप से नहीं था। तथापि अलकारों के विकास के अध्ययन के लिए इनका “कुवलयानन्द” नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है।

(२६) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती का मध्य भाग)—

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपना जीवन काल “दिल्ली बल्लभ” की सरक्षकता में बिताया। यहाँ “दिल्ली बल्लभ” से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का सकेत माना जाता है। यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य राखता है कि शाहजहाँ के निमन्त्रण पर उनके जेठी दाराशिकोह को ससूत पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली आये। और दारा का हँस बर्णन इन्होंने अपने काव्य में किया है। फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है। ये जात्या सैलङ्ग ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम पैरुमह तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी था।

इनका साहित्यशास्त्र विषयक प्रौढ ग्रन्थ रसगङ्गाधर है। ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से भण्डित विद्वान् थे। ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है उसे पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्हीं के स्वयं निर्मित पद्य हैं। इनकी शैली प्रौढ तथा विचारोत्तेजक है। ग्रन्थ पूरा नहीं कहा जा सकता परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वों का विवेचन किया गया है। रस तथा अलकारों के विवेचन में इन्होंने नयी सूझ से काम लिया है। ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द तथा अर्थ गूण ध्वनि भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है। द्वितीय आनन में सलक्ष्य क्रमध्वनि शक्ति, व लक्षणा तथा सत्तर अलकारों का विशेष विवेचन है।

इस प्रसङ्ग में इन्होंने प्राचीन मान्य आलकारिकों का उल्लेख खण्डन या मण्डन की दृष्टि से किया है। रस तथा अलकारों के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं।

इन्होंने अप्पय्य दीक्षित के “चित्रमीमांसा” के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की ही रचना की है जिसका नाम है—चित्रमीमांसा-खण्डन, इनकी प्रतिभा काव्य क्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती थी।

(२७) विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शती का पूर्वार्ध)—

विश्वेश्वर पण्डित पर्वतीय ब्राह्मण थे। अल्मोड़ा जिले के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे। ये साहित्यिक ही न होकर वैद्यकरण तथा तार्किक भी थे। इसीलिए इन्होंने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की “अपच्येदकावच्छिन्न वाली” शैली में अलकारों का परिष्कृत

लक्षण प्रस्तुत किया है : इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है "अलङ्कार-कोस्तुभ" जिसकी रूपक अलङ्कार के प्रकरण तक स्वयं व्याख्या लिखी है ।

इनके पिता का नाम लदमीधर था, जो स्वयं प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे । इनके भाई का नाम उमापति था जिनके मत का संकेत "कोस्तुभ" में किया गया है ।

"अलङ्कारकोस्तुभ" का एक उद्देश्य यह भी था कि अलङ्कारों की बढ़ती हुई संख्या रोकनी जाम, और इसी लिए इन्होंने मम्मट के द्वारा उपन्यास ६१ ही अलङ्कारों का वर्णन यहां किया है । तथा अन्य अलङ्कारों का उन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया है । नव्य न्याय की शैली इस ग्रन्थ की भूषणी विशेषता है, तथा अलङ्कारों के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है । उपमालङ्कार का विवेचन यहां डेढ़ सौ बड़े पृष्ठों में किया गया है । इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय में ये हैं—

अलङ्कार मुक्तावली, रसचन्द्रिका, अलङ्कार प्रदीप तथा कवीन्द्रकण्ठाभरण ।

आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलोचकारिक माने जाते हैं ।



## पथम उल्लास

### काव्यप्रकाश का प्रतिपाद्य विषय “मञ्जुलाचरण”

नियतिकृतनियमरहिता ह्लादिकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ॥

नवरसदचिरा निमित्तिमाश्रयती भारती कवेर्नयति ॥१॥

नियति के द्वारा निर्धारित, नियमों से रहित, केवल ध्यानन्दभाप्रस्वभाव वाली काव्य-रूपी-अगत् का निर्माण करने वाली कवि की भारती (वाणी-सरस्वती) सर्वोत्कृष्टशालिनी है ॥१॥

प्रारम्भ कार्य की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्ट देवता ‘वाणी’ को नमस्कार करते हैं ।

उक्त मञ्जुलाचरण में ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि ब्रह्मा की सृष्टि (निमित्ति) की अपेक्षा कवि-भारती की रचना (सृष्टि) कहीं अधिक उत्कर्ष शाली है । क्योंकि ब्रह्मा की कृति की अपेक्षा इसमें चार विशेषतायें, जो व्यक्ति-रेखामुख में प्रदर्शित की गई हैं, वे सहृदय हृदयों को सर्वदा प्रणीत होती हैं ।

(१) सृष्टि के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं । मीमामक सृष्टि का मूलकारण कर्म (धर्माधर्म विशेष) को मानते हैं, तो माध्यदर्शन सृष्टि का मूलकारण सत्त्व, रज व तमोगुणस्वरूपा प्रकृति को मानता है और न्यायदर्शन सृष्टि का मूल कारण परमाणु को मानता है । पर ये सब नियतिकृत नियम से सहित हैं । पर कवि की सृष्टि नियतिकृत नियम से रहित है । कवि की सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा यह पहली विशेषता है । कहने का अभिप्राय यह है कि “नियति” शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं “नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनर्था निमित्तिमाधारणो धर्म पद्यत्वादिकल्प, अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ भावि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है वे पद्यत्वादि रूप अमाधारण धर्म नियति पद में नष्ट जाते हैं । उसके द्वारा किया गया नियम है—“यत्र पद्मत्व तत्र सौरभविशेष” जहाँ पद्मत्व होता है, वहाँ विशेष प्रकार का सौरभ होता है । इस प्रकार की व्याप्ति को “नियतिकृतनियम” कहा जाता है । ब्रह्मा की सृष्टि इस नियतिकृतनियम से मुक्त है । क्योंकि उसकी सृष्टि में इसप्रकार व्याप्ति पाई जाती है । परन्तु कवि की सृष्टि में इस प्रकार का कोई नियम

नहीं है। क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि को स्वयं प्रजापति कहा है और काव्य जगत् को कवि का ससार कहा है—

अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापति ।

यथाऽस्य रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥१॥

इस काव्य-सृष्टि में कवि के लिये कोई बन्धन नहीं है। यहाँ वाक्ता के मुक्तकाल में भी कवि प्रतिभा से सौरभ उद्भासित हो जाता है। नियत शब्द का दूसरा अर्थ, अदृष्ट या धर्माधर्म है। ब्रह्मा की सारी सृष्टि "अदृष्ट" के सिद्धान्त पर स्थिर है। प्राणियों के पूर्वकृत धर्माधर्म के निमित्त तदनुसार सुखदुःख रूप फल को भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि सृष्टि का निर्माण होता है।

परन्तु कवि की सृष्टि इन सब बन्धनों से परे हैं। कवि केवल अपनी कल्पना के खेल पर अपने ध्यान की स्वर्गीय ऐश्वर्य से समुक्त करा देता है। उसके लिए देहान्तर या अपूर्व देह की आवश्यकता नहीं है।

अतः कविसामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है।

(२) कवि सृष्टि की दूसरी विशेषता यह है कि वह आनन्दमय है। जबकि साक्ष्य दर्शन के अनुसार यह ममर सुख-दुःख, मोक्षमय है। क्योंकि इस मसार का मूल कारण प्रकृति है, और वह सत्त्वरजतमो गुणस्वरूपा है। वहाँ भी है—“सत्त्वरजतमसा साम्यावस्था प्रकृति”। “कारण गुणा कार्यगुणाना-रभन्ते” इस नियम के अनुसार प्रत्येक जागतिक पदार्थ सत्त्वरज और तमागुण के कार्यस्वरूप सुखदुःखमोह वाला होगा।

काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका की व्याख्या प्रमाण में इस बात का और भी स्पष्टीकरण किया है—“एकस्या एव कामिन्या कचित् प्रति मुक्तात्मक-सत्त्वसमुद्भूतस्वम्, सपत्नीं प्रति बुद्ध्यात्मकरज समुद्भूतस्वम्, स्थूलतममान प्रति तमोरूपमोहसमुद्भूतस्वमिति रीत्या सर्वपदार्थानां सुखदुःखमोहात्मक-स्वमिति साध्यमतानुसारेणेदम्”।

अर्थात्—किसी पदार्थ में किसी के प्रति सत्त्वगुण समुत्पन्न हो उमक लिए वह सुखस्वरूप है, यदि रजोगुण है तो वह दुःखस्वरूप है, और यदि तमोगुण समुत्पन्न है तो वह मोहस्वरूप है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक है।

परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का अस्तित्व ही नहीं है। उसकी सृष्टि में तो महाकवि भवभूति के अनुसार “अपि प्राणा रोदित्वपि दलति वज्रस्य हृदयम्” अपनी महदयतावश या कविप्रतिभाजन्यपरिस्तापस्फुरित स्वयं प्रस्तर

भी आंमू गिराते हैं, और वज्र का भी हृदय गिधल जाता है। पर ये ही पदार्थ अपने पाठक को कितना आनन्द प्रदान करते हैं, इसकी तो केवल सहृदय ही जानता है।

कवि की कृति में तो रदन और जन्दन से भरा हुआ वरण भी आनन्दानुभूति स्वरूप ही है—

माहित्यदर्पणकार का भी यही कहना है—

करुणादायि रसे जायते यत् पर सुखम् ।

सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ॥१॥

इमलिए कवि की सृष्टि हार्दिकमयी—केवल सुखमयी है।

(३) कवि सृष्टि की तीमरी विवेचना है, उसका “अनन्तरतन्त्रा” होना। अर्थात्—यह कवि की प्रतिभा के सिवाय और किसी के परतन्त्र नहीं है। जब कि ब्रह्मा की सृष्टि, परमाणु आदि उपादान (समवायि) कारण, और ईश्वरेच्छा द्वारा जो परमाणुओं में स्पन्दनादि कर्म है, ऐसे निमित्त व असमवायि कारणों के परतन्त्र है।

कहने का तात्पर्य यह कि—न्यायदर्शन के अनुसार सृष्टि का मूल उपादान कारण परमाणु है, परमाणुओं में ईश्वरेच्छावश जब आपस में स्पन्दन होता है तो परमाणुद्वय भोग में आगे द्वघण्टादि की उत्पत्ति होती है, पुन तीन द्वघण्टों द्वारा त्रसरेणु, इस प्रकार क्रमशः स्थूल पृथिवी की उत्पत्ति होती है। पर यह सब तभी हो सकता है, जब परमाणुओं के स्पन्दन निमित्त ईश्वरेच्छा हो, और ईश्वरेच्छा तत्तत् प्राणियों के धर्माधर्म “अदृष्ट” पर निर्भर है। न तो वह स्वेच्छया परमाणुओं का ही निर्माण कर सकता है और न बिना प्राणियों के अदृष्ट को देवे स्पन्दनादि व्यापार में ही स्मर्य है। अब यह मानना ही पड़ेगा कि प्राणियों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही एव मात्र उनके भोगानुकूल परमाणुओं के निर्माण में तथा उनके धारम्भ के कारण हैं, तदनुकूल पुन ब्रह्मा की सृष्टि करती पड़ती है। इसीलिए लिखा है कि ब्रह्मा की परमाण्वादि-उपादान-सामग्री के परतन्त्र है। पर प्रतिभाशील कवि के विषय में इतनी शङ्कत नहीं है।

(४) ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि की चौथी विवेचना यह है कि—ब्रह्मा की सृष्टि केवल मधुर-अम्ल, लवण, कटु, वषाय, और तिक्त ये छे ही रस हैं, ये भी सभी रस सबके लिए प्रिय नहीं है, पर कवि की सृष्टि में भृङ्गारादि—नौ रस हैं। जैसा कि कहा है—“नवरसरश्चिराम्” इत्यादि। एक तो ये सत्त्वा में अधिक हैं दूसरा सभी के सभी हृदय है। सभी आनन्दस्वरूप है।

इसलिए भी कविसृष्टि नवरसा तथा रुचिरा होने के कारण ब्रह्मा की सृष्टि से उत्कृष्ट है।

अन इस मञ्जुललोक में उपमानभूत ब्रह्मसृष्टि की अपेक्षा उपमेयभूत कविसृष्टि में उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार व्यंग्य है।

पुनश्च शिल्प के उत्कर्षमुख में शिल्पी के उत्कर्षरूप वस्तु की भी अभिव्यञ्जना होती है।

पर्यन्त म भारती कवेर्जयति" इत्यादि पदों के द्वारा जहाँ कवि का काव्यरूप भारती (बाणी) के प्रति जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, और हमारे पक्ष में आराध्य-देवता (सरस्वती) के प्रति आराध्य आराधक सम्बन्ध है।

पुनश्च—ग्रन्थकार का बाणी की अविच्छिन्नी (भारती) देवी सरस्वती के लिए नमस्कार का अपेक्ष होगा—अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति द्वारा सरस्वती के प्रति ग्रन्थकार का नमन अभिव्यक्त है।

अन मम्मन्निष्ठ भारती विषयकभाव के अभिव्यक्त होने से भावध्वनि भी है।

भगवती श्रुति भी उस अखण्डब्रह्माण्डनायक (ईश्वर) को कवि के नाम में पुकारती है, न तो उस शाब्दिक कहती है और न मार्मिक।

इम जगत् का निमाता तथा नियन्ता न वैयाकरण कहा गया है, और न नैय्यायिक परन्तु कहा गया है कवि। 'कविमनीषी परिभू स्वयम्भू' इत्यादि उपनिषद वाक्य इसका यथार्थ पोषक है। इसलिए भारतीय सत्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावन विराजमान है। यह कवि के लिए धीरे की बात है—

स्तोतु प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वर हि ।

न शाब्दिक ग्राह न तार्किक वा ॥

ब्रूते हि तावत् कविरित्यभीरुणम् ।

काष्ठा परा सा कविता ततो न ॥ (शिवजीलार्णव १।१६)

### काव्य का प्रयोजन

समाप्त में किसी भी कृति का कोई न कोई प्रयोजन (उद्देश्य) अवश्य होता है। अन कवि की कृति (काव्य-रचना) में भी कोई न कोई प्रयोजन अन्तर्निहित अवश्य होगा, जिसका प्रतिपादन अवश्य है, अन्यथा—यदि प्रयोजन का प्रतिपादन ग्रन्थ के प्रारम्भ में न किया जाय तो, पाठकों को अभिलपित वस्तु (दृष्टसाधनता) का ज्ञान नहीं होगा, उस अभीप्सित (दृष्ट) के ज्ञान के

अभाव में पाठकों, की ग्रन्थ पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः ग्रन्थकार प्रयोजन के अभिमुख प्रवृत्ति दिखलाने हुए काव्य के प्रयोजन का निरूपण करने हैं—

काव्य यशस्तेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तास्तस्मिन्मत्ततपोपदेशयुजे ॥२॥

काव्य का निर्माण यश की प्राप्ति के लिए है। जैसे—कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों के द्वारा ही विपुल कीर्ति को अर्जित किया। कालिदास व भवभूति आदि महाकवियों को हम घरायाम को छोड़े हुए न मालूम किन्ने वर्षों बीग गये पर उनके काव्यग्रन्थ उनका विमल यश अभी तक फैला रहे हैं। समिद्ध कवियों का यश विरम्यार्या होना है, इन बात को महाननीयो महाराजा भट्टहरि ने गितने सुन्दर ढंग में कहा है—

जयन्ति ते मुहूर्तिनो रससिद्धा कवीश्वराः ।

नास्ति देया यश काये जलामरणज भयम् ॥१॥

(२) घन प्राप्ति के निमित्त भी काव्य रचना की जाती है। कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें उपहार में काफ़ी धनराशि मिलनी थी। धावक तथा वाण ने भी अपने आश्रयदाता "थीहर्ष" में काव्यरचना द्वारा बहुत सम्पत्ति प्राप्त की। मात्स्यिक इतिहास इसका साक्षी है।

(३) व्यवहारज्ञान कराने के लिए भी काव्य की रचना की जाती है। काव्य के द्वारा ही हमें राजदरबारों का और तत्सम्बन्धी मन्त्रि अमात्यादियों के व्यवहार का उचित ज्ञान होता है, और भी काव्य के अनुशीलन ने ही हम किमी युग विशेष के लोगों का या समाज का आचरण तथा व्यवहार भलीभाँति जान सकते हैं।

(४) मनजुल का निवारण या शिवेतरक्षति के लिए भी काव्य का निर्माण किया जाता है। कवि अपनी रचना द्वारा कभी कभी देवताओं की स्तुति करता है, जिसमें प्रसन्न होकर वे देवता रक्षियों के समूह (सदृ) को दूर कर देते हैं।

माहिष्य में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। सातवीं सताब्दी के प्रसिद्ध कवि मयूरभट्ट कुछ रोग से पीड़ित हो गये थे। उन्होंने अपने कुछ रोग की निवृत्ति के लिए भगवान् भास्कर की स्तुति में मूर्धन्यक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। मयूर की इस भव्य-स्तुति में प्रसन्न होकर भगवान् भास्कर ने उन्हें कुछ रोग से निवृत्त कर दिया। अन्य कवियों के विषय में भी ऐसी ही वयामें प्रचलित है।

(५) इन प्रयोजनों में मन्त्र परमानन्द की प्राप्ति ही वाक्य का मुख्य प्रयोजन है। वाक्य-पाठ में नल्लीन हुआ पाठक कभी घालौदिक आनन्द का अनुभव करता है। इस समय वह सासारिक-ग्रपञ्च में जल में कमल की भाँति कुछ धूँक सा रहता है। अर्थात्-उस समय पाठक सहृदय को (वेदान्तर) किसी अन्य वस्तु का ज्ञान ही नहीं होता है। यह आनन्दानुभूति ही वाक्य का "सकल प्रयोजन मोलभूति" प्रयोजन है।

(६) कान्ता व समान उपदेश दान भी वाक्य के मुख्य प्रयोजनों में अन्यतम है। यह कान्तासम्मित उपदेश राजाज्ञा के तुल्य शब्द प्रधान वेदादि शास्त्रों से, और मित्र के तुल्य अर्थ प्रधान पुराणैतिहासादियों से विलक्षण भाषना प्रधान होता हुआ सरस तथा मधुर शब्दों द्वारा असन्मार्ग में स्थित व्यक्ति की 'रामादि की तरह आचरण करना चाहिए न कि रावण की तरह' इस प्रकार के उपदेश में सम्मार्ग की ओर अभिमुक्त करा देता है।

कहने में तात्पर्य यह है कि उपदेशक शब्द तीन प्रकार के होते हैं। प्रभुसम्मित मित्रसम्मित, तथा कान्तासम्मित शब्द।

प्रभुसम्मित शब्द—वेदादि वाक्य हैं, जो राजाज्ञा की तरह हैं इनको अक्षरशः पालन करना पड़ता है और इनके शब्दों को जरा भी हथर-उधर नहीं किया जा सकता अर्थात् शब्दावली-या वाक्य विन्यास के आनुपूर्वी को किसी स्थिति में भी शिथिल नहीं किया जा सकता है। वेद वाक्यों का अन्यथा उच्चारण में या भाँजा न मानने में एक 'प्रत्यवाय' नामक दोष लग जाता है। बिना किसी तनु न च किए आज्ञा पालन करना, और उसी क्रम में उच्चारण करने में वेद पढ़ने का पुण्य। अतः वेदादिवाक्य शब्द प्रधान हैं।

दूसरे उपदेशक शब्द हैं मित्रसम्मित—मित्र अपने मित्र को उचित कार्य करने के लिए तथा अनुचित कार्य के परित्याग के लिए उपदेश करता है। पर मित्र का उपदेश राजाज्ञा या वेद वाक्य की तरह उसे उस मार्ग में अनुष्ठान के लिए मजबूर भी नहीं करना, और न इस उपदेश की शब्द में ही प्रधानता रहती है अपितु अर्थ में इसका तात्पर्य रहता है यह शैली इतिहास पुराणादि की शैली है। इसी शैली में ग्रन्थकार ने "मुहूर्तसम्मित" या मित्रतन्त्र उपदेश कहा है।

इन दोनों प्रकारों में मित्र वाक्य की उपदेश शैली का नाम है—कान्तासम्मित शब्द या कान्ता के समान उपदेश दान—इस प्रकार के उपदेश में शब्द व अर्थ दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, अपितु रमाङ्गमूत—जो व्यञ्जना व्यापार, इसी व्यापार की महिमा से सरसतापूर्ण-उपदेश, पाठक व श्रोता के चित्त को एकाएक आवृष्ट करके सत्सार्थ की ओर प्रवृत्त करा देता है। अन्य शास्त्रों से यही काव्य का वैशिष्ट्य है।

## विभिन्न-धारायै

काव्य के प्रयोजन के प्रसङ्ग में विभिन्न विद्वानों की अनेक तरह की धारणाएँ हैं। संक्षेप में दिग्दर्शन किया जाता है—

आचार्य वामन के मन में काव्य दृष्ट (ऐहलौकिक) तथा अदृष्ट (पार-लौकिक) दोनों तरह के फल को देता है। जीवन काल में आनन्द और मृत्यु के बाद यश देता है।

अर्थात्—काव्य-रचना की प्रतिष्ठा को यश प्राप्ति का मार्ग कहा है—

काव्य सद् दृष्टाऽदृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥५॥

काव्य सत्=चारुदृष्ट प्रयोजन, प्रीति हेतुत्वात्। अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति-हेतुत्वाद्।

“प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशस सरणि बिभु” ॥ इत्यादि।

वन्नोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक की सम्मति में—

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले सहृदयों के अन्न करण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

आगे स्वयं उन्होंने इसके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहा है— जो चतुर्वर्गफल प्रकृष्ट पुरपार्थ होने के कारण सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कला मात्र के साथ भी किसी प्रकार की बराबरी नहीं कर सकता है। (वह) सुगने में फट, दोलने में कठिन, और समझने में मुश्किल आदि अनेक दोषों से दृष्ट और पटने के समय में ही अत्यन्त दुख दायी शास्त्र सदर्थ हैं। पटने के साथ ही अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी (स्पष्टी) किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से प्रतीत होती है।

अन शास्त्र कठवी औषधि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाश करता है, और काव्य आनन्ददायक-अमृत के समान अज्ञानरूप रोग का नाश करता है।

चतुर्वर्गफलास्यादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृत रसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अथमभिप्राय — योऽगौ चतुर्वर्गफलास्वाद प्रकृष्ट पुरपार्थतया सर्वशास्त्र-प्रयोजनत्वेन प्रसिद्ध, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कार कलामात्रस्य न कामपि साम्यफलना कर्तुमर्हति, दुःखदुर्भण-दुरधिगमत्वादितोषदुष्टोऽध्ययनावसर. एव

मुदुःसहदुःखदायी, शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृते काव्यस्य न कश्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

कटुकोपघवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम् ।

ब्राह्मद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥७॥

आचार्य भामह ने काव्यफलो निरूपण करते हुए कहा है—

धर्मार्थनाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥

ये फल भामह ने केवल काव्य-रचना करने वाले कवि के लिए ही कहे हैं न कि पाठक के लिए, परन्तु कीर्ति को छोड़कर अन्य सभी फल तो पाठक को भी प्राप्त हो सकते हैं, इसीलिए विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्य दर्पण में कुछ पाठ परिवर्तन के साथ इस श्लोक को रखा है, “साधु काव्यनिबन्धनम्” की जगह पर “साधु काव्यनिषेवणम्” यह पाठ रखा है ।

सम्मद की मध्य परा निर्बृत्ति ही कुन्तक की “धनरचनत्कार” है । यही आनन्दानुभूति काव्य का परम प्रयोजन है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार भी इसी परम पुरुषार्थ आनन्दावाप्ति स्वरूप मोक्ष के लिए ही सभी प्राणियों की प्रवृत्ति होनी है । पर यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति प्रपञ्च पराडभुज रहे, या सासारिक पदार्थों में आसक्ति छोड़ दे । उपनिषदों में लिखा है कि मानव की तीन एषणायें होती हैं । (१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा और (३) लोकैषणा, अन्य शब्दों में इन्हे काम, अर्थ और धर्म कह सकते हैं । यही ससार में समस्त मानव प्रवृत्तियों की मूल मानी जाती है । परन्तु इन तीन पुरुषार्थों के अनिरिक्त एक मोक्ष नाम का परमपुरुषार्थ भी है, जहाँ आत्मा की साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तन (शास्त्र द्वारा) या रसात्मक प्रेरणा द्वारा होती है । इसी स्थिति की प्राप्ति के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य निरन्तर प्रवृत्त है । इसी के लिए कवियों की काव्य में प्रवृत्ति कभी कभी स्वान्न सुखाय भी होनी है । इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का सर्वधेष्ठ फल है ।

“आत्मानं विजानीहि ॥ इति ॥

काव्य का कारण

काव्य की रचना करने वाले व्यक्ति को कवि कहते हैं, राजशेखर के अनुसार कवि शब्द की निष्पत्ति “कवृवर्णे—इस घातु में ई प्रत्यय लगाने से हुई है, कवि का अर्थ है वर्णनकर्त्ता—अर्थात्—रसभावादि का विमर्शक इस प्रकार लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि के वर्ग को काव्य कहते हैं । यद्यः प्रभृति फल से सम्पन्न काव्य सर्वथा उपादेय व उपेय है—



इसी के समुल्लास के लिए आचार्य मम्मट उपायो का वर्णन करते हैं—

शक्तिनिपुणता श्लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञ शिक्षयाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवम् ॥३॥

काव्य के समुल्लास उद्भव में शक्तिप्रतिभा अर्थात्-कवित्व बीजरूप-सस्कारविशेष, और लोक-व्यवहार शास्त्र एवं काव्यादि के पर्यालोचन में श्रुत्युत्पत्ति-निपुणता, और काव्यज्ञ विद्वानों की शिक्षा का अभ्यास, ये तीनों-शक्ति-निपुणता-व-अभ्यास सम्मिलित (समष्टि) रूप से कारण हैं ।

“इति हेतुस्तदुद्भवम्” में “हेतु न तु हेतव” ऐसी व्याख्या वृत्ति में की है, इसका अभिप्राय यही है कि यहाँ काव्य की उत्पत्ति में उक्त शक्ति-निपुणता अभ्यास की सम्मिलित हेतुता है न कि पृथक् पृथक् । अत एव हेतु शब्द में एकवचन का ही प्रयोग किया, बहुवचन का प्रयोग नहीं किया ।

अर्थात्—जैसे तृण से, मणि से, व अरणि से सहायान्तरनिरपेक्ष रूप में भक्षण-अक्षण अग्निरूपी कार्य उत्पन्न होता है वैसे यहाँ सहायान्तरनिरपेक्ष-काव्योत्पत्ति कार्य नहीं होता है, इस प्रकार के हेतु जो पृथक् रहकर कार्योत्पत्ति के कारण होते हैं—उनमें तृणारणीमणि आद्य चरितार्थ होता है । परन्तु यहाँ काव्योत्पत्ति शक्ति निपुणता व अभ्यास की सम्मिलित हेतुता होने के कारण षड्वक्त्रादीवरादि आद्य चरितार्थ होगा ।

अर्थात्—षट्कृपी कार्य में जैसे षड्वक्त्र व पीवर ये सभी कारण अपेक्षित हैं इनमें से एक की भी अनुपस्थिति बाष्पछनीय नहीं होती, उसी प्रकार काव्योत्पत्ति-कार्य में भी उक्त तीनों हेतुओं की सम्मिलितवस्था अपेक्षित है, इनमें एक की भी यदि अनुपस्थिति हुई तो अनुपहमनीय काव्य का निर्माण नहीं हो सकता, यही “हेतु” इस एकवचन का स्वारस्य है ।

काव्य की कारणता के विभिन्न पक्ष

संस्कृत आलोचनाशास्त्र में काव्य की कारणता के प्रसङ्ग में अनेक प्रकार के मत मतान्तर दिखाई देते हैं, अधिकतर आचार्य कारण-त्रितय पक्ष के ही समर्थक दिखाई देते हैं, पर उनके वारणों की सज्ञा में केवल भेद मालूम पड़ता है ।

आचार्य दण्डी के मत में भी प्रतिभा, शास्त्रज्ञान व निरन्तर अभ्यास ही काव्य की माधना है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा, धृतञ्च बहुनिर्मलम्, ।

अमन्दश्चाभियोगश्च कारण काव्यसम्पद ॥ (११०३ का० ४०).

आचार्य वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी हैं। वे प्रतिभा शब्द को 'प्रतिभानम' शब्द से कहते हैं और इसी को कवित्व का बीज मानते हैं। यह प्रतिभा या प्रतिभान जन्मजमानर का संस्कार विनोद है इसके अभाव में कवित्व का स्फुरण ही नहीं होता है इसका अतिरिक्त वे लोकवृत्त लोकव्यवहार तथा प्रवीण काव्यचन्द्रिका सदा को भी आवश्यक मानते हैं। लिखा भी है—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ॥१॥ इत्यादि

इनके सहायक कारण हैं चित्त की एकाग्रता विविक्तदेशमवित्त्व अथवा ब्राह्ममुह्य—प्रातः चार बजे का समय और पदों अवापोद्वाप अर्थात् पदा का परिवर्तन काव्य के परिपाक के लिए उचित पदा वा विन्यास व अनुरूप पदा का अपसारण पुनः उनका निरीक्षण भी आवश्यक है—

आधानोद्धरणे तावत् प्राबद्धोलायते मनः ।

पदस्य स्थापिते स्थये हन्ति सिद्धा सरस्वती ॥

यत् पदानि त्यजत्येव परिवर्तितं सहिष्णुताम् ।

त शब्दपालनिष्ठाता गद्यपाक प्रचक्षते ॥ ५॥

आचार्य शङ्कर ने भी काव्यकारणा के प्रमत्त में प्रतिभा व्युत्पत्ति व अभ्यास को एक मात्र कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे शक्ति का प्रयोग करते हैं—और नका लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं—एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का जहाँ अनेक प्रकार से स्फुरण होता है कमनीय पद कवि के सामने स्वयं उपस्थित हो जाते हैं उसे शक्ति या प्रतिभा कहते हैं।

उनके शब्दों में शक्ति का लक्ष्य यह है—

मनसि सुसमाधिनी तदा विस्फुरणमनेकधाभिषयस्य ।

अक्लिष्टानि पदानि च विभागास्तस्यामयी शक्तिः ॥ (१।१५)

आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों में प्रतिभा ही श्रेष्ठतर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति व रखने वाला कवि अपने पाठ्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है प्रतिभा के प्रवर्तन परमात्म आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है—

अव्युत्पत्ति कृतो दोष शक्यः सत्रिपते कवे ।

यस्त्वन्वितः कृतस्तस्य भटित्येवावभासते ॥१॥

आचार्य कुतूहल के मन में कवि का स्वभाव ही काव्य का मूल कारण है, इस स्वभाव के अनुसार ही कवि को व्युत्पत्ति होती और तदनुसार ही कवि

का अभ्यास भी होगा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तो केवल प्रतिभा के परिपोषक मात्र हैं। वस्तुतः काव्य बन्ध तो कवि स्वभाव पर आश्रित हैं, यद्यपि कुन्तक ने स्वतन्त्र काव्य हेतुओं पर विचार नहीं किया फिर काव्य मार्ग के प्रसङ्ग में वे कवि स्वभाव की व्याख्या करते हुए कहते हैं।

“कवित्वभावभेदनिबन्धत्वेन काव्यप्रस्थानभेद समञ्जसता गाह्ये ।  
मुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्ति समुद्भवति, शक्तिशक्ति-  
मतोरभेदात् तथा च तथाविधसौकुमार्यरमणीया व्युत्पत्तिभावघनानि ।”

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्य-कर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु “समाधि” है अर्थात्—“चित्त की एकाग्रता”, आचार्य मलग “अभ्यास” को ही अधिक उपयोगी मानते हैं। परन्तु राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न है, वे चित्त को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते हैं।

समाधि तथा अभ्यास तो शक्ति के उद्भासक मात्र हैं। काव्य-कला के उन्मीलन में साक्षात् हेतु तो शक्ति ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ भी केवल प्रतिभावादी हैं। उनके शब्द इन प्रकार हैं—“तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा” प्रतिभा का लक्षण करते हैं—काव्यरचनानुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति, और उस प्रतिभा में रहने वाली एक प्रतिभात्व जाति विशेष है। अर्थात्—काव्य निष्ठ कार्यता के प्रति समवाय सम्बन्ध में अवच्छिन्न प्रतिभा में रहने वाली जो कारणता है, वह किसी न किसी धर्म में अवच्छिन्न रहेगी, अतः प्रतिभावृत्ति कारणता भी प्रतिभात्व धर्म से अवच्छिन्न होती रहेगी, क्योंकि यह नियम है जो जो कारणता होती है वह किञ्चिद्धर्माविच्छिन्न होती है, अतः प्रतिभा में रहनेवाली कारणता भी प्रतिभात्व धर्माविच्छिन्ना होगी, इसीलिए प्रतिभा को जाति विशेष कहा है।

इस प्रतिभा के फिर दो कारण मानने हैं—

एक अदृष्ट—अर्थात् जन्मान्तरीय कवित्ववीजरूप सत्कार विशेष—और दूसरा—व्युत्पत्ति एव अभ्यास।

अदृष्ट का अर्थ पुण्य—मन्त्र तन्त्र जन्म भी माना है। कहा भी है—

“मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्टा कविराजता ॥”

जैसे श्रीहर्ष के विषय में कहा गया है—“तच्चिन्तामणि मन्त्रचिन्तनफले-  
काव्ये महाचारणि” इत्यादि मन्त्रानुष्ठान जन्म महाफल उनका नैपथ्यीय चरित  
महाकाव्य है। और कही लोक-शास्त्र व काव्यादिके अनुशीलन भी काव्य या  
प्रतिभा का कारण माना गया है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना और काव्य निष्ठ कार्यता निरूपित कारणता का अवच्छेदक प्रतिभात्व होगा ।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में काव्य कारणता के विषय में सम्मिलित कारणतावाद तथा केवल कारणतावाद का कौतुक वाक्य रसिकों के आलोचना चक्षु के लिए अत्यन्त रमणीय आस्वाद्य तथा मननीय है ।

वस्तुतः कवित्व के आधार स्तम्भ दो ही हैं दर्शन और वर्णन । इन दोनों के परिपूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है । दर्शन का सम्बन्ध आन्तरिक प्रतिभा से और वर्णन का सम्बन्ध शब्दावली की समुचित उपस्थिति से है ।

वास्तविक महर्षि सत्त्वा के दृष्टा थे, परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत-आन्तरिक प्रतिभा ज्ञान को शब्दों के माध्यम से नहीं प्रकाशित किया तब तक उन्हें आदिकवि या महारवि की महनीय सत्ता नहीं प्राप्त हुई । ऋग्वेद पक्षी के निधन से उत्पन्न हुए कर्ण स्वर ने जब उनका काव्यिक हृदय को पिघला दिया तब उनका आन्तरिक शोक ही

मा निषाद प्रति ठात्वमगम दाश्वती समा ॥

यत ऋग्वेदमियुनादेकमवधौ काममोहितम् ॥

इत्यादि श्लोक में परिणत हुआ । इसीलिए मौन की यह उक्ति भी सत्य ही है कि ऋषि ऋषि ही होता है अनृषि नहीं होता ।

ऋषयोऽत्राद्वयं अनं दत्तं व वर्णन ये दोनों कवि के मुख्य पाथेय हैं ।

### काव्य का लक्षण

‘लक्षणप्रमाणान्या वस्तुसिद्धि’ किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण अथवा प्रमाण से होती है इस नियम के अनुसार काव्य के प्रयोजन व कारण के निवृत्तनान्तर काव्य पद प्रवृत्ति निमित्तयर्थक या काव्य के व्यवहार के लिए उसके लक्षण का निरूपण करते हैं—

‘तदशेषो शब्दाथौ सगुणावनलङ्कृतो पुन क्वाञ्चि

दोषरहित और गुणरहित रही वही अलङ्कारो से रहित भी शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य कहलावे है ।

अर्थात्—काव्य शब्द और अर्थ के मञ्जुल समन्वय में विराजमान है जिस प्रकार ‘अर्घनारीश्वर’—शिव और पार्वती का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी काव्य में नित्य समभाव से रहते हैं । पर ये शब्दाथ तीन विशेषणों से विशिष्ट होने चाहिए ।

(क) श्लेषो से रहित (ख) गुणो से सहित (ग) अलंकार रहित भी यदि कही कही हो तो क्षति नहीं है।

(१) रस के विघातक कतिपय प्रबन्ध दोष, जो रस के प्रतीति के प्रतिबाधक हो वे दोष काव्य में नहीं होने चाहिए। यद्यपि दोष सामान्याभाव या निर्दुष्ट काव्य सर्वथा दुर्लभ है, फिर साक्षात् या परम्परया-शब्दार्थ द्वारा जो दो उद्देश्य प्रतीति के प्रतिबन्धक हो उन दोषों से रहित हो।

(२) गुणों की सम्पत्ति—शब्दार्थ को गुणों से सहित-युक्त होना आवश्यक है। काव्य के मुख्य तीन गुण हैं—साधुयं, भोज और प्रसाद। ये गुण काव्य के आरम्भभूत रस के निरूप्य धर्म हैं। रस के घर्म होने के कारण ही रस के साथ इनका साक्षात् सम्बन्ध है और अप्रधान रूप से परम्परया से शब्द और अर्थ में भी रहते हैं। जिन शब्द और अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है, उनमें गुणों की स्थिति आवश्यक है।

(३) अलंकार की वैकल्पिक स्थिति—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वथा अलंकार से युक्त होना बहुत जरूरी नहीं है। परिस्थिति विशेष में ही अलंकार की अपेक्षा है। इस प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने अपनी प्रौढ टीका प्रदीप में एक मार्मिक टिप्पणी दी है—जिसका सार यह है—प्रदीपकार का कहना है कि चमत्कार सार ही तो काव्य है। और वह चमत्कार या तो रस के द्वारा अभिव्यक्त होगा, अथवा अलंकार के द्वारा जहाँ रस की स्थिति है वहाँ किसी अन्य अलंकार की अपेक्षा नहीं है। इस बात को स्वयं ध्वनिकार ने भी कहा है कि निबन्ध का वाच्यार्थ जहाँ स्वतः रसानुकूल हो ऐसी स्थिति में अलंकार की अनुपस्थिति में भी प्रबन्ध किसी अनिवर्धनीय विच्छिन्नता को परिपुष्ट करता ही है।

परन्तु ऐसी स्थिति में जहाँ शब्दार्थ गौरव हो वहाँ भी यदि अलंकार न हो तो चमत्कार की अनुभूति वहाँ से होगी? इस स्थिति में स्फुटालंकार की भी आवश्यकता है। इसीलिए काव्यलक्षण में “अनलङ्कृता पुन क्वाऽपि” न देकर अलंकार की सामान्यतः वैकल्पिक स्थिति बतलाकर “स्फुटालंकाररसाग्यतर-त्वम्” यह विशेषण देना चाहिए। अर्थात् शब्दार्थ के साथ केवल अलंकार वैकल्पिक स्थिति न देकर रस व अलंकार के विकल्प को रखना चाहिए था।

उक्त लक्षण की कविराज विश्वनाथ कुत आलोचना—

विश्वनाथ कविराज ने अपने “साहित्यदर्पण” नामक ग्रन्थ में मम्मट उक्त काव्य लक्षण की प्रतिपद आलोचना की है। दर्पणकार ने मम्मट के इस काव्य लक्षण को चिन्तनीय बतनाया है। सर्वप्रथम उन्होंने “अदोसी” इस विशेषण पर कटाक्ष किया है कि काव्यप्रकाशकार का यह काव्य लक्षण अव्याप्त है।

अर्थात् लक्ष्य के एक देश में सङ्गत नहीं होता है क्योंकि "न्यक्कारो ह्यपमेव मे यदरय" इत्यादि ध्वनिकाव्य के उदाहरण हैं परन्तु यही पर "अपमेव न्यक्कार" इस प्रकार दोषों के परस्पर उद्देश्य विधेय भाव का विपर्यय होने से विधेया विमर्श दोष है। फलतः उक्त दोष से द्रुष्ट होने के कारण आपका लक्षण यहाँ व्याप्त नहीं है, अतः आपका सक्षण अभ्याप्ति दोषग्रस्त है। इस प्रकार निर्दुष्ट काव्य का मिलना अत्यन्त ही अगम्भाव है। इसलिए काव्य के शब्दार्थ के लिए यह दोषाभाव की शर्त नहीं रखनी चाहिए।

इसी प्रकार सगुणों का भी खण्डन किया। विश्वनाथ का कहना है कि जब गुण रस के घर्म हैं न कि शब्दार्थ के तब काव्य तो सरम होगा ही, घर्मों रस की सत्ता में उसमें घर्म गुणों की स्वतः सत्ता है, इसके लिए पुनः 'सगुणों' यह विदोषण देना सर्वथा अनुचित है, जब रस की सत्ता शब्दार्थ नहीं रहे उस स्थिति में शब्दार्थ के सगुण विदोषण आवश्यक है इस तरह यदि समाधान किया जाए तो रस के अभाव में तो शब्दार्थ में काव्यत्व ही नहीं फिर गुणों की चर्चा करना ही व्यर्थ है। अतः रसाभावदशा में भी सगुणों यह विदोषण उचित नहीं है।

**अनलकृती पुनः क्वाञ्चि—के उदाहरण में भूल—**

भम्मट ने अनलकृती पुनः क्वाञ्चि का अर्थ किया है सर्वत्र सालङ्कार शब्दार्थ काव्य है यदि कहीं स्पष्ट अलङ्कार न भी रहे तो उस दशा में भी काव्य माना जाता है। जैसे—“यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षणा” इत्यादि पद्य में किसी स्वाधीन पतिका का यह कथन है।

यहाँ प्रकृत मामग्री के सद्भाव में भी उत्पत्ता की निवृत्ति नहीं हो रही है। इसमें विश्वनाथ का कथन है कि यहाँ विभावना तथा विशेषोक्ति दोनों अलङ्कार प्रतीत होते हैं एक ही वाक्य में दोनों की स्थिति होने से उनके गुण प्रधान भाव में सन्देह होने के कारण सन्देह सत्कर स्पष्ट ही है। अतः भम्मट का यह कथन कि यहाँ स्पष्ट अलङ्कार नहीं है यह सरासर भूल है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के ऊपर विश्वनाथ के आक्षेप आपाततः यथार्थ प्रतीत होते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कोट व कोई वरील हैं, और भम्मट के ऊपर एक से एक पौइस्ट पकड़ कर बहम कर रहे हो और प्रतिपद दोषारोपण कर रहे हो।

पर भम्मट की काव्य परिभाषा पर थोड़ा भी गम्भीर चिन्तन करने से विश्वनाथ की ये दलीले वपूर की तरह उड़ जाती हैं।

अदोषों का अर्थ है दोषरहित शब्दार्थ काव्य के उपयुक्त हैं। यह दोष दो तरह के होते हैं दोष सामान्य व दोष विशेष। दोष सामान्य के रहने पर भी यदि

काव्य की आत्मा रस की प्रतीति में कोई बाधा नहीं आती है, तो वे दोष-रामान्य हैं दोष नहीं माने जाते हैं।

कुछ दोष विशेष होते हैं। वे रस दोष कहलाते हैं। या शब्दार्थ निष्ठ ऐसे दोष हैं जो परम्परया अर्थात् शब्दार्थ की दूषित करते हुए रस प्रतीति के भी विधातक हैं। ऐसे दोषों का परिहार काव्य में आवश्यक है। ऐसे ही दोषों का परित्याग ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अतः अदोषो यह विशेषण सार्यक ही है। इसी तरह काव्य के लिए गुणों की सम्पत्ति भी आवश्यक है। गुण यद्यपि रस के धर्म हैं परन्तु स्वाश्रया व्यञ्जकत्वं रूप परम्परा सम्बन्ध से वे शब्दार्थ में भी रहते हैं। यहाँ स्व शब्द से गुणों का ग्रहण होगा। उन गुणों का आश्रय रस है और उस रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ है। स्वयं मम्मट ने भी अष्टम उल्लास में कहा है—गुणधुर्या पुनस्तेषा वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।” अर्थात् गौण-रूप में वे गुण शब्द और अर्थ में भी रहते हैं।

आनन्दवर्धन का “काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्” तथा कुन्तक का “सालकारस्य काव्यता” आधिवाय अलकार की उपलक्षक मानकर गुणों की ओर भी संकेत करते हैं। जामन ने तो साफ ही कहा है “विशेषो गुणात्मा” अर्थात्—काव्य में वह वैशिष्ट्य गुणों द्वारा ही है। रस जहाँ काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व है, वहाँ अलकार व गुण शब्दार्थ को सम्भृत करने वाले बहिरङ्ग तत्त्व है। किसी वस्तु के पूर्ण परिचय के लिए उसके अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग तत्त्वों का वर्णन सर्वथा आवश्यक है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लघु-कुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ।

चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ॥ (दा० ४।१७)

अहो ! इस गायन में विशेष कर श्लोकों में कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल में होने वाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ती है। इस पद्य में माधुर्य गुण व भाविक अलकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अमलट्कुतो पुन क्वाऽपि—काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रदर्शित उक्त अस्फुटालकार के उदाहरण “य. कौमारहर” इत्यादि पद्य में विभावना, व विशेषोक्ति मूलक सन्देह सकर की कल्पना कर जो आपत्ति विश्वनाथ ने दिखलाई है उसका निराकरण इस प्रकार है।

यहाँ उत्कण्ठारूप कार्य का वर्णन किया गया है, (गर प्रकृत सामग्री की सत्ता में) उसका कारण नहीं है इसलिए विभावना है, ठीक इसके विपरीत,

जहाँ सब वस्तुएँ उपभुक्तपर है, अर्थात् कारण सामग्री विद्यमान है पर उत्कण्ठाभाव रूप कार्य नहीं है, इसलिए विशेषोक्ति है। और किसी एक अलङ्कार की स्वीकृति में माघक बाघक कोई सामग्री न होने से सन्देह सकर है; विश्वनाथ ने विशेषोक्तिमूलक सन्देह सकर माना है। परन्तु ये अलङ्कार यहाँ भावमुखेन नहीं, अपितु अभावमुखेन निकलते हैं, इसीलिए वे स्पष्ट नहीं हैं प्रत्युत बहुत खीचा तानी से निकलते हैं। अब अस्फुटालङ्कार का यह उदाहरण ठीक ही है।

**कुम्भक की काव्य परिभाषा और वक्रोक्ति—**

आचार्य दुम्भक के अनुसार सलकार शब्द और अर्थ काव्य है इनके मत में अलङ्कार काव्य का मूल तत्त्व है, बाह्य भूषण मात्र नहीं। काव्यत्व की स्थिति अलङ्कार और अलङ्कार्य शब्द-अर्थ के अवयव रहित समस्त समुदाय में ही रहती है।

काव्य मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर कवि व्यापार युक्त रचना (वक्र) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहितरूप में) काव्य कहलाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें शब्द का सम्पूर्ण सौन्दर्य और अर्थ के सम्पूर्ण समत्व दोनो का सम्यक् सामञ्जस्य या विशिष्ट महभाव जहाँ रहता है वह काव्य है। पहले सरलतया काव्य की पहिचान के लिए “सलकारस्य काव्यता” कहकर पुनः काव्य व्यवहार के प्रयोजक-लक्षण को प्रदर्शित करते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिम् ॥

व्यये व्यवस्थितौ काव्य तद्विवाह्यावकारिणि ॥७॥

काव्य मर्मज्ञों ने आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

**कुम्भक की वक्रोक्ति की परिभाषा—**

प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही (वक्रोक्ति) है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि कर्म कोशल उसकी मज्झिमा या छटा (शोभा) उसके द्वारा उक्ति (विचित्र अभिधा) या (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है। संक्षेप में इस पद्य में इसका स्वरूप दिखाते हैं।

उभवेतावतङ्गायो तयो पुनरलङ्कृति ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यमङ्गीकृतिरिति कथ्यते ॥१०॥



यह दोनो (शब्द और अर्थ) अलङ्कार्य होते हैं और चतुरता पूर्ण-कथन प्रकार विशेष रूप वक्रोक्ति ही उन दोनो (शब्द और अर्थ) का अलङ्कार होती है। अर्थात् विविधाऽभिधान व्यापार रूप अलङ्कार ही वक्रोक्ति है। इसी से शब्दार्थ अलङ्कृत होते हैं। यही काव्य की आत्मा है या जीवन है।

**काव्य के विषय में विश्वनाथ का मत—**

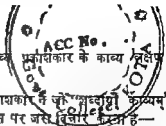
विश्वनाथ कविराज काव्य के उपस्कारक बाह्य उपकरणों की उपादेयता के विषय में किञ्चित् उदासीन से प्रतीत होते हैं। इसीलिए इनका महान् सारम्भ मम्मट के काव्य लक्षण के विधेयणों के खण्डन के लिए रहा। यहाँ तक कि वक्रोक्तिजीवितकार के “काव्यजीवित के रूप में प्रतिष्ठित “वक्रोक्ति” को भी सहजस्वरूप में अलङ्कारस्वरूप मानकर फिर उसके युक्ति के लिए कोई प्रयास भी नहीं करते।

ये काव्य के कला पक्ष से प्रभावित न होकर भाव पक्ष से प्रभावित हैं— इसीलिए बाह्यक्षेत्रों में पढ़कर काव्य के अन्तर्गत का स्पर्श करते हुए— “काव्य रसात्मक काव्यम्” रसात्मक वाक्य की ही काव्य का लक्षण मानते हैं। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आरम्भभूत रस के अभिव्यञ्जक वाक्य को काव्य कहते हैं। यहाँ रस शब्द व्यापक अर्थ में है। अर्थात्-रस से-भाव रसाभास-भावाभास आदि रस के समीवर्ती सभी भावनायें गृहीत हो जाती हैं। पर पण्डितराज को विश्वनाथ का यह काव्य लक्षण अत्यन्त सकीर्ण प्रतीत होता है। एक तो यह महाकवियों के विरुद्ध है, क्योंकि लक्ष्यानुसार लक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि काव्यात्मा जो ध्वनि है, उसके वस्तु ध्वनि अलङ्कार ध्वनि आदि जो महत्त्वपूर्ण भङ्ग हैं उनमें यह लक्षण अभ्याप्त है। अतः काव्य के क्षेत्र में यह लक्षण अत्यन्त संकुचित मालूम पड़ता है।

**काव्य के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का विचार—**

पण्डितराज जगन्नाथ—काव्य में रमणीयार्थ के पक्षपाती हैं—उनका प्रख्यात काव्य लक्षण है—“रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्”। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य में शब्दों द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमें चित्त-रमण करे, आनन्द का अनुभव करे। इस रमणीयता का ही पर्याय वाचक शब्द चमत्कार भी है। यहाँ चमत्कार का अर्थ व्यापक है—

अर्थात्—जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमें अलौकिक चमत्कार या आनन्द का संचार करती है वह “काव्य” कहलाती है।



पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य प्रकाशकार के काव्य-व्यवस्था की कड़ी आलोचना की है—

उनका कहना है कि—काव्यप्रकाशकार ने जो “शब्दार्थो काव्यम्” अर्थात् शब्द और अर्थ को काव्य माना है उस पर जस विचार किया है—

क्या काव्यत्व धर्म उभयनिष्ठ है—शब्द तथा अर्थ में “व्यासज्यवृत्ति” है। अर्थात् शब्द अर्थ दोनों में रहने वाला धर्म है अथवा प्रत्येकपर्याप्त ?

अर्थात्—“शब्द में अलग काव्यत्व और अर्थ अलग काव्यत्व”। इसमें पहला पक्ष अर्थात् “व्यासज्य-वृत्ति” वाला पक्ष नहीं बन सकता है। क्योंकि उस दशा में “एकौ न द्वौ” इस व्यवहार के समान यह श्लोक वाक्य तो है, परन्तु काव्य नहीं है। इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व सत्या दोनों में मिलकर ही रहती है। अलग-अलग नहीं इसी लिए द्वित्वसत्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्य वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं, अभी “द्वौ” ये दो हैं, इस प्रकार का व्यवहार होता है। और जब उनमें से एक ही उपस्थित होता है, उस समय ‘यह दो नहीं, एक है, इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यह श्लोक वाक्य है, काव्य नहीं” यह व्यवहार होने लगेगा। अतः काव्यत्व को व्यासज्य वृत्ति नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार “काव्यत्व” को प्रत्येकपर्याप्त अर्थात् शब्द तथा अर्थ में दोनों में अलग अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उस दशा में एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि में दुहरा काव्यत्व आ जायेगा, इसलिए एक पक्ष में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। अतः न तो व्यासज्यवृत्ति काव्यत्व बनता है और न प्रत्येकपर्याप्त। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है।

नागेश द्वारा मम्मट का समर्थन—

रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशमट्ट ने अपनी रसगङ्गाधर की टीका “मर्मप्रकाश” में पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन कर मम्मट के ही मत का समर्थन किया है। उनका उत्तर इस प्रकार है—

काव्यत्व का प्रयोजक जो रसास्वाद व्यञ्जकत्व है वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से रहता है। काव्य पदा—यहाँ पाठ शब्द है। काव्य को ममम्मा यहाँ बोध अर्थ का है। ये उभयविध व्यवहार सोक में देते जाते हैं। अतः काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति धर्म-अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में मानने में कोई क्षति नहीं है। इसलिए चमत्कार बोध जनक ज्ञान विषयतावच्छेदक धर्मत्व रूप लक्षण शब्द और अर्थ दोनों में रहने से प्रकाशोक्त काव्य अनुपहमनीय है।

103437

काव्य के भेद—

मम्मट ने काव्य के मुख्य तीन भेद माने हैं ।

(१) ध्वनि-काव्य (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा (३) चित्र काव्य ।

(१) ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य कहते हैं—

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्य-अर्थ में अधिक चमत्कार रहे उसे उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य कहते हैं ।

मम्मट के शब्दों में ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) का लक्षण इस प्रकार है—

इदमुत्तममतिर्वादिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै कथितः ॥४॥

अर्थात्—वाच्यार्थ को अपेक्षा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार रहे, वह उत्तम काव्य होता है, विद्वानों ने इसे ध्वनि या ध्वनि काव्य कहा है ।

यहाँ ध्वनि शब्द के परिचय हेतु कुछ बातें आवश्यक हैं ।

साहित्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना आनन्दवर्धनाचार्य ने की है । सर्वप्रथम वैयाकरणों ने स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया था, उन्हीं की कल्पना को ग्रहण कर ध्वनि पण्डित आनन्दवर्धनाचार्य ने शब्द-अर्थ-शब्दार्थ-व्यापार व ध्वन्य तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है । वैयाकरणों ने केवल स्फोट रूप व्यङ्ग्य के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि का प्रयोग किया था ।

संक्षेप वैयाकरणों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

स्फोट भाट वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है । स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है, स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोट तिमसे अर्थ की प्रतीति हो । इन्होंने वाक्यार्थ बोध के लिए एक निश्च-स्फोट की कल्पना की है ।

इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रशास्त्र ध्वनि रूप शब्द से होती है । इस लिए जैसे वैयाकरणों ने अपने यहाँ प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनि पण्डितों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है ।

ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण—

नि शेषन्युतध्वन्दनस्तनतट निमृष्टरागोष्धरो ।

नेत्रे दूरमनञ्जने गुलकिता तन्यो शथेय तनु ॥

मिम्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ।

दापी स्नातुमिती गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२॥

किसी विदग्धोत्तम नायिका की अपनी दूति के प्रति यह उक्ति है—जिसे उसने अपने नायक को बुलाने के लिए भेजा था, परन्तु यह दूती स्नान कार्य के वहाने से अपने व नायक के सम्पर्क को छिपा रही थी, इसी के उत्तर में दूती के स्नाय कार्य द्वारा, उसके रहस्योदघाटन की सुंदर शब्दा में बर रही है कि स्नान के ही कारण तुम्हारे स्नान के अग्रभाग का चन्दन बिलकुल छूट गया है अथर की लालिमा भी लुप्त सी है आँखों में अब अञ्जन भी नहीं है, अरी परवेदना को न जानने वाली दूती ! तू यहाँ से सीधे स्नान के लिए बावली को बल दी उस अधम (नायक) के पाम नहीं बयी ।

यहाँ वक्ता व बोधव्य की विशेषता से (अर्थात् रहस्य को जब दोनों जानती हैं) तब अधम पद की सहायता से—लक्षणा शक्ति द्वारा वापी गमन का निषेध होने में, दूति का नायक के पास जाना ही प्रधान व्यङ्ग्य है । यहाँ वाच्यार्थ—“वापीस्नान” की अपेक्षा व्यङ्ग्याय “तदतिक्रमनरूप” अधिक चमत्कार युक्त है, अतः यह ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण है ।

(२) गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य—(मध्यम काव्य)

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त न हो उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं—

प्रतापशि गुणीभूत व्यङ्ग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ॥

अर्थात्—वाच्य में अधिक चमत्कार व्यङ्ग्य में न होने से गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य कहलाता है—

उदाहरण—

ग्रामतूरुण तूरुण्या नयवञ्जुलमञ्जरी सनायकरम् ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरा मलिना मुखच्छाया ॥३॥

किसी कारणवश संकेतित स्थान में न पहुँच सकने के पश्चात्ताप का सुन्दर वर्णन है ।

ग्राम तूरुण के हाथ में नवीन देवस मञ्जरी को हाथ में लिए हुए देखकर ग्राम तूरुणी का मुख कुम्हला जाता है, अर्थात् उसके मुख की कांति मलिन हो जाती है—

यहाँ यद्यपि संकेत करके भी निश्चित स्थान में नहीं जा सकी यह व्यङ्ग्य अंश है पर मञ्जरी को देखते मुख्य मलिन हो गया इस वाच्यार्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य की अपेक्षा कहीं अधिक होने से यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य या मध्यम काव्य है ।

## चित्र-काव्य—(अधम काव्य)

जिसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव हो या व्यङ्ग्याय वस्पष्ट हो केवल शब्दालंकार या अर्थालंकार की ही प्रधानता हो उसे अधम काव्य या चित्र काव्य कहते हैं।

चित्र शब्द का अर्थ अलंकार है—

शब्दचित्र वाच्यचित्रमव्यङ्ग्य त्ववर स्मृतम् ॥५॥

व्यङ्ग्य अर्थ से रहित शब्दचित्र या अर्थचित्र (दो प्रकार का होता है)। को अधम काव्य कहते हैं।

उदाहरण—

ह्यच्छन्दोन्मत्तसदृच्छकच्छकुहरच्छलैतराम्बुच्छटा ।

मूर्छन्मोहमहविह्वंविहितस्नानाङ्गिकाङ्गाय नः ॥

मिथ्याबुद्धिद्वारवर्धुरदरीदीर्घावरिद्रुम

ब्रीहो ब्रेक्ष्महोममेदुरमवा मन्दाकिनी भवताम् ॥४॥

प्रस्तुत पद्य में कोई भक्त भागीरथी से प्रार्थना कर रहा है कि—

भगवती भागीरथी गङ्गा-आपकी मन्दता अर्थात् अज्ञान को शीघ्र दूर करे। स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, निर्मल किनारे के कच्छ-गह्वरो में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा है, जिसमें, आनन्द पूर्वक स्नान व निस्पृह्य करने वाले महर्षियों का मोह नष्ट हो चुका है। जिसमें बड़े-बड़े मेढक बिछाई पड़ रहे हैं ऐसे कन्दरा हैं जिस मन्दाकिनी में, और प्रबलवेग के कारण, जिसने अपने तटस्थ शाखापत्रों से सम्पन्न बड़े भारी वृक्षों को गिरा दिया है, ऐसी उत्कट वेग वाली मन्दाकिनी आपके अज्ञान या पाप को तुरन्त नष्ट करे।

यद्यपि इस पद्य में भक्त से रहने वाला मन्दाकिनी विषयक-मूज्य-भाव प्रतीत होता है, तथापि वह अनुप्रास की छटा के सामने तिरोहित हो जाता है, प्रधानतया कवि प्रयत्न अनुप्रास की तरफ ही है।

अतः यह शब्दचित्र का उदाहरण है।

अर्थचित्र का उदाहरण—

विनिर्गत मानदमात्ममन्दिराद् भवत्पुपधृत्य यदृच्छयार्जप यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रदुतपातितार्गला निमीलितालीव मियाऽभरावती ॥५॥

शत्रुओं के मान को खण्डन करने वाले, और मित्रों को सम्मान देने वाले जिस हृषीक को बिना किसी उद्देश्य से केवल भ्रमण के लिए अपने महल से

निकला हुआ मुत्कर, स्वर्ग में इन्द्र ने स्वयं नगर के प्रधान द्वार को अर्गल सहित बन्द कर दिया, उस समय ऐसा भालूम पड़ता था मानो इन्द्र की राजधानी अमरावती भागे भय के आँख मूँद रही हो।

उक्त पद्य में यद्यपि हयग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन होने से वीर रम की अभिव्यक्ति हो सकती है, “निमीलिताक्षोव भियामरावती” इस उत्प्रेक्षाजन्य चमत्कार से वह वीर रम ओझल सा हो जाता है। भालूम पड़ता है कि कवि का सरम्भ उत्प्रेक्षा की ओर ही अधिक था। अतः यह अर्थत्रिष का उदाहरण है।

“केचिच्चित्राख्य तृतीय काव्यभिण्वन्ति” कह कर विश्वनाथ ने काव्य प्रकाशकार की तरफ सकेत किया, और स्वयं तृतीय काव्य—चित्रकाव्य में अरुचि प्रकट की, और अपने पक्ष की पुष्टि में उन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के “प्रधानगुणभावाम्या व्यङ्ग्यरूपेण व्यवस्थिते उभे काव्ये” इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य के चार भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अथम।

॥ प्रथम उल्लास समाप्त ॥

## द्वितीय उल्लास

### शब्दार्थ विभाग

प्रथम उल्लास में काव्य-स्वरूप विवेचन के अवसर पर “शब्दार्थौ काव्यम्” कहा था, अब द्वितीय उल्लास में शब्दार्थ का विभाग करते हैं—

प्रथम उपस्थिति का विषय होने से और अर्थ का उपजीव्य होने से शब्द का पहिले निरूपण करते हैं—

“स्माद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽन व्यञ्जकस्त्रिधा” (सू० ५)

यहां (काव्य में) वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार का होता है। अन्य शास्त्रों में व्यञ्जक शब्द नहीं माना जाता है, परन्तु काव्य में तो व्यञ्जक के बिना चमत्कार ही नहीं आता, अतः काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं, वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक।

यहां यह विभाग केवल उपाधिकृत है, शब्दों का नहीं क्योंकि एक ही शब्दाभाव वाचक भी है, लाक्षणिक भी और व्यञ्जक भी।

### अर्थ का विभाग

जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार अर्थ भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

“वाच्यादयस्तदर्था स्तु” (६ सू०)

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य उन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के अर्थ (भी तीन प्रकार के) होते हैं।

इन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्य ये अर्थ हैं, जिस प्रकार ये वाच्यादि पदार्थव्यञ्जनावृत्ति के आश्रय होते हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय है, पर वाक्यार्थ (परार्थविरूप) के बोध के लिए किसी वृत्ति विशेष का निरूपण करना चाहिए, इसी न्यूनता के परिहार के लिए भट्टम प्राचीन नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत अथवा कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों के द्वारा प्रतिपादित, तात्पर्यावृत्ति प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ का भी निर्देश कर रहे हैं—

“तात्पर्यार्थोऽपि केयुचित्”

बिन्ही कुमारिलभट्ट आदि के मत में वाच्यादि अर्थों के अनिश्चित तात्पर्यार्थ भी होता है—

अर्थात्—कुमारिलभट्ट आदि अभिहितान्वयवादी भीमासक पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध बोध के लिए तात्पर्या नाम की एक अलग वृत्ति मानते हैं। इस तात्पर्यावृत्ति का प्रतिपाद्य वाक्यार्थ है, और वाक्य इसका बोधक अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट आदि भीमासको का कहना है कि—अभिधा तो केवल पदार्थ के बोध में समर्थ है वाक्यारूप जो पदार्थों का परस्पर अन्वय सम्बन्ध विशेष है उस ससर्ग का बोध तो तात्पर्या नाम की वृत्ति से ही हो सकता है। इसलिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को भी मानना चाहिए।

इसके विपरीत कुमारिलभट्ट व शिष्य प्रभाकर गुरु और उनके मतानुयायी वाक्यार्थ बोध व लिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को नहीं मानते। वे अन्विता पदा में ही वृत्ति मानते हैं। इनके अनुसार पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ वाक्य ही होता है—

“वाक्य एव वाक्याय” इति “अन्विताभिधानवादिना ।”

अर्थात्—अन्विता का ही अभिधान होता है, वाक्याय अभिधा का ही विषय है, इसके लिए पृथक् तात्पर्या नाम की वृत्ति मानना आवश्यक नहीं है। भीमामा दर्शन प्रभाकर का मत गुरुमत में प्रसिद्ध है।

अभिहितान्वयवाद —

अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि सर्वप्रथम पदों में पदार्थों की प्रतीति होती है, अर्थात् पहिले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित अभिधा शक्ति द्वारा बोधित हो जाते हैं। बाद में आकाङ्क्षा-योग्यता सन्निधि वश इसके सहयोग में अभिहित पदार्थों का अन्वय ससर्ग होता है। जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, इसी अन्वयार्थ के बोध व लिए जिस कुछ लोग ससर्ग मर्यादा में भासित मानते हैं तात्पर्या वृत्ति को मानते हैं। इस प्रकार अभिहित पदार्थों के अन्वय मानने के कारण इन्हें अभिहितान्वयवादी कहते हैं—पदानि अभिहिताति भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमयं बोधयन्तीति ये वदन्ति ते अभिहितान्वयवादिनः। अभिप्राय यह है कि—“घट करोति” इस वाक्य का अर्थ है—“घट दृष्टिकमत्त्वानुकूलं कृति” इसमें घट पद का कम्बुश्रीवादिमान व्यक्ति विशेष घट का अर्थ है अम् प्रत्यय का अर्थ कर्मता, करोति का अर्थ कृति है। परन्तु वाक्याय में ससर्गमर्यादा से या अन्वयबोध नहीं भासित होने वाले वृत्तित्व व अनुकूलत्व तो किसी पद में अर्थ नहीं है। इन्हीं की वाक्यार्थ में उपस्थिति के लिए तात्पर्या वृत्ति की आवश्यकता होती है।

वृत्ति ग्रन्थ में “अभिहितान्वयवादिना मतम्” इस बहुवचन से ग्रन्थकार की इसी मत में (आदर) सम्मति है, यह बात ध्वनित होती है।



### अन्विताभिधानवाद—

अन्विताभिधान वाद के प्रतिपादक आचार्य प्रभाकर हैं। इनके मत में पदार्थ पहले अभिहित हो फिर उनका परस्पर अन्वय होता हो, वह बात नहीं अपितु पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध हो जाता है। अन्वय पूर्व सिद्ध होने के कारण इसके लिए पुनः तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

प्रभाकर का कहना है सर्वप्रथम बालक को सकेतग्रह या पदार्थों ज्ञान वाक्य में ही होता है। क्योंकि बालक को तत्तत् पदार्थों ज्ञान या सकेतग्रह व्यवहार से होता है। और यह व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता है क्योंकि प्रयोजक वृद्ध को जो कुछ भी उपदेश देता है वह वाक्य द्वारा ही देता है, और बालक चुपचाप इनकी चेष्टाओं या व्यवहार का अनुशीलन करता है। जैसे किसी वृद्ध ने किसी को आज्ञा दी कि “गाय ले आओ” या कलम ले आओ” बालक को इनमें से किसी भी पद का ज्ञान नहीं है, न वह मूलम जानता है न ले आओ हो इसी प्रकार मस्कृत में “गामानय” यह वाक्य है। बालक को गी पद के भी अर्थ का ज्ञान नहीं है, और आनय इस पद का भी अर्थ ज्ञान नहीं है। परन्तु जब बालक व्यवहार को देखता है कि अमुक शब्द के उच्चारण करने से मध्यम वृद्ध-अमुक अमुक वस्तु को ला रहा है, तो अन्वित पद या वाक्य में ही सर्वप्रथम बालक को ज्ञान होता है पश्चात् पद-पदार्थ बोध होता है। इसीलिए यह सकेतग्रह केवल पदार्थ होकर (किसी के साथ) अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसीलिए इस मत का नाम अन्विता का अभिधान—अर्थात् अन्वित पद ही अभिधा का विषय है। फिर से अन्वय भान के लिए तात्पर्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, संक्षेप में प्रभाकर के मत का यही सार है।

### अर्थों की व्यञ्जकता

शब्द शक्तियों का विवेचन प्रायः सभी शास्त्रों में हुआ है। शास्त्रकारों ने अपने-अपने विचार से इसका विवेचन किया है। शक्ति के स्वरूप के विषय में भी विभिन्न शास्त्रकारों के परस्पर भिन्न मत हैं।

क्योंकि शक्ति का सम्बन्ध शब्द से है इसीलिए पद-प्रमाण व वाक्य को जिन शास्त्रों में विशेष चर्चा की गई है, उन्हीं में शब्द-शक्ति के विषय में भी विशेष उद्घापोह किया गया है इनमें व्याकरण को पद शास्त्र कहते हैं क्योंकि पदसाधुत्व का अधिक दायित्व व्याकरण पर आता है और व्यास को प्रमाण शास्त्र कहते हैं, यह शास्त्र प्रत्यक्ष या अनुमानादि के द्वारा पदार्थोपरीक्षण

करता है, और वाक्य के विषय विचार करने वाले शास्त्र को भीमासा शास्त्र कहते हैं, भीमासा विशेषतः वेद वाक्यों पर विचार करती है प्रसङ्गत लौकिक वाक्यों से सम्बन्धित पद-पदार्थों पर भी विचार करती है। अतः प्राधान्येन शब्द-शक्ति का विषय इन्हीं शास्त्रों का विषय है, पर प्रसङ्गानुसार अन्य शास्त्रों में भी आनुपङ्गिक रूप से इस विषय की चर्चा होती है। अतः इन्हीं के अनुसार अन्यत्र भी पद-पदार्थ-कल्पना की जाती है।

**वैय्याकरण—**पद-पदार्थ के सम्बन्ध विशेष को ही शक्ति मानते हैं। पद में वाचकता शक्ति है और अर्थ में वाच्यता रूप शक्ति है, एक में बोधजनकता है तो दूसरे में बोध विषयता। यह वाचक वाचक भाव शब्दार्थोभय निष्ठ होगा जो शब्द—है वही अर्थ और जो अर्थ है वही शब्द इस प्रकार इनद्वैतराश्यात्मक तादात्म्य इसी को सकेत कहते हैं। प्राचीन वैय्याकरण-वेदान्त वाचकजनकता को ही शक्ति मानते हैं। जैसे इन्द्रियों की अनादि काल में अपने अपने विषय-रूपादि ग्रहण की योग्यता है, इसी प्रकार शब्दों की भी अर्थ के साथ जो बोध-जनकता है वही शक्ति है।

**संन्यायिकों के मत में—**ईश्वर सबेस ही शक्ति है अर्थात् यह पद इस अर्थ का बोधक हो इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा है वही शक्ति या शक्ति है। या इसी वृत्ति के द्वारा अर्थ बोधक पद वाचक और उससे बोध्य गोत्वादिविशिष्ट अर्थ वाच्य है, इसी को मुख्यार्थ भी कहते हैं।

**मीमांसक—**शब्द की बोधकता शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं जिस प्रकार बल्लि में वाचकता शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में भी एक अर्थ बोधकता शक्ति है, वही सकेत है, इसीलिए ये लोग शक्ति को पदार्थान्तर मानते हैं।

**छालङ्कारिकों के मत में—**शब्दार्थ का परस्पर प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव लक्षण सम्बन्ध विशेष ही शक्ति है। जैसा कि पण्डितराज अनन्नाय ने लिखा है—“शब्दार्थाप्योऽयंश्च शब्दगत शब्दरसार्थगतौ वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा” वे तीन हैं—अभिधा लक्षणा व व्यञ्जना। आमाद्यन् शब्द ने अपन त्रिवेणिका नामक ग्रन्थ में इन शक्तियों का सरल शब्दों में सुन्दर विचार किया है। शक्ति को ही वृत्ति भी कहते हैं। शक्ति वृत्ति य पर्वण्य वाचक शब्द है। उन्होंने उक्त ग्रन्थ के वृत्ति प्रकरण में वृत्ति का विवेचन इस प्रकार किया है—

**वर्तते-अन्वोऽर्थे प्रवर्तते अनयेति वृत्तिः ।**

जिस भाष्य में से शब्द की अर्थ की ओर प्रवृत्ति होती है, वही वृत्ति है। यहाँ वृत्ति बताने इस धातु से करण में विनय प्रत्यय लगाकर वृत्ति शब्द की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अन्यत्र—जैसे अन्व करण वाचक बुद्धि शब्द में भी वृत्ति

प्रत्यय ही है, और भगवद् प्रेम-सूचक भक्ति शब्द में भी वितन् प्रत्यय करण में ही है, जैसा कि भागवत-सुबोधिनी में लिखा है—अत्र धान्वर्ष सेधा । प्रत्ययार्थं प्रमेत्युक्तम् । प्रबोधिण मत्तिनाथ ने भी भृगुवक्ष की टीका “भक्ति प्रतीत्येषु कुतोचिता ते” में भक्ति को व्याख्या करते हुए “भूत्येवमनुरागो भक्ति” ऐसा कहा है । साहित्यदर्पणादि ग्रन्थों में वृत्ति के स्थान में शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और लक्षणा के स्थान पर कही-कही भक्ति शब्द का प्रयोग है तथा व्यञ्जना के स्थान पर व्यक्त का शब्द का प्रयोग मिलता है ।

अतः साहित्यशास्त्र में ये शक्ति-भक्ति-व्यक्ति क्रमशः गङ्गा, यमुना, सरस्वती की तरह है—

“शक्यते-साक्षादभिधीयतेऽन्यथेति-शक्ति” “करणे वितन्”

साक्षात् जिससे अर्थ का प्रतिपादन किया जाए वह शक्ति है—

भज्यते—शक्यते खण्ड्यतेऽन्यथेति भक्तिसंक्षणा, भज्जो आभादने इति धातु से करण में वितन् प्रत्यय । अथवा—

भज्यते-सेव्यतेऽर्पन्तिरमनयेति भक्ति” भज सेवायाम् इस धातु से वितन् प्रत्यय ।

अर्थात्—मुख्यार्थ का खण्डन-बोध हो जिसमें उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं । या मर्पन्तिर का जहाँ बोध हो उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं ।

व्यङ्ग्ये-प्रकटीयतेऽर्पयति व्यक्तिव्यञ्जना ।

व्यङ्ग्यार्थ जिस व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाए उसे व्यक्ति या व्यञ्जना कहते हैं ।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इन शक्तियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

वाक्योऽर्थोऽभिधेया बोध्यो लक्ष्यो लक्षण्या भूत ।

व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्फुटित्वं शब्दस्य शक्तयः ॥३॥

वाचक-शब्द का स्वरूप—

इस प्रकार वाचक, लक्षण व व्यञ्जक के अभिधेया, लक्षणा व व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा क्रमशः वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होते हैं ।

यह नियम है कि वृत्ति के बिना किसी भी शब्द में अर्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता है अतः तत्तत् शब्दों से तत्तत् वृत्ति के द्वारा तत्तत् अर्थों का प्रकाशन होता है । आचार्य मम्मट सर्वप्रथम वाचक शब्द निरूपण करते हुए कहते हैं—

साक्षात् सकेतित योऽर्थमभिधत्त स वाचकः ॥ (सू० ६)

जो शब्द साक्षात् सकेतित अर्थ कहना है, यह वाचक शब्द कहलाता है ।

लोक व्यवहार में सकेत सहायक शब्द ही अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है, इसलिए जिस शब्द का जिस अर्थ में साक्षात्-विना किसी व्यवधान के सकेत ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। यह सकेत ग्रह अनेक प्रकार से होता है—व्याकरण से भी सकेत ग्रह होता है जैसे घातु पाठ में पढ़ा है कि भू घातु सत्ता अर्थ में है, और सून स जैसे “साधकतम करणम्” आदि साधकतम का करण अर्थ में सकेत ग्रह हुआ। इसी प्रकार वाचक व पाठक आदि का भी निर्णय व्याकरण के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार उपमान—जैसी गाय है वैसा ही मयूर भी होगा है। इसी तरह कोश आप्तवाक्य व व्याख्या आदि सकेत ग्रह के उपाय हैं।

इन सबमें मुख्यरूप में व्यवहार है क्योंकि अधिकांश शब्दों का या सबसे पहिले वालक को सकेत ग्रह या व्यवहार से ही ज्ञान होता है जैसा कि तन्विताभिधानवादी आचार्य प्रभाकर आदि का मत है।

**सकेतग्रह का विषय -**

यह एक समस्या है कि सांसारिक पदार्थों की तो कोई सीमा नहीं है, फिर कहाँ कहाँ इनमें सकेत किया जाए क्योंकि जिस पदार्थ या व्यक्ति में सकेत किया जायेगा उसी पदार्थ का ज्ञान होगा तदतिरिक्त पदार्थ का तो ज्ञान होगा नहीं जैसे—यदि कहा जाए कि ‘घट पदान् कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ-विशेषो बोधव्य’ घट पद में कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ का बोध हो तो अस्मान् पदार्थमर्थो बोधव्य के नियम से घट का ही बोध होगा न कि पट का।

यदि प्रत्येक व्यक्ति में सकेत ग्रह किया जाए तो यह असम्भव है। क्योंकि दुनियाँ के अनन्त व्यक्तियों में सकेतग्रह सम्भव नहीं है।

इसीलिये किसी व्यक्ति विशेष में सकेतग्रह नहीं हो सकता, अनन्त व्यक्तियों में एकत्र या एक समय में उपस्थिति ठी हो नहीं सकती है। इसलिए व्यक्ति पक्ष में यह आनन्द बोध आ जाता है। और दूसरा दोष आता है व्यक्तिचार नियम का उल्लंघन ॥ मान लिया जाए एकत्र दो चार व्यक्तियों में सकेत ग्रह हो भी गया तो दोष व्यक्तियों का विना सकेत ग्रह में ही व्यवहार होता रहेगा, इस तरह में यह नियमभङ्गरूपी दूसरा दोष भी आ जाता है, अतः व्यक्ति पक्ष में तो कथमपि सकेतग्रह बनता नहीं है। इसलिए हम अब दुनियाँ के पदार्थों का उपयुक्त विभाजन करना पड़ेगा, जिससे तत्तत् वर्ग के सभी पदार्थ आ जायें और सरलतया सबमें सकेतग्रह भी हो जाए, इसमें एकनो व्यक्ति में सकेत ग्रह न करके व्यक्ति की उपाधि या जाति में सकेतग्रह किया जाए—जैसे गो व्यक्ति में न करके गोत्व जाति या उपाधि में सकेत ग्रह किया जाय। और यह सकेतित आत्मादि अर्थ भी चार प्रकार का होता है—जाति गुण, क्रिया, और द्रव्य वरुणाशब्द। आचार्य भट्ट के शब्दों में यह इस प्रकार है—

सकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जाति रेव वा ।

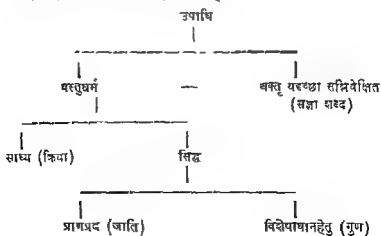
सकेतित अर्थ (पदार्थ) जाति आदि वर्धात्—जाति, गुण, क्रिया, और द्रव्य (यदृच्छा) भेदो से चार प्रकार का होता है। यह मम्मट का जात्यादि पक्ष है मीमांसको का पक्ष है, केवल जाति में ही सकेत ग्रह मानना ।

अर्थात्—केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त—व्यवहार का प्रयोजक मानना न कि गुण क्रिया, द्रव्य को भी ।

कहने का तात्पर्य यह है कि—जैसे—बोत्व जाति में आप सकेतग्रह करते हैं, इसी प्रकार गुण क्रिया व द्रव्य में भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है । जैसे अनेक गो व्यक्ति में रहने वाला अनुगत प्रत्यय हेतु सामान्य (एकाकार प्रतीति में कारण जाति) गोत्व एक ही है, इसी प्रकार गुणादि में भी अनेक शुक्ल व्यक्ति में रहने वाला शुक्लत्व सामान्य और अनेक पाकादियों में रहने वाला पाकत्व सामान्य, अनेक द्वित्वादियों में रहने वाला द्वित्वत्व सामान्य एक ही है, अतः केवल जाति में ही सकेत मानना चाहिए । यह मीमांसको का जाति पक्ष है ।

पर ग्रन्थकार को यह पक्ष अभीष्ट नहीं है । उन्होंने जाति-गुण-क्रिया व द्रव्य (यदृच्छाशब्द) में ही सकेतग्रह माना है । इस विषय में उ होने व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी वचन प्रमाण रूप से उद्धृत किया "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति" इति महाभाष्यकार । इस प्रकार जाति-गुण क्रिया और-द्रव्य (सज्ञा शब्द) इन चारों को प्रवृत्ति निमित्त माना है । यह उपाधि या जाति भी दो तरह की है—वस्तु धर्म और वस्तु यदृच्छा सन्निवेशित (सज्ञा शब्द) वस्तु धर्म भी दो प्रकार का है—सिद्ध और माध्य यह सिद्ध भी दो प्रकार का है—पदार्थ का प्राणप्रद, और विशेषाधान हेतु ।

उपाधि का विषय विभाग इस प्रकार है—



सकेतग्रह के विषय में नैयायिकों का मत—

नैयायिकों के मत में सकेतग्रह केवल जाति में भी नहीं माना जाता और केवल व्यक्ति में भी नहीं माना जा सकता है। यद्यपि अर्थक्रियाकारित्व केवल व्यक्ति में ही है न कि जाति में तथापि व्यक्ति पक्ष में सकेतग्रह मानने से वही पूर्वोक्त दो दोष—आनन्त्य व व्यभिचार दोष आ जाते हैं और केवल जाति में सकेतग्रह करने यदि व्यक्ति का आशेषात् ज्ञान कर लें तो भी "शास्त्री ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते" इस नियम के अनुसार अर्थात्—शब्द शक्ति से लक्ष्य अर्थ का ही शब्द बोध में अन्वय होता है। आशेषलभ्य अर्थ का शब्द बोध में अन्वय नहीं होता है। इसलिये—“अथवत्याकृतिजातयस्तु पदार्थ” इस नियम के अनुसार “तद्वान्” अर्थात् जानिद्विशिष्ट व्यक्ति में ही सकेतग्रह मानना चाहिए।

सकेतग्रह के विषय में बौद्ध मत—

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ होता है अपोह। अपोह का अर्थ होता है, अननुव्यावृत्ति, या तदभिन्न-भिन्नत्व, है। दश घट व्यक्तियों में घट घट इस प्रकार की एकाकार प्रतीति (अनुवृत्तिपक्षय) का कारण नैयायिक जैसे “घटत्व” सामान्य को मानते हैं इसी प्रकार बौद्ध भी दश घट व्यक्तियों में जो घट घट इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण अपोह या अघट व्यावृत्ति या “घटभिन्नभिन्नत्व” को मानते हैं।

अर्थात्—घट से भिन्न मात्रा जगत् और उसका भेद घट में है। इस प्रकार बौद्धों के मत में अपोह ही शब्द का अर्थ है या सकेतग्रह का विषयीभूत पदार्थ अपोह ही है।

अभिधाशक्ति या व्यापार—

सकेतग्रह का विषयीभूत अर्थ ही शब्द का मुख्यार्थ है।

इस मुख्यार्थ में शब्द का जो व्यापार होना है उसे अभिधा कहते हैं।

त मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोष्यते ॥८॥

अर्थात्—वह सामात् सवेतिन अर्थ ही मुख्यार्थ है, उस मुख्यार्थ के बोधन कराने में शब्द का जो व्यापार है उसे “अभिधा” व्यापार या “अभिधा शक्ति” कहते हैं।

लक्षणाशक्ति या व्यापार—

जहाँ किसी प्रतिदिष्टि या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ अपने में सम्बद्ध किसी लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है उस अर्थ का लक्ष्यार्थ कहते हैं, और उस लक्ष्यार्थ की बोधिका शक्ति का नाम लक्षणा शक्ति है।

इसमें तीन शर्तें हैं (१) मुख्यार्थ का बोध होना, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ कोई न कोई सम्बन्ध होना, (३) रुद्धि (प्रसिद्धि) अथवा प्रयोजन का होना ।

मुख्यार्थवाधे तद्योगे रुद्धितोऽयं प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् तदा लक्षणा रोपिता क्रिया ॥६॥

मुख्यार्थ का वाध (अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति) होने पर उक्त मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने पर रुद्धि अथवा प्रयोजन विशेष में, जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ व्यक्त होता है, वह मुख्यरूप से अर्थ में रहने वाला परम्परया राज्य के आरोपित व्यापार लक्षणा है ।

लक्षणा के सम्बन्ध में विभिन्न मत—

नैयायिकों का मत है कि—शक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है । इनमें प्राचीन नैयायिक अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं, और नव्य नैयायिक-तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं । विश्वनाथपञ्चानन ने ग्याय सिद्धान्तमुक्तावली में लिखा है—

“लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तारपर्यानुपपत्तिः ॥”

मीमांसकों का सिद्धान्त है कि शक्यार्थ सम्बन्ध के ज्ञान होने से जो शक्य अर्थ की उपस्थिति है वही लक्षणा है, जैसे गङ्गा पद में शक्यार्थ प्रवाह का ज्ञान हुआ उससे पुनः (एक सम्बन्धी ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है) इस ग्याय के अनुसार तीर की स्मृति हो जाती है, यही लक्षणा का स्वरूप है ।

वैयाकरणों के मत में—शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्षणा है । वे संकेतित अर्थ के धर्म का असंकेतित अर्थ में आरोप कर लेते हैं ।

इसी का नाम अन्य के धर्म का अन्य में अभ्यास है । गङ्गाया घोष इत्यादि स्थलों में शक्यतावच्छेदक धर्म प्रवाहत्व या गङ्गात्व का तीर रूप अर्थ में अभ्यास कर लेते हैं और यह तीर रूप अर्थ की उपस्थिति अभिधा द्वारा ही हो जाती है अतः अभिधा का ही एक भेद लक्षणा है जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है—“अर्थमात्रं विपर्यस्त शब्द स्वार्थे व्यवस्थितः” अर्थात् अर्थ मात्र ही बदल जाता है, शब्द अपने रूप में व्यवस्थित ही है ।

कुछ आसन्नारिचों की लक्षणा के विषय में असहमति जैसे वैयाकरण लक्षणा के पृथक् वृत्ति के विषय में उदासीन हैं । अभिधा के ही प्रसिद्ध व अप्रसिद्ध भेद मानकर, अप्रसिद्ध भेद को लक्षणा मान लेते हैं, इसी प्रकार कुछ आलंकारिक भी लक्षणा को स्वतन्त्र वृत्ति न मानकर अलंकारों में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं—

जैसे—वामनाचार्य ने सादृश्य हेतु लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार में अन्तर्हित कर दिया—“सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति” (४-३-८) अलंकार रत्नाकर में शोभाकर मित्र ने तो यहाँ तक कहा है कि—सादृश्य प्रयुक्त या सम्बन्धान्तर प्रयुक्त जितना भी उपचार का विषय है वह सब रूपक में आ जाता है।

“सादृश्य प्रयुक्त सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामान्यतया निदर्श स सर्वोऽपि रूपकम् ।”

काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षण के भेद—

लक्षणा के भेदक हेतु हैं—रूढि और प्रयोजन। अर्थात् लक्षण के रूढिगत भेद और प्रयोजनगत भेद होने।

रूढि का उदाहरण है “कर्मणि कुशल” (चित्रण में या निमित्त में) यहाँ कुशल शब्द का व्युत्पत्तिसम्य अर्थ (व्याकरण के द्वारा निश्चित अर्थ) है “कुशान् लाति आदत्ते” इति कुशल। (कुशों को लाने वाला) प्रकृत में “कुशों को लाने वाला” इत्यादि अर्थ का कोई सम्बन्ध न होने से मुख्यार्थ का बोध होता है। तदनुसार विवेचनत्वादि सम्बन्ध से कुशल पद दश अर्थों में रूढ (प्रसिद्ध) होने से मुख्य स अन्य अर्थ दश या घटुर अर्थ लक्षित होता है। अतः कर्मणि कुशल यह रूढि का उदाहरण है।

प्रयोजन का उदाहरण—“गङ्गाया घोष” है।

यहाँ गङ्गा पद का मुख्यार्थ बगीरथरथरातावन्निष्पन्न जलप्रवाह है। घोष का अर्थ है कुटिया (कौटेज) जलप्रवाह कुटिया का बाधक नहीं बन सकता है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है। गङ्गा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध होने पर, “गङ्गातटे घोष” इत्यादि पदों का प्रयोग में अलम्प्य शैत्य पावनत्वादि अर्थों की प्रतीति स्वरूप प्रयोजन से मुख्य गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ से अनुरूप तीरादि जो लक्षित होते हैं वह शब्द का व्यवहिनार्थ विषयक आरोपित शब्द व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा का रहस्य—

सादृश्य यह है कि वाच्य नाटकादि साहित्यिक ग्रन्थों में त्रिज शब्दों का प्रयोग होता है, उनसे प्रकाशित होने वाला अर्थ ज्ञान तीन प्रकार का होता है—(१) सुन्दर, (२) सुन्दरतर, (३) सुन्दरतम।

सामान्यजनो की बोलचाल के शब्दों से होने वाला अर्थज्ञान सामान्यतः सुन्दर है। जैसे—देवदत्त गांव को जाता है। यह मुख्यार्थ-विषयक अभिधा-व्यापारजन्य है, इससे स्वार्थ चमत्कार नहीं है। लक्षणाजन्य चमत्कार चाक्षर या सुन्दरतर है—किसी ने अपने मित्र से पूछा आपका निवास स्थान कहाँ है?



उसने उत्तर दिया गङ्गा के पास है। तो मित्र ने समझ लिया कि गङ्गा के आसपास कहीं होगा, इसलिए इसके घर जाने से क्या फायदा, न तो वहाँ शीतलता है और न पवित्रता। फिर दूसरे मित्र से पूछा कि आपका निवास स्थान कहां है तो उसने उत्तर दिया—गङ्गा मे ही मेरी कुटिया है। अब इसे विश्वास हो गया कि गङ्गा से ज्यादा दूर नहीं है, अवश्य यहाँ शीतत्वपावन-त्वातिशय की प्राप्ति हो सकती है। अब मित्र उसके घर चलने को राजी हो गया।

यह शब्द प्रयोग की विशेषता है कि एक जगह अभीष्ट प्रयोजन की प्रतीति हो जाती है, और एक जगह नहीं हो रही है, प्रथम मित्र का कथन अभिधा का विषय है, जिसमें शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति नहीं होती है।

दूसरे मित्र का कथन—लक्षणा का विषय है, जिसमें श्रोता को सुनते ही अपने अभीष्ट प्रयोजन पर विश्वास हो जाता है। वाचक व लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग में यही अन्तर है। अन्यथा शब्द प्रयोग तो स्वायत्त है, क्यों अव्यक्त शब्दों का प्रयोग किया जाय ?

“गङ्गाया घोष” गङ्गा में कुटिया है इत्यादि स्थलों में यद्यपि लक्षणाशक्ति का विषय नष्ट ही है, क्योंकि लक्षणा को पहुँच ही तब तक है, उससे अधिक जो शैत्यपावनत्वातिशय का ज्ञान तो व्यञ्जना व्यापार का विषय ही है, पर यह व्यञ्जना यहाँ लक्षणाभूला है। इसीलिए इस प्रयोजन को लक्षणा का फल भी कहते हैं। यह प्रयोजन या फल हमेशा व्यङ्ग्य ही होता है। अनएव यह लक्षणा का उदाहरण सुन्दरतर है। निरुद्ध लक्षणा या रूढ़ि लक्षणा में कोई प्रयोजन न होने से अभिधा व्यापार की तरह वह पद सामान्यरूप होने से सुन्दर है।

**लक्षणा के अदान्तर भेद—**

यह लक्षणा उपादान लक्षणा व लक्षणलक्षणा के भेद से पुन दो प्रकार की होती है।

**उपादान लक्षणा—**जहाँ वाक्य में स्थित पद अपने सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का “उपादान” ग्रहण करते हुए, अन्य अर्थ का भी आक्षेप किया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। “कुन्ता प्रविशन्ति” इसका उदाहरण है।

यहाँ कुन्त (नाले) अपने प्रवेशन क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप होता है, और स्वयं कुन्तों का भी उपादान ग्रहण होता है। इसीलिए यह उपादान लक्षणा का उदाहरण है।

कुन्तों की अतिगहनता ही यहाँ प्रयोजन है।

**सप्तमलक्षणा**—वाक्य में दूसरे की अन्य की सिद्धि के लिए जहाँ अपने मुख्यार्थ का परित्याग करना पड़ता है, उस 'सप्तमलक्षणा' कहते हैं। इसका उदाहरण—“यज्ञाया घोष” है।

यहाँ यज्ञा शब्द पर घोष की आधाररव सिद्धि के लिए अपने प्रवाहस्य मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध में अन्य तत्प्राय वा बोध कराता है अतएव यह सप्तमलक्षणा का उदाहरण है, शैत्यशवनस्वानिश्चय की प्रतीति प्रयोजन है।

ये दोनों उदाहरण—‘स्वसिद्धये पराक्षेपा’ रूप उपादान लक्षणा का कुन्ता प्रविशन्ति यह और परार्थ स्वसमर्पण रूप लक्षणा लक्षणा वा यज्ञाया घोष यह। ये दोनों शुद्ध के ही भेद हैं क्योंकि यहाँ उपचार का निश्चय नहीं है।

यहाँ सादृश्यमूलक कोई सम्बन्ध होता है, वही उपचार होना है। उक्त स्थलों में तो समीप्यादि सम्बन्ध है वन ये शुद्ध के भेद हैं। विभिन्न पदार्थों का किन्ती सादृश्यानिश्चय के द्वारा जहाँ परस्पर भेद प्रतीति का स्थान हो जाय उस उपचार कहते हैं। जैन—‘अग्निर्माणवक’ इत्यादि स्थल में। ‘उपचारो हि नामादस्त विशाकतितयो शब्दयो सादृश्यातिशयमहिन्ना भेदप्रतीतिस्थान-मात्रम्। (साहित्यदर्पण)

**मुकुलभट्ट के उपादान लक्षणा के उदाहरणों का सङ्कलन—**

मुकुलभट्ट के अपने ग्रन्थ ‘अग्निप्रादुर्भा मातृका’ में उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिखलाये हैं। एक—‘गौरनुबन्ध’ दूसरा—‘पीनो देवदत्तो दिवा न मुद्वक्षते’

**प्रथम उदाहरण—“गौरनुबन्ध”** यहाँ पर मुकुलभट्ट का कहना है कि श्रुतिचोदित अनुबन्धन यहाँ गोम्व जाति का तो हो नहीं सकता है आ-उपादान लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ जाति से अन्वार्थ व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है, इन पर सम्मट का कहना है कि यहाँ उपादान लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐम स्थली में तो आक्षेप या अनुमान से ही व्यक्ति का लाभ हो जाता है, प्रयोजन व रूढ़ि के न होने के कारण यहाँ लक्षणा की कोई गुञ्जाइश ही नहीं है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—“पीनो देवदत्तो दिवा न मुद्वक्षते” यह भी उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता, यह श्रुतार्थान्वति या अनीति का विषय है।

**शुद्ध तथा गौणी विषयक मुकुलभट्ट का सिद्धान्त—**

मुकुलभट्ट के अनुसार गौणी लक्षणा में तो सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य तथा लक्षक की अभेद प्रतीति होती है—जैसे—“गौर्बाहोर्क” में पी तथा

वाहीक अर्थों में अभेद प्रतीति होती है, तभी उन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होने में समान विभक्ति में प्रयोग होता है। परन्तु शुद्ध लक्षणा में तो अर्थात् उपादान लक्षणा व लक्षण लक्षणा में "गङ्गाया घोष" इत्यादि स्थलों में लक्ष्य तट तथा लक्षक गङ्गादि शब्दों में तो अभेद नहीं अपितु भेद रूप ताटस्थ की ही प्रतीति होती है। अतः शुद्ध तथा गौणी का भेदकधर्म यही है। एकत्र शुद्धा में लक्षक लक्ष्य में भेद प्रतीति तथा अन्यत्र गौणी में लक्षक व लक्ष्य में अभेद की प्रतीति। यही इन दोनों में अन्तर है।

**मम्मट द्वारा ताटस्थ सिद्धान्त का निराकरण—**

मम्मट को मुकुलभट्ट का शुद्ध व गौणी के विषय में यह ताटस्थ सिद्धान्त अप्रिय नहीं है। उनका कहना है कि शुद्धा के भेदों में भी लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति ही होती है, फलें सिर्फ इतना ही है कि एकत्र गौणी में उपचार का मिश्रण रहता है, और अपरत्र शुद्धा में उपचार का मिश्रण नहीं रहता है। यदि शुद्धा के उदाहरण "गङ्गाया घोष" इत्यादि स्थलों में लक्षक व लक्ष्य में अभेद प्रतीति नहीं मानोगे तो तट में गङ्गात्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी। तट के साथ केवल गङ्गा का सम्बन्ध मात्र मानने से तो "गङ्गायास्तटे घोष" गङ्गा के किनारे घोष है, इस मुख्य शब्द के कथन से लक्षणा का भेद हो गया रह जायेगा।

**शुद्धा तथा गौणी के भेद—**

जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोप विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथित होते हैं वहाँ दूसरी (गौणी) सारोपा लक्षणा होती है—

“सारोपान्या तु यत्रोक्ती विषयो विषयस्तथा ॥

और भागेप्यमाण (उपमान) के द्वारा यहाँ (आरोप विषय) उपमेय को निरीर्ण किया जाय, अर्थात् उपमान शब्दक पद के द्वारा ही उपमेय का भी बोध कराया जाय उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं।

विषयस्त कृतेऽप्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

यदि यह आरोप वा अध्यवसान साध्यमूलक हो तो गौणी के लक्षणा होगी, यदि किसी सम्बन्धान्तर से होय तो शुद्धा लक्षणा होगी।

उपादान गौणी सारोपा का उदाहरण है "गौर्वाहीक" यहाँ गौ तथा वाहीक दोनों के समान गुणों के वाश्रयरूप में वाहीक अर्थ ही लक्षणा द्वारा उपस्थित होता है।

यहाँ गौ आरोप्यमाण उपमान है और आरोप विषय उपमेय है वाहीक दोनों में जाड्यमान्वादि गुणों की समानता के कारण वाहीक में गौ का आरोप किया है। दोनों का निर्देश शब्दतः होने से सारोपा गौणी का उदाहरण है। लक्षणलक्षणा—गौणी साध्यवसाना का उदाहरण—गौरयम् है।

यहाँ आरोग्यमाण गौ के द्वारा आरोग्य विषय उपमेय बाहीक का निर्णीर्ण हो चुका है। साथ ही साथ पूर्वोक्त जाड्यादि गुणों के द्वारा सामानाधिकरण्य भी है, अतः यह उदाहरण गौणी साध्यवसाना लक्षणा का है।

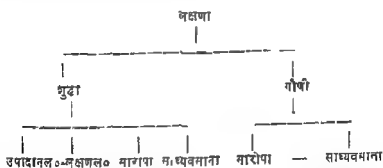
**शुद्धा सारोपा का उदाहरण**—“आयुर्धृत्तम्” धी आयु है। यहाँ आरोग्य-मान उपमान आयु व आरोग्य विषय उपमेय धी दोनों का शब्दगत निर्देश है, और यहाँ साक्ष्य में अतिरिक्त कार्यकारण सम्बन्ध है अर्थात् धी कारण है और आयु कार्य है, धी खाने में अवश्य आयु बढ़ती है यही इसका प्रयोजन भी है।

**शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण**—“आयुरेवेदम्” यह (धी) आयु ही है। यहाँ आरोग्यविषय धी का आरोग्यमाण उपमान आयु के द्वारा निर्णीर्ण हो चुका है अतः यह उदाहरण शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का है। निश्चित रूप से पायु बढ़ाना समप्रयोजन पूर्ववत् है—

### लक्षणा तेन पञ्चविधा

इस प्रकार पूर्व भेद उपादान लक्षणा, व लक्षणलक्षणा, सारोपा व साध्यवसाना ये शुद्धा के चार भेद हैं, और गौणी के केवल दो भेद—सारोपा व साध्यवसाना, सब मिलकर छ भेद हुए—

इनका विषय विभाग इस प्रकार है—



पुनः व्यङ्ग्य की दृष्टि से लक्षणा का विभाग—

यह लक्षणा पुनः शब्दार्थ, गूढशब्दार्थ, अशब्दार्थ, अशब्दार्थार्थ तीन प्रकार की होती है। रुचि में—“कर्मणि कुश्ल” इत्यादि स्थलों में व्यङ्ग्य सहित होगी और प्रयोजनवती लक्षणा व्यङ्ग्य सहित होगी।

वह प्रयोजन भी कही गूढ होगा और कही अगूढ।

**गूढ (व्यङ्ग्य), प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण**—

“मुख विकसित स्मितम्” इत्यादि हैं।

यह किसी इन्दुवदना की तरुणिमा का सुन्दर वर्णन है।

इस सुन्दरी का मुख स्मित रूपद्रास्य से विकसित ॥

यहाँ विकास पुष्प का धर्म है, इसको स्मित में बाध होने में लक्षणा के द्वारा स्मित की सातिशयता लक्षित होती है, इससे मुख में सौरभादि व्यङ्ग्य है, यह व्यङ्ग्य सर्वजनवेद्य न होने के कारण गूढ है।

अगूढ व्यङ्ग्य प्रयोजनयत्नी लक्षणा का उदाहरण—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि मयन्त्यसिंहा विदग्धचरितानाम् ।

उपदिशति कामिनीना यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरो के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं, (पुन अर्थान्तर न्यास से इसका समर्थन करते हैं) जैसे यौवन मद ही कामिनियों की ललित उपदेश कर देता है।

यहाँ "उपदिशति" यह पद अगूढ व्यङ्ग्य है, क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापन रूप उपदेश तो चैनन का धर्म है न कि जड़ यौवन मद का, अतः मुख्यार्थ का बाध होने से सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध से उन चेष्टाओं का आविष्कार मात्र लक्ष्य है, अनायास ललित चेष्टाओं का ज्ञान यह व्यङ्ग्य याच्यार्थ की तरह स्पष्ट मालूम पड़ता है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के मत में छः प्रयोजनयत्नी लक्षणार्थ पूर्ववर्णित हैं। इनके प्रयोजन स्वरूप व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने से ये बारह प्रकार की हो गई। रुढ़ि का केवल एक भेद है, सब मिलाकर तेरह प्रकार की लक्षणा हुई।

साहित्यवर्णनकार ने मम्मट के छ भेदों के स्थान पर सोलह भेद माने हैं। उन्होंने रुढ़ि तथा प्रयोजन की भी भेद का कारण माना है। इस प्रकार उपादान लक्षणा दोनों के रुढ़िगत व प्रयोजनगत होने में चार भेद हो जाते हैं। फिर इन चारों में सारोपा और साध्यवासना मान लेने से आठ भेद हो जाते हैं। इन आठों में शुद्ध तथा गौणी के भेद से सोलह प्रकार की लक्षणा हो जाती है पुन इन भेदों के व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने में और धर्म भन होने में पद व वाक्य गत लक्षणा के मानने से अस्ती प्रकार के भेदों के विस्वताय ने दिखलाया है।

लाक्षणिक शब्द—

इस प्रकार लक्षणा के अवान्तर भेदों का निरूपण करके अब पूर्व प्रसङ्ग से अनुकृष्ट लाक्षणिक शब्द का विवेचन करते हैं—

उस लक्षणा शक्ति का आश्रयभूत यह "गङ्गादि" शब्द लाक्षणिक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रवाहरूप अर्थ का वाचक-गङ्गादि शब्द लक्षणा शक्ति

की परिधि में आ जाने में उपचारदश सांख्यिक कहलाता है। "तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।"

उन सांख्यिक शब्दों के द्वारा जब शैत्यपादनत्वादि प्रयोजन का प्रतिपादन करना पड़ता है तो व्यञ्जनात्मक व्यापार को आवश्यकता होती है।

अर्थात्—प्रयोजन केवल व्यञ्जना व्यापार का ही विषय है।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जना वृत्ति की अपारहमैता—क्योकि—

जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए सांख्यिक शब्द का आशय लिया जाना है, केवल उसी सांख्यिक शब्द द्वारा सम्यक् फल (प्रयोजन) के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त (शब्द) का अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

यस्य प्रतीतिमाघातु लक्षणा समुपास्थये।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥१४॥

जब प्रयोजन की प्रतीति में तो अमिधा वृत्ति से हो सकती है, क्योंकि पावनत्वादि प्रयोजनों के प्रतिपादन बद्धादि शब्दों में इस प्रकार का सबैत यह नहीं किया गया है और मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं से न होने से लक्षणावृत्ति का भी विषय नहीं है।

लक्षणावृत्ति प्रयोजन की प्रतीति तब करानी जब यहाँ लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ माना जाता, पर यहाँ तो तट रूप मुख्यार्थ नहीं है न उसमें किसी प्रकार का बाध ही है, और न शैत्य पावनत्वादि फल के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही है। फिर प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में आगे कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं है।

यदि प्रयोजन सहित तट को लक्षणा का विषय माना जाए तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि विषय और फल में भेद होना, जैसे ज्ञान का विषय ज्ञान के फल में भिन्न होता है, उसी प्रकार लक्षणा ज्ञान का विषय तट है और लक्षणा ज्ञान का फल पावनत्वादि ये दोनों परस्पर भिन्न हैं।

अतः प्रयोजन विशिष्ट तट लक्षणा व्यापार का विषय नहीं हो सकता। क्योकि "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्ध फलमन्यदुदाहृतम्"।

अर्थात्—ज्ञान का विषय (घटादि) अलग और ज्ञान का फल (नैय्यायिकों) के मत में अनुव्यवसाय और मीमांसकों के मत में ज्ञातता (प्रकटता) अलग बने गये हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

न्याय सिद्धान्त के अनुसार पहिले घटग्यानीलादि पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा हो जाता है, "अथ घट" इस प्रकार का ज्ञान। पश्चात्

“घटविषयक ज्ञानवानहम्” या “घटमह जानामि” इस प्रकार का यह दूसरा ज्ञान अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहा जाता है। पहला ज्ञान विषय-घट से उत्पन्न होता है इसलिए यह व्यवसायात्मक ज्ञान है, दूसरा ज्ञान घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहलाता है इसी को दूसरे शब्दों में सदिति भी कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान घट ज्ञान का फल हुआ।

अर्थात्—घट ज्ञान के विषय घट से उस घट ज्ञान का फल “अनुव्यवसाय” भिन्न है इसीलिए विषय और फल दोनों की समकालीन उपस्थिति नहीं होती है।

**मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त—**

मीमांसकों के मत में अथ घट इस प्रकार के ज्ञान होने के बाद “जानो मया घट” इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट में रहने वाला ज्ञातता या प्रकटता नामक धर्म भासता है। यह धर्म घटज्ञान के पहिले घट में नहीं था, घट ज्ञान के बाद आया, अतः वह ज्ञान से उत्पन्न होने से ज्ञान उसका कारण है, अन्यथा ज्ञातता की अनुपपत्ति है, इसी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है।

नैयायिकों का अनुव्यवसाय जैसे गारमा में रहने वाला धर्म है, वैसे ही मीमांसकों का यह ज्ञातता धर्म घटादि विषय में रहने वाला धर्म है वही इन सिद्धान्तों में भेद है—

दोनों ही मतों में ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, क्योंकि विषय ज्ञान का कारण है इसलिए उसकी स्थिति ज्ञान के पहिले रहती है। फल ज्ञान का कार्य है इसलिए यह ज्ञान के बाद होता है। इसलिए लक्षणा जन्म ज्ञान के विषय तदादि का उसके फल (प्रयोजन) पुण्यत्व मनोहरत्वादि या शैत्य पावनत्वादि की स्थिति भी अलग अलग है उन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए विशिष्ट अर्थात् प्रयोजन सहित तट में लक्षणा नहीं हो सकती है। हाँ लक्षित तदादि में विशेष शैत्यपावनत्वादि हो सकते हैं।

यह लक्षणाभूला व्यञ्जना का प्रकरण समाप्त हुआ।

**अभिधामूला व्यञ्जना—**

अनेकार्थक शब्दों का संयोगादि द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी उसी शब्द से यदि पुनः अन्यार्थ की प्रतीति होनी हो तो उस प्रतीति का कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा मूला-व्यञ्जना के नाम से कहा जाता है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्वैरवाच्यार्थधीकृद् व्यावृत्तिरञ्जनम् ॥१६॥

अनेकार्थक शब्दों के विषय में जहाँ यह सन्देह हो कि किस अर्थ को लिया जाए तो ऐसी स्थिति में ये मयोगादि चौदह नृत्त नियामक होते हैं—

(१) जैसे सयोग—“शस्त्र चक्र के सहित हरि” यदि कहा जायेगा तो यहाँ हरि शब्द अनेकार्थक—विष्णु इत्यादि वाचक होता हुआ भी सयोग के द्वारा विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि शस्त्र चक्र का सयोग विष्णु में ही रहता है।

(२) इसी प्रकार वियोग भी नियामक होता है, यदि अज्ञपचक्रों इति कहेंगे तो वियोग के द्वारा भी हरि शब्द विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि सयोगपूर्वक ही वियोग होता है।

(३) साहचर्य—“रामतदमणी” में साहचर्य सङ्गमाज के कारण दोनों दशरथ पुत्र के वाचक होगा।

(४) विरोधिता—“रामार्जुनगतिस्त्रयो” इत्यादि स्थल विरोध नियामक है। राम और अर्जुन इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण परमुराम तथा कर्तवीर्य अर्थ होगा।

(५) अर्थ अर्थान प्रयोजन—समान शब्दों के लिए “स्थानु” का भजन करो यहाँ स्थानु शब्द (प्रयोजन विशेष मुक्ति अर्थ के कारण शिव इस अर्थ में नियमित हो जायगा।

(६) प्रकरण—“देखो जानाति” देव” यह शब्द अनेकार्थक है पर प्रकरणवश “आप” इस अर्थ में नियमित हो जायेगा।

(७) लिङ्ग—“मकरध्वज कुपित हो रहा है” इत्यादि स्थला में कोप चिह्न के द्वारा मकरध्वज शब्द कामदेव अर्थ में ही नियमित हो जायेगा।

(८) अन्य शब्द की समिति—“पुरारि देव का” यहाँ पुरारि शब्द के सान्निध्य से देव शब्द शत्रु अर्थ ही होगा।

(९) सामर्थ्य—“कोकिल मधु में मत्त हो रहा है” यहाँ कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से मधु शब्द का वसन्त अर्थ होगा।

(१०) औचित्य—“पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे” इसमें अनेकार्थक मुख शब्द औचित्य के कारण साम्मुख्य—आनुकूल्य अर्थ में नियमित होगा।

(११) देश—“यहाँ परमेश्वर शाश्वत है” इसमें राजधानी रूप देश विशेष के कारण अनकार्यक परमेश्वर शब्द का राजा अर्थ होगा।

(१२) काल—“अर्धरात्रि चमक रहा है” यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द का दिन में सूर्य अर्थ और रात में कालविशेष के कारण आग्नि अर्थ होगा।

(१३) व्यक्ति—“मित्र भाति” में नपुंसक लिङ्ग होने के कारण मित्र शब्द का सुहृद् सखा आदि और पुल्लिङ्ग में ‘मित्रो भाति’ होने से सूर्य अर्थ लिया जायेगा।



(१४) “इन्द्र शत्रु वर्धस्व” इत्यादि स्थलों में ही स्वर का उपयोग होता है ।

अर्थात्—वेद में ही स्वर विशेष से अर्थ विशेष का बोध होता है, काव्य में स्वरों का विशेष उपयोग नहीं होता है ।

इसी तरह चेट्यादि में भी किसी विशेष अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार सयोगादि से अब अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है, पुनः यदि उसी शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति होनी है तो उसमें अभिधा व्यापार न होकर व्यञ्जना व्यापार ही होना है—इसी को अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं—

उदाहरण—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोविद्यासवशोन्नते कृतशिलीमुखसप्रहस्य ।

यस्यानुपप्लवगते परवारणस्य दानाम्बुसेक्षुभग सतत करोऽमृत ॥१२॥

इस श्लोक में किसी राजा की स्तुति की जा रही है, यत्र इन अनेकार्थक शब्दों का भद्रात्मनो “मुन्दर आत्मा वाले” हाथी के पक्ष में भद्रजातीय हाथी इत्यादिकों का प्रक्षरण द्वारा जब राजा के अर्थ में नियमित हो जाता है, पुनः उन्हीं शब्दों से हाथीपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति और प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेयभाव की भी प्रतीति होनी है, राजा के सारे विशेषण हाथी के पक्ष में भी लगते हैं । यह द्वितीय अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना द्वारा ही होती है ।

इस व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक कहलाता है । इनमें अर्थ की भी सहकारिता रहती है—

अर्थात्—शब्दी व्यञ्जना में शब्द की प्रधानता व अर्थ की सहकारिता रहती है, और आधी व्यञ्जना में अर्थ की प्रधानता व शब्द की सहकारिता रहती है, इसीलिए ये शब्दार्थ काव्य में एक दूसरे के पूरक के रूप में हैं ।

काव्य प्रकाश में शब्द अर्थ का निरूपण नामक

द्वितीय उत्तास समाप्त हुआ ।

## तृतीय उल्लास

### अर्थी व्यञ्जना

द्वितीय उल्लास में शब्द अर्थ के स्वल्प का निर्णय करते हुए वाचक लक्षण व व्यञ्जक शब्द और वाच्य लक्षण व व्यञ्ज्य अर्थ का भी प्रतिपादन किया, माय ही साथ लक्षणाशक्ति पर विचार कर लक्षणा के प्रयोजन के प्रतिपादन के अवसर पर प्रयोजन को व्यञ्जना व्यापारण्य ही मानते हुए लक्षणामूलाशास्त्री व्यञ्जना व अभिधामूलाशास्त्री इन दोनों प्रकार की शाब्दी व्यञ्जना का निरूपण कर, अब इस उल्लास में अर्थी व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—“अर्थव्यञ्जकस्तौच्यते” इत्यादि कारिका द्वारा ।

जैसे—लक्षणामूला व्यञ्जना के लिए मूल में लक्ष्यार्थ का होना आवश्यक है, और अभिधामूला व्यञ्जना में ‘मयोवादि नियामक पदों द्वारा प्राकरणिकादि अर्थों का निश्चय आवश्यक है उन्ही प्रकार इस अर्थी व्यञ्जना में भी वस्तु वागव्यादि का ज्ञान आवश्यक है जिनकी विशेषता में अर्थ, मर्यादों को अनिवार्य करना है—

उन वस्तु बोधव्यादि का निर्देश इस प्रकार है—

वस्तुबोधव्यकाकुला वाक्यवाच्यान्यसन्निधे ॥२१॥

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।

योऽप्येत्थान्वाच्यधीर्हृतुर्वापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

(१) वक्ता, (२) बोधय, (३) काकु (४) वाक्य (५) वाच्य, (६) सन्निधिरिति, (७) प्रस्ताव (८) देश, (९) बाल, (१०) आदि के वैशिष्ट्य में (प्रतिभाजुषां) महत्त्वों को व्यापार की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है वह अर्थी व्यञ्जना ही है ।

(१) वक्ता के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

अनि पृथुल जलकुम्भ गृहीत्वा समागतास्मि सखि स्वरितम् ।

अमस्तेदसलिरिति श्रुत्वा नि सहा विभ्राभ्यामि क्षणम् ॥२३॥

कोई सखी अपनी सखी से कहती है, कि बहुत भारी जलकुम्भ लाई है, इसलिए परिश्रम में थक गई हूँ अब क्षण मात्र विराम करूँगी ॥

यहाँ प्रतिभाशाली मामाजिको को प्रमाणान्तरसे जिसका अमनीत्व ज्ञात था, उन्हें उस वक्त्री मन्त्री के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ के द्वारा उक्त मन्त्री का चौर्यरत गोपन अभिव्यक्त होता है ।

बोधव्य के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

ओभिर्य दोर्वर्य चिन्तालसत्त्व सनि इयसितम् ।

मम मन्दभागिन्या कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ।।१४॥

कोई नायिका अपनी मन्त्री को कहती है, ये चिन्ता, दुर्वसता आदि जो मुझे परेशान कर रही है, मेरे लिए परिश्रम करने वाली तुमको भी ये परेशान कर रही है ।

यहाँ बोधव्य मन्त्री हैं । उन्हीं के वैशिष्ट्य से उनका काकुभविषयक अपराध प्रकाशन किया जा रहा है ।

काकु के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

गुरु खेद खिन्ने मयि भर्जात नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

यहाँ भीम युधिष्ठिर के प्रति कहते हैं उस प्रकार की अवस्था का अनुभव करके भी, यिम्न मेरे उपर युधिष्ठिर नाराज होंगे, न कि कौरवों पर ?

इस काकु (एक प्रकार की ध्वनि विशेष) “मेरे उपर नाराज होना उचित नहीं कौरवों पर नाराज होना उचित है—यह व्यंग्य विशेष प्रकाशित होता है ।

वाच्य के वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

तदा मम गण्डस्थरानिमग्ना दृष्टि नानेसोरन्ध्र ।

इदानीं संवाह तौ स्व कपोली न च सा दृष्टि ॥१६॥

कपोल प्रणिविन्वित मन्त्री को देखने वाले के प्रति किसी नायिका की यह उलाहना है कि तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता का क्या कहा जाय, यह व्यङ्ग्य इस सारे वाच्य की विशेषता से मालूम पड़ता है ।

वाच्य (अर्थ) की विशेषता का उदाहरण—

“उद्देश्य सरसकदलीध्रेणिशोभातिशायो” इत्यादि यह प्रदेश सरस कदली कूञ्ज में गण्डित है” इत्यादि वाच्यार्थ की विशेषता में कूञ्जादि विशेषण में विनिष्ट प्रदेश रूप वाच्य से सुख पूर्वक भ्रमण योग्य यह देश है, यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है ।

अन्य सन्निधि की विशेषता का उदाहरण—

मुदत्यन्नाश्रयता स्वधूर्मा गृहमरे सकले ।

क्षणमात्र यदि सप्याया विद्यासो भवति न वा भवति ॥

सन्निहित उपनायक के प्रति “सध्या सवेत” काल की सूचना सामाजिकों को उक्त सन्निहित व्यक्ति की विशेषता से मालूम पड़ता है।

प्रकरण की विशेषता का उदाहरण—

भूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य ग्रहरमात्रेण । इत्यादि

यहाँ प्रकरण के भाता सामाजिकों को किसी के अभिमरण निषेधादि व्यङ्ग्य प्रस्ताव विशेष में मानूम पड़ता है।

वेश की विशेषता का उदाहरण—

अन्यत्र यूय कुसुमावचाय कुबध्वमत्रास्मि करोमि सद्यः ।

नाह हि दूर भ्रमितु समर्था प्रसीदताय रचितोऽञ्जलिर्व ॥२०॥

यहाँ कुसुमावचय को उद्देश्य करके सखियों का अन्य देशाधिकरण का विधानरूप विविध देश विशेष में उपपत्ति समागम रूप व्यङ्ग्य प्रकाशित होता है।

काल के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

गुरुजनपरवदा प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम् ।

अद्य प्रवास धजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥२१॥

यहाँ अद्य पद प्रयुक्त वसन्त काल की विशेषता से प्रिय के प्रति अनुरक्त किसी का जीवन मुश्किल है यह अभिव्यक्त होता है।

आदि से चेष्टाविशेष से भी व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है। शब्द प्रमाण से वेद्य अर्थ अर्थात्तर को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए आर्यो व्यञ्जना में शब्द की भी सहकारिता है।

शाब्दी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में यह कहा था कि शब्द ही यहाँ मुख्यरूप से व्यञ्जक होता है, पर अर्थ भी उसका महायन होता है। इसी प्रकार आर्यो-व्यञ्जना में यद्यपि अर्थ ही मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है तथापि शब्द की भी सहकारिता रहती ही है।

काव्य प्रकाश में अर्थ व्यञ्जकता निर्णय नामक

तृतीय उल्लास समाप्त हुआ

## चतुर्थ उल्लास

यद्यपि प्रथम, द्वितीय व तृतीय उल्लास में काव्य स्वरूप “शब्दार्थो काव्यम्” इत्यादि और शब्दार्थ का निर्णय, इसी प्रसङ्ग में अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना व्यापार का भी निर्णय हो चुका है, अब काव्य के धर्म-बोध-गुण भक्तिकारो का स्वरूप कथन अवशिष्ट था, पर धर्मो काव्य के प्रतिपादन किये बिना उसके धर्मों की हेयोपादेयता का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सकता । इसलिए पहले उत्तम काव्य-ध्वनिकाव्य के मुख्य भेदों का निरूपण करते हैं—  
ध्वनि के मुख्य भेद—

ध्वनि मूलतया दो प्रकार की होती है—

अभिधामूलध्वनि तथा लक्षणामूला ध्वनि ।

द्वितीय उल्लास में जिस लक्षणा का विवेचन किया है, उसी का प्रयोजन व्यङ्ग्य होता है, और वाच्य विवक्षित नहीं होता, अर्थात् मुस्त्यर्थ का वाच्य होता है । अतएव इस लक्षणामूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं—

इसके भी पुनः अर्थ के कभी अर्थान्तर में सम्मिलित हो जाने से, और मुद्रमार्थ को बिल्कुल छोड़ देने से दो भेद होते हैं ।

एक अर्थान्तर सम्मिलितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि ।

लक्षणामूला ध्वनि

अविवक्षितवाच्यध्वनि

।

अर्थान्तरसम्मिलितवाच्यध्वनि

—

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसम्मिलितवाच्यध्वनि का उदाहरण—

त्वामस्मि वच्मि विदुषा समुदायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मोया मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥२३॥

अपने शिष्य के प्रति किसी विद्वान की यह उक्ति है—

मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है, अतः जरा सोच समझकर (बोलना) या रहना ।

यहाँ जब वक्ता और बोधव्य जब आमने सामने हैं, तो “अस्मि त्वा वच्मि” यह पद अनुपयुक्त होते हुए अर्थान्तर-उपदेश्य सुमको हितभावना से

उपदेश देता है । इस अर्थ में वाच्य परिणत हो जाता है, सिध्य के प्रति उसका हित सम्पादकत्व व्यङ्ग्य है ।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण—

उपवृत्त बहु तत्र किमुच्यते मुजवता प्रयिता भवता परम् ।

विदधदोदशमेव सदा ससे मुखित मास्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥

अपकारी मित्र के प्रति किसी की यह उक्ति है—

आपने बड़ा उपकार किया है, वहाँ तक प्रशमा नौ जाय ? हे मित्र !

सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष तक मुसी रहो ।

यहाँ उपवृत्तादि शब्द अपने अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत करते हुए अपवृत्तम् अपकार में परिणत हो जाते हैं । अकारातिशय प्रकाशन व्यङ्ग्य है ।

अभिधामूला ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि ।

जहाँ वाच्यार्थ बाधित न होते हुए अन्य परक—व्यङ्ग्य परक होता है ।

अर्थात्—वाच्यार्थ अपने स्वरूप का बिना किसी रूकावट के प्रकाशन करता हुआ व्यङ्ग्य में पर्यवसित होना है ।

यहाँ वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ के बीच ओ क्रम है वह कहीं लक्षित हो जाता है, और कहीं वाच्यार्थ से इतनी जल्दी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होनी है कि वहाँ बीच में क्रम लक्षित नहीं होता है ।

इसी क्रम के लक्षण और अलक्षित के कारण पुन विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—

(१) सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का जो असलक्ष्यक्रम ध्वनि नामक भेद है, इसी भेद के अन्तर्गत-रस भाव रसाभास व भावाभास भावशान्ति आदि सभी आ जाती हैं । रसादि की जहाँ पर प्राधान्येन स्थिति होगी अन्य वाक्यार्थ या अलङ्कार जहाँ उपस्कारक होंगे वही पर रस भावादि को विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का भेद माना जावेगा । अन्यथा इसके विपरीत स्थिति में तो यदि कहीं अन्य वाक्यार्थ प्रधान हो और रसादि अङ्गभूत उसके उपस्कारक हो तो ऐसी स्थिति में क्रमशः रस के अङ्ग होने पर रसवत् अलङ्कार और भाव के अङ्ग होने पर अवोऽलङ्कार और रसाभास व भावाभास के अङ्ग होने पर उर्जस्वि अलङ्कार होंगे । भाव शक्ति के अङ्ग होने पर सम्राहितादि अलङ्कार होते हैं—

ऐसा कि ध्वन्यालोककार का कथन है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राह तु रसादय ॥

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मति ॥ इति॥

प्रधानध्वन्याचार्य ने ध्वन्यालोक में उक्त कारिका द्वारा अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का विषय विभाग व्यवस्थित किया था ।

उनका कहना था कि रसादि उसी स्थिति में अलङ्कार्य हो सकते हैं, जब वे प्रधानध्वने अभिव्यक्त होते हैं, अन्य वाक्यार्थ या अलङ्कार उनके उपस्कारक हों, यदि हममें विपरीत स्थिति समभावों की कही देखी जाय तो वे रसवदादि अलङ्कार ही माने जायेंगे अर्थात् वे प्रधान ध्वनि के भेद न होकर गुणीभूत-व्यङ्ग्य के ही भेद होंगे ।

### कुन्तक का विरोध

पूर्वोक्त आनन्दवर्धन की अलङ्कार्य तथा अलङ्कार के विषय विभाग व्यवस्था के प्रतिकूल कुन्तक की मान्यता है ।

कुन्तक ने अनेक तर्क व वितर्कों के द्वारा स्वभावोक्ति तथा रसवत् अलङ्कार का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है । वे इन दोनों अलङ्कारों के विषय में प्राचीन दण्डी आदि आलङ्कारिकों के मत से सहमत नहीं है—

स्वभावोक्ति भी अलङ्कारता का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

अलङ्कारकृता येषा स्वभावोक्तिरलङ्कृति ।

अलङ्कार्यतया तेषा किमन्यदवतिष्ठते ॥११॥

जिन दण्डी सहस्र आलङ्कारिकों के मत में स्वभावोक्ति भी अलङ्कार है, उनके मत में फिर अलङ्कार्य क्या रह जाता है । अर्थात् कुन्तक के अनुसार स्वभाव ही अलङ्कार्य है, उसको अलङ्कार मान लेने पर पुन “अलङ्कार्य” किसको कहा जाएगा ।

इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का मत भी कुन्तक के ही अनुकूल है—उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत-विधान-अर्थात् वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है । स्वभावोक्ति प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है अलङ्कार वर्णन-प्रणाली है, अतएव स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं हो सकती ।

(२) स्वभावोक्ति की अलङ्कारता इसी से प्रसिद्ध है कि उसका कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलता, किसी ने उसे स्वक्रिया-रूप-वर्णन कहा है, किसी ने अवस्था वर्णन और किसी ने उसे सूक्ष्म-स्वभाव-वर्णन ।

(३) मम्मट की परिभाषा में निदिष्ट वाचक आदि पद का आशय अत्यन्त अस्पष्ट है, स्वयं बालको की रूप-चेष्टा का वर्णन वास्तव्य रस के अन्तर्गत आता है। वह रस का अङ्ग है अलंकार नहीं, और यदि हिम्मादे की व्याप्ति सृष्टि की नाना वस्तुओं के रूप और व्यापार तक मान ली जाय तो वह वर्ण्य वस्तु ही है वर्णन प्रणाप्ती नहीं है।

स्वभावोक्ति की ही भाँति कुन्तक ने रसवत् अलंकार को भी अलंकार की श्रेणी में हटाकर अलंकार्य पदवी से भूषित किया।

अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।

स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥११॥

रसादि की प्रतीति के स्थल में रस के अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रतीति न होने में और रस के माध्यम अलंकार शब्द का प्रयोग करने पर भी शब्द तथा अर्थ की सङ्गति न होने से रसवत् अलंकार नहीं अपितु अलंकार्य है।

कुन्तक के मत से—

(१) रसवत् अलंकार अलंकारो का घूडामणि है।

(२) नीरस व जड़ पदार्थों में सरसता खाने के लिए यह सत्कवियों का अद्भुत साधन है।

(३) यह अलंकार प्रतीयमान ही होता है।

कुन्तक के शब्दों में इसका मौलिक स्वरूप यह है—

रसेन अतन्ते मुख्य रसवत्तविधानतः।

योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिमित्ते ॥३॥१४॥

पर आनन्दवर्धन की स्थापना उनके ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल ही है, जहाँ रसाभावादि अन्य वस्तु या अलंकार रूप व्यङ्ग्य का उत्कर्ष करेगा, वहाँ रस उपस्कारक होने से अलंकार का कार्य करता है, ऐसी स्थिति में रसत्व प्रमुखतः धर्मकाराधायक होने पर भी प्राधान्य के न रहने से श्रुत्य के विवाह में प्रवृत्त राजा की तरह उसकी स्थिति होगी। राजा जैसे उस श्रुत्य के बारात का अङ्ग बनकर शोभा बढ़ाना है, रसवत् अलंकार में भी रस स्वयं अङ्ग बनकर अन्य वाक्यार्थ को शोभाधायक होता है, अतः यह ध्वनि का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है।

स्वभावोक्ति अलंकार के विषय में जो कुन्तक का आक्षेप है, वह किसी वस्तु के सामान्य विशेष भाव को बिना देखे ही है, मम्मटादि आलंकारिकों का



अभिप्राय विशिष्ट स्वभाव वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है। महिममट्ट ने भी वस्तु के दो रूप माने हैं और अलंकार के लिए वे इसका विशिष्ट रूप ही उपयुक्त मानते हैं। आगे हेमचन्द्र ने तो अपने नाव्यानुशासन ग्रन्थ में साफ ही कहा है कि वस्तु का सामान्य स्वरूप भले ही अलंकार्य हो, पर ओकोत्तर अर्थ अलौकिक उस वस्तु का जो सौन्दर्य है वह अलंकार है, वही कवि के वर्णन का विषय है।

नाट्यशास्त्र में, अङ्गज-हासभाव, अयत्नज-शोभा कान्ति आदि स्वभावज-लीलाविलासादि को जिस प्रकार नाट्यालङ्कार के रूप में माना है इसी प्रकार किसी बालक या मृग के भी उसकी सहज या आहार्य जो चोटायें हैं वे भी अलङ्कार हैं, यह स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में एक हेतु है।  
रस निरूपण—

लोक में रति आदि (स्थायी भाव) के जो कारण कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही काव्य व नाटक में वर्णित हो तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उन विभावादियों में अभिव्यक्त वह रति (स्थायी भाव) ही “रस” कहलाता है।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादे स्थायिनो लोके तानि सैन्नाट्य-काव्ययो ॥२७॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण।

व्यक्तं स तं विभावाद्यं स्थायीभावो रस स्मृत ॥२८॥

(१) स्थायी भाव—यद्यपि ये रत्यादि सब अन्न करण की वृत्ति रूप हैं, वृत्ति विशेष होने के कारण आधुविनाशी अस्थिर हैं, इन्हो को अन्यशास्त्रकार या मनोवैज्ञानिक भाव शब्द से कहते हैं, ये भाव कभी अनुकूल होते हैं और कभी प्रतिकूल, समुद्र की लहर की तरह ये चञ्चल हैं, पर इनका सत्कार जिसे वासना कहते हैं वह स्थिर है। यही वासना सूक्ष्मरूप स्थिर होने के कारण स्थायी कहा जाता है। आधुनिक भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

मनुष्य के अवचेतन मन के अन्तराल में बहुत समय तक सूक्ष्म-रूप से छिपने वाले भाव को ही स्थायीभाव कहते हैं।

यही प्रसुप्त सत्कार उपयुक्त-विभावादि-सामग्री को प्राप्त कर जब अभिव्यक्त होता है, तब “रस” इस संज्ञा को प्राप्त करता है।

इसीलिए मम्मट ने भी कहा—

“व्यक्तं स तं विभावाद्यं स्थायीभावो रस स्मृतः।”

(२) विभाव—नामनारूप में वर्तमान रत्यादि स्थायिभावों की भास्वाद योग्यता को जो कारण प्रदान करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। “विभावयन्ति आस्वादयोग्यता भवन्तीति विभावा” ये विभाव भी दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव, जैसे—सीता को देखकर राम के मन में, और राम को देखकर सीता के मन में “रति” भाव या अनुराग की उत्पत्ति होती है, और इन दोनों को देखकर (नाटक में या काव्य में पढ़कर) सामाजिक के मन में भी आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। अतः सीता रामादि शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव हैं। और चन्द्र चाँदनी उद्यानादि रति के उद्दीपन विभाव हैं।

(३) अनुभाव—अन्न करण में अवस्थित विभाव द्वारा उद्बुद्ध उन रसि जो उपादान दर्शकों के अनुभव में ला देते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। “अनुभाव-यन्ति, अनुभव विषयो कुर्वन्तीति अनुभावा” स्मितादि लोक में इन्हें कार्य कहते हैं।

(४) व्यभिचारी भाव—उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि या उपपन्न में जो उनके सहकारी होते हैं उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। “विशेषेण अभित रत्यादीम कामे चारयन्तीति सचारयन्तीति व्यभिचारिण सञ्चारिणो वा” विविधरूप से स्थायीभाव के अनुकूल संचरण करने वाले भाव, हर्ष विषाद, चिन्ता, जड़ता आदि ये ३३ हैं।

### रस निष्पत्ति-प्रक्रिया

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की प्रतिष्ठा सबसे पहले अपने नाट्यशास्त्र में की, इस विषय में इनका प्रसिद्ध सूत्र है जिसको मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में अविकलरूप में रखा है—“उक्तं हि भरतेन”—“विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ॥

अर्थात्—विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार में उतना ही भारगर्भित है—अन्य अनेक आचार्यों ने इस सूत्र पर अपने अपने निदान्त के अनुकूल व्याख्या की हैं, अभिनव गुप्त द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भास्ती में, बड़े विस्तार के साथ कई मतों का उपन्यास किया है। पर वहाँ का व्याख्यान अत्यन्त कठिन व विस्तृत है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में उसी का संक्षिप्त सार उपस्थित किया है। जिसके प्रमुख व्याख्याता-भट्टसोल्लट, शकुन्त, भट्टनायक व अभिनवगुप्त ये चार

हैं। ये चारों आचार्य क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य व साहित्यशास्त्र के प्रकाश में अपना अपना रस विषयक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

### (१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विभाव—आलम्बन व उद्दीपन जलना-उठानादि रति आदि उत्पन्न होती है, उसी स्थायी रति के कार्यभूत-कटाक्षादि अनुभावों से प्रतीति योग्य किया गया, (रत्यादिमान्), निर्वेदादि सञ्चारी भावों से पुष्ट किया गया रत्यादि स्थायीभाव मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि में रहता है, पर उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में भी प्रतीत होता है, अर्थात्—नट में भी उसका आरोप होता है। यही नट में आरोप्यमाण या प्रतीयमान रत्यादि ही रस है।

सूत्र में आये हुए मयोज व निष्पत्ति इन दो शब्दों के विषय में आचार्यों की अपने अपने सिद्धान्तानुकूल अलग-अलग व्याख्या है।

भट्टलोल्लट मीमांसक हैं, अतः उन्होंने विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोग से अनुकार्य-रामादि में रस की निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति माना। विभावादि उत्पादक सामग्री है। स्थायी भाव उत्पाद्य है, जैसे मीमांसा दर्शन में भागादि उत्पादक सामग्री से अपूर्व द्वारा स्वयं उत्पाद्य है, उसी प्रकार यहाँ रस भी उत्पाद्य है। अतः विभाव वा स्थायीभाव रत्यादि के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध होगा, और अनुभाव का गम्य-गमकभाव सम्बन्ध, और सहचारी भावों का पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध है। यही संयोग शब्द का अर्थ है। और निष्पत्ति शब्द का क्रमशः उत्पत्ति, प्रतीति व पुष्टि ये अर्थ होते हैं।

### भट्टलोल्लट के मत में अक्षि—

भट्ट लोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह है कि वे रमानुभूति को सामाजिक में न मानकर मुख्य रूप अनुकार्य रामादि में मानते हैं। और उसका आरोप या अप्रधानरूप से नट में मानते हैं। इन दोनों में भी अभिव्यक्ति न मानकर, उत्पत्ति मानते हैं।

### शकुन का अनुमितिवाद—

यह राम ही है, यही राम है। यह राम नहीं है, यह राम है या नहीं यह राम के समान है। इस तरह क्रमशः सम्यक् प्रतीति, मिथ्याप्रतीति, सशय प्रतीति तथा सांक्ष्यप्रतीति, इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न प्रतीति “चित्रतुरगन्याय” वाली प्रतीति नट में होती है। अर्थात्-चित्र में अर्द्धित घोड़े को बालक जैसे घोंडा ही समझता है, उसी प्रकार ब्राह्मण पक्ष नट में राम बुद्धि होती है वह भी इन चार प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। “यह राम

सीता विषयक रति वाला है, तब विषयक कटाक्षादि युक्त होने से इस नट पक्ष में कटाक्षादि हेतुओं से सीताविषयक राम की रति का अनुमान किया जाता है। यहाँ विभावादि का रत्यादि के साथ जो संयोग सम्बन्ध विशेष है वह गम्यगमकभाव है। विभावादि गमक हैं और रत्यादि गम्य अनुमेय है। वस्तु सौंदर्य की विशेषता से यह अनुमान अब अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण है। रस की निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है।

नट में वास्तविक रूप से न रहने वाले रत्यादि का सामाजिक अपने कामकाज के बल से नट पक्ष में अनुमान कर लेता है। वस्तुन अनुमित रस न सामाजिक में रहता है और न कृत्रिम राम (नट) में ही रहता है, केवल वासना मात्र से सामाजिक को उमका आस्वाद होता है। शकुन की यह रस की अनुमिति न्याय दर्शन के अनुसार है, न्यायशास्त्र अनुमिति प्रधान शास्त्र है, इसीलिए इसमें पक्ष हेतु व साध्य की कल्पना की गई है।

शकुन के मत में अर्थात्—

यद्यपि शकुन ने सामाजिक में रस प्रतीति सम्पादन करने का अच्छा प्रयत्न किया है, परन्तु उस रस प्रतीति को अनुमेय बनाकर अनुमान द्वारा रस निष्पत्ति उपपादन किया है, जब कि सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। साक्षात्कारात्मक नहीं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने रस की व्याख्या में सबसे पहले दशक या सामाजिक के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनका कहना है कि रस की निष्पत्ति न तो अनुकार्य रामादि में होती है और न अनुकर्ता नट्यादि में ही होती है। ये दोनों अनुकार्य और अनुकर्ता तटस्थ हैं। अतः इसमें रसानुभूति नहीं हो सकती। ये रस की न तो उत्पत्ति मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस की भुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोग्य और विभावादि हैं भोजक अतः रस और विभावादि का परस्पर भोग्य भोजक भाव सम्बन्ध है। भट्ट नायक काव्य में अभिधा व्यापार के अतिरिक्त दो अन्य नये व्यापारों की कल्पना करते हैं। इनके नाम हैं—भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार।

काव्य में अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की उपस्थिति होती है। इसके बाद भावकत्व व्यापार द्वारा उन विभावादि अर्थों का साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात्—नाटकस्थ या काव्यस्थ प्रतिपाद्य विषयीभूत पात्र का व्यक्तिगत उसका विशेष सम्बन्धों का परित्याग हो जाता है। इस भावकत्व व्यापार के बल से रङ्गमञ्च में शकुन्तलादि पात्र अपने व्यक्ति विशेष्याश का परिहार कर सामान्य नायिकास्त्वेन रूप सामाजिक की दृष्टि में उपस्थित होते हैं, यही

विभावादि का साधारणीकरण है। यहाँ ध्वनि अपने स्व के सम्बन्ध विशेष से परिच्छिन्न न होकर “वसुधैव कुटुम्बकम्” जैसे अपरिमित भाव से सबलित हो जाता है। फिर वहाँ स्व पर जो कोई परिधि नहीं होती है। एक तरह से यह साधारणीकरण व्यापार साहित्यशास्त्र में ध्वनि के अन्तःकरण का उदात्तीकरण व्यापार है। जहाँ चित्त रागद्वेषोपेक्षादि परिमित प्रपञ्च से ऊपर रहता है। यह सब कार्य है भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार का जिसके वन से हनुमानादि राम मेवकों को समुद्र लङ्घनादि जैसा अपरिमित उस्ताह हुआ।

बहने का तात्पर्य यह है कि पात्र का यहाँ परिमित भाव विपणित होकर सामान्य अपरिमित भाव का उदय हो जाता है।

तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक या सामाजिक रस का भोग करता है। इस अवस्था में प्रधाना के अन्तःकरण में स्थित रजोगुण व तमोगुण सत्त्व—सत्त्व गुण की अधिकता के कारण दब जाते हैं। सत्त्व के समुद्रों के कारणचित्त निर्मल हो जाता, माध ही माध उसमें चैतन्य का भी प्रतिकलन होना है। यद्यपि ये भाव रस्यादि चित्त में ही हैं चैतन्य में उनका सम्बन्ध नहीं है, पर चिच्छायापत्ति से वहाँ चित्त व चैतन्य की एकरूपता मानसूय पड़ती है। उस रति का भोग तो बुद्धि या अन्तःकरण अथवा चित्त में होने पर भी “बुद्धेर्भोग इवात्मनि” के अनुसार आत्मा में भोग का आरोप किया जाता है। अतः भट्ट नायक का यह मुक्तिवाद साष्टम मिद्वान्त के अनुसार है। इस दर्शन के अनुसार पुष्प दुःख वस्तु अन्तःकरण के धर्म हैं न कि आत्मा के। पुष्प आत्मा में तो उनकी औपाधिक प्रतीति होती है।

इस भट्ट नायक के मत के अनुसार सूत्र में आये हुए सयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध है तथा निष्पत्ति शब्द का अर्थ मुक्ति है।

भट्टनायक के मत में अहंति—

यद्यपि भावकत्व व भोजकत्व व्यापार की कल्पना कर भट्टनायक ने रस सिद्धान्त को समझाने का एक स्तुत्य प्रयास किया है, और भावकत्व व्यापार की नई उद्भावना से साहित्य शास्त्र की बहुत सी मङ्गीर्णताओं को दूर करने का सफल प्रयास किया है, और साधारणीकरण की इस प्रक्रिया की प्रतिष्ठा करके अपने मनोवैज्ञानिक परिशीलन का परिचय भी दिया है। भावी आलोकार्तिकों ने जिसका यथेच्छ उपयोग भी किया है, परन्तु जो दो नये भावकत्व व भोजकत्व नामक व्यापारों की कल्पना की है, इस पर अधिक विद्वानों की सम्मति नहीं रही।

श्रमि-धनुस्त का व्यक्तिवाद—

साहित्य शास्त्र में अधिनवमुक्त ध्वनिवादी आचार्य हैं। वे आनन्दवर्धन के ध्वनि तत्त्व की व्याख्याता हैं और भरत मुनि के रमनत्व के भी व्याख्याता हैं, रस ध्वनि के प्रभेदों में अन्यतम प्रभेद है।

यह अभिधा का विषय नहीं है, और न लक्षणा से ही लक्षित है अपि तु व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होना है। इस प्रकार रस तथा विभावादिको में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है।

अभिनवगुप्त का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ा या बड़ा भाव राग, द्वेष, शोक, क्रोध आदि भाव विद्यमान रहते हैं। ये भाव अपनी उपयुक्त सामग्री को पाकर प्रबुद्ध हो जाते हैं। अन्यथा चित्त सदा में प्रसुप्त ही रहते हैं। प्रति दिन के सधर्म में इनका सूक्ष्म स्वरूप अन्तःकरण में धर कर लेता है। यही वासना रूप में हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इन्हीं को स्थायी भाव भी कहते हैं। यही वासना जिसमें परिपूर्ण है वही रस का अनुभव करता है। तत्तत् भावनाओं तत्तत् उदबोधक सामग्री की सहायता से अपना उपचय करती हैं। इन्हीं भावनाओं के उन्मीलन व विकास का क्रम यदि काव्य व नाट्य में वर्णन किया जाना है तो वे कुछ अलौकिक आनन्द को प्रदान करते हैं। काव्य में इस उत्पादक सामग्री का वर्णन काव्य-विवरण सहकारी कारण न होकर विभाव अनुभाव व मञ्जारी भाव के नाम किया जाना है। यही विभावादि उक्त वासनात्मक में स्थित स्थायी की अभिव्यक्ति करने हैं। और व्यञ्जना व्यापार के द्वारा इन विभावादिको का साधारणीकरण तथा रसादियों का रसरूप में अभिव्यजन होता है। रसाभिव्यक्ति की दशा में सभी वस्तुओं का साधारणीकरण हो जाना है और सामाजिक भी अपने को सामान्य रूप में ही पाता है। वह रस को केवल अपने स्व-व्यक्ति तक न मानकर सभी सामाजिकों को रस का अनुभवकर्ता मानता है। यह आनन्द सामान्य सौमिक आनन्द में विलक्षण ब्रह्मानन्द सहोदर है। यही रस के अलौकिकत्व का रहस्य है कि अन्य आनन्द जो कि अपने कारण पर निर्भर रहते हैं वे सुख दुःखादि के भी जनक होते हैं, पर यह तो दुःख कारणों से समुत्पन्न हुआ भी सुख ही ही अनुभूति कराना है। जैसे शोक बुद्धि या भय स्यादिभावों से अभिव्यक्त करण रौद्र या भयानक प्रमाता को आनन्दानुभूति ही कराना है। इसीलिए कहा है “रसो वै ॥ । रस इव लब्ध्वाऽप्यमानन्दी भवति”।

रस की अलौकिकता—

अभिनवगुप्त ने रस को “अलौकिक” कहा है, अर्थात् यह अन्य वस्तुओं से भिन्न है, भट्टक ने अपने शब्दों में इसे इस प्रकार कहा है—लोक में पायी जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक कार्य रूप और दूसरी ज्ञाप्य-रूप। घट-पट आदि पदार्थ कार्य-रूप हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसीलिए कार्य हैं। और इनका जनक कारण “कारक” कहलाता है, हमारे प्रकार के विषय ज्ञान के विषय या ज्ञाप्य होते हैं। जैसे दीपक के प्रकाश में

घट का ज्ञान होता है, इसलिए दोषक के द्वारा घट ज्ञाप्य है, पूर्व सिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह ज्ञाप्य कहा जाता है। जो पूर्व सिद्ध नहीं है कारण व्यापार से निष्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है। मगार के मारे पदार्थ इन्हीं दो वर्गों में (कार्य और ज्ञाप्य) आते हैं। परन्तु रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य ही। कार्य इसलिए नहीं है कि कार्य तो निमित्त नाश होने पर भी बना ही रहना है जैसे घटादि कार्य निमित्त कारण कुम्हार के मर जाने पर भी बने रहते हैं पर रस तो अपने निमित्त विभावादि अवधि तक है। अतः कार्य नहीं है। रस ज्ञाप्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्वसिद्ध नहीं है। अनुभव में पूर्व रस की मत्ता नहीं है अपितु अनुभव काय में ही व्यजना व्यापार द्वारा वह अभिव्यक्त होने वाला है। इन दोनों वर्गों में न आने में रस लोक विलक्षण ही कोई आनन्द है।

पुनश्च यह वेदान्तर म्पक्षं गूण्य है—अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के जितने प्रकार हैं उन मध्ये विजक्षण अलौकिक साक्षात्कारात्मक या अलौकिक-अपरोक्षानुभूति स्वरूप रस है। अस्मदादि का साक्षात्कारात्मकज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा ही होता है और मितयोगी-सर्विकल्पक समाधि में स्थित युक्तज्ञानपदवाच्य का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना भी केवल योगज सामर्थ्य से भी ही जाना है, तीसरे परिमितेतर योगी-वस्तिस्व-निर्विकल्पसमाधि में स्थित योगी का ज्ञान, वेदान्तर के स्पर्श से रहित केवल आत्मज्ञानमूति मात्र होता है, रस की अनुभूति इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। वह न तो अस्मदादि के प्रत्यक्ष के समान, प्रत्यक्ष प्रमाणों से उत्पन्न होती है, न प्रमाणनाप्य वाले मितयोगी के ज्ञान का विषय है, और न निर्विकल्प समाधि में स्थित योगियों की वेदान्तर स्पर्श रहित आत्मज्ञानमूति ही है, इस प्रकार इन तीनों प्रकार की अनुभूति से विलक्षण होने के कारण वह अलौकिक ही है, और इसमिद् भी वह अलौकिक है कि उसका ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है, और न निर्विकल्पक ज्ञान में, क्योंकि रस की प्रतीति में विशावादिके परामर्श की प्रधानता होने से निर्विकल्पक-ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है, और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय रस के स्व सवेदन सिद्ध होने से सविकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है तथा उभयामावस्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उभय रस का) उभयारम्भत्व भी पहले के समान लोकोत्तरता को ही बोधित करता है, यही श्रीमान् महामादेश्वर अभिनव गुप्त पदाचार्य का मत है।

विभावादि की सम्मिश्रित रूप से कारणता व्याघ्रादि विभाव, भयानक रस के समान और अद्भुत तथा रौद्र रस के प्रति भी हो सकते हैं, अध्वान

आदि अनुभाव शृङ्गार के समान करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं, विन्मता आदि व्यभिचारी भाव शृङ्गार के समान वीर करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं। इसलिए उनके अलग-अलग अनैकान्तिक होने से (अर्थात् किसी एक ही रस के साथ निश्चित न होने से) सूत्र में उनको सम्मिलित रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

विभावादि के मध्य में तीनों में से एक या दो के अनुवृत्त होने पर भी आक्षेप द्वारा उनका बोध—जैसे—“वियदलिमलिनाम्बु गभ मेघम्” इत्यादि में वदित स्पर्श आसम्भन व वर्पाकान उद्दीपन विभाव मात्र का वर्णन है।

“परिमुवित भृणालीम्लानभङ्ग प्रभृति”

इत्यादि में मालती के अङ्गम्यानि पाण्डुता आदि केवल अनुभावों का वर्णन है और “दूरादुत्सुकमागते विवर्तित सम्भाषिणि स्मरितम्” इत्यादि में केवल औष्ण्य आदि व्यभिचारिभावों का ही वर्णन किया गया है फिर भी इनके प्रकृत रस के बोध में अदाधारण आपक होने से, शेष दो का आक्षेप हो जाता है अतः तीनों के सम्मिलित रूप से रस निष्पत्ति-सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता है।

रसों के भेद—

शृङ्गार हास्य करुण-रौद्र वीर भयानका ।

धोमस्ताब्धुत सत्तो चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः ॥२२॥

(१) शृङ्गार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) धोमस्त और (८) अद्भुत ये आठ रस नाट्य में माने जाते हैं।

भाव के भेद—

भाव दो प्रकार के होते हैं एक वे हैं जो स्थिर रहने की योग्यता रखते हैं, ये स्थायीभाव कहलाते हैं।

दूसरे वे हैं जो कई क्षणों तक ही स्थिर रहते हैं। इसी अस्थायित्व के कारण इन्हें संचारी भाव या व्यभिचारीभाव कहते हैं, संचारी भावों की संख्या ३३ है परन्तु स्थायी भावों के विषय में बड़ा मतभेद है।

अभिनवगुप्त व मम्मट इनकी संख्या नहीं मानते हैं और इनसे उत्पन्न होने वाले रसों की संख्या भी नहीं मानते हैं।



स्थायीभाव	रस	वर्ण	देवता
(१) रति	शृङ्गार	श्याम	विष्णु
(२) हास	हास्य	श्वेत	ब्रह्मा
(३) शोक	करुण	कपोत	शिव
(४) क्रोध	रोद्र	रक्त	इन्द्र
(५) वरसाह	वीर	हैम	महेश्वर
(६) भय	भयानक	कृष्ण	भूत
(७) शृगुप्ता	बीभर्त्स	शैल	महाकाल
(८) विस्मय	अद्भुत	पीत	गन्धर्व
(९) दम	शान्त	इन्दुवर्ण	नारायण

आगे चलकर स्थायी भावों की तथा रसों की सख्या बढनी गई। विश्वनाथ कविराज ने "वात्सल्य भाव" तथा "वात्सल्यरस" की प्रतिष्ठा की, तथा रूपगोस्वामी ने माधुर्यरस (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा की, इनका विस्तृत विवेचन इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "उज्ज्वलनीलमणि" में किया।

इस भक्तिरस का भी स्थायीभाव रति ही है, परन्तु अन्तर इतना है कि यहाँ दिव्या कृष्णविषयक रति ही भक्तिरस के लिए स्थायीभाव माना गई है।

शान्त रस के विषय में भी मतभेद है। धनञ्जय भाटक ने शान्त रस की स्थिति नहीं मानते हैं।

व्यभिचारी भाव या सञ्चारी भाव ३ हैं—

(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) श्लक्का (४) श्रम (५) घृति (६) जटता (७) हर्ष (८) दैन्य (९) उग्रता (१०) चिन्ता (११) नास (१२) ईर्ष्या (१३) जमर्ष (१४) गर्व (१५) स्मृति (१६) मरण (१७) मय (१८) मुक्त (१९) निद्रा (२०) विबोध (२१) क्रोडा (२२) अपलाप (२३) मोह (२४) मति (२५) आलस्य (२६) आवेश (२७) वितर्क (२८) अवहित्या (२९) व्याप्ति (३०) उन्माद (३१) विषाद (३२) औत्सुक्य (३३) चापल्य इत्यादि हैं।

शृङ्गार रस और उसके भेद—

इन रसों में सर्वप्रथम शृङ्गार रस है।

(१) स्थायी भाव—रति (नायक तथा नायिका का अनुराग)

- (२) आलम्बन विभाव—परस्पर एक दूसरे के ।
- (३) उद्दीपन विभाव—चन्द्र-चाँदनी, उछानादि ।
- (४) अनुभाव—अनुरागपूर्व चेष्टा में परस्परावलोकनादि ।
- (५) व्यभिचारी भाव—हर्ष, वि ना, मद, उत्कण्ठादि ।

शृङ्गार के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) सम्भोग शृ गार तथा (२) विप्रलम्भ शृ गार ।

एक दूसरे में अनुरक्त नायक नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृ गार सम्भोग शृ गार है—

उदाहरण—

शून्य वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-  
तिद्राव्याहमुपादतस्य सुचिर निर्वर्णं पर्युमंक्षम् ।  
विश्रब्ध परिशुम्भ्य जातपुसकामालोक्य गण्डस्थलीं  
सज्जा नम्रमुक्ती प्रियेण हसता बाला चिर चुम्बिता ॥१॥

नायक यहाँ आलम्बन विभाव है, शून्यवासगृह उद्दीपन विभाव है, मुद्र निर्वर्णन चुम्बनादि अनुभाव है, सज्जा, हास तथा उससे व्यङ्ग्य हवादि व्यभिचारी भाव हैं । इनमें अभिव्यक्त रति की चवणा ही शृ गार रस है ।

विप्रलम्भ शृ गार—

विप्रलम्भ शृ गार उस कहते हैं, जहाँ ठट्ठट अनुराग होने पर भी प्रिय समागम न हो सके—

यह अमिलाप, विरह, ईर्ष्या, प्रवाम, शाप हेतुओं का भेद स पाच प्रकार का होता है ।

माहित्य दर्पणकार आदि कुछ आचार्यों ने इसे चार ही प्रकार का माना है—

पूर्वानुराग मानाह्य प्रवास वदनात्मना ।

विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृ गार स्याच्चतुर्विधः ॥

पूर्वानुराग, मान, प्रवास, वदणविप्रलम्भ का भेद से यह चार ही प्रकार का माना है ।

विप्रलम्भ सामान्य का उदाहरण—

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता घातुरागं तितायां,  
मात्मान ते चरणपतित यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अत्रं स्तावन्मुहुर्बुजितं दृष्टिरानुष्यते मे,  
अरस्तमिन्वपि न सहते सङ्गम नो कृतान्त ॥२॥

यह पद्य महाकवि कालिदास के मेघदूत का है। प्रिया को उद्देश्य कर वियोगी यक्ष का विलाप इस प्रकार है—

पत्थर की शिला पर गसे आदि वातु के रङ्गों से तुम्हारा चित्र बनाकर, मैं जब तक चित्र में अपने को तुम्हारे चरणों में गिराना चाहता हूँ, तब तक आँसू बहाकर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर देते हैं। और मैं उस चित्र को पूरा नहीं कर पाया हूँ, निष्फुर देव उस चित्र में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है, यहाँ चायिका आलम्बन है, उसका प्रणय कोष उद्दीपन है, चरणपातादि अनुमान हैं। कृतान्त विषयक अगुवावि सञ्चारी भाव है, इससे अधिगम्यन विप्रसम्भ रति की चर्चणा हो विप्रसम्भ भू कार है।

(२) हास्य रस—

विकृत आकार, वेप, चेष्टादिष्वयहार के वर्णन में हास्य रस होता है।

(१) स्थायी भाव—हास

(२) आलम्बन विभाव—विकृत वेप या विकृत चेष्टासुक्न व्यक्ति

(३) उद्दीपन विभाव—अनुपयुक्त वचन, वेपविन्यासादि

अनुभाव—मुख फैलना, आँसु का मीचता आदि

स्यमिचारी भाव—निद्रा, आलस्य, जगनतादि

उदाहरण—

सौस पर गया हूँ भुजनि भुजगा हरी,

हात ही की देना भयो मया के विवाह मे ॥

पराकर कविकृत इस पद्य में महादेव जी के विवाह का प्रसङ्ग है, यहाँ महादेवजी आलम्बन हैं, नपास्य उद्दीपन है, लोगों का जोरपोट कर हँसना अनुभाव है, उत्सुकता वचनता आदि सञ्चारी भाव है, इससे अधिगम्यन हास स्थायी भाव है।

(३) कवच रस—

(१) स्थायी भाव—शोक

(२) आलम्बन विभाव—कोई मृद व्यक्ति या दीवहीन व्यक्ति,

(३) उद्दीपन विभाव—मृदव्यक्ति के दाहविलापादि,

(४) अनुभाव—भाव की कोसना, रोना इत्यादि;

(५) सञ्चारी भाव—निवेद, मोह, विषादादि।

उदाहरण—

विपिने क्व जटा निबन्धन तव चेद क्व मनोहर वपु ।

अनयोर्घटना विधे स्फुट ननु छद्मगेन शिरोपकर्तनम् ॥३॥

वनवास के लिए उद्यत हुए राम के प्रति दशरथ की यह उक्ति है, यहाँ राम आलम्बन है, उनका वनगमनादि उद्दीपन है, दैवनिन्दा अनुभाव है, ग्लानि-विपादादि सञ्चारी भाव है, इनमें अभिव्यक्त शोक स्थायीभाव की चर्चणा करण है ।

(४) रौद्र रस—

(१) स्थायी भाव—क्रोध ।

(२) आलम्बन विभाव—अपकारी व्यक्ति या शत्रु

(३) उद्दीपन विभाव—मत्सर या शत्रु कृत अपकारादि ।

(४) अनुभाव—डोंगें मारना, शस्त्र चमकाना आदि ।

(५) अभिव्यक्ती भाव—अमर्ष, मद, उग्रता आदि ।

उदाहरण—

“दुतमनुभूत दृष्ट वा येरिद ध्रुवपातकम्” इत्यादि—

द्रोणाचार्य का निघन सुनकर अश्वत्थामा की अर्जुनादियों के प्रति यह उक्ति है । यहाँ अपकारी अर्जुनादि आलम्बन हैं, पित्रुवधादि उद्दीपन हैं, प्रतिज्ञा अनुभाव है गर्वादि सञ्चारी भाव है, इनमें अभिव्यक्त क्रोध स्थायी भाव है ।

(५) वीर रस—

(१) स्थायी भाव—उत्साह

(२) आलम्बन विभाव—शत्रु जिसे पर अधिकार प्राप्त करना है ।

(३) उद्दीपन विभाव—शत्रु का प्रताप, शौर्य आदि ।

(४) अनुभाव—हथियारों का चलाना, नेत्रों का लाल होना इत्यादि ।

(५) सञ्चारी भाव—मति, गर्व, धृति इत्यादि ।

इनमें अभिव्यक्त उत्साह स्थायी की चर्चणा ही वीर रस है ।

उदाहरण—

सुद्रा सत्रासमेते विजहत हरय क्षुण्णशक्तेमकुम्भा ।

युष्मद्देहेषु लज्जा दधति परमभी सायका निष्पतन्त ॥

सौमित्रे । तिष्ठ पात्र त्वमसि नहि रूपा नन्वह मेधनाद ।

किञ्चिद्भू भङ्गस्तीक्ष्णानियमितजलार्थि राममन्वेष्टयामि ॥१॥

यह पद्य हनुमन्नाटक का है, बच्चा के युद्ध के समय मेघनाद की यह उक्ति है ।

यहां प्रतिपक्षी राम घालम्बन है, किञ्चित् भ्रूमङ्ग की ही चीला ने समुद्र बन्धन कर देना उद्दीपन है, गुद्रावतरो की उपेक्षा और प्रतापशाली राम का अन्वेषण अनुभाव है । ऐरावत हाथों के गण्डस्थल को भेदन करने वाले ज्ञानों का वानरो के शरीर में गिरने से खज्जा का अनुभव करना इसमें अभिव्यक्त गर्व सञ्चारी भाव है, राम में लहने का उद्देश्य स्वार्थ में वीर रस की अभिव्यक्ति हो रही है ।

(६) भयानक रस—

- (१) स्वामी भाव—भय।
- (२) घालम्बन—घेर आदि भयानक जन्तु या वस्तु विशेष ।
- (३) उद्दीपन—भयानक वस्तु या जन्तु की चेष्टादि ।
- (४) अनुभाव—उत्पत्तादि विकर्तव्याविमूढ हो जाना ।
- (५) सञ्चारी भाव—दैन्य, सगम, सम्मोह, ज्ञातादि ।

उदाहरण—

श्रीशामङ्गाभिराम मुहुरनुपनति स्यान्वने दत्तदृष्टि ।  
परचार्धेन प्रविष्टः क्षरपतनभयात् भूयसा पुर्वकापम् ।  
दभैरर्थावलीढे धमदिवृतमुक्तभ्रमिणि कीर्णवर्त्मा ।  
पश्येवप्रमुत्तपसाद् गियति बहुतर स्तोकमुत्पयी प्रयाति ॥६॥

यत्र पद्य अभिज्ञान साकुन्तल का है—राजा दुष्यन्त के रथ में भयभीत आश्रम की ओर भागने हुए भृगु का वर्णन है—यहां पीछा करने वाला राजा या रथ, घालम्बन है, बाण खगने का भय या और अनुसरण उद्दीपन है, गर्दन मोड़ कर भागना आदि अनुभाव, और जाम-थप आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनमें अभिव्यक्त भयस्वावी भयानक रस सामाजिकों के स्वर्णा का विषय है ।

(७) धोभत्ता रस—

- (१) स्वामी भाव—जुगुप्सा
- (२) आतम्बन—दुर्ग-धमय भासादि ।
- (३) उद्दीपन—मासादि मटना, उनमें दुर्गन्ध का आना आदि
- (४) अनुभाव—नाक धौं मिरोटना आदि
- (५) सञ्चारी भाव—आवेग, व्याधि, मोहोदि

उदाहरण—

“उत्तृप्तोन्मृत्प कृति प्रथममय पृथुस्तोषमूपाति मातनि” इत्यादि

यह पद्य मालती माधव नाटक का है, इसमें श्मशान का वर्णन है। श्मशान में किसी प्रेत को मास भक्षण में लगे हुए देखकर उसकी बीभत्स चेष्टाओं का वर्णन माधव कर रहा है—यहाँ दरिद्र प्रेत आलम्बन है, मास मोचना, खाना आदि उद्दीपन है, इस चेष्टा को देखने वाले का नाक भीं सिकोटना, धूकना आदि अनुभाव हैं, उद्देगादि सञ्चारी भाव हैं। जुगुप्सा स्थायी भाव है, इससे सामाजिक में जुगुप्सा प्रकृतिव बीभत्सरस अभिव्यक्त होता है।

(८) अद्भुत रस—

(१) स्थायी भाव—विस्मय।

(२) आलम्बन—कोई असौखिक या आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ

(३) उद्दीपन—असौखिक वस्तु का दर्शन, श्रवण या स्पर्शन।

(४) अनुभाव—प्रसन्नता करना, गद्गद हो जाना।

(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, आवेग, घृति।

उदाहरण—

चित्र महामेघ घटावतार इव कान्तिरेयाऽभिनवैव भङ्गि ।

लोकोत्तर धैर्यमहो प्रभाव, काऽप्याकृतिर्नूतन एव सारं ॥८॥

वामनावतार को दत्तमर राजा बलि की यह उक्ति है—यहाँ चित्र शब्द लोकोत्तर वाचा है, इसलिये स्वभावाद आश्चर्यता दोष नहीं है। वामन आलम्बन है, कान्ति तथा गुणों का अतिशय उद्दीपन है स्तुति आदि अनुभाव हैं, मति, घृति, हर्षादि भाव सञ्चारी हैं, इनमें अभिव्यक्त विस्मय स्थायिक अद्भुत रस है।

(९) शान्त रस—

(१) स्थायी भाव—“शम” (चित्त का शान्त होना) या “निर्वेद”

(सत्तार के प्रति वैराग्य)

(२) आलम्बन—परमात्मा का विस्तार या जगत के मिश्रणत्व का ज्ञान।

(३) उद्दीपन—सम्पन्न, पुण्यायन, तीर्थस्थानादि का दर्शन

(४) अनुभाव—रोमाञ्चित या गद्गद हो जाना,

(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, स्मृति आदि।

उदाहरण—

अहोवा हारे वा कुसुमशयने वा हृषि वा ।

मणी वा लोळे वा वलवति रिषी वा मुहुरि वा ॥

वृषे वा स्त्रिणो वा मम समदृशो यान्ति दिवता ।

यच्चित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रत्यत ॥९॥

किन्ती भगवद्भक्त का अपनी जीवन नर्था का यह वर्णन है—साप और मुक्ताहार मे, फूलो की सेज और पत्थर की शिला मे, मणि तथा डेले मे, बलवान शत्रु तथा मित्र मे, तिनके मे अथवा स्त्रियो के समूह मे, समान बुद्धि रखने वाले मेरे दिन किमी पवित्र तपोवन मे शिव शिव जपते हुए व्यतीत होते है। यहां मिथ्याप्रतीति होने वाला जगत्-बालम्बन है, तपोवनादि उद्दीपन है, सर्प व हारादि मे समभाव अनुभाव है, धृति, प्रबोध मति, हर्षादि ध्यमिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त निर्वेद स्थायी भाव से सामाजिक मे शान्त रस की अनुभूति होती है।

आचार्य नम्मट के शब्दों मे—

“निर्वेद स्यादिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस” । इस प्रकार है।

शान्त रस के विषय मे आचार्यों की भिन्न भिन्न धारणाएँ हैं। पतञ्जल ने अपने दशरूपक मे तथा धनिक ने उसको टीका मे शान्त रस के विरुद्ध अनेक मतो का उल्लेख किया है।

(१) शान्त रस प्रस्थान विरुद्ध है।

साहित्य ससार मे भरत मुनि के ही वचन प्रमाण माने जाने हैं, उन्होंने शान्त रस का विशेष विवेचन नहीं किया है, अत एव भरत द्वारा विशेष अनुभव न होने से शान्त रस नहीं है।

(२) शम का व्यवहारिक क्षेत्र मे अभाव—

हमारे आचार्य शम स्यादिक शान्त की सत्ता ही नहीं मानते हैं। प्रथम मत मे शम की केवल काव्य और नाटक मे मान्यता स्वीकार नहीं है, परन्तु द्वितीय मत ने तो व्यवहारिक क्षेत्र मे भी उसकी मान्यता स्वीकार नहीं की। क्योंकि रागद्वेष का प्रवाह मनुष्यों मे अनादिकाल से चला आता है, जिसका संबंध नाश असम्भव है, ऐसी स्थिति मे शान्त रस का उदय ही कैसे हो सकता है।

(३) द्वितीयमत—अन्तर्भाववाद—

इस मत के आचार्य चित्त की शमप्रधान वृत्ति को तो अवश्य मानते हैं, परन्तु इसका अन्तर्भाव बीरादि रसो मे कर देते हैं। शमप्रधान चित्त मे परम तत्त्व को पाने के लिए जो प्रयत्न होता है, वह उत्साहमय होने से शान्तरस बीर मे ही अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। जब इसमे ससार के विषयो से जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल रहता है, तब इसका अन्तर्भाव बीभत्स रस के भीतर हो जाता है, यह मत व्यवहार मे शम का अपसाप तो नहीं करता परन्तु तज्जन्य शान्तरस की स्वतन्त्र नहीं मानता है।

### (४) चतुर्थ मत—नाटक में शान्त रस का निषेध—

इस मत के अनुसार शान्त रस की स्थिति अवश्य है। परन्तु इसका प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता व्यापार के विराम होने पर शान्त रस होता है। शान्त रस वही होता है। नहा दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है न द्वेष है, और न चिन्ता, न राग—

न यत्र दुःख न सुख न चिन्ता,  
न द्वेषरागौ न च काचिद्विच्छा ।  
रस स शान्त कथितो मुनीर्महं,  
सर्वेषु भावेषु शमप्रधान ॥

यह स्थिति तो मोक्षावस्था में ही सम्भव है। नाटक में तो अभिनय होना से व्यापार की ही प्रधानता है। सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि मनोभावों का प्रदर्शन नाटक में अभिष्ट है। ऐसी दशा में तो शान्तरस का अभिनय होना ही मुश्किल है।

शान्तरस अनिर्वचनीय होता है। अतः रसिकों के आस्वाद में योग्य न होने से, शान्तरस का प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता यह दशरूपकार का मत है।

### (५) पञ्चम मत—(शान्त रस की सार्वत्रिक स्थिति)—

अभिनव गुप्त का मत है कि शान्त रस काव्य में तथा नाटक में दोनों में रहता है। पर इसका स्थायी भाव के विषय में मतभेद है शान्तरस की सत्ता के विषय में मतभेद नहीं है बल्कि अभिनव गुप्त का मत है तो शान्त रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। यही प्रकृति रस है, श्रृंगारादि तो इसकी नाना विकृतियाँ हैं क्षमीर के शैवाचार्य अभिनव गुप्त का शान्त रस का प्राधान्य बोधक यह मत उनका दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल ही है।

### (१०) वात्सल्य रस—

विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ “साहित्यदर्पण” में इसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है हिन्दी साहित्यिकों में सुनसी और सूरदास ने इस रस की कविताओं की रचना कर हिन्दी साहित्य को उज्ज्वल किया है।

इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) स्थायी भाव—अपने से छोटी में जो प्रेम किया जाता है जैसे—भाई-बहिन पुत्र-कन्या शिष्यादि में उसे “वात्सल्य” कहते हैं। यही स्थायी है।



- (२) आलम्बन—भाई-बहिन-पुत्र-कन्या आदि ।
- (३) उद्दीपन—तोतली बोली आदि उनकी ललित क्रीडादि ।
- (४) अनुभाव—आलिङ्गन, चूमनादि ।
- (५) सञ्चारी भाव—हर्ष, गर्व, उत्सुकता इत्यादि ।

उदाहरण—

यदाह धात्र्या प्रयमोदित बचो ययो तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।

अभूच्च नम्र अणिपातशिक्षया पितुर्मद तेन ततान्न सोऽर्भक ॥१०॥

रघुवश मे रघु के शोशवावस्था का यह वर्णन है—यहाँ बालक रघु आलम्बन है, भाई के अनुसार तोतली भाषा में उसकी उक्ति उद्दीपन है । आलिङ्गन चुम्बनादि अनुभाव हैं । हर्षादि सञ्चारीभाव है । इनसे अभिव्यक्त दिलीपनिष्ठ वास्तव्य सामाजिकों के चर्चणा का विषय है ।

(११) भक्ति रस—

भक्ति रस के विषय में आचार्यों में बड़ा मत भेद है । प्राचीन आचार्य इसे देवता विषयक रति मानकर केवल भाव कोटि में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं ।

परन्तु गोडीय कृष्णकों ने इसे रस ही नहीं माना बल्कि सर्वश्रेष्ठ आदि रस माना है । श्रीरूप गोस्वामी के “भक्तिरसामृतसिन्धु” तथा “उज्ज्वलनीलमणि” ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं ।

(१) स्थायी भाव—श्री कृष्ण विषयक रति ।

अन्य देव विषयक रति तो केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा ही हैं । “कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” अतः परमात्मस्वरूप कृष्ण विषयक रति, देवविषयक रति से भिन्न पदार्थ है । वही यही स्थायी भाव है ।

(२) आलम्बन—श्रीकृष्ण रामादि

(३) उद्दीपन—भक्तों समागम, तीर्थसेवनादि

(४) अनुभाव—भगवान् के नाम व लीलाओं का नीर्तनादि ।

(५) सञ्चारी भाव—प्रति, हर्ष, वितर्क, आदि ।

उदाहरण—

गणिकाऽजामिल मुख्यामदता भवता वताऽहम् ।

सीदन् भवमरुगतं करुणा भूते न सर्वचोपेक्ष्य ॥११॥

अथवा

स्याद्य हँ ते येहद असाधु हो भ्रजमिल लों ।

प्राह ते गुमाही कँसे तिनप्रों गिनाओगे

..... कँसे अपनाओगे, इत्यादि ।

यहाँ कवि या भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करता है और क्षमा की याचना के अभिप्राय में विनती कर रहा है । भगवान् भालम्बन विभाव हैं तथा भगवद् विषयक रति स्थायीभाव है, पूर्णभक्ति चर्चणा का विषय है ।

मूल रस—

इस प्रकार रसों की सख्या आठ से लेकर ग्यारह तक पहुँच चुकी है । किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से अलग अलग मूल रसों की कल्पना की है । स्वयं भरत मुनि ने आठ रसों का मूल शृङ्गार, रोद्र, वीर तथा बीभत्स इन चार रसों को माना है । इन चारों को प्रधान मानकर शेष रसों की उत्पत्ति भी इन्हीं से मानी है—

शृङ्गारवि भवेदहास्यो रोद्राच्च करणो रस ।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति बीभत्साच्च भयानक ॥१॥

एकरसवाद—

इसके अतिरिक्त अपनी अपनी दृष्टि से किसी एक रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्य शास्त्र में पायी जाती है ।

इस विषय में निम्नलिखित मनो का उल्लेख किया जा सकता है ।

(१) महाकवि भवभूति ने कर्णरस को ही एक मात्र रस मानकर अन्य रसों को उसी का विवर्त माना है ।

एको रस कर्ण एव निमित्तमेवाद ।

स्त्रिं पृथक् पृथगिवाभ्यसे विवर्तन् ।

भावर्त-बुदबुद तरङ्गभयान् विकारान् ।

अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥२॥

(२) भोजराज ने अपने "शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है—

शृङ्गार वीर करुणाद्भुत-रोद्र-हास्य ।

बीभत्स यत्सय-भयानक शान्त नाम्ना ॥

आम्नासिपुवंश रसान् सुषियो वयं तु ।

शृङ्गारैव रतनाद् रसमामनाम् ॥३॥

(३) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्वज भारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का निर्देश किया है—

रसो सारस्वमत्कार सर्वप्राप्यनुभूयते ।

तन्त्वमत्कारसारत्वात् सर्वप्राप्यद्भुतो रसः ।

तस्मादद्भुतमेवाह कृतो नारायणो रसम् ॥४॥

(४) अभिनव गुप्त ने शान्त रस को ही एक मात्र मूल रस प्रतिपादन करते हुए अभिनव भारती में लिखा है—

एव एव निमित्तमासाद्य शान्तादभाव प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवौपलीयते ॥५॥

रसों की सुख-दुःखरूपता—

रसों की अलौकिकता के साथ साथ उनकी सुख-दुःखरूपता का भी प्रश्न प्राचीन साहित्य आशिक्षों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय में प्रायः तीन प्रकार के मत हैं।

(१) अभिनव गुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक माना है उनका कहना है, शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत, और शान्त रसों में सुख की मात्रा अधिक है और शेष रीति, मयानक, वीररस, व करण में इनमें दुःख की प्रधानता है। पर आशिक रूप में सुख भी रहता है। केवल शान्त रस पूर्ण सुखात्मक है।

(२) नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र व ग्रन्थचन्द्र का मत विभज्यवादी है, उन्होंने शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत, और शान्त रस को सर्वथा सुखात्मक माना है, और शेष चार रसों को सर्वथा दुःखात्मक माना है।

(३) धनिक धनञ्जय विश्वनाथ भट्टनादिक नवो रसों को नितान्त सुखरूप मानते हैं। इन लोगों ने करण रस को भी सर्वथा सुखात्मक माना है—

करुणादौवपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।

सचेतसामनुभव प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदनुसृतम् ।

तथा रामायणादीनां भविता वृत्तहेतुता ॥ (सा० दण्ड) ॥

भाव का लक्षण—

भवन्तीति वा भावयन्तीति भावा दो प्रकार से भाव की व्युत्पत्ति हो सकती है ।

मम्मट ने इसका लक्षण किया है—

रतिर्द्वेवादि विषया व्यभिचारी तयाऽञ्जित ॥३५॥

भाव प्रोक्त ।

देशादि विषयक रति तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी (३३) भाव कहलाते हैं ।

उदाहरण—

हरत्पथ सम्प्रति हेतुरेव्यत शुभस्य पूवा चरितं कृत शुभैः ।

शरीरभाजा भवदीयदशन व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

नारद जी के माने पर श्रीकृष्ण उनका स्वागत करते हुए कह रहे हैं—

आपका दर्शन प्राणियों की वर्तमान, भूत भविष्यत्” तीनों कालों में योग्यता को प्रकट करता है । क्योंकि वर्तमान काल में पाप का नाश करता है, भविष्य में प्राप्त होने वाले कल्याण का कारण बनता है, और पूर्व क पुण्य से प्राप्त होता है ।

यहाँ श्रीकृष्ण निष्ठ मुनि विषयक रति होने से भाव ध्वनि है ।

इसी प्रकार गुरु राजा, पुत्रादि विषयक रति भी भाव ही होते हैं

यही रस और भावों का यदि अनुचित वर्णन किया जाए तो क्रमशः रसाभास व भानाभास कहलाते हैं ।

प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारिभावा में यदि अन्य पदार्थ से यदि किसी भाव की निवृत्ति हो जाय तो वहाँ भाव की शान्ति होती है ।

उसी प्रकार अन्य भाव व अवसरण परस्पर प्रधान भाव का जहाँ उदय होता है उस भावोदय कहते हैं । अभिव्यक्त दो भावों के सम्मिलन में भावसन्धि होती है । अभिव्यक्ति बहुत से भावों के समुदाय को भावश्रवणा कहते हैं ।

रस ब्रह्म सत्कार—

मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी कभी कभी ये भाव शान्त्यादि भी अङ्गित्व भी प्राप्त करते हैं—

ऐसी स्थिति में रसवत् असत्कार होता है । मुख्य रसेऽपि तेऽङ्गित्व प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

सतस्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि के भेद—

सतस्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि तीन प्रकार का होता है ।

सतस्यक्रमव्यङ्ग्य

↓

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि

१

अर्थ श० उ० ध्वनि

२

उभय श० उ० ध्वनि

३

(१) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—

प्रधानतया जहाँ शब्द शक्ति के द्वारा वस्तु और अलंकार अभिव्यक्त होयः उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं—

शब्दशक्ति के द्वारा वस्तु की अभिव्यक्ति—

छिद जोवों जोरी जुरे बयो न सनेह गम्भीर ।

को छिद ये वृषभानुजा के हलधर के बीर ॥

विहारी का यह दोहा शब्द शक्ति ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है । वृषभानुजा और हलधर इन शब्दों के नामधेय से दूसरा अर्थ गाय बैल वात्ता भी अभिव्यक्त होता है यही इन शब्दों से अभिव्यक्त वस्तु है ।

शब्द शक्ति के द्वारा अलंकार ध्वनि अभिव्यक्ति—

निस्पादानसम्भारमभितादेव तन्वते ।

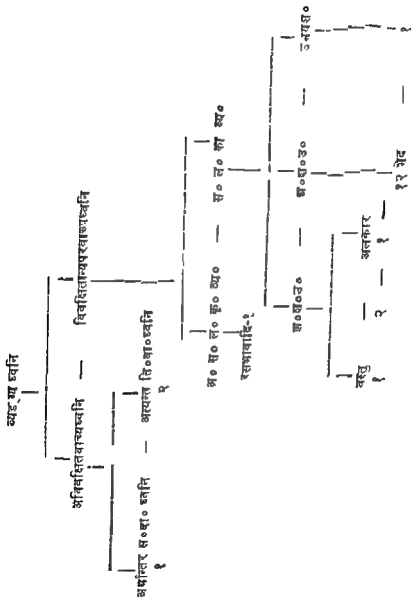
जगच्चित्र नमस्तस्यै कलाद्याध्याय कृत्तिने ॥

बिना सामग्री और बिना आधार भित्ति के नाता प्रकार के जगत् रूप चित्र का निर्माण करने वाले (अन्यविचकारों से विलक्षण) शिरम्भित पद्ममा की कला से उल्लासनीय उस शिव को नमस्कार है ।

अन्य कलाकार कृत्तिका रश्मि आदि सामग्री से ही चित्र तैयार करता है, परन्तु यहाँ भगवान् शिव बिना किसी आधार व बिना किसी सामग्री के ही जगत् रूपी चित्र को उत्पन्न कर देते हैं अतः निरुपादान, “अभित्ती” इत्यादि शब्दों से शिव का व्यतिरेक अभिव्यक्त होता है ।

अतः यहाँ शब्दशक्तिमयुक्त अलंकारध्वनि है । इस प्रकार सतस्यक्रम-व्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूलक भेद दो हुए, और अर्थशक्तिमूलक भेद बारह होते हैं और उभयशक्तिमूलक भेद एक है ।

संक्षेप में मुख्य ध्वनि भेद इस प्रकार दिखलाये जा सकते हैं—



यह अर्थशक्तिमूलक बारह प्रकार का ध्वनि भेद इस प्रकार है—

(१) स्वतः सम्भवी अर्थशक्तिमूलकसलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—

जिस अर्थ की लोक में भी सत्ता हो उसमें अभिव्यक्त व्यङ्ग्य यह चार प्रकार का होगा—

- (१) स्वतः सम्भवी—वस्तु से वस्तुध्वनि ।
- (२) „ „ वस्तु से अलकारध्वनि ।
- (३) „ „ अलकार से अलकारध्वनि ।
- (४) स्वतः सम्भवी अलकार से वस्तुध्वनि ।

(२) कविप्रादोक्तिसिद्ध—अर्थात् जिसकी सत्ता केवल कवि की ही दुनियाँ में हो । यह भी चार प्रकार का होता है ।

- (१) कविप्रादोक्ति वस्तु से वस्तुध्वनि ।
- (२) „ „ वस्तु से अलकारध्वनि ।
- (३) „ „ अलकार ■ अलकारध्वनि ।
- (४) „ „ अलकार से वस्तुध्वनि ।

कविनिबद्धवस्तुप्रादोक्ति—जहाँ कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता में कोई बात कही गई हो । यह भी चार प्रकार का है ।

- (१) कविनिबद्ध वस्तु प्रादोक्ति—वस्तु से वस्तुध्वनि ।
- (२) „ „ „ वस्तु से अलकारध्वनि ।
- (३) „ „ „ अलकार से अलकारध्वनि ।
- (४) „ „ „ अलकार से वस्तुध्वनि ।

इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य बारह प्रकार का होता है, और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एक ही प्रकार का होता है—

उदाहरण—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।

तारकातरता श्यामा सानन्द न करोति कम् ॥१२॥

चमकते हुए चन्द्रमा से विमूयित, काम की समुद्दीपित करने वाली तारिकाओं से तरल श्यामा किमकी आनन्दित नहीं करती है । यहाँ पूर्वार्ध के विशेषण आनन्द चन्द्राभरणा, समुद्दीपितमन्मथा ये परिवर्तितसह होने से अर्थशक्तिमूलक हैं, और तारकातरता श्यामा ये परिवृत्त्यह होने से शब्दशक्तिमूलक हैं । अतः उभयशक्तिमूलक यह सलक्ष्यक्रमध्वनि भेद है ।

यहाँ यह श्यामा रात्रि श्यामा षोडशवर्षीया बाला के समान है यह अर्थ व्यङ्ग्य है ।

इस प्रकार सब मिश्रावर ध्वनि के अठारह भेद हुए ।

अष्टादशध्वनि का विस्तार—५१ भेद ।

अविवक्षित वाच्यध्वनि— $\left\{ \begin{array}{l} \text{अर्थान्तर म० वाच्य—पदगत वाक्यगत-२} \\ \text{अत्यन्ततिर० वाच्य—पदगत-वाक्यगत-२} \end{array} \right.$   
 विवक्षितान्यपरवाच्य- $\left\{ \begin{array}{l} \text{अमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—रस पदगत, वाक्यगत,} \\ \text{ध्वनि} \quad \quad \quad \text{पदाशयन, रचनागत, वर्णगत, प्रबन्धगत=६} \end{array} \right.$   
 विवक्षितान्यपरवाच्य- $\left\{ \begin{array}{l} \text{शब्दशक्त्युद्भव—वस्तु व अलंकार=पदगत} \\ \text{ध्वनि} \quad \quad \quad \text{वाक्यगत=४, अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद पद वाक्य} \\ \quad \quad \quad \text{प्रबन्धगत=३६,} \\ \quad \quad \quad \text{उभयशक्त्युद्भव=१—} \end{array} \right.$  — १

इन एकशत भेदों के परस्पर समष्टि होने से = ५१

$५१ \times ५१ = २६०१$  हो जायेंगे ।

तीन प्रकार के सजर तथा एक प्रकार की समष्टि=चार प्रकार से फिर गुणन करने पर १०४०४ मख्या होगी । पुन सुद्ध ५१ भेद जोड़ देने से=१०४५५ध्वनि भेद हुए ।

यथा—पदद्योत्य अर्थान्तर सक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण हिन्दी में—

राधा अतिगुन आगरी स्वर्न बरव तनु रग ।

मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥१॥

यहाँ पहला मोहन शब्द कृष्ण का वाचक है, पर दूसरा मोहन शब्द सबको मोहित करने की सामर्थ्य आदि से युक्त मोहन का बोधक है । अतः अर्थान्तर में सक्रमित हो जान से यह पदद्योत्य अर्थान्तर सक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण है । इसी प्रकार—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।

अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स अप्रत स च जीवति ॥२॥

यहाँ द्वितीय मित्रादि शब्द अश्वस्त, निघन्त्रणीयत्व, स्नेहपान्त्रत्वादि अर्थों में सक्रमित हो जाने से यह भी पद प्रवाण्य अर्थान्तर सक्रमित वाच्यध्वनि का भेद है ।

॥ काव्यप्रकाश में ध्वनिनिरूपण नामक चतुर्थ उल्लास ॥



## पञ्चम उल्लास

गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद (मध्यमकाव्य) —

ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों का भेद सहृदयों के अनुभव के आधार पर किया जाता है। सहृदयमात्र सवेद्य व्यङ्ग्य होने पर ही ध्वनि काव्य कहलाता है। सहृदय से भिन्न सामान्य व्यक्ति भी जिस व्यङ्ग्य को बनायाम ग्रहण कर से घट अरयन्त स्पष्ट होने के कारण वाच्यार्थ के समान ही हो जाता है, वही-वही व्यङ्ग्य का चमत्कार वाच्य की अपेक्षा मन्द पड़ जाता है। ऐसी दशा में जहाँ व्यङ्ग्य अगूढ़ स्पष्ट वाच्यवत् रहे, या वाच्य में न्यून रहे, अथवा व्यङ्ग्य की प्रतीति सहृदयों को मरलता से न हो सके इन सभी दशाओं में गुणीभूत व्यङ्ग्य मध्यम काव्य ही होता है।

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—

अगूढमपरस्वाङ्ग वाच्य सिद्धयङ्गमस्फुटम् ।

सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काव्यवासिप्तमसुन्दरम् ॥४१॥

व्यङ्ग्यमेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा स्मृता ॥

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्, (२) अपरस्य—दूसरे का अङ्ग व्यङ्ग्य, (३) वाच्यसिद्धि का अङ्गभूत व्यङ्ग्य, (४) अस्फुट व्यङ्ग्य, (५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य, (६) तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य, (७) काकु ने आसिप्त व्यङ्ग्य, (८) असुन्दर व्यङ्ग्य ।

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्—असहृदयैरपि भवति सवेद्यम्—अरयन्त स्पष्ट होने में असहृदयों को भी वाच्यवत् प्रतीत हो ।

(२) अपरस्य व्यङ्ग्यम्—अपरस्य रसादेर्याध्यस्य वा अङ्गम्—ऐसा व्यङ्ग्य जो रस भाव स्वाभास भावामाभादि का या वाच्य का भी अङ्ग साधक उपकारक हो ।

(३) वाच्यसिद्धयङ्ग व्यङ्ग्यम्—वाच्यसिद्धेरङ्ग निदान वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तदिति यावत्—अर्थात् ऐसा व्यङ्ग्य जिसके अधीन वाच्यार्थ की मिद्धि हो, जिसकी सहायता के बिना वाच्यार्थ ही सम्पन्न न हो, व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष वाच्यार्थ ।

(४) अस्फुटव्यङ्ग्यम्—सहृदयानामपि दुःखसवेद्यम्, जिसका समझना सहृदयों के लिए भी कठिन है, ऐसा व्यङ्ग्य ।

(५) सन्दिग्ध प्राधान्यव्यङ्ग्यम्—सन्दिग्ध चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्यो. सन्देहविषयभूत प्राधान्य यत्र तत् । वाच्य और व्यङ्ग्य के चमत्कार की प्रधानता में जहाँ सन्देह हो ।

(६) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्यम्—तुल्यमर्याद् वाच्येन तुल्य प्राधान्य यत्र तत् । जहाँ वाच्य का व व्यङ्ग्य का चमत्कार बराबर रहे ।

(७) काव्यवाक्षिप्त व्यङ्ग्यम्—काकुर्ध्वनेचिकार, तथा आक्षिप्त भटिति प्रकाशितम्, यथा काव्या बिना वाच्यार्थ एव नास्मानलभते तथा प्रकाशयामिति ।

जिम काकु के बिना वाच्यार्थ ही मङ्गल न हो ।

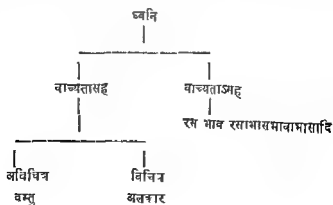
(८) अमुन्दर व्यङ्ग्यम्—स्वभावादेव वाच्यापेक्षयाऽच्चाद । वाच्य की अपेक्षा जिस व्यङ्ग्य का चमत्कार सुन्दर न हो ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के मुख्य भेद ये ही हैं । ध्वनि के भेदों की तरह इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की भी सत्त्व व सत्सृष्टि के द्वारा गणना करने से भेद सन्ध्या बहुत अधिक हो सकती है । प्रकृत में इसका कोई अधिक उपयोग नहीं है । अतः निरर्थक गणना का परिश्रम नहीं करना है । यदि कही वस्तु में अलङ्कार की अभिव्यञ्जना हो तो ऐसा काव्यभेद, गुणोभूत व्यङ्ग्य का न होकर ध्वनि का होगा । यह आनन्दवर्धनाचार्य का मन है—

व्यङ्ग्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।

ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाभयात् ॥

संक्षेप में व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है—रसध्वनि, वातुध्वनि और अलङ्कारध्वनि । इसमें रसादि रूप व्यङ्ग्य वाच्यता को सहन नहीं करता । अन्य वस्तुरूप और अलङ्कार रूप व्यङ्ग्य, कभी कभी अन्य दशा में वाच्य भी हो सकता है ।



### व्यञ्जना की स्थापना—

अभिधा व लक्षणा की चर्चा तो अन्य शास्त्रों में भी यत्र तत्र होती ही रहती है। प्रायः शास्त्रीय चर्चा में सर्वत्र अपने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अभिधा वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। कहीं-कहीं ब्रह्मावश्य प्रमेय के प्रतिपादन के लिए, यदि अभिधावृत्ति विवक्षित तात्पर्य को समझाने के लिए समर्थ न हो तो वहाँ लक्षणा वृत्ति का भी आश्रय लिया जाता है।

इसी प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध वृत्तियों की परिधि में शास्त्र चर्चा चलती है, परन्तु साहित्यशास्त्र में तो केवल अभिधा या लक्षणा वृत्ति से ही काम नहीं चलता है। साहित्यिक गोष्ठी या कवि गोष्ठी में तो इन वृत्तियों को उतना सम्मान नहीं दिया जाता है, जितना कि व्यञ्जना वृत्ति का सम्मान है, जहाँ त गतासि का अर्थ अवश्यमेव गतामि हो जाता है, भ्रम का अर्थ ना भ्रम हो जाता है, अर्थात्—विधि का निषेध में पर्यवसान और निषेध का विधि में पर्यवसान ही जाता है, ऐसे स्थलों में जेधारी इस प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध वृत्तियों की पहुँच ही नहीं।

जहाँ व्यङ्ग्य वस्तु के ही विषय में, (जोकि ध्वनि का स्वरूप भेद है, साथ ही साथ दशादिशेष में वाच्यतामह भी है,) ही यह बात है, वहाँ वाच्य वृत्ति से जो दायगत द्वार रसभादादिध्वनि है, उसके विषय में तो कहना ही क्या, रसादिध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं है, फिर उस रसादि लक्षण अर्थ का बोधन कराने में अभिधादि वृत्तियाँ कहाँ तक समर्थ हो सकती हैं। अतः रसादि अर्थ के बोध के लिए अभिधा लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना को अवश्य मानना चाहिए जैसा कि विश्वनाथ कविराज का कहना है—

“वृत्तीनां विधातेरभिधा तात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।

प्रज्ञाकार्या तुर्यावृत्तिर्बोधि रसादीनाम् ॥१॥

शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि, अभिधा में गतार्थ नहीं है—अभिधासूत्रा व्यञ्जना के जो दो भेद हैं असत्तदयक्रम व्यङ्ग्य और सत्तदयक्रम व्यङ्ग्य ये दोनों भेद अभिधावृत्ति के विषय नहीं हैं, क्योंकि असत्तदयक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्यता को सहन नहीं करता, और सत्तदयक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनि के जो तीन भेद हैं, शब्दशक्त्युत्प, अर्थशक्त्युत्प और उभय सत्तदयुत्प, इसमें शब्दशक्त्युत्प ध्वनि जहाँ अनेकार्थक शब्द का प्रकरणादिवशात् शून्य में नियन्त्रण हो जाने पर भी अन्व अर्थ की जो प्रतीति होती है, उसके लिए व्यञ्जना व्यापार मानना ही पड़ेगा।

अर्थशक्तिमूलकध्वनि में भी व्यञ्जना अनिवार्य—

यह ध्वनि अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति से गतार्थ नहीं हो सकती है। अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधाशक्ति केवल पदार्थों की उपस्थिति

कराती है। पदार्थों के परस्पर ससंस्पर्श वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए एक तात्पर्य नाम की वृत्ति माननी पड़ती है। जब वाक्यार्थ ज्ञान के लिए ही अलग से तात्पर्य नाम की वृत्ति माननी पड़ती है, तो वाक्यार्थ के बाद में प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के लिए तो अवश्य ही व्यञ्जना वृत्ति माननी पड़ेगी। अर्थात् जाति में सकेतग्रह होने से सामान्यरूप पदार्थों का परस्पर ससंस्पर्श विशेष, जहाँ प.० से उपस्थित न होकर "आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधि रूप तात्पर्यवृत्ति से उपस्थित होना है वहाँ वाक्यार्थ बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की तो बात ही क्या ?

अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जना आवश्यक—

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर आदि जो सकेतग्रह का प्रधान साधन व्यवहार को मानते हैं, क्योंकि उत्तम मध्यमादि वृद्धों के 'सामान्य' इत्यादि वाक्यों के व्यवहार में ही सर्वप्रथम बालक को सकेत ज्ञान होता है।

इनके मत में 'गो अश्व' ये पद विशेष होते हुए भी दोनों में रहने वाले सामान्य 'कर्मत्व' रूप में ही 'ज्ञान्य' के साथ अन्वित होते हैं। यह उनका सामान्य विशेष हुआ, पर मोक्ष और अश्वत्व या गो और अश्व आदि अति विशेष हैं। यह अति विशेषरूप अर्थ भी मान्यार्थ में प्रतीत होता है, पर इसमें सकेतग्रह नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति में सङ्केतग्रह करने में ज्ञान्य और व्यभिचार दोष आता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनके मत में यहाँ तीन चीजें हैं—  
(१) सामान्य=ज्ञान्य—अद्वय आदि सामान्यरूप से अन्वितत्वमान,  
(२) सामान्यविशेष या अर्थ है कर्मत्वादिरूप में अन्वितत्व "सामान्य" इत्यादि। (३) अतिविशेष का प्रश्न है, गो अश्व आदि व्यक्ति विशेष के साथ अन्वितत्व।

अन्विताभिधानवादी के मत में अन्वित में शक्ति मानने से अन्वित वाक्यार्थ के भासित होने पर भी "अतिविशेष अर्थ" (व्यक्तिविशेष) असंकेतित होने के कारण वाक्यार्थ नहीं हो सकता, उसके लिए अतिरिक्त शक्ति मानने की जरूरत है। जब वाक्यार्थ के बोध के लिए ही अभिप्राय से भिन्न शक्ति की आवश्यकता होती है, तो वाक्यार्थ के बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिप्राय से हो सकेगा ऐसा कहना तो सर्वथा असङ्गत है।

मीमांसक एक देशीय का मत—

किसी मीमांसक का कहना है कि "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते" नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की

जाती है। अतः व्यङ्ग्यार्थ जो नैमित्तिक (या कार्य) है, वह किसी न किसी शब्द से ही प्रतीत होना है, अतः शब्द को ही उस प्रतीति में निमित्त मानना पड़ेगा और निमित्त दो ही प्रकार का होना है—कारक और ज्ञापक।

व्यङ्ग्यार्थ के प्रति शब्द का निमित्तत्व कारकत्वरूप नहीं हो सकता है अपितु ज्ञापकत्व या बोधकत्वरूप ही होगा। व्यङ्ग्यार्थ के भाष्य इसका बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा, यह बोध्यबोधक-सम्बन्ध अभिधावचिन ही है, क्योंकि शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा ही है। जब अभिधा व्यापार से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध हो जाना है तो फिर अनिश्चित व्यञ्जनावृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है।

व्यञ्जनाव्याप्ती की तरफ से उत्तर—

आपके मतानुसार शब्द में जो व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसमें शब्द केवल ज्ञापकत्व निमित्तत्व है, परन्तु यह ज्ञापकत्वरूपनिमित्त शब्द सब बन सकता है, जब उस अर्थ में उस शब्द का सङ्केतग्रह हो।

आपके सिद्धान्तानुसार सङ्केत केवल मायान्यरूप से अन्वितमात्र में ही गनीत होना है। विशेष में सङ्केतग्रह नहीं होना, इसलिए निमित्तरूप शब्द का जब तक व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थ के साथ निश्चिन्नरूप में सम्बन्ध या मन्त्रेणग्रह न हो तब तक अभिधा में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकती है।

क्योंकि कहीं भी व्यङ्ग्यार्थ में सकेतग्रहण नहीं है। इसलिए निश्चिन्न मन्त्रेणग्रह के अभाव में “नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते” यह कथन भी अविवेकपूर्ण है।

भट्टलोहलट का पूर्वपक्ष—

भट्टलोहलट भी भीमामानुयायी हैं, वे भी व्यञ्जना वृत्ति को नहीं मानते। उनमें मत में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधाव्यापार में ही हो जाती है, इस पर उन्होंने एक वाण का दृष्टान्त दिया है “सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घन्तरोऽभिधा-व्यापारः” यह अभिधाव्यापार भी वाण की तरह दीर्घ दीर्घन्तर होता जाना है। जैसे बिर्गा बलवान ने द्वारा प्रयुजन एक ही वाण शत्रु का चर्म भेदन, चर्म भेदन तथा मर्म भेदन कर देगा है, अभीष्टसंग कार्य करने तक बीच में विश्राम नहीं करता है, इसी प्रकार एक ही अभिधा व्यापार पदार्थोपस्थिति, बन्धव्य बोध व व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी करा सकता है। जहां तक वक्ता का तात्पर्य हो वह सब अभिधा वृत्ति द्वारा ही बोधित हो जाता है, और यह तात्पर्य अभिधेय तक ही सीमित रहे यह वान भी नहीं।

आचार्य धनिक की भी यही सम्मति है, कि तात्पर्य कोई तराजू से तोली हुई चीज नहीं है, अपितु जहाँ वक्ता को अर्थ की जरूरत रहती है, वहां तक उन शब्दों का तात्पर्य समझा जाय।

तात्पर्यं व्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।

यावत् कार्यप्रसारित्यात् तात्पर्यं न तुला धनम् ॥ इति ॥

क्योंकि जिस अर्थ में जिस शब्द का तात्पर्य रहता है, वही उस शब्द का अर्थ है कहा भी है 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इति । अतः 'निश्चोपच्युतचन्दनमिति' इत्यादि शब्दों का "नायकान्तिकगमनरूप" जो विधि है, वह तात्पर्य विषय होने के कारण वाच्य ही है न कि व्यङ्ग्य ।

व्यञ्जनाविवादी का समाग्रान—

पूर्वपक्षी ने "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" इस वैदिक वाक्य का तात्पर्य जो यह निकाला है कि लक्ष्य व्यङ्ग्य आदि सभी अर्थों को वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिए, वस्तुतः वह भीमासका शास्त्र के नियमों के अनुसार उक्त वाक्य के तात्पर्य का अन्तर्निहित ही है क्योंकि उक्त वाक्य—"यत्पर शब्द स शब्दार्थ" इस वाक्य का अर्थ भीमासको ने इस प्रकार किया है—

"अग्निहोत्रं ब्रुह्मयात स्वर्गकाम" इत्यादि वैदिक वाक्यों में वही केवल होम क्रिया का विधान होता है वही 'इच्छा जुहोति' जैसा वाक्यों में होम का पूर्ण वाक्य में प्राप्त होने के कारण केवल दक्षिण साधनश्रय का विधान अभिप्रेत होता है वही 'सोमं यजेत' जैसा वाक्यों में सोम और याव दोनों के अप्राप्त होने में दोनों का विधान अभिप्रेत होता है ।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्यों में जहाँ जितना अक्ष प्रमाणान्तर में अप्राप्त होता है, उसने अक्ष का विधान अभिप्रेत होता है, जैसा अग्नि अदश का ही दहन बताया है, उसी प्रकार वैदिक वाक्य या विधिवाक्य भी अप्राप्त का ही विधान करते हैं । ऐसी स्थिति में जिस अप्राप्त अक्ष के बोधन में विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का विधेय या तात्पर्य अक्ष का प्रतिपाद्य होता है वही "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" का अर्थ है ।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ सब शब्द का वाच्यार्थ ही होता है, वह अर्थ 'यत्पर, शब्द स शब्दार्थ' इस वाक्य का अर्थ नहीं है । यदि यही अर्थ इस वाक्य का होता तो कुमारिलचङ्कट आदि भीमासक भी लक्षणावृत्ति को क्यों मानते, अतः भट्टचल्लटादि जो भीमासक इस तात्पर्य वाच्यार्थ में के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही सिद्ध करना चाहते हैं, वे उस वाक्य का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते हैं, स्वयं अपने शास्त्र के अर्थ को न समझने के कारण मम्मट ने इनको 'देवानां प्रिय' (मूर्ख) कहा ।

उक्त "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" इस वाक्य का अभिप्राय प्रत्यक्ष इस प्रकार समझाते हैं—

“भूत मव्याय उपदिश्यते” का अर्थ है सिद्ध कारकादि पदार्थ । मव्य का अर्थ है साध्य क्रियाकृत् । इन दोनों का जहा सहोच्चारण हो वहा भूत सिद्ध का प्रथम साध्य के लिए उपदेश होता है । अर्थात् मिद्ध-भूत मव्य साध्य के अङ्ग रूप में उपदिष्ट होता है, क्योंकि “आप्तायस्य श्रियार्थत्वादानर्पणमनदवर्णानम्” इस नियम के अनुसार वेद के विशाखरक विधि विशेष परत होने से अक्रिया स्वरूप जो मिद्ध प्राप्त है वह क्रियात्मक साध्य का अन्त बन जाना है, जन्. क्रियात्मक विधि वग की ही प्रधानता रहती है ।

यही “भूत मव्याय उपदिश्यते” इस वाक्य का अर्थ है । जैसे “सौहीतोष्णीया श्रुतिवत् प्रचरन्ति”—यह वाक्य श्वेत याग के प्रकरण में आया है, श्वेत याग एक विकृति वग्न माना जाता है, ज्योतिष्ठोम याग इसका प्रकृति वाग्य है, “मय सप्तप्राङ्गोपदेश सा प्रकृति” इसी को प्रधान याग कहते हैं । प्रकृति वाग्य के साथ अनेक विकृति वाग्य भी वर्णित होते हैं । इन विकृति वाग्यों में विशेष मवीन अङ्गों का ही वर्णन होना है, “प्रकृतिवत् विकृति कर्तव्या” इस नियम के अनुसार वेद सारी विधिया प्रकृति की तरह की जाती हैं ।

ज्योतिष्ठोमक्य प्रकृति वाग्य में “सौहीतोष्णीया श्रुतिवत् प्रचरन्ति” इस वाक्य के द्वारा श्रुतिवत्-प्रचरण का विधान किया हुआ है, श्वेत याग में “प्रकृतिवत् विकृति कर्तव्या” इस नियम के अनुसार यहाँ श्रुतिवत् प्रचरण स्वयं प्राप्त है, न तो यहा उष्णीय का विधान है और न ही प्रचरण का विधान है ये तो सब ज्योतिष्ठोम वाग्ये वाक्य में प्राप्त ही हैं । केवल यहा उष्णीय में सौहीत (तामरक) का विधान अभिप्रेत है । इतना ही इस वाक्य का अर्थ है, जन्. “मत्पर शब्द स शब्दार्थ” यह वाक्य इसी अर्थ को सूचित करता है ।

इसी प्रकार “दध्ना जुहोति” इत्यादि वाक्य में भी दधि-द्रव्य है, द्रव्य मिद्ध होता है, साध्य नहीं, पर कभी कभी यह भी साध्य की तरह प्रतीत होता है ।

अङ्ग रूप में विधान किये गये इस मिद्ध पदार्थ का भी प्रधान क्रिया में सम्बन्ध होने में साध्य की तरह प्रतीति होती है, प्रकृति में हवन का अर्थ प्रधान से विधान हो जाने में केवल दधि का करणत्वभाव में विधान किया गया है । इसी प्रकार कही से या तीन पदार्थों का भी विधान होता है, कहे का तात्पर्य यह है कि जिसका विधान किया जागा है, उसी में शब्द का तात्पर्य रहना है, और जो शब्द वाक्य में आये हैं उन्हीं उपात्त शब्दों में ही किसी के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रहता है ।

मीमांसक की ओर से पुन शङ्का—

मीमांसक पुन बाधक्य करता है कि यदि वाक्यान्वर्ग उपात्त शब्दों के अर्थ में ही यदि वाक्य का तात्पर्य है तो फिर “विष वसत्य या वास्य गृहे

भुङ्क्या” — “विष खा ले, पर इसके घर भोजन मतकर” अर्थात् इसके घर का भोजन विष से भी भयकर है, अतः नहीं खाना चाहिए यह तात्पर्य उपात्त शब्दा में नहीं है, आपने कैसे कह दिया कि वाक्य में उपात्त शब्दों में ही तात्पर्य रहता है ।

व्यञ्जनावारी का समाधान—

यहाँ “विष भक्षण” इत्यादि वाक्य को यदि असंग-असंग वाक्य माना जाय तो इस वाक्य का अर्थ अमञ्जन हो जायगा क्योंकि यह किसी मित्र का वाक्य है, कोई मित्र अपने मित्र को विष खाने की सलाह नहीं देगा, इसलिए विषभक्षण का आदेश देने वाला यह वाक्य स्वयं में अपूर्ण है, इसलिए “भा चास्य गृहे भुङ्क्या” इस दूसरे वाक्य के साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक है, अतः विषभक्षण वाक्य स्वयं अनुपपन्न होने के कारण दूसरे वाक्य का अङ्ग बन जाता है, और अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से दोनों की एकरूपता हो जाती है । एक वाक्यना हो जाने पर उपात्त शब्द में ही तात्पर्य आ जाता है, अतः ‘उपात्तस्यैव शब्दास्यार्थे तात्पर्यम्’ इस नियम की सङ्गति हो जाती है ।

यदि यह कहा जाय कि शब्द श्रवण के बाद जिनने भी अर्थ की प्रतीति होती है वह सब अभिधा व्यापार का ही विषय है, तो किन्हीं वाक्यों के श्रवणानन्तर मुक्तादि ना विकार व सङ्कोच होता है, वह भी अभिधा व्यापार का ही विषय क्यों नहीं माना जाता है, क्यों वह अनुमान का विषय माना जाता है । फिर दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार में ही सारे अर्थों की सिद्धि हो जाने पर, लक्षणा व्यापार की भी क्या आवश्यकता है, जिसको आपने भी स्वीकार किया है । और आपके मीमांसादर्शन में माने हुए “श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समारम्भ” इन छ प्रमाणों की पूर्वपूर्व की बलवता क्यों मानी जानी है ? अर्थात् यदि शब्द श्रवण के बाद प्रतीति होने वाले सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है तो न लक्षणा की आवश्यकता है, और न श्रुति आदि प्रमाणों की प्रबलता दुर्बलता का निश्चय ही हो सकता है । इसीलिए अन्विताभिधान वाद में भी विशेषव्युत्पत्तचन्दनम् इत्यादि स्थलों में निषेवरूप वाच्यार्थ में प्रतीति होने वाले विधि की व्युत्पत्ति सिद्ध होती है ।

नित्यानित्य दोष की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जनावृत्ति आवश्यक है ।

वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव यदि नहीं माना जाय तो असाधुपदत्व (च्युतसंस्कारत्व) आदि नित्य दोषों का, और वदत्व (श्रुतिवदत्व) आदि अनित्य दोषों का विभाग भी नहीं बन सकता है ।



वाच्यवाचक भाव में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को स्वीकार करने पर तो व्यङ्ग्य के अनेक प्रकार होने में वही किसी के औचित्य के कारण (अर्थात् श्रुतिवृत्त्यादि की वस्तुिन् मृत्तागादि रसों में ही वर्जनीयता रहेगी, अन्यत्र तो उनमें उपदेष्टा होगी) विमल व्यवस्था बन ही जाती है। इसी लिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को मानना ही चाहिए।

गुणों की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जना जरूरी—

यदि व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव न माना जाय तो कुमारसम्भव में आये हुए “समागम प्रार्थनया वपासिन” इस पद्य में शिव के वाचक पिनाकी, आदि पदों की अपेक्षा वपासी आदि पदों का वाद्यानुगुणत्व तथा अस्मिन्नरमाभिव्यञ्जनत्व कैसे माना जा सकता है।

इहावधि कालिदास निमित्त कुमारसम्भव का यह पद्य इस प्रकार है—

इय गत सप्तप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया वपासिन ।

काला च सा कान्तिमयी कलायतस्तवमस्य लोकाय च नम्रकोमुखी ।

इस पद्य में शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाली पार्वती के परोक्षा करने के लिए वृत्तपाठी का वेग घाग्गा कम्के आए हुए शिव की, पार्वती की शिव समागम की इच्छा का उपहास करते हुए कह रहे हैं, पहिले अकेली चन्द्र-बला ही शोचनीय थी, अब तुम दोनों की दशा शोचनीय हों मयी है। यहाँ कवि ने शिव के वाचक पिनाकी आदि शब्दों को छोड़कर “वपासी” शब्द का ही विशेष रूप से जो प्रयोग किया है, उगमे जिन दरिद्रता, धीमत्तता आदि अनेक गुणों का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, वह शिवजी के वाचक “पिनाकी” आदि शब्दों से व्यक्त नहीं होता है। उसी के आधार पर शोचनीयता का औचित्य व्यक्त होता है। यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं माना जाएगा तो वाचक रूप से सभी शब्दों का समान स्थान होने में विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण समस्या नहीं होगी। इसलिए वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अवश्य मानना चाहिए।

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में भी महान् अन्तर—

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में सख्या, स्वरूप, काल, आयुष्य, निमित्त, उपदेश, कार्य तथा विषय आदि के भेद होने से भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार ने इन भेदों का संग्रह इस प्रकार किया है—

स्वरूप सख्या निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम् ।

आध्वय विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥

दूसरी बात यह है कि “यत्पर शब्द स शब्दार्थ” वाला नियम सर्वत्र लागू नहीं हो सकता है, असुन्दर व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद में ‘वानोर कुञ्ज सीदन् यद्भानि’ इत्यादि स्थल में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ चमत्कार युक्त होने के कारण उसी में तात्पर्य का पर्यवसान भी होता है, ऐसे स्थलों में जहाँ व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यविषयीभूत है ही नहीं तो व्यञ्जना व्यापार के न मानने में वह अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ किस व्यापार का विषय बनेगा ?

लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में भेद होने में लक्षणा शक्ति से भी व्यञ्जना गतार्थ नहीं हो सकती—

यद्यपि व्यङ्ग्य की ही तरह लक्ष्यार्थ भी अनियत रहता है जैसे—रामोऽस्मि ममं महे, रामेण प्रियजीवित्तं तु कृतं प्रेम्णप्रिये नोचितम्, रामोऽसौ भुवनेषु विप्रमगुणं प्राप्तं प्रतिदिं पराम्, इत्यादि स्थला में दुःख महिष्णुव, निष्करण, खरदूषणादिहन्ता इत्यादि एक ही राम शब्द के लक्ष्यार्थ हैं। फिर भी लक्षणीय अर्थ का नाना होने पर भी अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान नियतरूप ही होता है। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ तो प्रकरणादि के द्वारा कही नियतसम्बन्ध और कही अनियत सम्बन्ध और कही परम्परित सम्बन्ध वाला होता है। अतः लक्ष्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता है और न लक्षणा में व्यञ्जना गतार्थ हो सकती है।

**व्यञ्जना का विशेष आदर—**

व्यञ्जना के विषय को लेकर ग्रन्थकार का यहाँ तक का सारा सघर्ष मीमांसका में रहा। उन्हीं के विरोध का उत्तर देने हुए व्यञ्जना की प्रतिष्ठा की परन्तु इनमें से उनका कार्य पूर्ण नहीं हुआ, अभी आगे उन्हें बँध्याकरणों, वेदान्तिकों तथा नैयायिकों का भी सामना करना है। इस उत्सास में व्यञ्जना की प्रतिष्ठा का भगीरथ प्रयत्न ग्रन्थकार का है। व्यञ्जना का घुत्तुर्विरोध है, साहित्यशास्त्र में भी केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय ही इसे स्वीकार करता है, रोष बड़े बड़े दार्शनिक व साहित्यिक तो इसका विरोध ही करते हैं। मीमांसक, वेदान्ती, नैयायिक और बँध्याकरण करीब करीब सभी व्यञ्जना का विरोधी हैं। पर ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार साहित्यशास्त्र की गाँड़ी व्यञ्जना के बिना एक पग भी आगे नहीं चल सकती है। इस शास्त्र में तो अभिधा शक्ति की कोई कदर नहीं है। सीधी साधी बात कहना तो एक तरह गवाजीपना है। जिस उक्ति में कोई चमत्कार नहीं, कथन की कोई झेली नहीं या जिसमें कोई रस नहीं ऐसी नीरस शुष्क उक्ति सहृदयों के हृदय को अच्छी नहीं लगती है। मीमांसक नैयायिक आदि भले ही नग्न यथार्थवाद से सन्तुष्ट हो जायें पर साहित्यशास्त्र के विद्वानों को तो उन वाक्यों से कथमपि सन्तोष नहीं होता है। इसीलिए आशाधर भट्ट ने कहा है—

शक्ति भजन्ति सरला लक्षणा चतुरा नरा ।

व्यञ्जना नर्ममर्मज्ञा कवयः कमला जना ॥

माहित्यशास्त्र तो रसप्रधान शास्त्र है, रगास्वाद के बिना सहृदय की नृत्ति नहीं होनी है, उसी रमाभिष्यन्ति के लिए व्यञ्जना आवश्यक है ।

कवित्व की कमीटी और काव्य का प्राण व्यञ्जना है इसलिए आचार्य मम्मट ने इसकी सिद्धि के लिए इतना आग्रह और इतना प्रयास किया है ।

वैयाकरणों या वेदान्तियों का अखण्डार्थवाद भी (वेदान्तों या वैयाकरण यह कहते हैं कि अखण्डबुद्धि से प्राप्त वाक्यार्थ ही वाच्य होता है, और अखण्ड वाक्य ही उनका वाचक होता है । उनको भी अविद्या की स्थिति में (व्यवहार सत्ता में) जाकर, पद पदार्थ की कल्पना करनी ही होगी, इसलिए उनके पक्ष में भी उक्त (ति गौणव्युत्पन्नचन्दनम् इत्यादि) उदाहरण में विधि आदि को वृद्ध्यमानना ही होगा ।

श्यामाचार्य महिमभट्ट का विरोध—

व्यञ्जनावृत्ति के सबसे कटु विरोधी महिमभट्ट हैं जिन्होंने काव्य जगत् में समाहित हम व्यञ्जना वृत्ति की साथ ही साथ व्यञ्जना परिवार के समष्टिभूत ध्वनितत्त्व की कठोर समीक्षा की है । आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धान्त को खस करने के लिए इस महात्मा ने एक स्वयन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाला, जिसका नाम है—“व्यक्तिविवेक” अर्थात्—“व्यञ्जना का विचार” ग्रन्थ के आरम्भ में ही इनकी प्रतिज्ञा भी वही भवकर है—

अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम् ।

व्यक्तिविवेक कुरुते प्रथम्य महिमा परा वाचम् ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए महिमा नामक आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर “व्यक्ति विवेक” नामक ग्रन्थ की रचना करते हैं । कहना नहीं होगा कि बहुत कुछ अंश में इनकी प्रतिज्ञा सफल हुई है, सर्व प्रथम ये ध्वन्यालोक के ध्वनि लक्षण पर टूट पड़े, उनके लक्षण का प्रतिपद खण्डन करके यह दिखाया कि ध्वनि का तो कोई लक्षण ही नहीं बनना, फिर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दिखाते हुए व्यञ्जनावृत्ति की समीक्षा करने लगे । इनके मत में शब्द और अर्थ का यदि कोई सम्बन्ध है तो वह वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है बस इसके लिए तो फिर अभिधा से अन्य किसी व्यापार को मानने की आवश्यकता ही नहीं है यदि कही उपचार वश कोई वृद्ध्यादि अर्थ की प्रतीति होती है तो वह सब अनुमान के द्वारा ही गतार्थ हो जाती है ।

इसके लिए अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। बड़े सरम्भ के साथ इन्होंने अपने ग्रन्थ में अनुमान में ही पूरे ध्वनि प्रपञ्च को सम्हालने का साहसिक प्रयास किया है। इस पर इन्हे पूरा भरोसा है कि मेरे जैसे पण्डित अवश्य मेरी बातों का समादर करेंगे और बड़े गर्व के साथ कहते हैं—

मुक्तोऽयमात्मसद्वान् प्रति मे प्रयत्नो ।

नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहर यत् ।

केचिज्जलन्ति विकसन्त्यपरे निमीलन्त्य-

न्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

जो मेरे जैसे है उम्हरी के लिए यह मेरा प्रयास है, ससार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सबका मन आकृष्ट करे, सबको प्रकाशित करने वाले भगवान् भास्कर के उदयोन्मुख होने पर कुछ (सूर्यकान्त मणि) जलते हैं, कुछ (कमल) खिलने हैं और कुछ (उल्लू-कमुद आदि) सकुचित हो जाते हैं ॥२॥

व्यक्तिविवेक की प्रौढ़ तथा तर्क कर्कश विचार बातुरी में ध्वनि के सारे अङ्गों को बहत बड़ी ठेस मगी है इसमें कोई भ्रमेह नहीं, ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का वह निर्मल यश शायद कब का खनग हो जाता, यदि एकादश शती के उत्तरभाग में मम्मट जैसे अद्भुत विद्वान् का उदय नहीं होता।

महिमभट्ट का मत मुख्यतः त्वष्ट्यदर्शन की अनुमान प्रक्रिया पर आधारित है। इसलिए इस मन को हम न्याय मन कह सकते हैं। इनका कथन इस प्रकार है—

वाच्य से अमम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है, यदि वाच्य से अमम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती तो, पिरजिम किसी शब्द में जो कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार जब व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ का आपस में व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध अवश्य (किसी प्रतिषन्ध) व्याप्ति के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्तिरहित और नियत धर्मों (पक्ष) पर्ववादि में रहने से (अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त होने से पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप) तीनों रूपों वाले (धूमादि हेतु के समान) लिङ्ग से, लिङ्गी (अर्थात् वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान किया जाता है, उसी रूप में (व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का भी) पर्यवसान हो जाता है।

यहाँ “विरूपास्त्रिङ्गास्त्रिङ्गिज्ञानमनुमानम्” यह कहकर, व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त एव विरूप (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृत्तिरूप) विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के बिना नहीं होती, इसी

लिप्त व्यङ्ग्य प्रतीति अनुमिति ही है, और व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव एक प्रकार का अनुमान ही है—

उदाहरण के द्वारा इसे और स्पष्ट कर रहे हैं—

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितम्येन ।

गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिहेन ॥

हे पण्डित जी (धार्मिक) अब आप निडर होकर भ्रमण करें, गोदावरी के तीर के कुञ्ज में रहने वाले उम दुष्ट सिंह ने आज उम कुत्ते को (जो आपको तग किया करता था) मार डाला है ।

इस गाथा का प्रकरण इस प्रकार है—गोदावरी नदी के किनारे किसी उद्यान में किसी स्त्री ने अपना निवास स्थान बनाया हुआ था, वहाँ उसका प्रिय उससे मिलने के लिए आता था, कोई दूसरे पण्डित जो अपने पूजापाठ के लिए फूय तोड़ने उसी उद्यान में आया करते थे, इनके आने से उस स्त्री के कार्य में विघ्न पड़ता था, इसीलिए उसने इस प्रकार का उपाय निकाला कि जिससे पण्डित जी का उधर आना बन्द हो जाय, इसी दृष्टि में उसने इस पद्य द्वारा पण्डित जी को सिंह द्वारा कुत्ते को मारे जाने की सूचना दी, वह जानती है कि पण्डितजी जब कुत्ते से ही बहुत डरते थे तो सिंह का नाम सुनते तो वे वहाँ आना ही भूल जायेंगे ।

भ्रम धार्मिक इत्यादि श्लोक में—(गोदावरी तीर स्थित) घर में रहने वाले कुत्ते के अभाव में विहित भ्रमण (हेतु या लिङ्ग) गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान द्वारा भ्रमण के अभाव (साध्य) का अनुमान कराता है ।

जहाँ-जहाँ भीरुओं का भ्रमण होता है, वहाँ-वहाँ भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक होता है । यह व्याप्ति है, और गोदावरी के तीर में (भय का कारण) सिंह की उपलब्धि (अर्थात् साधनाभाव) है । इसलिए साध्य भीरुभ्रमण की व्यापिका जो भयकारण के अभाव की उपलब्धि, उसके विरुद्ध जो भय कारण है उसकी उपलब्धि, (अर्थात् अभावसाध्यक सिंहोपलब्धिरूप) व्यापक विरुद्ध, (व्यतिरेक व्याप्ति) की प्रतीति होती है ।

इसलिए व्यतिरेकि अनुमान के द्वारा भ्रमणनिषेध की प्रतीति हो जाती है, उसके लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है ।

इसका अनुमानाकार इस प्रकार बन सकता है—

(१) गोदावरी तीर भीरुभ्रमणायोग्यम् (प्रतिज्ञा वाक्य) ।

(२) भयकारणोपलब्धे (हेतु या माधन) ।

(३) यद्यत् भीरुभ्रमणयोग्य तत्तद्भयकारणाभाववत् ।

यथा गृहम्—(व्यतिरेक व्याप्ति उदाहरण सहित) ।

(४) न चेद तीर सया भयकारणाभाववत्, मिहोपलब्धे (उपनय वक्ष्य)

(५) तस्मात् भीरुभ्रमणयोग्य तीरम् (निगमन) ।

इस प्रकार पञ्चावयव वाक्य में अनुमान द्वारा ही व्यञ्जनावृत्ति के व्यङ्ग्य—मा भ्रम अर्थात् मन धूमो—अर्थात् भ्रमण निषेध को" स्तार्थ नर देते हैं ।

अतः व्यङ्ग्यार्थ के लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं । यह पूर्व पक्ष है—

मम्मट द्वारा महिमभट्ट के इस अनुमान का पण्डन—

यहाँ महिमभट्ट ने "मिहोपलब्धि" को "भीरुभ्रमणयोग्यत्व" मिट्ट करने के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यह हेतु अनैकान्तिक है । अर्थात् साध्यभाववद्वृत्ति है । जहाँ जहाँ भीरुभ्रमण होता हो, वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव हो, इस प्रकार की कोई व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि युद्धादि में राजाशा से भीरु सैनिक भी भय के कारण के रहते हुए भी जाता ही है, इसी प्रकार प्रभु की आज्ञा में या गुरु की आज्ञा में शिष्य, अथवा प्रिया के अनुराग में भय के कारण रहते हुए भी जाता ही है । इसी बात को समझाते हैं—

भीर भी प्रभु या गुरु की आज्ञा में अथवा प्रिया के अनुराग में अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण में भी भय के कारण रहते हुए भी घूमता ही है । इसलिए यह मिहोपलब्धिरूप हेतु अनैकान्तिक है । अर्थात्—सव्यभिचार हेत्वाभास है और कुत्ते से डरने पर भी वीर होने से सिंह में नहीं डरता है, इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास भी है । (तीमरा दोष यह है कि) गोदावरी के किनारे सिंह का सद्भाव प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से निश्चित नहीं है । अपितु वचन से, अर्थ के साथ वचन उक्त नायिका के शब्द का कोई प्रतिबन्ध नियत सहचार न होने से, वचन का प्रामाण्य भी नहीं है । इसलिए पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपामिद्ध हेत्वाभास भी है । इस प्रकार त्रिदोषग्रस्त हेतु में साध्य की सिद्धि किम तरह हो सकती है ?

अर्थात्—अनुमान द्वारा भ्रमण निषेधरूप साध्यव्यङ्ग्य की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

इसी प्रकार “निशेषच्युतचन्दनम्” इत्यादि स्थितो मे भी चन्दनच्यवनादि के द्वारा जो अनुमान महिमप्रदृष्ट करते हैं, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।

अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास है, अर्थात् चन्दनच्यवन को अनुमापक मानकर नायकान्तिकगमनादि को अनुमेय नहीं मान सकते हैं। स्नानादि कार्यों में भी चन्दनादि की उपपत्ति हो जाती है।

व्यञ्जनावादी ने तो अद्यय पद की सहायता में उक्त विधि “नायकान्तिक-गमनादि” रूप व्यङ्ग्य माना है, परन्तु अनुमानवादी के यहाँ तो अयमत्व की किसी प्रमाण से मिष्टि न होने के कारण अनुमान नहीं हो सकता है।

व्यञ्जनावादी यहाँ तो आप्ति के बिना भी इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित होता है। सामान्यरूप से कथन होने से व्यञ्जनावादी के यहाँ यह दोष नहीं है।

पूर्वोक्त विचार को ही मम्मटानुयायी कविराज विश्वनाथ ने इन शब्दों से कहा है—

नामुमान रसादीना व्यङ्ग्याना बोधनक्षमम् ।  
आभासत्वेन हेतूना स्मृतिर्न च रसादिधी ॥६॥

काव्य प्रकाश में व्यञ्जना स्थापन नामक  
पञ्चम उल्लास ममाप्त

## पष्ठ उल्लास

चित्रकाव्य या अवर काव्य का निरूपण—

ध्वनिप्रधान उत्तम काव्य का गुणीभूत व्यङ्ग्य वाले मध्यम काव्य का निरूपण कर अब व्यङ्ग्यारहित चित्रकाव्य या अधम काव्य के भेदों का निरूपण पष्ठ उल्लास में कर रहे हैं ।

शब्द चित्र तथा अर्थचित्र के नाम में जो दो प्रकार के (अधम काव्य के) भेद प्रथम उल्लास में दिखलाये गये हैं, उनमें शब्द चित्र और अर्थ चित्र शब्दों का प्रयोग गुण प्रधान भाव में होना है ।

अर्थात्—दोनों में दोनों प्रकार की चित्रता की सम्भावना हो सकती है, पर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है, उसी के आधार पर व्यवहार होना है । जैसे प्रथम उल्लास में वर्णित शब्द चित्र के उदाहरण “स्वच्छन्दोच्छल-इच्छकच्छ” इत्यादि पद्य में अन्य नदियों में अधिक उत्कर्ष का वर्णन होने से व्यतिरेक अर्थालङ्कार होने से शब्द चित्रता भी है, और ‘विनिर्गन्त मानवमात्म-मन्दिरात्’ इत्यादि पद्य में जो अर्थ चित्र का उदाहरण है । मकार की असङ्गत् आवृत्ति होने से व्युत्पन्नप्राप्त शब्दालङ्कार के होने से शब्द चित्रत्व भी है, पर “प्राधान्येन व्यपदेशा भवति” इस नियम के अनुसार जहाँ जिसकी प्रधानता है वहाँ उसी से व्यवहार किया जाना है—

शब्दार्थचित्र यत्पूर्व काव्यद्वयमुदाहृतम् ।

गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिचित्रार्थशब्दयोः ॥१॥

शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र के विषय में प्राचीन आचार्यों का मत—

जिन्हीं आचार्यों का मत है कि रूपकादि अर्थालङ्कार ही प्रधान अलङ्कार हैं, शब्दालङ्कारों के या शब्द चित्र में इस प्रकार का चमत्कार नहीं रहता है ।

क्योंकि सुन्दर होने पर भी जैसे बिना अलङ्कार के कामिनी का मुख शोभित नहीं होता, उसी प्रकार बिना अर्थालङ्कारों के सुन्दर शब्दों वाला काव्य भी शोभित नहीं होता है ।

दूसरे आचार्य रूपकादि अर्थालङ्कारों को बाह्य अलङ्कार मानते हैं, अर्थात्—सुबल्ल और तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति (विशेषणानुप्राप्तादिरूपेण



## नीचा सदैव सविलासमलोकनम्ना

ये कानता कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥३॥

सघन पल्लवों वाली सुन्दरियों के केश, और दुष्ट पुरुष, जो विलासपूर्वक सदैव अलीक (केशपक्ष में नलाट, खल पक्ष में मिथ्याभाषण) में लगे हुए हैं, और कुटिलता (वेशपक्ष में डेडापन और खल पक्ष में दुष्टता) के समान कालेपन को नहीं छोड़ते हैं। देखते ही किसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर देते? अर्थात् कामिनियों के काले और कुन्तल केश और उन्हीं के समान कुटिल वृत्ति वाले दुष्ट पुरुष देखने वालों के हृदय को झुन्ध कर देते हैं।

यहाँ क्षोभरूप एक कार्य के प्रति अनक व खल का युगपत् नयन होने में समुच्चयालंकार है। स्तेप तथा उपमा आरम्भ से समाप्तिपर्यन्त पूरी समुच्चय के निर्वाहक होने से इसी में अङ्ग हैं। प्रधानता समुच्चयालङ्कार की ही है। काव्यप्रकाश के आदर्श टीका के रचयिता महेश्वर भट्टाचार्य का कथन है कि उक्त पद्य में प्रवृत्त खल व अप्रवृत्त अलक का क्षोभरूप एक धर्म के भाष्य अन्वय होने से दीपकालङ्कार है।

असीक शब्द के परिवृत्यसह होने से शब्द श्लेष तथा अनुप्रास का भी सम्भव है, पर अर्थानुसार की ही प्रधानता होने में यह अर्थ चित्र का उदाहरण है।

यद्यपि सर्वत्र काव्यों में वर्णित पदार्थ विषादादिरूप पर्यवसित होते हैं, तथापि चित्र काव्य में स्पष्ट रूप सरसादि की प्रतीति न होने से इन दोनों काव्यों को व्यङ्ग्य रहित तथा अधम काव्य कहा गया है

काव्य प्रकाश में चित्र काव्य प्रभेद निरूपणात्मक

पष्ठ उल्लास समाप्त हुआ।

## सप्तम उल्लास

काव्य दोषों का निरूपण—

जैसे दोष की कात्तिमा किसी व्यक्ति उत्कर्ष में विघातक होती है, उसी प्रकार काव्य-दोष भी काव्यार्थ के मुख्य प्रतीति के उत्कर्ष के विघातक होते हैं।

स्याद् वपु सुन्दरमधिरिमिश्रेणैकेन दुर्भगम् ॥

किसी कामिनी का शरीर चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो परन्तु उसके अङ्ग में यदि कुछ का छोटा या भी दाग है तो वह मौन्द्यं भद्रा के लिए तिरस्कृत हो जाता है।

कविता कामिनी का भी यही हान है किन्ती ही सुन्दर कविता क्यों न हो, यदि थोड़ी सी व्याकरण सुश्रवणी त्रुटि दिखाई देती है तो वह सारी कविता फीकी (तीरम) मालूम पड़ती है।

एक भी कर्ण भट्ट शब्द धोना को उद्धिग्न कर देता है। इसलिए कवि और लेखक को हमेशा इन काव्यगत दोषों से बचना चाहिए। उन दोषों के परिहार के लिए सर्वप्रथम दोषों का ज्ञान आवश्यक है।

दोष सामान्य का लक्षण काव्य प्रकाश में इस प्रकार किया है—

“मुख्यार्थद्वितीयः”

मुख्यस्यार्थस्य द्वितीयकयो यस्मात्तु दोष इत्यर्थः।

अथवा

मुख्यार्थो ह्यनेनैककृप्यनेनेनेति करणसाधनो द्विती शब्द एवञ्च—मुख्यार्था-पर्यन्तत्वं दोषत्वमिति दोष सामान्यलक्षणम्।

अर्थात्—मुख्यार्थ का अपवर्ण जिसने होता है, उसको दोष कहते हैं। मुख्यार्थ का मतलब यहाँ रस है।

“रसश्च मुख्य”

इसलिए मुख्यार्थ विपरीत रसविपयिणी जो प्रतीति, उस प्रतीति के अपवर्णक कारण को दोष कहते हैं।

रस का आश्रय होने से बाध्य (बर्थ) को भी मुख्यार्थ कहते हैं। इसलिए रस के साथ समन्तारी बाध्य के अपवर्णक को भी दोष कहते हैं। यह बर्थ दोष है।

## “तदाश्रयाद्वाच्य”

अर्थ रस का आश्रय है, इसलिए वह दोष अर्थगत भी होता ।

उभयोपयोगिन स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स । १॥

शब्दादि रस तथा वाच्य (अर्थ) दोनों के बोधन में उपकारक (सहायक) होते हैं, इसलिए इनमें भी यह दोष रहता है ।

अतः दोष पाँच प्रकार का होता है—

(१) पददोष (२) प्रदाशदोष (३) वाक्यदोष, (४) अर्थदोष, और (५) रसदोष,

विचार के भय में समग्र दोषों का वर्णन लक्षण उदाहरण द्वारा उनका विवेचन यहाँ अमम्भव है । अतः मुख्य मुख्य वाच्य दोषों का दिग्दर्शन कराया जाता है—

पददोष—

(१) ध्रुतिकटु दोष—बठोर व कर्णवटु वर्णों से जो पद रस का अपकर्ष करे, उसे ध्रुतिकटु दोष कहते हैं ।

उदाहरण—

“कार्ताय्यं लभते कदा”

यहाँ यह कृतार्थस्म भाव कार्ताय्यम् यह शब्द कर्णवटु है । प्रायः रेफ घटितसंयुक्त वर्ण कविता के माधुर्य का अपहरण करते हैं । अतएव किसी विद्वान ने कहा भी है—

“स्वायत्ते शब्दप्रयोगे वर्णोपतापकप्रयोगेण ध्रुतिकटुवेगो रसापकर्षाय भवति” जैसे हिन्दी का यह पद्यांश —

“पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता” ।

यहाँ “विषयोत्कृष्टता और विचारोत्कृष्टता” इन पदों के अक्षरों का योग, संयोग व रेफ व कारण कानों व लिए कर्णवटु है ।

(२) व्युत्तसंस्कृति दोष—व्याकरण के संस्कार से हीन पद व्युत्तसंस्कृति दोष से युक्त होता है ।

उदाहरण—

“दीन त्वामनुनायते कुचपुग पत्रावृत्त मा कृया ।।

याचनायक नाथ धातु परस्मैपदी है, “आशिषिनाथ” इस सूत्र से केवल आशी अर्थ में ही आत्मनेपद का विधान है, अतः अनुनायते यह पद व्युत्तसंस्कृति दोष से दुष्ट है ।

(३) अप्रयुक्त दोष—कोपादि में उस अर्थ में होने पर भी कवियों के द्वारा उस अर्थ में प्रयुक्त न हो। जैसे “दैवत” शब्द कोण की दृष्टि से उभय लिङ्ग-पुलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग में पठित है, पर कवियों के द्वारा इसका प्रयोग पुलिङ्ग में नहीं किया जाता है अतः ‘दैवत’ यह पद अप्रयुक्त दोष से क्षुब्ध है।

(४) निहतार्थ दोष—दो अर्थ वाले पद को अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करना निहतार्थ दोष कहलाता है। जैसे “शोणित” पद का रुधिर रूप अर्थ ही प्रसिद्ध है, न कि रक्त या लाल रंग, अतः शोणित पद का लालरंग के अर्थ में प्रयोग दोष ही है।

(५) अनुचितार्थ—अनुचित अर्थ वाले पद,

(६) निरर्थक—जिसका पादपूर्ति के लिए प्रयोग किया जाए।

(७) अवाचक—कवि विपक्षित अर्थ का जो वाचक न हो जैसे भारवि के ‘अवध्यकोपस्या’ इत्यादि पद में “जन्तु” पद का अदाता अर्थ में प्रयोग किया, परन्तु यह पद इस अर्थ का वाचक नहीं है। अपितु अमर्षशून्य व्यक्ति की तुच्छता का सूचक है।

(८) अश्लेष दोष—तीन प्रकार का होता है, शीघ्र, जुगुप्सा तथा अमङ्गल के भेद से, काव्य में हमेशा शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। शीघ्र व्यञ्जक या जुगुप्सा और अमङ्गल व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(९) ग्राम्य दोष—यह भी एक प्रकार का अशिष्ट या अशिक्षित प्रयुक्त दोष है, काव्य में नागरिक भाषा का ही अधिक प्रयोग होना चाहिए।

(१०) सद्विध दोष—ऐसे पद या वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे उनके अर्थ में या प्रकृति पद में सन्देह हो, यह दोष पद, वाक्य तथा अर्थगत है।

(११) अविमृष्टविधेयाश—वाक्य में विधेय अश की प्रधानता होती है, पर कभी कभी ऐसा होता है कि विधेय अश का मुख्यरूप से प्रतिपादन नहीं होता है। सब एक सम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है, जिसका नाम है—अविमृष्टविधेयाश और “यत्तदोन्निवसम्बन्ध,” इस नियमानुसार यत् पद यदि उद्देश्य हो तो बाद में तद् पद से उसका विधान करना चाहिए, ऐसा न करने से दोष होता है। जैसा कि काव्यप्रकाश की वाग्विनी टीका में लिखा है—

“इदमन्तोद्देश्य विधेयभावविधेऽवगन्तव्यम्।”

“यच्छब्दप्रतिपाद्य सिद्धत्वेन प्रतीयमानमनुवाद्यमुद्देश्यम्, तदादि शब्द प्रतिपाद्य-मुद्देश्यसम्बन्धितया अपूर्वबोधविधायीभूत विधेयम् यथा—“यः क्रियावान् स

पण्डित" इत्यादी क्रियाधन्तमुद्दिश्यामेदेन पण्डितः स्वरूपसम्बन्धेन पण्डितत्व या विधीयते ।

"जिसे हमने कल बुलाया था वही राम अब आया है ।" इस वाक्य में जिसे तथा वही का प्रयोग ठीक हुआ है । यदि मत् और तत् शब्द को पास रख दिया जाए तो वह विधेय अश की ठीक-ठीक प्रतीति नहीं करा सकता है ।

समास के अन्दर आ जाने से भी किसी पद का प्राधान्य भुक्त हो जाता है ऐसी स्थिति में विधेय अश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना निन्नात अनुचित है—

उदाहरण—पार्वती के समस्त यह शिवजी का वर्णन है—“अपुबिहपाक्षम-लक्ष्यतन्मता” अर्थात् शरीर विरूप आँख (तीन आँख) वाला है तथा अष्ट जन्म भाव वर्तमान है । विवक्षित अर्थ है कि शिव जी का जन्म अतक्षित है । परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया, और प्राधान्य नष्ट हो गया, यह अनुचित है ।

### वाक्यदोष

ऊपर जिन प्रधान पद दोषों का उल्लेख किया गया है इसमें से कतिपय दोष पदांश में भी विद्यमान रहते हैं । प्रायः समस्त पद दोष वाक्यों में भी रहते हैं । परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विशेष वाक्य दोष भी होते हैं, जिनकी स्थिति केवल वाक्य में होती है ।

(१) प्रतिकूलवर्णता—जहाँ वर्ण प्रकृति-रस के पोषक नहीं होते वहाँ प्रतिकूल वर्णता दोष होता है । जैसे—शृङ्गार रस में “अकुण्डोत्कण्ठया पूर्णमा-कण्ठ कलरुण्डि नाम्” इत्यादि पद्य में कवि ने ट वर्ण का प्रयोग किया है, जब कि ट वर्ण शृङ्गार रस का परिपन्थी है ।

(२) न्यूनपदता—जहाँ पदों की कमी हो, वहाँ न्यून पदता नामक दोष होता है—जैसे—

नृप तिहारे खड्ग ते प्रकट भयी जस फूल ।

हे राजन् तुम्हारे तलवार से यज्ञ रूपी फूल प्रकट हुआ । यहाँ यज्ञ की फूल कहा गया है, अतः खड्ग की जगह कहना चाहिए था, सत्ता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष है ।

(३) अधिकपदता—अभीष्ट अर्थ से अधिक पद हो जाने से अधिकपदता दोष होता है, वैसे नियम तो यह है कि जितना अर्थ हो उतना ही शब्द प्रयोग भी होना चाहिए । जैसे—

वर्ष तिहारे शत्रु को खड्गलता महिराज — तुम्हारी तलवार लतारूपी सर्प शत्रुओं को डस रहा है । यहाँ लता पद 'ति' की प्रयोजन के रखा गया है । अतः अधिकपदता दोष है ।

(४) अभवन्मत धोय—वाक्य में अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध का न होना ।

वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नहीं बनता, “गुणानाञ्च परायत्वाऽसम्बन्धः समत्वात् स्यात्” अर्थात् प्रधान के लिए होते हैं, दो या अधिक अप्रधानों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता है । भौमना के इस नियम के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त अवान्तर पदों का सम्बन्ध मुख्य वाक्य से होना चाहिए ।

जैसे—“दिशालय के जो अध्यक्ष गगिन विद्या में पारङ्गत हैं, तथा जिनके ऊपर हम नगर को पूरा अभिमान है, आज उन्हीं की अभ्यर्थना है”

यहाँ आरम्भ में दो अवान्तर वाक्य हैं, तथा अन्त में हैं मुख्य वाक्य, इन तीनों वाक्यों में अध्यक्ष पद का सम्बन्ध अभीष्ट है, परन्तु उसे प्रथम अवान्तर वाक्य में ही अन्तर्निविष्ट होने के कारण अभिमत सम्बन्ध बनना नहीं है, अर्थात् उसका सम्बन्ध दो अन्य वाक्यों के साथ मिष्ट नहीं होता है ।

(५) कथितपदता—बार-बार एक पद का प्रयोग करना, यह दोष कवि के शब्द चारित्र्य को प्रकट करता है ।

उदाहरण—

रतिलीला श्रम भिन्ते सलीलमनिलो बहन् ॥

रतिलीला श्रम की हरत लीला युत चलि पौन ॥

यहाँ लीला शब्द का प्रयोग दो बार किया है ।

(६) भग्न प्रक्रमता—निबन्ध अथवा कविता जिस क्रम से प्रारम्भ की जाए उसी क्रम या तत्सम्बन्ध वाक्यों को उसी क्रम में समाप्त करना चाहिए, ऐसा जहाँ नहीं किया जाए वहाँ यह दोष होता है ।

उदाहरण—

नाये निशाया निषर्तेनियोगादस्त गते हन्त निशाऽपि याता ॥

देववश निशा नायक चन्द्र के अस्त हो जाने पर निशा भी चली गयी । यहाँ प्रारम्भ गम् घातु से “अस्तङ्गते” कह कर “याता” या घातु से उपसहार किया, अतः यह प्रक्रम भङ्ग है । “गता निशाऽपि” यह पाठ उचित था ।

यहाँ एक ही पद का दो बार प्रयोग करने से कथितपदना दोष की गड़्हा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह पुनरुक्त या कथितपदना दोष तो उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य से भिन्न स्थला में होता है।

जहाँ उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यभाव हो वहाँ तो पदान्तर से प्रतिपादित वह अर्थ प्रकृत प्रतीति का स्वयं कर देना है।

उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य का उदाहरण—

उदेति सविता ताग्रस्ताग्र एवास्तमेति च ।

सम्पत्ति च विपत्ति च महतामेकरूपता ॥१॥

उदय होत रवि रक्त ग्रह रक्तहि होवत अस्त ।

संपत्ति और विपत्ति में सम्मन होत न व्यस्त ॥१॥

अर्थ दोष—

अर्थ की दृष्टि के लिए कनिष्ठ नियमों का पालन किया जाता है, जिसमें अर्थ की स्वच्छता व दृष्टि बनी रहती है। यदि उन नियमों का उल्लंघन किया जाए तो अर्थ में अस्वच्छता आने लगती है यही अर्थगत-अस्वच्छता ही अर्थ दोष है। जिनमें मुख्य ये हैं—

(१) कट्टार्यता—अर्थ के समझने में जहाँ कट्ट हो जैसे—

तीं पर चारो चार मृग चारविहम फल चार

तुम पर मैं चार पशु निठावर करती हूँ। नवन पर मृग घूघट पर हय, गति पर हाथी, तथा बटि पर सिंह, वचन पर शोकिना को, ग्रीवापर कपोल को, बैजपर मयूर को, तथा नामिका पर शुक को, इस प्रकार चार पक्षियों को मैं निठावर करती हूँ। और चार फल को भी दन्त पर दाहिम को, कुच पर श्रीफन को, अंज पर विम्वफन का, तथा कपोल पर मयूक को वारती हूँ। स्पष्ट ही इसका अर्थ करना अत्यन्त कठिन है।

(२) व्याहतता—जहाँ किसी वस्तु का महत्त्व दिखलाकर फिर हीनता दिखलाई जाए, या पहन हीनता दिखलाकर फिर महत्त्व दिखलाया जाय वहाँ व्याहतत्व दोष होता है। जैसे—

औरन के मनहरन को चन्द्रकलादि अनेक ।

मोहि सुखद दुखचन्द्रिका प्रिया वही है एक ॥१॥

यहाँ पूर्वार्ध में चन्द्र की निन्दा की और उत्तरार्ध में उसी चन्द्रकला को अपने लिए सुखद माना है।

(३) प्रतिद्विविध—“कवि समय स्याति” के विरुद्ध अर्थ का जहाँ वर्णन हो। जैसे—

उपपरिसर मोरावर्ष्या परित्यजतावगा ?  
 सरणिमपरो भागस्तावद् भवन्निरवेद्यताम् ।  
 इति विहितो रक्तशोकः कयापि हृताशया,  
 धरमनलिनन्यासोवञ्चन्नवाङ्मुखः ॥१॥  
 भूति न जह्यो पयिक ? तुम तिहि सरिता पय मोर ।  
 सधणि पदाहृत पङ्कुरित नत्र शशोक उरिह दोर ॥१॥

पयिक को कोई उम नदी की ओर बहने में रोक रहा है, जहाँ के नवीन अशोक वृक्ष तरुणी के पैरों के आघात में अकुरित हो उठे हैं। यहाँ कवि समय का विरोध है। तरुणी के पैरों की थोड़ में अशोक बिखरता है, अकुरित नहीं होता, अतः प्रसिद्ध विरुद्ध है।

(४) अनवीकृत्य—जहाँ अर्थों में नवीनता नहीं लाई गयी हो। बल्कि अर्थ एक सा हो वहाँ यह दोष होता है।

सदा करत नम गोन रवि, सदा सजत है पौन ।  
 सदा धरत भुवि दोष मिर, धीर सदा रहे मौन ।

चारों चरणों में “नदी” के प्रयोग में अर्थ में नवीनता नहीं आई है, अतः यहाँ अनवीकृत दोष है।

(५) साक्षाच्छ्रुता—जिस अर्थ की पूर्ति होने में कुछ शब्दों की आकाङ्क्षा बनी रहती है, वहाँ यह दोष होता है।

परम विरागी चित्त निज पुनि देवन को नाम ।  
 जननी दधि पुनि पितु वचन, क्यों तजि हैं वन राम ॥

रामचन्द्र का चित्त तो स्वयं परम वैराग्य मुक्त है। फिर देवताओं का नाम भी करना है, जननी केकई को इच्छा, और पिता दशरथ का वचन ठहरा, ऐसी स्थिति में राम वन को क्यों छोड़ेंगे? अभिप्राय यह है कि वन का जाना क्यों छोड़ेंगे। हम दोहे में मजिहों की जगह “जाय” इस पद की आकाङ्क्षा है। अब “यों ॥ जाय वन राम” ऐसा वाक्य होगा।

(६) प्रकाशितविरुद्धता—जहाँ किसी विरुद्ध अर्थ का प्रकाशन हो, वहाँ यह दोष होता है।

कुमारस्ते नराग्रोशमिय समधिगच्छतु ।  
 राग्यलक्ष्मि को प्राप्त हो नृपतप जेष्ठ कुमार ॥



हे राजन् ! आपका ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करे इस वाक्य में राजा के मरने का अर्थ प्रकाशित होता है, क्योंकि जब राजा का देहान्त होगा तब ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करेगा ।

अतः प्रकाशित अर्थ से विरुद्ध अर्थ के प्रकाशन होने से यह दोष है ।

रस दोष—

रस दोष ही काव्य का मुख्य दोष है, रसोन्मीलन की प्रक्रिया में काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने कतिपय आधारभूत नियमों का निर्देश किया है । जिनके अनुपालन से काव्य सरस सूनंदर तथा सहृदयावर्णक होता है और इन नियमों का तिरस्कार करने से काव्य नितान्त दुष्ट तथा उपहास्यास्पद होता है । अतः आधारभूत इन नियमों का अनुशीलन अपेक्षित है—

(१) "अभिचारिरसस्याधिभावना शब्दवाच्यता"

धोषाय भवतीत्यर्थः ।

रस सर्वदा व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा उन्मीलित होता है । अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता है । यही नियम स्याधिभाव तथा अभिचारो भावो के लिए भी है, इस नियम का उल्लंघन करने से "स्वशब्द वाच्यता" नामक रस का उदय होता है ।

यथा—“तामुद्बोध्य कुरङ्गाक्षी रसो न कोप्यजायत” इत्यादि शृङ्गार रस के प्रकरण में रस को रस शब्द से अभिहित कर देने से स्व शब्द वाच्यता दोष है । “उस योद्धा को देखकर हमारे हृदय में वीररस उमड़ पड़ा ।” इस वाक्य में वीररस स्व शब्द वाच्य होने से रस की सत्ता नितान्त अनुचिन्तित है, किन्तु यहाँ वीररस की अभिव्यक्ति उसके विभाव व अनुभावों के द्वारा ही होनी चाहिए ।

(२) कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ।

किसी पक्ष में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वभाविक ढंग से होना चाहिए । यदि इनकी अभिव्यक्ति कष्ट कल्पना से करनी पड़े तो रस दोष माना जाता है ।

यथा—“परिहरति रतिं मतिं सुनीते” इत्यादि पक्ष में वर्णित नायिका की बेचनी आदि अनुभाव, न केवल शृङ्गार रस में अपि तु करुण रस में या भयानक वीररस आदि रसों में भी पाये जाते हैं अतः कामनी रूप भालम्बन विभाव यहाँ कठिनार्द्ध से प्रतीत होता है ।

(३) प्रतिकूलविभावादिग्रहः ।

विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए । जैसे—शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में प्रवृत्त के प्रतिकूल शान्त रस के विभाव का वर्णन करना—

“न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः” इत्यादि ।

(४) पुन पुन दोषि-

पुन पुन उसी रस की दोषि दोष माना जाता है । जैसे—कृमारसम्भव में “रति विलाप” के समय कर्ण की बार बार दोषि अनुचित है ।

(५) अकाण्डे प्रधानच्छेदो

अचानक न तो रस का प्रस्तार करना चाहिए और न प्रानङ्गिक रस का सहसा छेद ही करना चाहिए ।

(६) अङ्गस्याप्यतिविस्तृति

अङ्गी मुख्य रस का ही काव्य में विशेष वर्णन उचित है, अङ्ग का अत्यन्त विस्तार कभी नहीं करना चाहिए । ऐसा करने से अङ्गानिविम्बृति नामक रस दोष होता है ।

(७) अङ्गिनीजननुसन्धानम्

‘५ काव्य या नाटक में अङ्गी पदार्थ नायक का ही वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है । उसका निरस्तार कर उसे विलक्षण भुला देना नितान्त अनुरोध है ।

(८) प्रकृतीना विपर्यय

नाटक में चित्रित पात्रों के कर्म तथा व्यवसाय उनके स्वरूप के अनुसार ही होना चाहिए, प्रकृति—अर्थात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं । (१) दिव्य—स्वर्गीय देव अप्सर्य आदि । (२) अदिव्य—पृथ्वीचारी जीव मरुतलौकिक । (३) दिव्यादिव्य—दोनों गुणों में मिश्रित पात्र ।

इनके स्वभावों के अनुसार ही इनके कर्म व व्यवहार का काव्य या नाटक में चित्रण करना कवि का परम धर्म है । तभी तो दर्शकों के मन में इनका यथार्थ प्रभाव पड़ता है, अन्यथा तो प्रकृति विपर्यय नामक दोष होता है ।

काव्य के दोषों में रस दोष ही अन्तरङ्ग दोष माना गया है, अन्य दोष तत्प्रेक्षया बहिरङ्ग हैं । दोषों का विभाजन आचार्यों ने इस प्रकार भी किया है, कुछ दोष नित्य होते हैं, और कुछ अनित्य ।

(१) नित्य दोष—जो हमेशा दोष ही बने रहते हैं । वे नित्य दोष कहलाते हैं । जैसे अशुतसंस्तुत्यादि ।

(२) अनित्य दोष—जो किसी अवस्था विशेष में दोषत्व को छोड़कर गुण हो जाते हैं वे अनित्य दोष कहलाते हैं।

जैसे—श्रुतिवृत्त दोष—यह शृङ्गार रस में ही दोष होना, परन्तु वीर, वीभत्स व रौद्र रस में गुण बन जाता है। इसी तरह “अधिनपदता” यह भी दोष है, और कथितपदता, परन्तु भय तथा हर्ष की स्थिति में यह वक्ता के मुख से अधिक पदों का प्रयोग उचित ही है।

दोषों का प्रतिप्रसव—

सञ्चारिर्विरहस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ।

प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारिभाव अनुभाव तथा विभाव आदि का बाध्यत्वेन कथन करना, दोष नहीं अपितु गुणाघायक ही है।

धया—

सत्य मनोरमा रामा सत्य रम्या विभूतयः ।

किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोस हि जीवितम् ॥१॥

यह सच है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, और यह भी सच है कि सम्पत्ति भी बड़ी रमणीय होती है। परन्तु उन सबके भोग करने का साधनभूत यह जीवन तो मदमत्त स्त्री के बटाक्ष के समान शणभङ्गुर है।

इस पद्य में ज्ञान्तरस मुख्य है, परन्तु मनोरमा रामाओं की चर्चा करके यदि मैं शृङ्गार रस के आलम्ब्यन विभावस्वरूप अङ्ग का उसमें समावेश कर दिया है। फिर भी इन मनोरमाओं की चर्चा में पाठक के हृदय में शृङ्गाररस की अनुभूति नहीं होती है और मत्ताङ्गनापाङ्गस्वरूप शृङ्गाररस का अनुभाव भी शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है, बल्कि इससे जीवन की क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंग से हो रहा है। इसलिए विषयो से विमुख होने की शिक्षा इस पद्य में सरलता से मिल जाती है, साथ ही साथ कोरे ज्ञान्तरस चर्चा में शृङ्गार का पुट भी सौन्दर्य ला देता है। इसलिए यहाँ दोष नहीं है, यह ध्वनिदार आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है—

दिनेयानुन्मुलीकर्तुं काव्यशोभायमेव वा ।

तद्विरहदरसस्पर्शस्तदङ्गाना न दुष्यति ॥ (ध्वन्यालोक)

परन्तु यहाँ काव्यप्रकाशवार का समीक्षण सिद्धान्त इस प्रकार है—यहाँ विरोधी रमाङ्ग के बाध्यत्वेन कथन में दोष नहीं होता है। यह सिद्धान्त जब स्थिर हो चुका है तो उसी से यहाँ काम चल जायेगा। फिर मत्ताङ्गनापाङ्गरूप

अनुभाव को उपमान बनाकर जीवन की अस्थिरता को उपमेयरूप में प्रस्तुत किया है। अतः अधिक गुण वाले उपभूत मनाङ्गनापाङ्ग की अस्थिरता उपमेयभूत जीवन की अस्थिरता से अधिक है यह उचित ही है। अतः मनाङ्गनापाङ्ग के साथ जीवन की अस्थिरता का उपमानोपमेयभाव तद्वत् जीवन की क्षणभङ्गुरता को प्रस्तुत करते हुए शान्तरस को ही पुण्ड कर रहा है। शृङ्गाररस को नहीं। इसलिए उक्त स्थल में विरोध परिहार के लिए किसी नये नियम की आवश्यकता नहीं है।

काव्यप्रकाश में शेष दर्शन नाशक

॥ सप्तम उल्लास समाप्त ॥

## अष्टम उल्लास



### गुण निरूपण—

शारीरिक दोषों के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाना है जितना मानसिक दोषों के कारण, उसी प्रकार सूरता, धीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति समाज में आदर पाता है।

काव्य जगत् की भी ठीक यही दशा है, दोषों के कारण यदि कोई काव्य हेय तथा निम्ननीय माना जाना है, तो वही माधुर्य या श्रवणपेशलता के कारण प्रशसनीय होता है, तथा श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करता है।

इस प्रकार गुण काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अन्तरङ्गधर्म होते हैं। अलंकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि— काव्य में सदा विद्यमान रहने वाले, शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले रस के धर्म को गुण कहते हैं। जैसा कि आचार्य मम्मट का कथन है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शीर्षादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्मुरचलस्थितयो गुणा ॥१॥

अर्थात्—सूरता, धीरता, उदारता आदि गुण जैसे आत्मा के उत्कर्षायायक होते हैं, उसी प्रकार अङ्गीरस नित्यधर्म, माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण भी अङ्गीरस के उत्कर्षायायक होते हैं।

### गुण और अलंकार के भेद—

ग्रन्थकार के मत में गुणरस के उत्कर्षायायक, रस के अव्यभिचारी (अचल नित्य) और रस मात्रनिष्ठ धर्म हैं, जबकि अलंकार उनसे भिन्न है। ये रस के बिना रह भी सकते हैं, और रसनिष्ठ होने पर कभी रस के पोषक भी हो सकते हैं, और कभी रस के पोषक नहीं भी हो सकते हैं।

एव च— रसोत्कर्षकत्वे सति, रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्, अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वञ्चेति गुणसामान्यलक्षणम् तथा च रसोत्कर्षकत्वे सति रसव्यभिचारिस्थितित्वम् । अनियमेन च रसोपकारकत्वमलङ्कारसामान्यलक्षणम् ॥

यही गुण और अलंकार में भेद है।

भामह विवरण के लेखक भट्टोद्भट्ट का मत—

भट्टोद्भट्ट के मत में गुण तथा अलंकारों में कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलंकारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलंकारों का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध है, और शीर्षादि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है, इसलिए लौकिक गुण तथा अलंकार में भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार दोनों ही समवाय सम्बन्ध में रहते हैं, इसलिए काव्य में अनेक भेद का उपपादान नहीं किया जा सकता है।

वामन का मत—

दूसरा मत काव्यालङ्कारसूत्र के निर्माता वामन का है। यह भेदवादी मत है। वामन गुण और अलंकार में भेद मानते हैं; उन्होंने अपने ग्रन्थ में इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

काव्यशोभाया कतारो धर्मा गुणा, तदतिशयहेतवस्तत्तलङ्काराः ।

अर्थात्—काव्य शोभा के उत्सावक धर्म गुण हैं, और विद्यमान उस शोभा के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले धर्म अलंकार हैं। जैसे युवती के अन्तर शौन्दर्यादि गुणों के रहने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा के अभिवर्द्धक होते हैं। वास्तविक शरीर शौन्दर्य न होने पर धारण किये हुए भी सुन्दर अलङ्कार व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रमादादि गुणों के रहने पर ही समक, उपमा आदि अलंकार उसके शोभावर्धक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

युवतेरिव रूपमज्ज काव्य स्वदत्ते शुद्धगुण तदप्यतीव ।

विहित प्रणय निरन्तराभि सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभि ॥

यदि भवति वचश्च्युत गुणेष्वो वपुरिव यौवनवन्ममज्जनाया ।

अपि जगदयितानि दुर्भगत्व त्रियतमलङ्कारणानि सधयन्ते ॥२॥

वामन के अनुसार गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं, जिनके बिना काव्य की निष्पत्ति ही नहीं होती है। वामन के इसी वाक्य से प्रभावित होकर मम्मट ने काव्य के लक्षण में “सगुणी” कहकर गुणों की अपरिहार्यता का उल्लेख तथा “अनलकृती पुन क्वापि” यह निरन्तर अलङ्कारों का वैकल्पिक विधान किया।

आनन्दवर्धनाचार्य का मत—

गुण तथा अलंकार के भेद के विषय में ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का मत इस प्रकार है—इन्होंने इन दोनों का भेद इस प्रकार दिखाया है—

तमयंपवत्सम्बन्ते षेड्ङ्गिन ते गुणा स्मृता ।

अङ्गाधितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥१॥

अभिप्राय यह है कि काव्य के आत्मभूत रमादिरूपवर्ति के आश्रित रहने वाले धर्म गुण हैं और काव्य के अङ्गभूत शब्द व अर्थ के धर्म अलङ्कार हैं ।

मम्मटाचार्य का मत—

मम्मट ने वामन के शोभाजनकत्व के स्थान पर उत्कर्षाधायकत्व हेतु की ही गुण और अलकारों के लिए ग्रहण किया, दोष सारा मिद्वान्त दृग्बालोक-कार का ग्रहण किया । जैन गुणों की रम्यधर्मता व अलकारों की शब्दाय धर्मता आदि ।

इसी के आधार पर इन्होंने अलकार का भी उदाण किया—

उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जायुषित् ।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥३॥

गुणों की सख्या में मतभेद—

गुणों की सख्या क विषय में आचार्यों में बड़ा मतभेद है, आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणों की सख्या दश मानी है । उनका नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) ममाधि (५) माधुर्य (६) ओज (७) सुकुमारता (८) अर्थव्यक्ति (९) उदारता (१०) कान्ति । दण्डी के मत में भी गुणों की सख्या दश ही है, और उनके नाम भी ये ही हैं, मिके इन्के स्वरूप के विषय में कुछ फरक है । वामन ने इन गुणों शब्दगत तथा अतंगत भेद में द्विबुधित कर दिया । फलतः वामन के मत में गुणों की सख्या बीस हो गई ।

श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारस्वभोज कान्तिसमाधय ॥

इति वैदभमागंस्य प्राणा दश गुणा मता ।

इति वामनोक्ता दशशब्दगुणा दश अर्थगुणाश्च ॥

परन्तु मम्मट ने दस मभी गुणों का माधुर्य ओज और प्रसाद इन तीन ही गुणों में कर दिया । उन्होंने लिखा है—

केचिदन्तभवन्त्येषु दोषत्यागात्परेष्विता ।

अन्ये भजन्ति दोषत्व कुत्रचिन्न ततो दश ॥

ये दश शब्द गुण व दश अर्थगुण जो वामन द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं, वे कुछ इन्ही तीन गुणों में समा जाते हैं, और कुछ दोषाभावरूप हैं । कुछ दोष

वचना द्वारा अन्य प्रकार में कहा हुआ वाक्य दूसरे श्रोता या बोद्धा के द्वारा श्लेष या काकु से अन्य अभिप्राय में लगाया जाय तो श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति होती है ।

उदाहरण—

कासे पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्यातुम् ॥

उत्कण्ठितासि तरले नहि नहि सखि पिच्छित्त. पन्या ।

अत्र “अपतितया” इति पतिं विने-प्रमिप्रायक स्ववचन पतनाभादेनैतर्था स्वेनैवान्यया कृतम् ।

हिन्दी में—

गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा मुझहीं इक इष्ट भयो ।

हौं न गऊ, नहि हो अवशा, अलिनी हौं नहि अस काहे कहो ।

इन पद्य में शिव पार्वती का सवाद है ।

पद्य का पूर्वाग्रह शिव का वचन है, इसमें शिवजी ने पार्वती को गौरव-शालिनी प्रिया कहा है ।

उत्तराग्र पार्वती का उत्तर है, “गौरवशालिनी” इसका पदच्छेद कर पार्वती ने इसका हमारा ही अर्थ किया । पदच्छेद इस प्रकार है—गौ+अवशा +अलिनी । अतः दूसरा अर्थ लेकर पार्वती कह रही हैं—न तो मैं गऊ हूँ और न अवशा ही हूँ तथा न मैं अलिनी ही हूँ ऐसा क्यों कह रहे हो ।

(२) अनुप्रास—

वर्ण साम्यमनुप्रास ।

स्वरो के भेद होने पर भी व्यञ्जन वर्णों की समानता (रमानुकूल प्रकृष्ट मग्निवेश) को अनुप्रास कहते हैं ।

छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

वह अनुप्रास दो प्रकार का है । छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास ।

छेकानुप्रास—

अनेक व्यञ्जनो की एक बार साम्य (आवृत्ति) को छेकानुप्रास कहते हैं ।

उदाहरण—

“ततोऽरुण परिस्पन्द मन्दीकृत वपु शशी”

यहाँ पकार तथा न्द आदि अनेक वर्णों का एक बार साम्य है ।



हिन्दी में—

राधा घर के बैन सुनि, धोनी चकित सुभाय ।

दात डू सो भितरी भुरी, सुधा रही सकुचाय ॥

यहाँ अनेक व्यञ्जनो की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है ।

वृत्त्यनुप्रास—

“एकस्याप्यसकृत् पर.”

एक वर्ण का या अनेक वर्णों का अनेक बार साम्य (आवृत्ति) होने पर वृत्त्यनुप्रास होता है ।

उदाहरण—

अपसारय धनतार कुछ हार दूर एव कि कमलें ।

अलमलमाति ! धृणालरिति बढति दिवानिश बाला ॥

इस पद्य में रकार, ककार, लकार और मकार की बार-बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास नामक अलंकार है ।

वृत्त्यनुप्रास में गुण, वृत्ति, रीति आदि का समन्वय—

वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग में वृत्ति शब्द की व्याख्या आवश्यक है । वृत्ति रीति मार्ग, सङ्घटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं ।

उद्भट ने अपने “वाय्यालङ्कारसारसंग्रह” नामक ग्रन्थ में उपनागरिका, पुरुषा, तथा कोमला तीन प्रकार की वृत्तियों का वर्णन किया है । इन तीन प्रकार की वृत्तियों को वामन ने तीन प्रकार की रीतियों के नाम से, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के “मार्गों” के रूप में और बालन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार की “सङ्घटना” के रूप में माना है ।

उद्भट ने इन तीनों वृत्तियों में वर्ण के साम्य को वृत्त्यनुप्रास कहा है—

सरूपध्वञ्जन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।

पृथक्-पृथकानुप्रासमुपशान्ति कथय सदा ॥ (उद्भट)

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति, तथा प्रवृत्ति में पार्यक्य है । इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

- (१) वेदविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, (२) विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः ।
- (३) वचनविन्यासक्रमो रीतिः ।

अर्थात्—राजशेखर के अनुसार वेप का के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है ।  
विन्यास का विन्यास वृत्ति है, तथा वचनो का विन्यास क्रम रीति है ।

मम्मट यहां उद्भट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन कर रहे हैं—

माधुर्यं व्यञ्जकं वर्णैरूपनागरिकोच्यते

माधुर्यं व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका है ।

भोज प्रकाशकैस्तैस्तु पर्याया

भोज के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति पर्यावृत्ति है ।

कोमला परः

शेष वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला वृत्ति कहलाती है । कोई आश्चर्य इसी को आम्ना वृत्ति भी कहते हैं । ये नीनो वृत्तियाँ वामन आदि के मत में क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक रीतियाँ मानी गई हैं ।

साटानुप्रास—

शाश्वस्तु साटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः

एक गत यह अनुप्रास साटानुप्रास कहलाता है । शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अन्वय (तात्पर्य) मात्र के भेद से और साट देण के बिदग्धो को प्रिय होने से यह साटानुप्रास कहलाता है ।

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दधदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्य च सविधे दयिता दधदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

जिसके समीप में दयिता नहीं है, उसके लिए (तुहिनदीधिति) चन्द्रमा दावानल के समान है, और जिसके समीप में दयिता है उसके लिए दावानल भी चन्द्रमा के समान (शीतल) होता है ।

यहां अनेक पदों की आवृत्ति है, पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति में दधदहनस्त्व विधेय है, और उत्तरार्ध में तुहिनदीधितिस्त्व विधेय है, इसलिए तात्पर्य भेद-उद्देश्य-विधेय भाव के भेद होने से यह साटानुप्रास है ।

(३) यमक—

अर्थे सत्यर्थभिन्नाना वर्णानां सा पुन श्रुतिः ॥

यमकम्

अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उभी क्रम से श्रवण, (पुनरावृत्ति) यमक नामक प्रलङ्कार कहलाता है ।

उदाहरण—

नव पलाश पलाश वन पुर स्फुटपराग परागत-पङ्कजम् ।  
मृदुलतान्त लतान्तमलोकयत् स सुरभि सुरभि सुमनोभरं ॥

यह पद्य शिशुपालवध महाकाव्य के छठे सर्ग का है—भगवान् श्रीकृष्ण ने सुन्दर सुमनों से भरे हुए वन्य को देखा, जिसमें पलाश वन नूनन किसलयों से परिपूर्ण था, और कमल पराग से व्याप्त थे, कोमल लतायें फैली हुई थीं। यहा पलाश-पलाश और सुरभि-सुरभि इन दोनों जगह पदों की सार्थक वास्तुति है, और उत्तरार्ध में लतान्त-लतान्त में प्रथम निरर्थक और द्वितीय सार्थक है।

(४) श्लेष—

वाच्यमेवेन भिन्ना षट् पुण्यदुभाषनस्पृष्टा ।  
विलप्यन्ति शब्दा यत्रोप्सो श्लेष ॥

भिन्न भिन्न अर्थों के बोधक, भिन्न भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण, जब परस्पर मिल जाते हैं तब वह श्लेष मलकार होता है।

उदाहरण—

विधौ वक्ते भूजिन् स्थितवति वय के पुनरस्मी ।

समस्त देवताओं के भाग्य गुरु शिवजी की भी (बाल) टेढ़े (चन्द्रमा) (या भाग्य) के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुरावस्था है, तब (क्षुद्र अत्यन्त तुच्छ) हमारी तो गिनती ही क्या है।

यहा "विधी" इस शब्द में विष्णु शब्द चन्द्रमा का वाचक, और विधि शब्द भाग्य का वाचक, दोनों ही प्रविष्ट हैं, विष्णु और विधि दोनों शब्दों का सप्तमी के एवचन में विधी यह रूप धनेगा अतः यहा शब्द श्लेष है।

(५) विभ्रालकार—

तच्चित्र यत्र वर्णानां लङ्गाद्याकृति हेतुता ।

जहा (जिस ग्रन्थ में) वर्णों की रचना खड्ग आदि की आकृति का हेतु, बने वह चित्र नामक अलंकार है।

उदाहरण—

भासते प्रतिभासार, रसा-भावा हता विभा ।

भावितात्मा धुमा बावे देवाभावत ते समा ॥१॥

हे प्रतिभासार, (वत्यन्त प्रतिभावान् राजन्) शृङ्गारादि अथवा प्रीति रूप रसों से आपकी रभा अत्यन्त शोभित है। जिसमें वात्मचिन्तन होता है,

या समयपूर्वक तत्त्वकथा में निपुण होने से आपकी सभा देव सभा की तरह है ।

(६) पुनरुक्तवदाभास (उभयालङ्कार) —

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकार शब्दगा, एकार्यतेव ।

विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहनेवाली (समानार्थक न होने पर भी) समानार्थता सी जो प्रतीत होती है वह पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार है । यह अलंकार शब्द, अर्थ व शब्दार्थोभयनिष्ठ है —

उदाहरण —

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जरहधिररक्तखटमखर ।

तेजो धाम मह पुपुममसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥१॥

कृश शरीर (तनुवपुः) होने पर भी (अजघ्न्य) श्रेष्ठ, बड़े श्रेष्ठ हाथियों के रक्त से रंगे हुए तीक्ष्ण नखोंवाला तेज का धाम, यह उदार मनवालो का राजा और सिंह विजयशील है ।

इसमें (तनु कुञ्जर, रक्त) इत्यादि कुछ पदों के परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रहता है, उस अंश में शब्दाश्रित है, और वपुः कटि हधिर इत्यादि के परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार हानि नहीं होती है । इसलिए उस अंश में अर्थनिष्ठ है ।

अतः यह उभयालंकार है ।

काव्यप्रकाश में शब्दालंकार निरूपण नामक

नवमोऽध्याय समाप्त हुआ ।

## दशम उल्लास

### अर्थात्कार—

अर्थात्कारो का विभाजन कुछ विशेष आधारों पर किया जाता है। जैसा कि नीचे दिया जा रहा है—

(१) सादृश्यमूलक (२) विरोधमूलक (३) शृङ्खलाबन्धमूलक (४) तर्कन्यायमूलक (५) लोकोपममूलक (६) वाक्यन्यायमूलक (७) गूढार्थप्रतीतिमूलक। प्रत्येक वर्ग के मुख्य-मुख्य अलंकारों की विशेषता दिखलाने का प्रयास यहाँ किया जायेगा।

### (१) सादृश्यमूलक अलंकार—

ये अलंकार सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते हैं। किन्तु अज्ञान वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अज्ञान विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वर्ग के अलंकारों में मुख्य है—उपमा, कविता के उदय के साथ साथ ही उपमा का भी उदय हो गया था।

भारतीय वाङ्मय के निम्नान् वेदों में या वेद मन्त्रों में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता में पाठकों के मन को मुग्ध करती है।

कविता का तो प्राण ही उपमा है।

अप्ययदीक्षित ने उपमा की तुलना एक नटी (शैलूषी) के साथ की है। रगमञ्च के ऊपर नटी नाना वेशभूषा से सज्जित होकर नाना रूपा में आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप में अवतीर्ण होती है तो कभी किसी अन्यरूप में उपस्थित होती है। उसके बाहरी रूप अनेक हैं, परन्तु आवरण को हटाकर देखा जाए तो एक ही रूप उसका सर्वत्र दिखाई देगा। ठीक यही दशा उपमा की भी है, वह काव्य के रगमञ्च पर कभी रूपक कभी दीपक, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरञ्जन करती है।

उपमेका शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिका भवान्।

रञ्जयति फाव्वरञ्जे नृत्पन्ते तद्विदा चेत ॥ (चित्र मी०)

सादृश्य की कल्पना का विवर्तन अन्यान्य अलंकारों का आभास है। जैसा कि चित्रमीमांसकार अप्ययदीक्षित का कहना है—

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा ।

संदोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालकारमात्रं भजते ॥

तथाहि—चन्द्रइव मुख मुखमिव चन्द्र. इत्युपमेयोपमा मुख मुखमिव इत्यन्वयः । मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम् । मुखचन्द्रेण तापं शाम्यति, इति परिणामः । किमिदं मुखमुताद्ये चन्द्र इति सन्देहः, चन्द्र इति चकोरादनमुख-मनुद्यावन्ति, चन्द्रेऽप्यं न मुखम् इत्यपह्नयः, नूनं चन्द्र-इत्युत्प्रेक्षा चन्द्रोऽप्यम्, इत्यतिशयोक्तिः, इत्यादि उक्तानेकालकारविवर्तयतीत्युपमा ।

तद्विव चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानाद्विरोपमाज्ञानात् ।

ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलमेवसहिता सा ॥

इस प्रकार सभी अलंकार विषयों की अधिष्ठानभूता यह उपमा है । जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से विद्वत् ज्ञात हो जाता है, ज्ञानघ्न और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है, इसी प्रकार एक उपमा के ज्ञान में सारा अलंकार वर्ग ज्ञात हो जाता है ।

आचार्यं मम्मट के अनुसार उपमा अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

“साधर्म्यंनुपमा भेदे”

भेदे (उपमानोपमेययोः) भेदे तति साधर्म्यंनु उपमा । समान, एक, तुल्यो या धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययोः ॥

अर्थात्—उपमानोपमेययोः, ती सधर्माणी तमोर्भाव साधर्म्यंनु । उपमानोपमेययोः समानधर्मेण सह सम्बन्धः, उपमा इति सूत्रार्थः ।

उदाहरणम्—चन्द्रइव मनोज्ञं मुखम् ।

अर्थात्—उपमा अलंकार में (१) उपमान (२) उपमेय (३) साधारण धर्म (४) उपमा वाचक शब्द इन चार पदार्थों का उपयोग होता है, वो चार पदार्थों में प्रायः अधिक गुणवाला पदार्थ उपमान होता है, और न्यून गुणवाला पदार्थ उपमेय होता है । “मुख” चन्द्रमा के समान सुन्दर है । यहाँ अधिक गुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान है, और न्यून गुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है ।

सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनों में रहने वाला साधारण धर्म है और यथा इव इत्यादि शब्द उपमा के वाचक शब्द होने हैं । इस प्रकार उपमान और उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है ।

परन्तु उपमा अलंकार में उपमान तथा उपमेय में भेद होना आवश्यक है । अन्यथा “राम रत्नजयोर्धुन्द रामराज्ययोर्विव” इत्यादि अनन्वयालंकार में भी

सादृश्य का वर्णन होने से लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है। इसलिए उपमा के लक्षण में भेद पद देना आवश्यक है अनन्वय में उपमान और उपमेय भिन्न नहीं रहते हैं। अतः “भेदे सति उपमानोपमेययो साधर्म्यमुपमा”, ऐसा लक्षण करने से अनन्वयालंकार में लक्षण की व्याप्ति नहीं होती है।

यह उपमा पूर्णोपमा और लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है।

उपमान, उपमेय, साधारण, और उपमावाचक इवदि पद, इन चारों का ग्रहण होने पर पूर्ण उपमा होती है, और इन चारों में से एक या दो या तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा कहलाती है।

पूर्णोपमा के छ भेद—

पूर्णोपमा—प्रथम श्रौती और आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। यह दोनों श्रौती तथा आर्थी उपमा वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत होने से छ प्रकार की होती है—

श्रौती उपमा—जहाँ उपमान के बाद उपमा वाचक—यथा, इव वा इत्यादि शब्द आयें, वहाँ श्रौती उपमा होती है। यद्यपि ये उपमा वाचक शब्द यथा इव वा, उपमान के जिज्ञेयण बनकर आते हैं, परन्तु (शब्द शक्ति की महिमा में) मुनन ही श्रवणमात्र से साधारण धर्म के सम्बन्ध रूप सादृश्य का भी बोध करा देते हैं। श्रवणमात्र से सम्बन्ध का बोध करा देने से “श्रौती उपमा” कहते हैं “तत्र तस्यैव” इस सूत्र से इवार्थ में विहित वति प्रत्यय में तद्धितगा श्रौती उपमा होती है।

आर्थी उपमा—जहाँ तुल्य, सदृश, सकाश आदि उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ कभी उपमेय के साथ या कभी दोनों के साथ अन्विष्ट होते हैं, वहाँ आर्थी उपमा होती है। ये उपमा वाचक तुल्य, सदृश, निम्न, इत्यादि शब्द यद्यपि साक्षात् सादृश्य के वाचक होते हैं कि साधारण धर्म रूप सम्बन्ध विशेष साम्य या साधर्म्य के पर अर्थ के पर्यालोचन के बाद उक्त सम्बन्ध की भी प्रतीति कराते हैं, इसलिए इनके प्रयोग में आर्थी उपमा होती है, और “तेन तुल्यक्रियाचेद्वति” इस सूत्र में विहित वति प्रत्यय होने पर तद्धितगा आर्थी उपमा होती है।

यह उभयविध पूर्णोपमा—वाक्यगत, तद्धितगत तथा समासगत होने से छ प्रकार की होती है।

श्रौती वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

हस्तेऽपि समरेषु विजयघ्नीस्त्वां न मुञ्चति ॥

प्रभावप्रभव कान्त स्वाधीनपतिका यथा ॥१॥

यहाँ स्वाधीनपतिका उपमान है, निक्षेपणी उपमेय है, न मुञ्चति (अपरिहारा) साधारण धर्म है, यथा—

यह उपमा प्रतिपादक शब्द है। असमस्त यह वाक्य यथा शब्द द्वारा उपमा का प्रतिपादन होने से यह वाक्यमा श्रौती उपमा है।

आर्यो वाक्यमा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अकितहरिणलोललोचनाया ऋधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।

सरसिजमिदमानन च तस्या सममिति चेतसि समं विधत्ते ॥

यहाँ सरसिज उपमान है आनन उपमेय है, अरुणसदृश कान्तिमत्त्व साधारण धर्म है। सम शब्द उपमा प्रतिपादक है। यहाँ “सरसिजमानन च समम्” इस पर मवं प्रथम ‘सादृश्यवदभिन्नमिद इय, यह बोध होता है, पश्चात् अर्थ पर्यालोचन से या अलङ्कार से परस्पर निरूपित साधारण धर्म सप्रसङ्ग की प्रतीति होती है। अतः यह वाक्यमा आर्यो पूर्णोपमा है।

श्रौती समासमा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अत्यायतीनियमकारिभिश्छताना विषयं प्रभाभिरनयामनयैरुपायैः ।

शौरिभुंजैरिव चतुर्भिरद सदा यो लक्ष्मीविलासमयनंभुवन बभार ॥

श्रीकृष्ण जिस प्रकार (विष्णुरूप में अपनी) चार भुजाओं से ससार को धारण करते हैं, उसी प्रकार यह राजा भी (साम दान दण्ड भेद रूप) चार उपायों से सदा ससार का पालन करता था। यहाँ भुजै उपमान है, और उपायै उपमेय है।

आयतत्वादि साधारण धर्म तथा इव उपमा प्रतिपादक शब्द है। “इधेम नित्यसमाप्तो विमलयलोपहच पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्नम्” इस वार्तिक से भुजै इस उपमान वाचक पद के साथ ‘इव’ इस उपमा वाचक पद का नित्य समास होने से यह समासमा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

आर्यो समासमा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणवरिभगोत्तमीः ।

सुरतस्तदृश स मवानमितपणीव क्षितीश्वर न कस्य ॥

अव्यर्थ मनोरथ मार्गों के विस्तार में प्रकृष्ट गुण गरिमा के कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है, इसलिए कल्पवृक्ष के समान है।

हे राजन् ? आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं ? इसमें सुरतश्रु उपमान, क्षितीश्वर उपमेय, प्रगुणवरिभगोत्तमीत्व साधारण धर्म है, सरण



उपमावाचक शब्द है। मुस्तहसदश में उपमान तथा उपमावाचक पदों का समास होने से यह समामना आर्यो पूर्णोपमा है।

तद्वितगा श्रौती तथा आर्यो पूर्णोपमा का उदाहरण—

गाम्भीर्यं गरिमा तस्य सत्यं गङ्गामुजङ्गवत् ।

दुरालोक स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥१॥

उस राजा के गाम्भीर्य की गरिमा मधुमुच मधुद्र के समान है। युद्ध भूमि में ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान वह यही कठिनाई में देखा जा सकता है।

यहाँ पूर्वायं में गङ्गामुजङ्ग अर्थात् मधुद्र उपमान है, तस्य उपमेय है, गाम्भीर्यं गरिमा साधारण धर्म है, “गङ्गामुजङ्गस्य इव इति गङ्गामुजङ्गवत्” इस विग्रह में “तत्र तस्यैव” इस सूत्र द्वारा इवार्थ में वृत्ति प्रत्यय है। अतः यहाँ तद्वितगा श्रौती पूर्णोपमा है।

उत्तरायं में निदाघाम्बर रत्न उपमान है, स उपमेय है, दुरालोकत्व साधारण धर्म है तथा “निदाघाम्बर रत्नवत्” में निदाघाम्बर रत्नेन तुल्य इति निदाघाम्बर रत्नवत्” इस विग्रह में “तेन तुल्य क्रिया चेद्वृत्ति” इस सूत्र द्वारा तुल्यार्थ में वृत्ति प्रत्यय होने से तद्वितगा आर्यो पूर्णोपमा है।

सुप्तोपमा—

पूर्णोपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द चारों शब्दोंतः उपान होते हैं, इस प्रकार उपमा की सारी सामग्री शब्दोंतः उपस्थित होने के कारण ही इसको पूर्णोपमा कहते हैं।

सुप्तोपमा में यह सारी सामग्री शब्दोंतः प्राप्त नहीं होती है, उपमान आदि चारों में से किसी न किसी का लोप अवश्य रहना है, इसलिए इसे सुप्तोपमा कहा जाता है। काव्यप्रकाश में सुप्तोपमा के १६ भेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

विभाजक हेतु	नाम	उदाहरण
धर्म लुप्ता	१. समासगता-श्रौती	श्वच मुद्रा इव ।
साधारण धर्म के लोप होने पर	२. वाक्यगता- „	मुष्मिन्दुपेया ।
	३. तद्वितगता-आर्यो	मनोरमवत् ।
४	४. समासगता- „	ओष्ठस्ते विम्बतुल्य ।
	५. वाक्यगता- „	पल्लवेन समः पापि ।

वाचकलुप्ता

६

१. समासगा

२. कर्मण वयचि

३. आधारात् वयचि

४. वयडि कर्त्तरि

५. कर्मणि णमुलि

६. कर्त्तरि णमुलि

कामिनी गण्डपाण्डुना ।

मुतमिवाचरति सुतीयति ।

अन्तपुरे इवाचरति  
अन्तपुरीयति ।नारी इव आचरति  
नारीयते ।

निवापधर्मासुदर्शं पश्यति

पार्थं सञ्चार सञ्चरति ।

उपमान लुप्ता

२

१. वाक्यगा

२. समासगता

तस्या मुखेन सद्भा रम्य  
नास्ते ।न वा नयनतुल्य रम्य-  
मास्ते ।

साधारण धर्म व

वाचक के लोप मे

२

१. वचप्रत्ययगा

२. समासगता

विषवति मुखभ्रमस्या ।

मुखाभ्रमस्या ।

धर्म व उपमान

के लोप मे

२

१. समासगता

२. वाक्यगा

लोकेन वा नयनतुल्य-  
मास्ते ।

तस्या मुखेन सद्भा नास्ते ।

वाचक तथा उपमेय के

लोप मे १

१. कर्मण. वयचि

सहस्रायुधीयति ।

उपमान वाचक शब्द व

सामान्य धर्म तीनों के लोप १. समासगता  
होने पर १

राजते मृगलोचना ।

इस प्रकार लुप्तोपमा के १६ भेद होते हैं,

दशम उल्लास

अनन्वयालङ्कार—

एक ही वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय होने पर अनन्वय नामक अलङ्कार होता है ।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वय . . . . ।

उदाहरणम्—

राम रावणघोर्युद्ध राम रावणयोरिव ।

उपमेयोपमा—

विपर्यास उपमेयोपमा तयो ॥

उन दोनों (अर्थात् उपमान और उपमेय) का परिवर्तन हो जाना (उपमान का उपमेय, और उपमेय का उपमान रूप में वर्णन) उपमेयोपमा नामक अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

“कमलेव मतिर्मतिरिव कमला”

यहाँ प्रथम कमला उपमान मति उपमेय है, द्वितीय बार मति उपमान और कमला उपमेय है ।

उत्प्रेक्षा—

सम्भावनामपोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

प्रकृत-वर्ण्य उपमेय की सम (उपमान) के साथ सम्भावना (अर्थात् उत्कट एक कोटिक मन्देह) उत्प्रेक्षा कहलाती है ।

उदाहरण—

लिप्यतीव तमोद्भानि धवन्तीवाञ्जन मम ।

धसत्पुरुष सेवेवदृष्टि विफलता गता ॥

इस पद्य में तम बन्धकार का व्यापन आदि उपमेय की लेपनादि उपमान रूप से सम्भावना की गई है ।

ससन्वेह—

ससन्वेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च सशय ।

उपमेय का उपमान के साथ समान कोटिक संबंध होने पर सन्देह नामक धलकार होता है। यह एकत्र भेद कथन तथा अपरत्र भेद के अकथन में दो प्रकार का होता है।

उदाहरण—

उपमान व उपमेय दोनों का भेद कथन—

अथ मातंग्यः किं ? स सखु तुरगं सप्तभिरित ।

यह (राजा) मूर्ख है क्या ? (यह सख्य हुआ,) परन्तु मूर्ख तो सात घोड़ों से युक्त होता है, (यह भेद कथन है)।

भेद की अनुक्ति अकथन—

अस्या समंविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कामिप्रब ।

इस (नायिका) के निर्माण में क्या कान्ति को देने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था, अर्थात् क्या स्वयं चन्द्रमा ने अपनी कान्ति में इनका निर्माण किया है।

इन पद्य में उर्बशी के निर्माण में प्रकृत प्रजापतिरूप उपमेय में चन्द्रमदन वसन्मादि नामा कोटिक अप्रकृत उपमानों का सन्देह है, अतः यह सन्देहालङ्कार है।

रूपकालङ्कार—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो ।

उपमान और उपमेय (जिनका भेद प्रसिद्ध है, उनका सादृश्यातिशय) का जो अभेद वर्णन है वह रूपक नामक अलङ्कार है।

उदाहरण—

“विद्वन्मानसहस्र”

हे राजन् आप विद्वानों के मनरूपी मानसरोवर के हस हैं। यहाँ मन में मानसरोवर का तथा राजा में हस का आरोप किया गया गया है। रूपक के भेद इस प्रकार हैं—

रूपक

साक्षि

समस्त व०वि०

एक दे०वि०

निरक्ष

शुद्ध

मालारूप

परम्परित

विलुप्त

अविलुप्त

शुद्ध

मालारूप

शुद्ध

मालारूप

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुवंश) और कहाँ क्षुद्रविषयो मे सचरणशील मेरी बुद्धि, इन दोनों मे महान् अन्तर है, अर्थात् इतने बड़े सूर्य वंश का वर्णन मेरी क्षुद्र मति के द्वारा असम्भव है। तथापि मेरा यह सूर्य वंश के वर्णन का साहस, अज्ञानवश छोटी सी नौका से दुस्तर समुद्र को पार करने की तरह है।

इस पद्य मे पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वाक्यों का उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है, इसलिए यह वाक्यार्थ निदर्शना है, यहाँ निदर्शना का आकार इस प्रकार है—“मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्य वंश का वर्णन, छोटी सी नौका से सागर पार करने के समान है,” वाक्यार्थ इस उपमा मे पर्यवसित होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा संव प्रस्तुताभ्या।

प्राकारणिकस्याभिधानेन प्राकारणिकस्यालोपोऽप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप है वही अप्रस्तुतप्रशंसा है।

कही-कही वाक्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ के अवधारोप से भी अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

कस्त्व भी ! कथयामि देवदूतक मा विद्धि शास्त्रोदकम् ।

वैराग्यादिव धलि साधु विदित, कस्मादिव कथ्यते ॥

वामेनात्र वदस्तमध्यगजन. सर्वात्मना सेवते ।

नञ्छायाऽपि परोपकारकरणे नागंस्थितस्यापि मे ॥

नरे तू कौन है ? बतलाता हूँ कि मुझको अभागा शास्त्रोदक (स्मशान की अग्नि से जले हुए पत्ते आदि से रहित सिंहोरा का वृक्ष) समझो।

कुछ वैराग्य से यह बात कह रहे हो, (ऐसा प्रतीत होता है) आपने ठीक समझा।

प्रश्न—ऐसा क्यों कह रहे हो ?

उत्तर—यह बायीं ओर बड़ का पेड़ है, पथिक लोग उसका ही सब तरह से आश्रय लेते हैं, और मैं मार्ग में खड़ा हुआ हूँ, फिर भी मेरे पास परोपकार करने के लिए (फल आदि तो दूर रहे) छाया भी नहीं है, इसलिए मैं अपने को अभागा कहकर अपना परिचय दे रहा हूँ।

यहाँ इस अप्रस्तुत वाक्य से किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति का प्रतीति हो रही है, जो किसी न किसी प्रकार से दूसरों की सहायता करने के लिए उत्सुक है, परन्तु या तो वह धनादि में हीन हो गया है अथवा नीच जाति का है, जिसकी सेवा लोग पसन्द नहीं करते, इसलिए वह न सहायता कर पाता है, और न लोग उसकी सहायता ही स्वीकार करते हैं, इसलिए वह दुःखी है।

यहाँ शाब्दिक वृक्ष के साथ वार्तालाप सम्भव नहीं है, इसलिए उस वाक्यार्थ के ऊपर प्रतीयमान नीच जाति अथवा धनहीन क्षात्रा आदि प्रतीयमान अर्थ का आरोप करके ही अर्थ की सङ्गति होती है। इसलिए यह अध्यारोप-मूलक अप्रस्तुतप्रशसा है।

प्रतिशयोक्ति :-

निर्गोप्यव्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्ययौक्तौ च कल्पनम् ॥

कार्यकारणयोपदेशं चैवैवार्थविपर्ययम् ।

वित्तेषां प्रतिशयोक्तिः सा ।

प्रकृत (उपमेय) का (परेण) उपमान के द्वारा निगूढ करने जो (आत्म्य अभव निश्चय कल्पित) अभेद कथन रूप अध्यवसान है वह प्रथम प्रतिशयोक्ति है।

प्रस्तुत अथ वा अयस्य में वचन द्वितीय प्रतिशयोक्ति है। यदि वे समानाधिक शब्द द्वारा कल्पना करना द्वितीय प्रकार की प्रतिशयोक्ति है और कार्यकारण का जो परिपर्यय विपर्यय है वह चतुर्थ प्रकार की प्रतिशयोक्ति है।

उदाहरण—

कमलमनश्मति कमले च कुवलये तानि कनकतलिकायाम् ।

॥ च सुकुमारसुभमेत्युत्पातपरम्परा केयस ॥

किसी सुन्दरी को देखकर किसी का कथन है—

दिना जल के कमल (नायिका का मुख) कमल में दो नीले कमल (नेत्र) और वे सोने की लता में लगे हुए हैं और वह सोने की लता (नायिका का शरीर) सुकुमार तथा सुन्दर है यह कैसी अनन्य परम्परा है।

यहाँ उपमान रूप कमल आदि के द्वारा उपमेयभूत मुख, नेत्र, शरीर का निगूढ करके, कमल आदि से अभेद निश्चय (अध्यवसान) किया गया है, इसलिए यह प्रथम प्रतिशयोक्ति या प्रतिशयोक्ति सामान्य का उदाहरण है।

प्रतिवस्तूपमा—

प्रतिवस्तूपमा तु सा ।

सामान्यस्य द्विरकस्य यत्र वाक्य द्वये स्थितिः ।

जहाँ एक ही माधारण धर्म को दो वाक्यों में दो बार (भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जाय वह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

देवीभावगमिता परिवारपद कथ भजत्वेषा ।

न खलु परिभोगयोग्य दंतवस्त्रपाद्भित रत्नम् ॥

इस पद्य में उत्तरार्ध का वाक्यार्थ उपमानरूप है तथा पूर्वार्ध का वाक्यार्थ उपमेयरूप है । इसलिये वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान उपमेय होने से, उनके एक ही अनौचित्य रूप धर्म को पूर्वार्ध में “कथ भजतु” पदों से तथा उत्तरार्ध में “न खलु परिभोगयोग्यम्” इन पदों से कहा गया है । अन यह प्रतिवस्तूपमा अलंकार है ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम् ॥

इस उपमान उपमेय और उनके विघेषण व साधारण धर्म आदि का भिन्न होते हुए भी औपम्य प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में पृथक् उपादानरूप (विम्बप्रतिबिम्बभाव) होने से दृष्टान्तालङ्कार होता है ।

उदाहरण—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।

आलोके हि हिमाशोविकसति कुसुम कुमुद्वरयो ॥

यहाँ नायक तथा चन्द्रमा का नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसुम का मनोभव सन्तान तथा मूर्धसन्तान का निर्वाण तथा विकास का विम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्तालंकार है ।

दीपकालङ्कार—

सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥

प्रकृत उपमेय प्राकरणिक तथा अप्रकृत उपमान अप्राकरणिक के क्रियादि रूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय, या बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण किया जाय तो दीपकालङ्कार होता है ।

उदाहरण—

कृपणानां धन नागानां फणमणि केशरा सिंहानाम् ।

कुलबालिकानां स्तना पुत्र सृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥

कृपणों के धन, सर्पों के फणजी मणि, सिंहों के केशर और कुलीन बालिकाओं के स्तनों को उनके जीते जी कँटे छुना या रक्ता है ।

यहाँ “सृश्यन्ते” यह एक क्रियापद है, इसी के साथ धन, फणमणि, केशर और स्तन आदि अनेक कारकों का सम्बन्ध होने से यह क्रिया दीपक का उदाहरण है ।



## तुल्ययोगिता—

नियताना सकृद् धर्मं सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

नियत (केवल) प्रकृत या अप्रकृत का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है ।

## उदाहरण—

पाण्डु क्षाम बदन हृदय सरस तवात्सव्यं च ययुः ।

आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्त ॥

हे सखि ! तेरा पीला पड़ जाना, सूखा चेह्ना, रनेह से भरा हुआ हृदय और अलसाया हुआ शरीर तेरे हृदय के असाध्य रोग को सूचित करना है । -

यहाँ बिरह के अनुभावरूप में मुख की पाण्डुता तथा क्षामता, हृदय की सरसता तथा शरीर की अलसता आदि ये सभी वर्ण्य या प्रकृत अर्थ हैं । उनके साथ आवेदयति, रूप एक क्रिया का सम्बन्ध है, इसलिए यह तुल्ययोगिता अलंकार है ।

## व्यतिरेक—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकं स एव सः ।

उपमान में अन्य उपमेय का जो आधिक्य (का वर्णन) वह ही व्यतिरेक अलंकार होता है ।

## उदाहरण—

जन्मसिन्धु पुनि बन्धु विप, दिन मलीन सकलक ।

सिन्धु मूल समता पाव किमि अब बापुरो रक ॥

क्षीरसागर में समुत्पन्न, वृमुदबन्धु, दिन में मलीन रहने वाला सकलक बेचारा चांद, क्या सीता जी के मुख की तुलना कर सकता है ?

यहाँ उपमान चन्द्र में सीता जी के मुख का आधिक्य वर्णन होने से व्यतिरेकालंकार है ।

## अर्थान्तरन्यास—

सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास साधर्म्येणैतरेण वा ॥

सामान्य अथवा विशेष का उसमें भिन्न (अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार, साधर्म्य तथा वैधर्म्य से होता है ।

## उदाहरण—

मित्रदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरोतम् ।

पश्यति पित्तोपहत शशि शुभ्र जङ्घमपि पीतम् ॥

अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है, उसको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी (विपरीत) बुरी जान पड़ती है, पित्त से पीड़ित (पाण्डु या कामला रोग से ग्रस्त पुरुष) को चन्द्रमा के समान शुभ्र सङ्घ भी पीला दिखलाई देता है यहाँ अपने मन में दोष होने पर अच्छी वान भी बुरी मालूम होती है—इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन “पीलिया के रोगी को सङ्घ भी पीला दिखलाई देता है” इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है, यह साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है।

वैधर्म्य द्वारा विशेष का समर्थन—

अहो हि मे वरुणराजभाषुया यवप्रिय वाच्यमिह मयेदृषम् ।

त एव धन्या सुहृद पराभव जगत्य वृष्ट्यैव हि मे क्षय गता ।।

अरे मेरी लम्बी आयु ने यह बड़ा अपराध किया है कि जिससे मुझे इस प्रकार का (सुहृद विनाश का) अग्रिय समाचार कहना पड़ रहा है, वे ही वास्तव में धन्य हैं जो सरार में सुहृद के पराभव को देखे बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है।

**विरोधमूलक अलङ्कार**

**विरोध या विरोधाभास—**

विरोध सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच ।

वास्तव में विरोध न होने पर भी, जो दो विरुद्धों का कथन करना है, वह विरोध या विरोधाभास नामक अलङ्कार होता है।

**उदाहरण—**

इयं विशालाऽपि च भूरिशाला विराजते मस्कृतपाठशाला ।

यहाँ ‘विगता. शाला यस्या सा’ इत्यादि विग्रह में जहाँ शाला ही नहीं, यहाँ भूरि बहुत शालायें भवन कैसे होंगे, इस आपातन प्रतीयमान विरोध का परिहार विशाला बहुत बड़ी इस अर्थ से हो जाता है।

**अर्थवा**

“वा मुख की मधुराई कहा कहौ, सीटी लग अखियान लुनाई”,

यहाँ आँखों की लुनाई (नमनीनपना) को सीठा बताया है, विरोध स्पष्ट है, परन्तु यहाँ लुनाई का दूसरा अर्थ है तावण्य—सुन्दरता, इससे इसका परिहार हो जाता है।

**विभावना—**

क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फलव्यतिर्तिविभावना ।

क्रियतेऽनयेति क्रिया इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ क्रिया शब्द का अर्थ हेतु या कारण है।

हेतु रूप क्रिया का निषेध होने पर भी फल (कार्य) की उत्पत्ति विभावना नामक अलङ्कार है ।

उदाहरण—

कुमुदित सताभिरहताऽप्यघत्तजनमलिकुर्लररष्ट्राऽपि ।

परिवर्त्तते स्म नलिनी तहरोभिरलोनिताऽप्यघूर्णत सा ॥

खिली हुई सताओ में लाडिल न होने पर भी (वह नायिका) पीडा की प्राप्ति हो रही थी, भ्रमरकुल में न बाटे जाने पर भी तटप रही थी, और कमलिनीयों में युक्त तहरो के चक्कर में पड़े बिना भी वह चक्कर खा रही है ।

यहां सताओ का ताड़नादि पीडादि न हेतु हो सकता है, परन्तु उन कारणों के निषेध करने पर भी कार्य का प्रकाशन किया गया है, इसलिए यह विभावना नामक अलङ्कार है ।

विशेषोक्ति—

विशेषोक्तिरक्षणेऽप्यु कारणेषु फलावब ।

सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फल का (कार्य का) न कहना विशेषोक्ति अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

कर्पूर इव बभ्रोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।

नमोऽस्तु चकार्य वीर्याय तस्मै मकर केतवे ॥

जो (कामदेव) कर्पूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन जन में शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव की नमस्कार है ।

यहां भस्म हो जाना शक्ति के क्षय में कारण है, परन्तु इस कारण के रहते हुए भी शक्तिशाल्य रूप कार्य का अभाव होने से यह विशेषोक्ति अलङ्कार है ।

असङ्गति—

भिन्नदेशतयाद्यन्त कार्यकारणभूतयो ।

युगपद्वर्त्मयोग्यं स्याति सा स्यादसङ्गति ॥

जहां कार्यकारण वस्तुभूत दो घटों की किसी विशेषता के कारण भिन्न देश में एक साथ प्रतीति होती है उन दोघों में स्वभाव जन्य परस्पर सङ्गति के त्याग देने में असङ्गति अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

यस्मैव वृषस्तत्स्यैव वेदना भवति तन्जनोऽस्तीकम् ।

दन्तसत वषोले वरुवा वेदना सपत्नीनाम् ।

जिसके घाव होना है उसी की वेदना होती है, (यह बात जो लोग कहते हैं) यह सब झूठ है। क्योंकि पति के द्वारा दन्तक्षत वधू के गाल में है, और सपत्नियों के हृदय में वेदना होती है।

यहां कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना भिन्नाविकरण में होने से असंज्ञति है, क्योंकि कार्यकारण का एकाधिकरण ही प्रसिद्ध है, इसी भिन्नाधिकरणरूप असंगति में ही चमत्कार भी है अतः यह असंज्ञति अनकार है।

**विषमालंकार—**

क्वचिद् यदति वैधर्म्यान् न श्लेषो घटनामियात् ।

कर्तुं क्रियाकलापाप्तिर्नैवानर्यश्च यद्भवेत् ॥

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।

क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥

कही सम्बन्धियों के अत्यन्त वैधर्म्य के कारण उनका परस्पर सम्बन्ध न बनना प्रतीत हो, यह एक प्रकार का विषमालंकार होता है।

**उदाहरण—**

शिरीषादपि नृश्वङ्गो केयभाषतलोचना ।

अथ वयं च कुक्षुलाग्निं ककुंसो मद्वनान्तः ॥

शिरीष के फूल में भी अधिक कोमल अङ्गो वाली कहा यह वीरलोचना, और कहा सुपाग्नि के समान असह्य यह कामाग्नि ।

यहां मद्वनान्त व नायिका दोनों के अत्यन्त विलक्षण होने से उनका सम्बन्ध अनुपपन्न भा प्रतीत होता है, इसलिए यह विषमालंकार है।

**शृङ्खलाबन्ध मूलक अलंकार**

**मालादीपक—**

मालादीपकमाद्य चेद् यथोत्तरगुणावहम् ॥

पूर्व पूर्व की वस्तु द्वारा यदि उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार (गुणाधान) किया जाए तो वह मालादीपक अलंकार होता है,

**उदाहरण—**

सग्राभाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते ।

वेषाकर्षय येन येन सहसा यद्यत् समासादितम् ।

कोदण्डेन शरा शरैररिशिरस्तेनाऽपि भूमण्डलम्,

तेन त्व भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

हे राजन् ? सग्राग ग्रीम में आये हुए आपके धनुष की प्रत्यब्जा की चढ़ाने पर, जिस जिस ने जो सहसा प्राप्त किया सो मुनी, (सबसे प्रथम) आपके

धनुष ने बाण को प्राप्त किया, बाणो ने शत्रुओं के शिर को प्राप्त किया, और शत्रु के शिर ने भूकण्डल पृथ्वी प्राप्त की, पृथ्वी ने आपको प्राप्त किया आपने अतुल कीर्ति प्राप्त की और कीर्ति ने तीनों लोकों को प्राप्त किया ।

यहाँ पूर्व पूर्व वस्तु द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार होता है और एक ही असादन क्रिया का सर्वत्र मध्यन्ध होने से मालादीपक है ।

कारणमाला—

‘ यथोत्तर चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यायंस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात् ॥

जहाँ अगले अगले अर्थ के प्रति पहिले पहिले अर्थ हेतु (रूप में वर्णित) हो तो वहाँ कारणमाला नामक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

जितेन्द्रियश्च विनयस्थ कारण गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुराग्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पद ॥

जितेन्द्रियश्च विनय का कारण है, और विनय से गुणों का प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणों के प्रकर्ष में जनो का अनुराग होता है, और जनानुराग से सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ।

यहाँ उत्तर उत्तर के प्रति पूर्व पूर्व की हेतुता मानकर कारणमाला अलंकार होगा है, यद्यपि यहाँ अनेक कार्यों का वर्णन होने में कार्यमाला भी हो सकती है, परन्तु कारण के ऊपर ही कवि का विशेष सरम्भ होने के कारण इसे कारण माला अलंकार कहते हैं ।

एकावली—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं पर परम् ।

विशेषणतया यम वस्तु सैकावली द्विधा ॥

जहाँ पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु विशेषण रूप रखी जाए, अथवा हटायी जाय वह दो प्रकार का एकावली नामक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

पुराणि यस्या सवराज्जनानि वराज्जना रूपपुरस्कृताऽभ्य ।

रूप समुन्मीलितरुद्रिलासम् अस्त्र विलासा कुसुमायुधस्य ॥

जिम (उज्जयिनी नगरी) में घर वराज्जनानो से युक्त है, और वराज्जनार्थ रूप से युक्त है, और रूप में हाव भाव प्रकट हो रहे है, और वे विलास काम के अस्त्र का नाम कर रहे है ।

यहाँ पूर्व पूर्व के प्रति विशेषण रूप में उत्तर उत्तर के स्थापित किये जाने से पहिले प्रकार के एकावली का उदाहरण है ।

सार—

उत्तरोत्तरभुत्तर्पो भवेत् सारः परावधि ।

जहाँ पराकाष्ठा पर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन किया जाय वह सार नामक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

मलमल से कोमल महा, कदलि-गरभ को पल ।

ताड़ से कोमल अधिक, राम निहारे गल ॥१॥

यहाँ मलमल, केला-गर्भ का पान, और राम के गान एक दूसरे में (उत्तरोत्तर) कोमलता में बढ़कर बतलाये गये हैं ।

इसलिए यहाँ सार नामक अलंकार है ।

तर्क न्याय मूलक अलंकार

काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्ग ह्येतोर्वाक्यपदार्थता ।

हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कथन करना काव्यलिङ्ग नामक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

वपु प्रादुर्भावादनुमिगमिद जन्मनि पुरा ।

पुरारे न प्राय क्वचिदपि भवन्त प्रणतवान् ।

नममुक्त. सम्प्रत्यहमनुरधेऽप्यनतिभाक् ।

महेश ! क्षन्तव्य तदस्मिपराधद्वयमपि ॥

हे शिवजी महाज ? इस शरीर के उत्पन्न होने से यह अनुमान होता है कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्राय कभी नमस्कार नहीं किया, अब इस जन्म में नमस्कार करना हुआ मैं सुख हो जाऊँगा, इसलिए शरीर न रहने में चाहे भी आपको नमस्कार नहीं कर सकूँगा, भी मेरे इन दोनो अपराधों को क्षमा करना ।

इस पद्य में “पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्” और “अधेऽप्यनतिभाक्” इन वाक्यों का अर्थ अपराधद्वय का हेतु है । यद्यपि अनयन स्वयं अपराध है, इसलिए उसमें साधारणरूप हेतु हेतुमद्भाव नहीं है, परन्तु जनमन को हेतु और उसमें उत्पन्न दुरित या बद्दृष्ट को हेतुमान कहा जा सकता है ।

अनुमान—

अनुमान तदुक्त यत् साध्यसाधनयोर्वच

जहाँ साध्य साधन का कथन (कुछ चमत्कार पूर्ण) हो वह अनुमानालकार कहलाता है ।

अनुमान मे—पदाधर्मत्व (पक्षगत्व) अन्वयित्व (सपक्षसत्त्व) तथा व्यतिरेकित्व (विपक्ष व्यावृत्तत्व) रूप मे तीन धर्मों मे युग्म निरूप्य हतु, साधन कहलाता है । और धर्मों अर्थात्-पक्ष म व्यापन वल्लि आदि के अभाव का निषेध अयोग ब्यवच्छेद—अर्थात्—अभाव का अभाव—अवश्य सत्ता ही उसका साध्यत्व है । (आयोग व्यवच्छेद का अर्थ यहाँ अन्यूनानिरिक्त विषयत्व भी है) ।

उदाहरण—

मग्नता सहरोचलाचलदृशो, व्यापारयन्ति मुख ।

यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततमभी मर्मस्पृशो मार्गणा ॥

तच्चक्रीकृतचापमञ्चितद्वारप्रेङ्खत्कर क्रोधनो ।

धावत्यत्रत एव शासनधर सत्य सदाऽस्य स्मर ॥

जलतरङ्गों के समान अत्यन्त चञ्चल नभो वाली ये (प्रसिद्ध तरणियाँ) जहाँ जिस पर अपनी भाग्य चला देती हैं, वही ये (कामदेव) मर्मवेधी बाण जो निरन्तर गिरने लगते हैं, इसमे विदित होता है कि धनुष को चढ़ाये हुए और बाण के ऊपर ही हाथ रखे हुए, उनका आत्मनारी क्रोध युक्त कामदेव सचमुच सदा इनके आगे आगे ही दौड़ता रहता है ।

यहा पूर्वार्ध म कहा हुआ अर्थ साधनरूप है, और उत्तरार्ध मे कहा हुआ अर्थ साध्यरूप है, इसलिए यहा अनुमान अलंकार है, यत् और तत् शब्दों से उन दोनों धर्मों की ध्याप्ति सूचित की जाती है ।

कही कही पहले साध्य तथा बाद मे साधन का भी कथन होता है, जैसे भतृहरि का निम्नाङ्कित पद्य इसका उदाहरण है—

मधु तिष्ठति चात्रि योषिता हृदि हासाहलमेव केवलम् ।

अतएव निषीयतेऽथरो हृदय मुष्टिनिरेव तादयते ॥

वाक्य न्याय मूलक अलंकार

समुच्चय—

तत्सिद्धि हेतावेकास्मिन् यत्रान्यत् सत्कर भवेत्

समुच्चयोऽसौ

उस (प्रकृत) कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य हेतु भी उसका साधन हो जाय, वह समुच्चय अलंकार कहलाता है ।

उदाहरण—

दुर्वारा स्मर मार्गणा प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकः  
गाढ प्रेम नव वयोऽतिकठिना प्राणा कुल निर्मलम् ।  
स्त्रोत्व धैर्यविरोचि मन्मथसुहृत् काल कृतांतोऽक्षमो,  
नो सत्यश्चतुरा कथन्तु विरह सोढव्य इत्य शठ ॥

कामदेव के बाणों से बचना ही कठिन है, उस पर भी पति दूर परदेश गये हुए हैं, मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा है, प्रेम अत्यन्त प्रगाढ़ हो रहा है, नया यौवन है, प्राण बड़े बठोर हैं, (निकलते नहीं), कुल निर्मल है, स्त्रोत्व धैर्य का विरोधी है, काम का परम मित्र वसन्त समय है, यमराज भी इस विषय में कुछ नहीं कर सकते, सखिया भी चतुर नहीं हैं, ऐसी दशा में इस दुष्ट विरह को कैसे सहन किया जाय ।

यहाँ केवल कामबाण ही जब अमल्य हैं, तब फिर ऊपर से प्रिय विरहादि का गुणवत् समापन का वर्णन ममुक्त्वालङ्कार है ।

पर्याय—

एक जमेणानेकस्मिन् पर्याय ।

एक वस्तु क्रम से अनेक भे हो या की जाय तो वह पर्याय अलंकार होता है ।

उदाहरण—

मन्वाध्वय स्थितिरिय तव कालकूट ? केनोत्तरोत्तर विशिष्ट पक्षोपदिष्ट ।  
प्रागर्णयस्य हृदये वृषसदमणोऽथ कण्ठेऽधुना वरुसि चात्र पुन खसानाम् ।

हे कालकूट ! (विष) तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पद वाले आध्वय में रहने की स्थिति किमने बतलायी है, पहले तुम समुद्र के (हृदय) भीतर रहते थे, फिर शिबजी के कण्ठ में आये, और अब बुट्टों की चाणी में रहते हो ।

यहाँ कालकूट के अनेक स्थानों पर रहने का वर्णन किया गया, इसलिए पर्याय अलंकार का उदाहरण है ।

परिसर्या—

किञ्चित् पृष्ठमपृष्ठ वा कथितं यत् प्रकल्पते ।

तादृगन्यव्यपोहाय परिसर्या तु सा स्मृता ॥

कोई पूछी गयी या बिना पूछी गई, कही गयी बात जो उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होनी है, वह परिसर्या कहलाया है ।

अन्य प्रमाण में ज्ञात वस्तु भी जब (अनुवादरूप में) शब्द से प्रतिपादित होकर, (उम प्रतिपादन का) अन्य प्रयोजन न होने से अपने सदृश अन्य वस्तु के निषेध में परिणत हो जाता है, वह परिसर्या अलंकार होता है ।



उदाहरण—

किमासेव्य पुसा ? सविधमनवच्च सुसरित ।  
किमेकान्तं ध्येय ? चरणयुगल कौस्तुभमृत ॥  
किमाराध्य ? पुण्य, किमभिलषणीय ? च करुणा ।  
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥

मनुष्या को किसका सेवन करना चाहिए ? (उत्तर) गङ्गा के उत्तम तट का । एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिए ? (उत्तर) कौस्तुभ घाटी में गङ्गा के चरण युगल का । किसकी आराधना करनी चाहिए ? (उत्तर) पुण्य की । किसकी कामना करनी चाहिए ? (उत्तर) करुणा की । जिन गङ्गातटादि की सेवा से चित्त महा के लिए मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है ।

यहाँ गङ्गातट विष्णु के चरणयुगल आदि का संभाव्य तो पुराणादि में प्रसिद्ध ही है, अतः उनके सेव्यत्व का प्रतिपादन करने में इस पद्य का प्रयोजन नहीं है, अपितु इन उक्त पदार्थों का अनुवाद कर, उनमें भिन्न भिन्न मुक्ति के प्रतिकूल स्त्रीनितम्बादि हिमादि अथ सामासिक विषयो की सेव्यता के निषेध में ही इस पद्य का तात्पर्य है, इसलिए यह परिमर्या का उदाहरण है ।

यथासह्य—

यथासह्य क्रमेणैव क्रमिकाणा समन्वय ।

क्रम में कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम में समन्वय होने पर यथासह्य अलंकार होता है ।

उदाहरण—

एकस्त्रिधा वसति चेतसि चित्रमत्र ।  
देवद्विधा च विदुषा च मृगीदृशा च ॥  
ताप च सम्मदरस च रति च पुष्पन ।  
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥

हे देव ! आप अनेक ही शत्रुओं, विद्वानों तथा मृगययाओं के मन में शौर्य की गरमी में मन्ताप को उत्पन्न करते हुए, (विद्वानों के मन में) विनय में आनन्द रस को बढ़ाते हुए, और मृगययाओं के मन में रति को उत्पन्न करते हुए तीन रूपों में रहने हैं, यह आश्चर्य की बात है ।

इस पद्य में द्वितीय चरण में कहे हुए क्रम से ताप सम्मदरस और रति के साथ तथा तृतीय चरण में कहे हुए शौर्योष्मणा, विनयेन और लीलया का उसी क्रम में अन्वय होता है, इसलिए यह यथासह्य अलंकार का उदाहरण है ।

## लोक-न्याय-मूलक अलंकार

सामान्य—

प्रस्तुतस्य ध्वन्येन गुणसामान्यविचक्षणः ।

ऐक्यस्य व्यथते योगात् तत्तामान्यमिति स्मृतम् ॥

प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु के अन्य अप्रस्तुत के साथ सम्बन्ध से दोनों के गुणों की समानता प्रतिपादन करने की इच्छा से जो उन दोनों के एकात्म्य-अभेद का वर्णन है, वह सामान्य नामक अलंकार कहलाता है ।

अर्थात्—सदृश गुणों के कारण प्रकृत का अप्रकृत के साथ जो तादात्म्य है, वह सामान्यालंकार है, जैसा कि विश्वनाथ का कथन है—

सामान्य प्रकृतस्यान्यतावात्स्यं सदृशगुणैः ॥

उदाहरण—

मल्लिकाधितघग्मिलताडधारवन्दनवर्षिता ।

अभिभाष्या सुखयान्ति चन्द्रिकास्वप्नि सारिका ॥

मल्लिका पुष्पों से केशपाश को सजाकर, सुन्दर चन्दन से वर्षित अभि-  
सारिकाये चादनी में अलक्षित होती हुई मुखपूर्वक जाती है ।

यहां वर्णनीय मल्लिका के शुभ्रगुण और चादनी के एकाकार प्रतीत होने से सामान्य अलंकार है ।

तद्गुण—

स्वमुत्तुग्य गुण योगादत्पुञ्जतगुणस्य यत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥

जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अनि उत्कृष्ट गुणवाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वस्व या गुण को छोड़कर उस अप्रस्तुत वस्तु के रूप को प्राप्त हो जाती है, उसको तद्गुण अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विभिन्नवर्णा गहडाग्रजेन सूर्यस्य रम्या परितः द्युरन्तया ।

रत्नं पुनर्यत्र रवा रश्च स्वाभानिन्यिरे वशकरो रत्नोत्तं ॥

सूर्य के अश्वों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि गरुड के अग्रज अर्थात् सूर्य के सारथि अरुण की रत्न वर्ण के आधिक्य से भिन्न रंग को प्राप्त किये हुए सूर्य के छोड़े जहां वायु के अकुरों के समान हरिद्वर्ण भरकत मणियों की चारों ओर फैलती हुई कान्ति से फिर अपनी कान्ति को प्राप्त कराये गये ।

यहां सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा अरुण के वर्ण का उत्कर्ष है, उसकी भी अपेक्षा मरकत् मणियों के वर्ण की उत्कृष्टता है। अरुण के द्वारा घोड़ों का जो रंग बदल गया था वह फिर रंबतक पर्वत के समीप आने पर मरकत् मणियों के सम्पर्क में फिर घोड़ों का रंग हरा हो गया। अत्युत्कृष्ट गुण का पुनः ग्रहण कर लेने से यह तद्गुणालंकार है।

अतद्गुण—

तद्दृष्ट्वा ननु हारश्चेदस्य तत्त स्थादतद्गुणः ।

समीपस्थ वस्तु का योग होने पर भी इससे द्वारा उस प्रकार के गुण का अनुसरण न किये जाने पर अतद्गुण होना है। अर्थात् समीपस्थ होने पर भी स्थूल गुणवाला अप्रस्तुत उस प्रस्तुत गुण या वर्ण को ग्रहण नहीं करे तो अतद्गुण नाम का अलंकार होना है।

उदाहरण—

धवलोज्ज्वलं यद्यपि सुन्दरं । तथापि स्वयां मम रज्जितं हृदयम् ।

रागभरितेऽपि हृदये सुगमः । निहितो न रक्तोज्ज्वलः ॥

हो सुन्दर ! तू यद्यपि धवल (शौरवर्ण) के हो फिर भी तुमने मेरे हृदय को रंग दिया, और मैंने तुमको रागयुग्म हृदय में रक्खा, फिर भी हे सुगम ! तुम अनुरक्त नहीं हुए।

यहां अत्यन्त अनुरक्त हृदय में समुक्त होने पर भी नायक अनुरक्त नहीं हुआ इसलिए अतद्गुण अलंकार है।

गूढार्थप्रतीति मूलक अलंकार

स्वभावोक्ति—

स्वभावोक्तिस्तु द्विभावे स्वस्वियारूपवर्णनम् ।

बालक यादिकी अपनी (स्वाभाविक) क्रिया अथवा रूप अर्थात् वर्ण एवं अवयव सत्त्वान का वर्णन, स्वभावोक्ति अलंकार है।

उदाहरण—

श्रीवामनाभिराम मुहुरनुपलति स्यन्दने इतद्विष्टः ।

इत्यादि अभिज्ञान शाकुन्तल के इस पद्य में भय से भागते हुए मृग के स्वभाव का सूक्ष्म वर्णन होने से यह स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण है।

भाविक—

प्रत्यक्षा इव यद्भावा कियन्ते सूतभाविनः ।

तद् भाविकम्

अतीत और अनागत पदार्थ जब (भावनावश कवि के द्वारा) प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, भाविक नामक अलंकार कहते हैं।

उदाहरण—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव नोचने ।

भावविभूषणसम्भारा साक्षात् कुर्वेत्तवाकृतिम् ॥

प्रिये ! जिसमें अञ्जन लगा हुआ था इस प्रकार के तुम्हारे नेत्रों को देख रहा हूँ, और घाने होने वाले आभूषणों से अलंकृत तुम्हारी (अनागत) आकृति को (भावनादयः) साक्षात् देख रहा हूँ ।

इस पद्य के पूर्वार्ध में अतीत का और उत्तरार्ध में अनागत का दर्शन है ।

व्याजोक्ति—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तरूपनिगूहनम् ।

एकट हुए वस्तु के स्वरूप को किसी वस्तु में छिपाने (के प्रयत्न या वर्णन) को व्याजोक्ति अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

शैलेन्द्र प्रतिपाद्यमानगिरिजा हस्तोपगूढोत्तसत्,

रोमाञ्चादि विसृष्टलाबिलविधिभ्यासङ्गभङ्गाकुल ।

हा शैत्य तुहिनाचलस्य करयोरित्पूचिबान सस्मित,

शैलान्त पुरमानृमण्डलगर्भेदुष्टोऽवताद् व शिव ॥

(शिव पार्वती के विवाह में कन्यादान के अवसर पर) हिमालय के द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वती के हाथ के स्पर्श में ममुद्भूत रोमाञ्चादि के कारण, सारे क्रियाकलाप के गड़बड़ा जाने में ध्वराये हुए, हाथ हिमालय के हाथ बड़े जोतन हैं, कहने वाले हिमालय के अन्तपुर की स्त्रियों के, मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि) एवं (नन्दी आदि) गणों के द्वारा मुस्कराते हुए देखे गये शिव तुम्हारी रक्षा करे ।

यहा पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न मात्त्विक भावरूप-रोमाञ्च, तथा कम्प प्रकट हो गये, परन्तु (हिमालय के हाथ स्पर्श से) शैत्य के कारण हुए हैं, इस प्रकार प्रकाशित करते हुए (उनकी सात्त्विकरूपता को) छिपाया गया है, इसलिए यह व्याजोक्ति अलंकार है ।

सूक्ष्म—

कुतोऽपि लक्षित सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्यै प्रकाश्यते ।

धर्मेण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्म परिचक्षते ॥

दुर्जोय (सूक्ष्म) भी अर्थ किसी भी प्रकार से जान लिया गया है, यह बात (अथवा जाना हुआ सूक्ष्म अर्थ भी) जहा किसी (वाक्य आदि) धर्म से दूसरे को बतलायी जाती है उसको सूक्ष्म अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विनय प्रेम वस भई भवानी ।  
लसी मान सूरति सुतकानी ॥

यहाँ विनय से भवानी ओ सीताजी के मन का अभिप्राय समझ गई और मुमताज़र जानना तात्पर्य भी बता दिया । सकेन में मकेनिक अर्थ का प्रकटीकरण होने में सूक्ष्म अलंकार है ।

समृद्धि—

सेष्टा ससृष्टिरेतेषा भेदेन यदिह स्थिति ।

इत (दो या अधिक) अलंकारों को यज्ञ (काव्य या वाक्य में) भेद में (परस्पर निरपेक्ष रूप में) जो स्थिति है, वह समृद्धि (नामक अलंकार) मानी जाती है ।

सन्ध्यालंकार की समृद्धि—

वदनसीरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरमभ्रमसम्भृतशोभया ।  
चलितया विदधे कलमेललाङ्गललोत्तकलोत्तदृशाऽन्यथा ॥

माघ काव्य के छठे सर्ग का ऋतु वर्णन के प्रसङ्ग का यह पद्य है—

अपने मुख की सुगन्धि के लोभ में (मुख के ऊपर) मँडराते हुए भ्रमर के आतङ्क में घबराकर, और भी अधिक शोभा को धारण करने वाली, भ्रमर भय में भागती हुई, केशपात्र के गिरने में और भी अधिक चञ्चल नेत्रों वाली के भागने से मुन्दर भेखला का मुन्दर ज्वल होन लगा ।

यहाँ पूर्वार्ध में “ममारा” के तथा तृतीय चरण में लकार के अनेक बार प्रयोग होने में अनुप्रास अलंकार है ।

चतुर्थ चरण में “लकला लललो” की आवृत्ति होने में समन्धालंकार है, ये दोनों सन्ध्यालंकार एक इतोक में परस्पर निरपेक्ष रूप में स्थित हैं । इन यहाँ सन्ध्यालंकारों की समृद्धि है ।

अर्थानुद्धारों की समृद्धि—

लिम्पतीव लभोऽङ्गानि वपन तीव्राङ्गनभ ।  
असत्पुरुषमेवेव दृष्टिविफलता गता ॥

अन्धकार अङ्गों का लेपन सा कर रहा है, और आकाश में अङ्गन बरस सा रहा है । असत् पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो गयी है ।

इस पद्य के पूर्वार्ध में तम अन्धकार के व्यापन में लेपन विषयक तथा वर्णन विषयक उत्प्रेक्षा की गई है ।

उत्तरार्ध में “असत्पुरुष मेवेव” में उपमा अलंकार है । इन दोनों अर्थानुद्धारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति है ।

विषयः	पत्राङ्काः	विषयः	पत्रा
लक्ष्यप्रत्यक्षध्वनिः ... ..	९१	पष्ठोद्भासे	
रसभावादिकथनम् ... ..	९३	शब्दार्थविवनिरूपणम् ... ..	१
रसस्वरूपम् ... ..	९४		
रसभेदाः .. .	१२२	रसमोद्भासे [दोषाः]	
स्थापिभाषाः ... ..	१३७	दोषलक्षणम् ... ..	१
ध्वनिचारिणः ... ..	१३८	पददोषविभागोद्देशः ... ..	१
शास्त्रत्यादापि रसत्वनिरूपणम् ... ..	१४३	[ पददोषविभागः ]	
भावस्वरूपम् .. .	१४४	श्रुतिकटुता ... ..	१
रसाभासभावाभासौ .. .	१४८	च्युतसंस्कारा .. .	१
भावशास्त्र्यादिकथनम् .. .	१५०	अप्रयुक्तत्वम् . . .	१
भावशान्त्यादीनां रसाङ्गित्वम्	१५३	असमर्थत्वम् . . .	१
ध्वनिभेदाः ... ..	१५४	निहतार्थत्वम् .. .	१
शब्दशक्त्युत्पन्नध्वनिभेदाः .. .	१	अनुचितार्थत्वम् . . .	१
अर्पणशक्त्युत्पन्नध्वनिभेदाः...	१५८	निरर्थकत्वम् . . .	१
अभयशक्त्युत्पन्नध्वनिः .. .	१५०	अवाचकत्वम् .. .	१
ध्वनिभेदपरिगणनम् . . .	१५१	अधीनत्वम् .. .	१
रसादिध्वनेर्भेदाभावप्रदर्शनम् .. .	१	सन्दिग्धत्वम् . . .	१
वाक्ये अभयशक्त्युत्पन्नध्वनि	१	अप्रतीतत्वम् ... ..	१
पदे शब्दार्थशक्त्युत्पन्नध्वनय	१७२	प्राप्त्यत्वम् .. .	१
प्रत्यक्षध्वन्यर्थशक्त्युत्पन्नध्वनि . . .	१८८	नेयार्थत्वम् .. .	१
पदैकदेशादिष्वपि रसादीनां प्रसक्ति	१९०	द्विष्टत्वम् .. .	१
उक्तध्वनिभेदसङ्ग्रहम्	२०४	अविगृह्यविधेयांशत्वम् .. .	१
संकीर्णभेदप्रदर्शनम् . . .	२०८	विरुद्धमतिकारिता .. .	१
ध्वनिममष्टि . . .	२११	समासे श्रुतिकटुत्वम् . . .	१
		[ पदगतदोषाणां चान्यपदोपायोऽप्यतिदेश	
पञ्चमोद्भासे		श्रुतिकटुता . . .	१
गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा -	२१६	अप्रयुक्तम् .. .	१
पद्यामवान्तरभेदप्रदर्शनम्	२३४	निहतार्थम् .. .	१
ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यविवरणम्	२३९	अनुचितार्थम् . . .	१

विषय	पत्राङ्का	विषय	पत्राङ्का
अस्तीत्यम्	३०९	[ अर्थदोषा ]	
सन्दिग्धत्वम्	३१०	अपुष्टत्वम्	३६१
अप्रतीतत्वम्	३११	कष्टत्वम्	"
ग्राम्यत्वम्	"	व्याहृतत्वम्	३६२
भेदार्थत्वम्	"	पुनरुक्तत्वम्	३६३
हिंस्रत्वम्	३१४	दुष्कृतत्वम्	३६४
भविष्यदविषेयाशक्त्यम्	"	ग्राम्यत्वम्	"
यत्तदो साकाङ्क्षत्वविचार	३१७	सन्दिग्धत्वम्	"
वाक्यदोषागामुद्देश	३२९	निर्हेतुत्वम्	३६५
[ यावदुद्भाषा ]		प्रसिद्धिविरुद्धत्वम्	३६६
प्रतिकूलवर्गत्वम्	"	विषाविहृतत्वम्	
उपहतलुप्तविमर्गत्वम्	३३१	धर्मसाक्षविरुद्धत्वम्	३६७
विमर्शित्वम्	"	अर्थसाक्षविरुद्धत्वम्	३६८
हान्युक्तत्वम्	३३३	कामसाक्षविरुद्धत्वम्	"
न्यूनपदत्वम्	३३६	योगसाक्षविरुद्धत्वम्	"
अधिकपदत्वम्	"	अनवीकृतत्वम्	३६९
कथितपदत्वम्	३३८	सन्दिग्धपरिवृत्तत्वम्	"
पदप्रकर्षत्वम्	"	अन्विष्टपरिवृत्तत्वम्	३७०
सनातनपुनराकृतत्वम्	३३९	विशेषपरिवृत्तत्वम्	३७१
अद्विष्टैकवाचकत्वम्	"	अविशेषपरिवृत्तत्वम्	३७२
अभवन्ततयोग्यत्वम्	३४०	साकाङ्क्षत्वम्	"
अनभिहितवाच्यत्वम्	३४३	अपर्युक्तत्वम्	३७३
अभ्यासमन्वितत्वम्	३४८	सङ्ख्यारहितत्वम्	३७४
अभ्यासस्यममान्यत्वम्	३५०	प्रकाशितविरुद्धत्वम्	"
सङ्कीर्णत्वम्	"	विषययुक्तत्वम्	३७५
वर्धितत्वम्	३५१	अनुवादीयुक्तत्वम्	३७६
प्रसिद्धित्वम्	३५३	त्यक्तपुन स्वीकृतत्वम्	३७७
अप्रक्रमत्वम्	३५३	अस्तीत्यम्	"
अक्रमत्वम्	३५८	अपुण्यत्वस्य पुनरुक्तत्वस्य वा	
अमनसार्थत्वम्	३६०	कविदोषत्वम्	"
अर्थदोषागामुद्देश	"	निर्हेतुत्वस्य व्याप्तेर्दोषत्वम्	३८१

विषय	पद्याङ्का	विषयः	पद्याङ्का
अनुकरणे सर्वेषामदोक्तम्	३८१	तद्यारिणि स्वपदवाच्यत्वस्य	
वद्वाचीवित्याह दोषस्यापि गुणत्वम्	३८२	दोषभावः	४०४
कचिदोगुणाभावः	३८४	विस्तरमसञ्चारिणवादीनां	
अप्रयुक्तनिवृत्तार्थत्वयोरदोक्तम्	३८५	वाच्यत्वयोर्भुगत्वम्	४०५
अभीष्टत्वस्य गुणत्वम्	३८६	विस्तरस्योत्प्रेक्ष्य विवेचनप्रकारः	४०७
सन्दिग्धत्वस्य गुणत्वम्	३८८	अष्टमोऽङ्कासे [ गुणा ]	
अप्रतीतत्वस्य गुणत्वम्	३८९	गुणत्वस्य	४१४
ग्राम्यत्वस्य गुणत्वम्	३९१	अलङ्कारत्वस्य	४१६
स्वमपदत्वस्य गुणत्वम्	३९२	गुणानां येषां	४१९
अधिकपदत्वस्य गुणत्वम्	३९२	मातुर्वर्ण्यस्य	४२०
कथितपदत्वस्य गुणत्वम्	३९३	कलमदी मातुर्वर्दीनामाधिक्यम्	४२१
पततप्रकर्षत्वस्य गुणत्वम्	३९४	ओजोत्पन्नस्य	४२२
समाप्तपुनरास्तत्वस्य गुणत्वस्याभावः	३९५	रौद्रवीर्यस्योरोज्य आधिक्यम्	४२३
अपदस्य समाप्तत्वस्य गुणत्वम्	३९६	प्रसादत्वस्य	४२४
गमितत्वस्य गुणत्वम्	३९७	गुणानां वाच्यार्थयोः स्थितिकथनम्	४२५
रसवशागमुद्देशः	३९८	एवमेव गतावयता प्रदीपौक्यसाम्यगुण-	
[ रसदोष ]		विराकरणम्	४२६
अविचारिण स्वपदवाच्यत्वम्	३९९	अर्थादीनां गुणत्वप्रकृता	४२९
रसस्य स्वपदवाच्यत्वम्	४००	गुणानां व्यञ्जनम्	४३०
स्थापित स्वपदवाच्यत्वम्	४०१	मातुर्वर्ण्यप्रकर्षार्थः	४३१
अनुभासस्य कटिफलपदा	४०२	ओजोत्पन्नप्रकर्षार्थः	४३२
विभावस्य कटिफलपदा	४०३	प्रसादत्वप्रकर्षविस्तरम्	४३३
मतिवृद्धविभावादिप्रह	४०४	कचिदुपायवित्याद्यवनादीनां	४३४
पुनर्दीप्ति	४०५	मन्यतास्य	४३५
अकार्ये प्रथमम्	४०६	नवमोऽङ्कासे [ शब्दालङ्कार ]	
अकार्ये द्वे	४०७	अर्थोक्तिमत्त्वम्	४३६
अङ्गव्यातिविलम्बः	४०८	अनुप्रासः	४३७
अङ्गिनोऽननुसन्धानम्	४०९	अनुप्रासपेदा	४३८
प्रकृतिविर्यम्	४१०	छेकानुप्रासः	४३९
अव्यक्तवाचिधाम्	४११	कृत्यनुप्रासः	४४०



विषय	पत्राङ्का	विषय	पत्राङ्का
उपनागरिका	४३०	धर्मोपमानुसारेण	४९१
पद्या	४३१	वाचस्पतिमेलुसोपमा	४९२
कोमला	४३२	त्रिलोपमा	४९३
एतासां वृत्तीनां नामान्तराणि	४३३	उपमोपमा	४९४
छादानुप्रासलक्षणम्	४३४	भवनव्यय	४९५
भनेकपदगतछादानुप्रास	४३५	उपमोपमा	४९६
एकपदगतछादानुप्रास	४३६	उपमोपमा	४९७
सामान्यतम्य प्रकारप्रवरनिरूपणम्	४३७	( टी० ) १. १. १	४९८
छादानुप्रासोपसंहार	४३८	रूपम्	४९९
यमकलक्षणम्	४३९	समस्तदन्तुविषयलक्षणम्	५००
यमकस्य भेदा	४४०	एकदेशविधिति रूपम्	५०१
श्लेषस्वरूपं तद्वैदात्र	४४१	सादृश्यरूपम्	५०२
भमकुरलेशनिरूपणम्	४४२	निरूपणम्	५०३
श्लेषविचार	४४३	मान्यरूपम्	५०४
चित्रालङ्कारलक्षणम्	४४४	परम्परितरूपम् तद्वैदात्र	५०५
पुनरुक्तवदाभास	४४५	अपहृति	५०६
शब्दगतपुनरुक्तवदाभास	४४६	अर्थलेश	५०७
शब्दार्थगतपुनरुक्तवदाभास	४४७	समासोक्ति	५०८
दशमोऽङ्कात् [अर्थालङ्कारा]		निर्दिष्टता	५०९
उपमा	४४८	निर्दिष्टान्तरम्	५१०
पूर्णोपमा	४४९	अप्रस्तुतप्रसङ्गा	५११
लुप्तोपमा	४५०	अप्रस्तुतप्रसङ्गाभेदा	५१२
श्रीतो उपमा	४५१	अतिशयोक्ति	५१३
आर्षो उपमा	४५२	प्रतिबन्धोपमा	५१४
श्रीत्यर्थोविचार	४५३	दृष्टान्त	५१५
धर्मलुप्तोपमाभेदनिरूपणम्	४५४	लोपम्	५१६
उपमानुप्रासलक्षणम् तद्वैदात्र	४५५	मालादीपम्	५१७
वादिगुप्तोपमा तद्वैदात्र	४५६	तुल्यव्योम्बिता	५१८
धर्मवादिगुप्तोपमाभेदनिरूपणम्	४५७	व्यतिरेक	५१९

काव्यप्रकाशग्रन्थे प्रतिपादितायां विषयानाम् उल्लासानुसारिणी सूची

विषय	पद्याङ्का	विषय	पद्याङ्का
व्यतिरेकभेदा	५३१	अधिकम्	५८६
आशेष	५३६	प्रत्यनीकम्	५८८
विभावना	५३७	मोक्षितम्	५८९
विशेषोक्ति	५३८	एकान्तो	५९०
वयासल्यम्	५४०	स्मृत्यम्	५९१
मार्थान्तरन्यास	५४१	अभिहितमान्	५९३
विरोध	५४२	प्रतीपम्	५९५
विरोधभेदा	५४३	सामान्यम्	५९८
स्वभाषोक्ति	५४७	विशेष	५९९
व्यावृत्त्युति	५४८	तदुगुग	६०२
होनि	५५०	अस्तुगुग	६०३
विमोक्ति	५५१	व्यावृत्त	६०५
परिहृति	५५२	सृष्टि	६०६
भाषिकम्	५५३	यद्भाषिकमस्तद्वार	६०७
काव्यलिङ्गम्	५५४	सन्देशस्तद्वार	६१२
पर्यायोक्तम्	५५६	द्वितीयं तद्वार	६१६
उपलब्धम्	५५८	सङ्करोपमद्वार	६१७
द्वितीयमुदाहरणम्	५५९	भङ्गद्वारोपायानुसङ्गोपायान्तर्भाव	६१९
समुच्चय	५६०	अनुपासदोषस्यानुसङ्गोपायान्तर्भाव	६२१
अनुपासितं समुच्चय	५६२	यमकदोषस्यानुसङ्गोपायान्तर्भाव	६२२
पर्याय	५६३	उपमादोषाणामनुचितार्थत्वेऽन्तर्भाव	६२३
अनुपासितं पर्याय	५६४	उपमायां कथित्वादिभेदेऽप्यनुसङ्गता	६२६
अनुपासितम्	५६५	उपमायां काव्यदिभेदेऽप्यनुसङ्गता	६२७
परिहर	५६६	तायांमन्तर्भाव	६२८
व्यावृत्ति	५६७	उपमायां असाहचर्येऽनुचितार्थ-	६२९
परिस्फुट	५६८	तायांमन्तर्भाव	६३०
कारणमात्र	५६९	उपमायां दोषस्यानुसङ्गोपायान्तर्भाव	६३१
अनुपासितम्	५७०	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३२
उत्तरम्	५७१	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३३
सुखम्	५७२	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३४
मात्र	५७३	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३५
असङ्गति	५७४	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३६
समाधि	५७५	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३७
समम्	५७६	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३८
विषय	५७७	अनुपासितोपायान्तर्भावस्यानुसङ्गता	६३९

विषयभेदानुसंधानं अन्यमध्ये कृतविभाषानामगृहीतस्वरूपाणां  
काव्यप्रकाशीयकारिकाणां स्वरूपम्

[ प्रथम उद्घाटन ]

नियतिकृतनियमरहितां ह्यर्द्धकमयोमनन्यपरतन्त्रात् ।

नगरसरदधिरां निर्मितविमादधती भारती कवेर्जगति ॥ १ ॥

काव्यं यशसेऽर्घ्यकृते व्यवहारमिदं शिक्षितस्ततये ।

सद्य परनिर्दूतये कान्तासम्मिलनयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

शक्तिविपुलता लोकाजान्मकाव्यायवेत्तनात् ।

काव्यशक्तिरयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुच्यते ॥ ३ ॥

\* (१) तददापौ शम्भार्यौ सगुणावनलङ्कृती पुनः कापि ।

(२) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्गेच वाच्यारविर्बुधैः कथितं ॥ ४ ॥

(३) भतादजि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्गेच तु मध्यमम् ।

(४) शब्दचित्तं वाच्यचित्तमव्यङ्ग्यं त्वत्वर स्मृतम् ॥ ५ ॥

[ द्वितीय उद्घाटन ]

(५) स्यादु वाचको व्याख्यानिकः शम्भोऽत्र व्यङ्ग्यकस्मिन् ।

(६) वाच्यव्यङ्ग्यस्तद्व्याख्या (७) स्ताव्यार्थयोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

(८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थाणां व्यङ्ग्यत्वमप्युच्यते ।

(९) साक्षात् सद्बुद्धितो योऽर्धमभिपद्यते स वाचकः ॥ ७ ॥

(१०) सद्बुद्धितत्त्वतुर्मेव जातयादिर्जातिरेव वा ।

(११) स मुख्योऽर्धस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोष्यते ॥ ८ ॥

(१२) मुख्यार्थवाच्ये तदुच्यते रुद्धितोऽयं प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्ष्यारोपिता क्रिया ॥ ९ ॥

(१३) स्वसिद्धये परत्वेण परार्थो स्वसमर्पणम् ।

उपादानं लक्षणञ्चेत्युक्तं मुद्देव सा त्रिधा ॥ १० ॥

- (१४) स्वरतोषाऽन्या तु यत्नोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।  
 (१५) विषयान्त-रुतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ ११ ॥  
 (१६) भेदविमौ च सादृष्यात् समन्वान्तरतस्तथा ।  
 गौर्णौ शुद्धौ च विष्टेयौ (१७) लक्षणा तेन बद्धिधा ॥ १२ ॥  
 (१८) न्यङ्गेऽन रहिता रुदौ सहिता तु प्रयोजने ।  
 (१९) तद्य गूढमगूढं वा (२०) तदेव कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥  
 (२१) तदुभयलक्षणिक (२२) स्तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।  
 (२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥  
 फले ज्ञानैक्यम्येऽत एवज्ञावापरा त्रिधा ।  
 (२४) नाभिधा समयामाधातु (२५) हेत्वमायात्र लक्षणा ॥ १५ ॥  
 (२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।  
 न प्रयोजनमेतस्मिन् न च जगद् स्तल्लुपति ॥ १६ ॥  
 (२७) धयमप्यनवस्था स्याद् वा मूललक्षितकारिणी ।  
 (२८) प्रयोजनेन सहित लक्षणीय न युज्यते ॥ १७ ॥  
 (२९) कानस्य विषयो हान्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।  
 (३०) विशिष्टे लक्षणा नैवं (३१) विरोधां सुस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥  
 (३२) धनेकार्यस्य शब्दस्य बाधकत्वे नियन्तते ।  
 संयोगादौ रवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥  
 (३३) तदुपेक्षो व्यञ्जक शब्दो (३४) यत् सोऽर्थान्तरवृक् तथा ।  
 अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सङ्कारितया मतः ॥ २० ॥

[ तृतीय ब्रह्म ]

- (३५) अर्थो मोक्षां पुरा तेषाम् (३६) अर्थव्यञ्जकतोऽप्यते ।  
 (३७) यत्कृत्वा द्वयकाकूनां वाक्यवाक्याम्यस्तत्रिधौ ॥ २१ ॥  
 प्रस्तावदेशकालादेर्वैमिश्रित्यात् प्रतिभाशुण्डम् ।  
 योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुव्यापारो अकिरेव सा ॥ २२ ॥  
 (३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यञ्जकयर्थान्तरं यत् ।  
 अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्च शब्दस्य सङ्कारिता ॥ २३ ॥

[ चतुर्थ ब्रह्म ]

- (३९) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्य भवेत् ध्वनौ ।  
 अर्थान्तरे संनमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

- (४०) विरतिर्न वान्यपरं वाच्य यत्तापस्तु न ।  
 (४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमवद्भूता लक्ष्यवद्भवत् पर ॥ २४ ॥  
 (४२) रसमावतदाभासमावशान्त्याविरक्तम् ।  
 मित्रा रसाघलद्वारात्लङ्घ्यतया स्थित ॥ २६ ॥  
 (४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।  
 रत्यादे रथायिना लोके तानि चेष्टाद्वयकाव्ययो ॥ २७ ॥  
 विमात्रा अनुभागास्तन् वक्ष्यन्ते व्यभिचारिण ।  
 श्वक ॥ तैरिमावाद्यै र्थायै भावा रस स्मृत ॥ २८ ॥  
 (४४) शृङ्गारहास्यक्रूररौद्रयीरमयानका ।  
 बीमदृमाद्भुतमहौ चेत्यष्टौ नाट्ये रमा स्मृता ॥ २९ ॥  
 (४५) रतिर्हस्तश्च शोकश्च वाधा माहौ भय तथा ।  
 भुगुप्सा विस्मयश्चेति रथायिमात्रा प्रकीर्तिता ॥ ३० ॥  
 (४६) निर्बेदस्यानिगङ्गास्यास्तथाऽसूयामदधमा ।  
 भालश्च धैर्य दैव्यश्च चिन्ता माह स्मृतिर्धृति ॥ ३१ ॥  
 शीघ्रा चपलता हर्ष आवेगा जडता तथा ।  
 गर्वो विवाद औत्सुक्य निद्राऽप्यन्तार एव च ॥ ३२ ॥  
 सुप्त विबाधोऽमर्षश्चाप्यवहित्यमयोपता ।  
 मतिर्व्याधिरतयो मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३३ ॥  
 दासश्चैव पितृकश्च रिक्ता ध्यभिचारिण ।  
 प्रयत्निनादमी भावा समाख्यातास्तु नामत ॥ ३४ ॥  
 (४७) निर्बेदस्यापिमात्राऽस्ति शान्ताऽपि नवमो रस ।  
 (४८) रतिर्देवानिविदया व्यभिचारी तथाऽञ्जित ॥ ३५ ॥  
 भाव शोक (४६) स्तदाभासा अनौचित्यप्रदर्शिता ।  
 (४९) भावस्य शान्तिरुद्य सन्धि सबलता तथा ॥ ३६ ॥  
 (५०) मुञ्च्ये रसेऽपि तेऽङ्गिष्ठं प्राप्नुयन्ति कदाचन ।  
 (५१) अनुस्वानामसलक्ष्यनम्यद्गुञ्जिनिस्तु य ॥ ३७ ॥  
 शब्दार्थोभयशक्तयुत्थमित्रया स कथिता ध्वनि ।  
 (५२) अलङ्कारोऽथ वस्त्रेण शब्दम्बु यशानमासते ॥ ३८ ॥  
 प्रधानत्वेन स शेष शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।  
 (५३) मर्षराज्युद्भवोऽप्यर्था व्यञ्जक समवी स्वत ॥ ३९ ॥

प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा कवेस्तेनोभितस्य वा ।  
 वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति वदभेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥  
 वस्तुचलद्गुणमय वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

- (४५) शब्दार्थोभययूरेको (४६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ ४१ ॥  
 (४७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।  
 (४८) वाक्ये हुञ्चत्वा (४९) पदेऽप्यन्ये (६०) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥  
 (६१) पदेकदेश रचना वर्णेष्वपि रसादयः ।  
 (६२) भेदास्तदैकपञ्चाशत् (६३) तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥  
 सङ्करेण त्रिरूपेण ससृष्ट्या नैकरूपया ।  
 (६४) वेदलाघिधिविश्वन्द्रा (६५) शरेषुयुगलेन्द्व ॥ ४४ ॥

[ पञ्चम ब्रह्मस ]

- (६६) भगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम् ।  
 सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये कबजसिन्धुमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥  
 यङ्गमेव गुणीभूतस्यङ्गस्यैवैव मित्राः स्मृताः ।  
 (६७) एषां भेदा षण्णयोग वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥  
 (६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्नीध्र योग सवृष्टिसङ्करैः ।  
 (६९) अन्योन्ययोगादेव स्याद्भेदसख्याऽतिभूयसी ॥ ४७ ॥

[ षष्ठ ब्रह्मस ]

- (७०) शब्दार्थचित्र यत् पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।  
 गुणप्राधम्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥ ४८ ॥

[ सप्तम ब्रह्मस ]

- (७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाभयाद्वाच्यः ।  
 उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ ४९ ॥  
 (७२) दुष्ट पद ध्रुतिकट्टु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।  
 निहतार्थमनुचितायै निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽस्तीलम् ॥ ५० ॥  
 सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ शक्नेत् क्षिप्रम् ।  
 भविमृष्टविधेषांश्च विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥ ५१ ॥  
 (७३) भगवत् च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।  
 वाक्येष्वपि दोषाः सन्त्येते पदस्यंशेऽपि केचन ॥ ५२ ॥

- (७४) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धिं हतवृत्तम् ।  
न्यूनाधिककथितपदं पतन्प्रकारं समाप्तपुनरात्मम् ॥ ५३ ॥  
अध्रान्तरैकवाचकममव्यक्तयोगमवगमिहितशक्यम् ।  
अपदस्थपदसमाप्त सक्रोधं गर्भितं प्रसिद्धिधुतम् ॥ ५४ ॥  
भद्रप्रकममकमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।
- (७५) अर्थोऽपुष्ट कथो व्याहतपुनरुक्तदुष्प्रमग्राभ्या ॥ ५५ ॥  
सन्निधो निर्हेतु प्रसिद्धिविधायिरुत्तम ।  
अनबोद्धत सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ता ॥ ५६ ॥  
साकाङ्क्षोऽपदयुक्त सहचरभिन्न प्रकाशितविरुद्ध ।  
विषयनुवादायुक्तस्त्यक्तपुन स्वीकृतोऽस्वीकृत ॥ ५७ ॥
- (७६) कर्णावतसादिपदे कर्णादिपदनिर्मिति ।  
सन्निधोऽदिवाधार्थं (७७) स्थितेऽप्येतत् समर्थम् ॥ ५८ ॥
- (७७) रुशतेऽयं विहेतोऽरुदुष्टत्वं (७८) अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।
- (७८) अकृष्यौचित्यवगादौषोऽपि गुण कचिन् कचिन्नामौ ॥ ५९ ॥
- (७९) अभिवारि रस स्थायिभावानां शब्दव्यवस्था ।  
कलकल्पना व्यक्तिरनुभाव दिमात्रयो ॥ ६० ॥  
प्रतिकूलविभावान्निग्रहं वीति पुन पुन ।  
अकापदे प्रधानद्वेदाशङ्कस्थान्तिविस्तृति ॥ ६१ ॥  
भङ्गिनोऽनुसन्धानं प्रहानां विपर्यय ।  
अनङ्गस्याभिधानं च रसे वीति स्युरीक्षा ॥ ६२ ॥
- (८०) न द्वाय स्वपदेबोकावपि सवारिण कचिन् ।
- (८१) सञ्चारिर्विरुद्धश्च बाधस्योक्तिर्मुण्डावहा ॥ ६३ ॥
- (८२) भाग्यदेनये विरुद्धा य स कार्यो भिन्नसंभ्रम ।  
रमान्तरेणान्तरिता मैरन्तर्येण यो रस ॥ ६४ ॥
- (८३) समर्थमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाय विवक्षित ।  
भङ्गिन्यङ्गत्वमात्रौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ ६५ ॥

[ अष्टम उद्योग ]

- (८६) ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवाऽऽत्मन ।  
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ॥ ६६ ॥

- (८७) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जानुचित् ।  
हाराद्विवलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥
- (८८) माधुर्योऽप्रसादाख्याल्लयस्ते न पुनर्द्वय ।  
(८९) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ ६८ ॥
- (९०) करुणे विप्रलम्भे तच्छ्रान्ते चातिशयान्वितम् ।  
(९१) दोषयात्मविस्तृतेर्हेनुरोजो वीररसस्मिति ॥ ६९ ॥
- (९२) बोधत्सरौधरसयोस्तस्याऽऽधिक्यं क्रमेण च ।  
(९३) शुष्केन्धनाद्रिवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ॥ ७० ॥
- व्यामोत्यन्यन् प्रसादोऽसौ सर्वत्र बिहितस्थिति ।  
(९४) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥
- (९५) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परं धिताः ।  
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुलविभ्र ततो वश ॥ ७२ ॥
- (९६) तेन नार्थगुणा वाच्याः (९७) प्रोक्ता शब्दगुणाश्च ये ।  
वर्णाः समासो रचना तेषां न्यञ्जन्तामिताः ॥ ७३ ॥
- (९८) मूर्ध्नि वर्णान्त्यगाः स्पर्शा मन्धर्वा रणौ लघू ।  
मूर्ध्निर्मध्यवृत्तिर्मा माधुर्यं घटना तथा ॥ ७४ ॥
- (९९) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययो ।  
टादि गस्तौ वृत्तिर्द्वयं गुम्फ उदत्त ओजसि ॥ ७५ ॥
- (१००) ध्रुतिमात्रेण शब्दास्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।  
साधारण समप्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥
- (१०१) वक्तृवाक्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।  
रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

[ नवम ब्रह्मसं. ]

- (१०२) धदुक्तमन्यथाधाक्ममन्यथाऽन्येन योज्यते ।  
श्लेघ्रेण काका वा शेषा सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ७८ ॥
- (१०३) वर्णसाम्यमनुप्रासः (१०४) श्लेकवृत्तिगतो द्विधा ।  
(१०५) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वं (१०६) वक्रस्याप्यसकृत् परः ॥ ७९ ॥
- (१०७) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैर्यनागरिकोच्यते ।  
(१०८) ओजप्रकाशकैस्तैस्तु वक्ष्या (१०९) कोमला परैः ॥ ८० ॥



- (११०) केषाञ्चिदेता वैदर्भाप्रमुखा रीतयो मता ।  
 (१११) शब्दस्तु लाघानुपासा भेदे तात्पर्यमावृत ॥ ८२ ॥  
 (११२) पदानां स (११३) पदस्यापि (११४) वृत्ताग्रन्यत्र तत्र वा ।  
 नाह स वृत्तवृत्त्याश्च (११५) तदेव पञ्चधा मत ॥ ८२ ॥  
 (११६) अर्थे सत्यर्थमिन्नाता वर्णानां सा पुन श्रुति ।  
 यमक (११७) पादतद्भागवृत्ति तदु यात्यनेकताम् ॥ ८३ ॥  
 (११८) वाच्यभेदेन विन्ना यद् युगपद्वाप्यनस्पृश ।  
 विरूपयन्ति शब्दा स्लेषाऽसाजस्तदादिभिरप्या ॥ ८४ ॥  
 (११९) भेदभावात् प्रवृत्त्यादेर्भेदाऽपि नयमो भवेत् ।  
 (१२०) तद्विन्नं यत्र वर्णानां खड्गाद्याहतिहेतुता ॥ ८५ ॥  
 (१२१) पुनरुक्तवदाभासा विविक्ताकारशब्दा ।  
 वक्तव्यतेज (१२२) शब्दस्य (१२३) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ८६ ॥

[ इदम गच्छाम ]

- (१२४) साधर्म्यमुपमा भेदे (१२५) पूर्णां लुप्ता च (१२६) साऽग्रिमा ।  
 धौत्यार्था च भवेद्वाक्ये समासे तद्विते तथा ॥ ८७ ॥  
 (१२७) तद्वद्वर्मस्य लापे स्यान्न धौती तद्विते पुन ।  
 (१२८) उपमानानुपादाने वाक्यगोऽथ समामगा ॥ ८८ ॥  
 (१२९) वादेलोपि समामे सा कर्माधारक्यवि क्यदि ।  
 कर्मकस्योर्णमुल्लेख (१३०) द्विलोपे किम्समासगा ॥ ८९ ॥  
 (१३१) धर्मोपमानयोर्लोपि युक्तौ वाक्ये च दृश्यते ।  
 (१३२) क्यधि वायुपमेयासे (१३३) त्रिलापे च समासगा ॥ ९० ॥  
 (१३४) उपमानोपमेयत्वे एकस्वैकवाक्यगे ।  
 भग्नवयो (१३५) विपर्यास उपमेयोपमा तयो ॥ ९१ ॥  
 (१३६) सम्भावनमथानुप्रेता प्रवृत्तस्य समेन यत् ।  
 (१३७) समन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च सशय ॥ ९२ ॥  
 (१३८) तद्वृत्तकमभेदो य उपमानोपमेयया ।  
 (१३९) समस्तप्रस्तुविषय धौता आरोपिता यदा ॥ ९३ ॥  
 (१४०) धौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नो कदेशविरिति तत् ।  
 (१४१) साङ्गमेतद् (१४२) निरङ्गं तु शुद्ध (१४३) भाव्य तु पूर्ववत् ॥ ९४ ॥

- (१४४) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।  
तत् परम्परितं त्रिष्टुप् वाचके मेदमाजि वा ॥ ६५ ॥
- (१४५) प्रकृतं यन्निविध्यान्यन् साध्यने सा त्वपहुति ।
- (१४६) श्लेषः स वाक्य एकस्मिन् यत्नानेकार्यता भवेत् ॥ ६६ ॥
- (१४७) परोक्तिर्मेदके त्रिष्टुप् समासोक्तिः (१४८) निर्दर्शना ।  
अभयन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ६७ ॥
- (१४८) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रियैव च साऽपरा ।
- (१४९) अपस्तुतप्रशसा या सा सैव प्रस्तुताभया ॥ ६८ ॥
- (१५०) कार्यं निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।  
तदन्यस्य वचस्तुत्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ ६९ ॥
- (१५१) निगौर्याध्ययसानं तु प्रकृतस्य परंण यत् ।  
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ १०० ॥  
कार्यकारणयोर्गोच्यं पौर्वापर्यविपर्ययः ।  
विधेयाऽतिगयोक्तिः सा (१५३) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १०१ ॥  
सामान्यस्य द्विकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।
- (१५४) द्वाष्टान्तं पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥ १०२ ॥
- (१५५) सङ्गदुष्टसिन्धु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।  
सैव क्रियासु बह्विधे कारकस्येति क्षीपकम् ॥ १०३ ॥
- (१५६) मालाक्षीपकमार्तं चेद् ययोत्तरगुणावहम् ।
- (१५७) नियतानां सङ्गधर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ १०४ ॥
- (१५८) उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव स ।
- (१५९) हेत्वाद्यत्वाद्यनुत्तरीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥ १०५ ॥  
शब्दार्थान्वयमथाऽऽक्षिप्ते श्लेषे तद्वत् विरष्टं तत् ।
- (१६०) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषमभिधत्तया ॥ १०६ ॥  
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।
- (१६१) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ १०७ ॥
- (१६२) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।
- (१६३) यथासख्यं क्रमैर्नैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ १०८ ॥
- (१६४) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।  
यत्तु सोऽर्धान्तरन्यासः साधर्म्येनेतरेण वा ॥ १०९ ॥

- (१६५) विरोधोऽपि विरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वत् ।  
 (१६६) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्यादु गुणस्त्रिभिः ॥ ११० ॥  
 क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्य द्वयेणैवेति ते दश ।  
 (१६७) स्वभावोक्तिस्तु डिग्भादेः स्यक्रियारूपवर्णनम् ॥ १११ ॥  
 (१६८) व्याजस्तुतिर्मुक्ते निन्दास्तुतिर्वा रुदिरन्यथा ।  
 (१६९) सा सहाति सहार्थस्य बलादेक द्विवाचकम् ॥ ११२ ॥  
 (१७०) रिनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्नान्य मग्न नेतर ।  
 (१७१) परिवृत्तिर्निमित्ता याऽर्था ना स्यात् समासम् ॥ ११३ ॥  
 (१७२) प्रत्यक्षा इव यद् भावा क्रियन्ते भूतमाविन ।  
 तद् भाविक (१७३) कायलिङ्ग हेमोर्गान्पदार्थता ॥ ११४ ॥  
 (१७४) पर्वायात रिना वाच्यवाचकत्वेन यद् वच ।  
 (१७५) उदात्त वस्तुन मग्नत्वं (१७६) महतां चापलक्षनम् ॥ ११५ ॥  
 (१७७) तन्वृत्तिविहतावकस्मिन् यन्नाम्यन् तत्कर भवेत् ।  
 समुच्चयाऽसौ (१७८) न व्यन्यो युगपद् वा गुणक्रिया ॥ ११६ ॥  
 (१७९) एक क्रमेणैकस्मिन् पर्वाया (१८०) अन्यस्तदाऽन्यथा ।  
 (१८१) अनुमान सदुक्त यन् साध्यसाधनवार्थं ॥ ११७ ॥  
 (१८२) विशेषणैर्यन् साकृतेति परिकरस्तु म ।  
 (१८३) व्याजातिश्चद्वयनाद्विभक्त्यस्तुरूपनिगूढनम् ॥ ११८ ॥  
 (१८४) किञ्चित् पृष्ठमपृष्ठ वा कश्चित् यन् प्रकाशत ।  
 सादृश्यव्यपाहाय परिसम्या तु सा स्मृता ॥ ११९ ॥  
 (१८५) यथोत्तर चेत् पूर्यस्य पूर्यस्यापस्य हेतुता ।  
 तदा काव्यमाला स्यात् (१८६) क्रियया तु परस्परम् ॥ १२० ॥  
 वस्तुनोर्जननेऽन्यान्वयम् (१८७) उत्तरश्रुतिमात्रतः ।  
 प्रश्नस्योत्तरयन यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥ १२१ ॥  
 भग्नकुट्टं यदभग्नमायमुत्तर स्यात्तदुत्तरम् ।  
 (१८८) कुतोऽपि लक्षितं सप्तमाऽन्यथोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥ १२२ ॥  
 धर्मेण केनचिद् यत्र तन् सूक्ष्म परिचक्षणम् ।  
 (१८९) उत्तरात्तरमुन्मुखं भवेत् नार परावधि ॥ १२३ ॥  
 (१९०) भिन्नदेशतयाऽत्यन्त कार्यकारणभूतयोः ।  
 युगपद् धर्मयार्थं स्याति सा स्यादभङ्गति ॥ १२४ ॥  
 (१९१) समाधि सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।  
 (१९२) सम योग्यतया योगो यदि सम्भावित क्वचित् ॥ १२५ ॥

- (१६३) कचिदु यदतिविधर्म्याश्च श्लेथो घटनामियात् ।  
कर्तुं क्रियाफलादाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥ १२६ ॥  
गुणक्रियाभ्यां कार्गस्य कारणस्य गुणक्रिये ।  
क्रमेण च विद्वदे यत् स एष त्रिपमो मत ॥ १२७ ॥
- (१६४) महतोर्थन्महोयांसावाश्रिताश्रययो क्रमात् ।  
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तम् ॥ १२८ ॥
- (१६५) प्रतिपत्तमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।  
या तदीयस्य नन्स्तुयै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ १२९ ॥
- (१६६) समेन लक्षणा वस्तु वस्तुना यन्निगृह्यते ।  
निजेनाऽऽगन्तुना वाऽपि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ १३० ॥
- (१६७) स्याप्यतेऽप्योद्यते वाऽपि यथापुत्रं पर परम् ।  
विशेषणतया यत्त वस्तु सैकावली द्विधा ॥ १३१ ॥
- (१६८) यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तन्महद्वे स्मृति ।  
स्मरणं (१६९) भ्रान्तिमानन्यसंविन् तत्तत्पदार्थने ॥ १३२ ॥
- (१७०) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।  
तन्मैव यदि धा कल्प्या तिरस्कारमिच्छन्म ॥ १३३ ॥
- (१७१) प्रस्तुतस्य यदन्त्येन गुणसाध्यनिवृत्तया ।  
मेकात्म्यं कथने योगात् तत् सामान्यमिति स्मृतम् ॥ १३४ ॥
- (१७२) विना प्रसिद्धमाधारमाशेषस्य व्यवस्थिति ।  
एकारमा युगपद्वृत्तिरेकस्थानेकगोचरा ॥ १३५ ॥  
अन्यत् प्रकुर्यत कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुन ।  
तथैव करणं चेति विशेषनिविध स्मृत ॥ १३६ ॥
- (१७३) समुत्पद्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।  
यस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स ॥ तद्गुण ॥ १३७ ॥
- (१७४) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य सत् स्यादतद्गुण ।
- (१७५) यद् यथा साधित केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ १३८ ॥  
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृत ।
- (१७६) सैवा ससृष्टिरेतेषा भेदेन यद्विह स्थिति ॥ १३९ ॥
- (१७७) अविभ्रान्तिषुपामात्मन्यद्वाङ्मिद्वत्वं तु सङ्कर ।
- (१७८) एकस्य च प्रदे न्यायदोषाभावादुनिश्चय ॥ १४० ॥
- (१७९) स्फुटमेकत त्रिषये शब्दार्थालकृतिद्वयम् ।  
व्यवस्थितं च (१८०) तेनासौ त्रिरूप परिकीर्तित ॥ १४१ ॥
- (१८१) एषां दोषा यथायोग सम्भवन्तोऽपि केचन ।  
उक्तेष्वन्तर्मवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता ॥ १४२ ॥

ॐ नम. शिवाय

## काव्यप्रकाशः

प्रथम उल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविधाताय 'समुचितामिष्टदेवतां सन्धकृत्  
परामृशति—

महेश्वरन्वायात्कारमशचाप्यंशुतादद्याल्यटीका

मुलैश्चतुर्भिः स्तुयते विघ्नान्ते स्तौते मृतीनाञ्च चतुष्टयाय ।

भुजैश्चतुर्भिश्चतुरोऽर्घ्यवर्गान् नमो वृद्धमाय चतुर्भुजाय ॥ १ ॥ (A)

दुर्व्याख्याजमित्थमोदशमनी वैषम्यविश्वसिनी

वैशद्यवृत्तिपेक्षनी रस्मिनी कान्तार्तालोदघाटिनी ।

टीका विज्ञजनप्रमोदजननी भावार्थचिन्तामणी

भट्टाचार्य्यमहेश्वरेण रचिता काव्यप्रकाशोपरि ॥ २ ॥ (B)

काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने ।

'अस्त्वायमानापि भ्रामन्तु टीका माधुर्य्यधुर्य्यैकसुधापरीक्षा ॥ ३ ॥ (C)

(A) मुनैरिति । अत्र विकीर्तितग्रन्थस्य काव्यदोषादिरूपणपरतया कविसम्प्रदायाकुली-  
भावनाशङ्क्य प्रथममादिक्वेवं ह्यनस्तत्त शब्दात्मकमप्य तद्विधानभूतया भुमिदेव्यास्तत्तत्र  
सान्ध्यामपि स्तुयमानस्य सकलपुरुषार्थदर्शुर्गातायणस्य भवेत्कार । भवेत्कारबाहुक्यमपि  
सति विघ्नबाहुक्ये तद्विघ्नान्ते बहुबहुलावरणसाध्य इति निष्पत्तिरुपपत्तिः । 'स्तौते' इति  
चतुर्भुजाय वदं स्तोत्रशब्दस्य भाविर्भुम्कतया लिङ्गम् । महेश्वरं चतुर्भिः कृतो नारायणस्त्वय-  
धीमदमगवतादौ प्रसिद्धः ।

(B) खनीमणीशब्दौ स्त्रियामीकतौ कोटप्रसिद्धौ ।

(C). वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने मय टीका अमुतायमानाऽपि  
माधुर्य्यधुर्य्यैकसुधापरीक्षा अस्मिन्पुण्येव । अत्र शोभनवर्णनाम्निर्दे काव्यप्रकाशकाञ्चनयो

1 'चतुर्भिः' इति मुद्रितपत्रकपाठः । 2. 'काञ्चने' ख । 3. 'वाचाय' ख ।

दोषो विचारसुलभो यदि दूष्यतां तद्  
 दूष्ये न तत शृणुनैकमिदन्तु धीराः ।  
 ग्रन्थान्यथार्थमतिसंस्कृतमानसत्वाद् (A)  
 व्याख्या मम प्रथममेव न दूषणीया ॥ ४ ॥

सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने 'शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितु-  
 मग्निपुराणादिभ्य उद्धृत्य काव्यरसास्यावकारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभि संक्षिप्य  
 भरतमुनि प्रणीतवान् । तदुक्तम्—

स्वादुकाव्यरसोन्मिष्टं शस्त्रमप्युपभुञ्जते ।  
 प्रथमालीढमध्वः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ इति ।

मम्मटमहस्तु तां कारिकां सोदाहरण व्याख्यातुं कारिकाग्रन्थादिभूतां नियतिकृते-  
 रथाधिकारिका<sup>१</sup>मुत्थापयति—ग्रन्थारम्भ इत्यादि । ग्रन्थो महाधाक्यविशेषः, ॥  
 च मङ्गलशाना ग्रन्थेन स्वदाहरणपरिचये । न च विभिन्नदोषगुणालङ्कारबोधकानां  
 विभिन्नधाक्यशानामेकधाक्यत्वाभावात् कथं कारिकासमुच्चयकस्यास्य ग्रन्थस्य महा-  
 धाक्यत्वमिति वाच्यम्, 'तद्दोषौ शब्दायां वि'त्वादिबोधमानकाव्यलक्षणधान्यौ-

साधर्म्यम् । अत्र वर्णपदं लिख्यम् । वैषम्यं दुरुदाहर्तव्यं तदेव शेषः । असंख्यगुह्येनकृतदोषप्र-  
 क्षेपेन भर्षिणां क्षापिनां निष्पापिवाञ्छा कालिका काव्यं कलङ्कमिति यावत्, अत्रति प्राप्नोतीति साक्ष्ये ।  
 शल्प्यवानोमानार्थकतायामभिवादेन शिजन्ताद् कथातोविषयस्य अर्पितपदस्य शापनार्थत्वम् ।  
 अत्रान् इति शक्यादित्याह । टीकाया अमृत्यमानत्वं भूतिसहित्यमदुष्टत्वमिति यावत् । काञ्चन-  
 पदे—अमृत्यमानत्वममृतत्वम्, अमृतस्य च सुवर्णगोपकत्वं प्रसिद्धम् । अत्र शान्त्वप्रत्यय-  
 'आत्मनेपदमिच्छन्ति फल्गुपदिनां कवि'दिनि न्यायेन 'शीघ्रादिनां कान्ति परिमुप्यते' इतिबहुप-  
 दादनीयं, अतर्भाविजिज्ञासया कर्मणि वाच्यं प्रयोगः । अमुत्पद्येन प्राप्तां दुरात्वात्स्वत्वाद्वा-  
 मपाकरोति—साधुत्वेति । अत्र विज्ञेयविज्ञेयभावव्यत्यासेन सुधापदीत्यस्य घटीसन्निवृत्तत्वं ।  
 तथाच माधुर्यं दुष्यं एका सुधापदी कन्या इति टीकाविज्ञेयम् । एवञ्च मदीयटीकाया माधुर्यं  
 प्रबुल्लस्यमानमेव लभ्यते नान्यत्रेति भावः । कथाश्रुते सुधापदस्य माधुर्यार्थत्वं परम्परासम्बन्धेन ।  
 'अमृत्यमाने'त्यत्र 'आध्यायमाने'नि पाठे अन्यन्वयमानेत्यर्थः । 'कालिकाशब्दे' इत्यत्र 'कालिकाञ्जने'  
 इति पाठे कालिका अञ्जनमित्यर्थः । अस्य आद्यं पादद्वयमिन्द्रवशाच्छन्दस्ता निबद्धम्, अन्तिमं  
 तद्वन्तु इन्द्रवशाच्छन्देति उपजातिनृत्नम् । "अनन्तरोदीरितलभ्यमाजौ पादौ यदीवावुपजाव-  
 यन्ता । इत्यं किलान्याम्बुगि मिश्रितासु घट्मिन् जातिभिर्दमेव नाम ॥" इति तल्लक्षणम् ।

(A) ग्रन्थस्य अन्यत्रार्थमन्वा अवधायार्थज्ञानेन संस्कृतयादितदुष्टसंस्कारं मानसं येषां  
 तद्वाच्यमिति ।

व्यापिताकाङ्क्षैव समस्तद्वयगुणालङ्कारवाचककारिकाणामुत्थापनात् तदाकाङ्क्षा  
पूरणरूपैकप्रयोजनत्वेन समस्तग्रन्थानामेकग्रन्थत्वात् । तदुक्तम्—

“अर्थैक्यदेकं वाच्यं साकाङ्क्षं चङ्छिन्नामे स्यात्” इति । (A)

जै सू. ४६, पा. १, म. २,

तत्र च अर्थैक्यादित्यस्य प्रयोजनैक्यादित्यर्थः । परमानन्दचक्रवर्ती तु ग्रन्थ  
लक्षणग्रन्थदेवाह । यथा—प्रेक्षाग्रन्थदृष्टयेऽभिधीयमानसम्बन्धप्रयोजनकं सन्दर्भो  
ग्रन्थ इति, तत्र ; मत्स्योत्तरस्या दिशीत्यादिकुमारसम्भारकाम्यादिरूपमर्थपुत्रं  
सम्बन्धप्रयोजनपरैकस्याप्यनभिधानादव्याप्तं, तदुपागम्यतायाश्च ग्रन्थस्य विना ग्रन्थस्या  
दुर्व्यवस्थात् । सुखबोधार्थममुकस्य लक्षणवाक्यस्य व्याख्या मया क्रियत इत्युक्ति-  
पुत्रके तद्वत्तणव्याख्यानेऽग्रन्थरूपेऽतिव्याख्यापक्षेऽपि । तस्य परतत्कारिका  
ग्रन्थस्य, “भारम्भे” आद्यरुतिप्राक्कालरूपेऽधिकरणे, समुचिनामिष्टदेवनां  
भारतीम्, ग्रन्थकृत् कारिकाकृत् परामृशतीत्यन्वयः । यदि चारम्भपदस्याद्य-  
रतावेव शक्या तन्महाकालपरत्वे लक्षणापरमऽसन्तापस्तदा भारम्भं भातिनाति पुरणा  
दन्वयः ‘अनुमान इत्यत्र निरूपणीय इति पूरणवत् (B) । तदा च सति सप्तम्येवम्,  
आद्यप्रयत्ने भातिनि सतीत्यर्थः । चक्रवर्ती तु निमित्तसप्तम्यपय, भारम्भनिमित्त  
परामृशतीत्यर्थ इत्याह तत्र ; निमित्तस्येऽदेयतापरामगम्य कले भारम्भं प्रदर्शित  
विप्रविधातरूपकलान्तरप्रदर्शने चकार एव तदा निर्दिष्टं स्यात् ( ) तदनिर्देशाद्य  
तत्र तात्पर्याभावादिनिषयान् । भारम्भस्तामाये व्यभिचाराद्वक्तारणस्य तन्परामश

(A) ‘पक्षार्थप्रतिपादकयोगेऽस्ति कल्पमाज्जीत्वादिवाच्यवाक्यवाच्यतावाचणाय साकाङ्क्षत्वं  
निवश तदुत्थान्वाकाङ्क्षानिवशत्वरूप-समिवत्तनीयाकाङ्क्षायापन्नत्वाद्यतरूपवत्त्वमेव तन्माकाङ्क्ष  
त्वम्, पान्वाच्यवाक्येण विनिर्दिष्टप्रतिपादकत्वं दन्द्वयार्थ इति गणयत । विनाग’ इत्युक्  
पठने विच्छिद्यं पदम् इति चेत्तु ।

(B) तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षग्रन्थताग्रन्थयः शानन्नुमिनिरिति त्वनुमानचित्तामगिपद्व्यव्य  
व्याख्यातावमरे तत्र लक्ष्यग्रन्थरूपप्राप्ताप्याभिरनुमान निरूपणीय इति बोधितानुग्रहम् । तत्र  
भूतग्रन्थस्य तत्रति पदस्य अनुमानपरत्वं निरूपणीये इत्यस्य ॥ वृत्तित्वमिति व्याख्यातम् ‘केचित्तु’  
इत्यादिना गद्याशङ्कोक्तिरिति ।

(C) तथाच वृत्ती चारम्भं विप्रविधातय चेति पागेऽभविष्यदित्यर्थः ।

१ चक्रवर्ती श्रीलाला यः । २ ‘सप्तम्यपयपण्ये सू, सप्तम्यपिवाच्यमर्थः नः ।

३ ‘यन्मन्त्राद्यदिवाच्यं नः ।

स्यारम्भविशेषे कारणताप्रदर्शनस्य प्रवृत्त्यनुपयोगित्वेन तत्प्रदर्शनानुपयोगाच्च<sup>१</sup> ।  
 परामृशनीति विलक्षणरूपेण शाब्दबोधविषयीकरोतीत्यर्थः, ज्ञानार्थकस्य परा-  
 पूर्वमृशधातोस्तात्पर्यवशादीदृग्वहानविशेषपरत्वात् न्यायशास्त्रे व्याप्यवत्ताज्ञान-  
 परत्वयत्(A), तथाच विलक्षणरूपेण तद्विषयकज्ञानप्रयोग(B) एवात्र स्तुतिरूप मङ्गलम् ।  
 तत्फलमाह—विघ्नविघातायेति । यद्यपि निर्निघ्नं समस्त्यतामिति शिष्यानां  
 कामनादर्शनाधिर्विघ्नप्रसमाप्तिरेव मङ्गलफलं सेद्मुचितं तथाऽपि 'मङ्गलं विनाऽपि  
 प्रमत्तानुष्ठितसमाप्तिर्ज्ञानाद्व्यभिचारेण निर्निघ्न-[त्व]विशेषणांज एवास्तौ कामना  
 अहं सुखी स्यामिन्त्यत्र सुखरूपविशेषणाज इत्येततो विघ्नविघातांश एव मङ्गल-  
 फलं ॥ \* समाप्तिस्तु स्वकारणादेवेत्यन्यत्र विस्तरः । चमत्कर्त्तुं तु व्याप्यवत्ताज्ञानरूपो  
 नैवाधिकदृढवद्विद्यमानः परामर्श एवात्र परापूर्वमृशधातोर्त्यः, तथाच—उत्कर्षव्याप्य-  
 निर्निघ्नस्याधानस्य श्लोकार्थत्वेन तद्वत्तया जानातीत्यर्थ इत्याह,—तत्र; श्लोके जय-  
 व्याप्यतायाः भवतिशितत्वात् निर्निमित्तमादधती जयतीति वाक्येन निर्निमित्त्याधानव्याप्यं  
 जयस्य विधेयतया प्रतीत्या आधानवत्तया जानातीति भवद् (तद् ?) व्याख्याने  
 आधानस्य विधेयत्वोक्त्यर्थ्याख्यानव्याख्येययोर्यिसयावाच्च । अन्ये तु नमस्यता-  
 व्याप्योत्कर्षवत्तया परामृशतीत्यर्थः, जयतीत्यनेन नमस्यताव्याप्योत्कर्षबोधनात् ।  
 अत एव “जयत्यर्थेन च भ्रमस्कार आक्षिप्यते” इति वृत्तौ नमस्यतारूपनमस्कारानुमानं

(A) तथाच विघ्नमात्र —‘व्याप्यस्य फलवृत्तिवरी परामर्श उच्यते’ इति ।

(B) शाब्दप्रयोगस्य तद्विषयकत्वमत्र तेन रूपेण वागुदेवताविषयकशाब्दबोधजनकत्व-  
 मिति ध्येयम् ।

१ अत पर च पुनरे—निमित्तसङ्ख्या हि द्विविधीऽयं, स्वकृतार्थोपपत्त्यर्थं कारणत्वकप्र निमित्तत्वनिमित्तं,  
 यथा चर्कसि रौप्येन जन्यमानं प्रकृतार्थं चर्कसि जन्यविशेषस्य कारणता न तु जन्यसामान्यत्वं, चर्कं विनाऽपि  
 तद्गुणोत्पत्तेः । स च प्रकृतो न सञ्भवति नञ्च विनाऽपि उत्पत्त्यभावनकारणत्वान्न प्रति नञ्चस्य निमित्तत्वात्  
 कारणविशेष प्रति निमित्तत्वमर्थं तु प्रकृतगुणोत्पत्तिरेव नञ्मुचितत्वात् । स्वकृतार्थं प्रति चमत्स्य निमित्तत्व-  
 मिवाप्योत्पत्तिः, यथा—उपकृत्यानिवाही नान्योमुत्पत्तिवत्त्वं नमकृतार्थं विनाऽहं प्रति नान्योमुत्पत्तिं कारणत्वम्,  
 स चान्न न सञ्भवति, कारणस्य नञ्कारजनकत्वात् । यदि च कारणव्येतिह चतुर्थेन समनोदुत्पत्तिं तथाऽपि  
 कारणे विघ्नविघातायेति चकाराभ्युपगम्य वक्तुं स्यात् तद्गुणैर्मित्याद्यां विस्तरः ? इत्यधिकं वा ।

२ मङ्गलं ‘नमः सुखी स्यामिति कामना (नामः) ? चास्मात् इव विशेषणनाम्य मे तद्गुणत्वलाघावि-  
 विधाताह एव तद्गुणत्वं विजितोत्पत्ती निघ्नविघातायेत्यात्मन्, विशेषणसमाम्य मे वाच्यं नञ्च विनाऽपि प्रमत्ता-  
 धितसमाध्याऽऽसेयः’ इति वाट ।

३. ‘साहेतित्’ न ।



देशविषयत इत्याहुः, तत्र; उद्धर्तार्थकस्य त्रिधातानमस्यतावशात्पाथक्याभावन<sup>१</sup>  
 बाधितस्य तादृशार्थस्य ध्यादशानानोचि यत् १\* नमस्कार आतिव्यत इत्यस्य ॥ नम  
 स्कारा अत्यत इत्येवार्थः । नमस्कारपदस्य नमस्यतापरत्वे (A) लक्षणपक्षेऽनुपादेय  
 एव तादृशाऽर्थः । ध्यागमकस्य प्रथमवारम्ब वामदेवतत्वा एवेत्यन्तर्गते परामर्शं  
 मोचि यावद्—समुचितेति । जीघ्रेण्ण्डादृशत्वमेव समुचितत्वम् । तादृश्या अपि  
 वैरिदेवतात्वं तन्मृगादानाद्वाह<sup>२</sup>—हृष्टेति । प्रत्यहृष्ट्याय कारिकाहृष्ट भूतमुनिरेव  
 तदायमहितायामासा कारिकाणा दगनात् न तु वृत्तिरुदेव कारिकाहृष्ट परामृशनी  
 त्यादिषु सत्यत्र नामयागाचि अथमुन्यनिहृष्टम्वरम्भ<sup>३</sup>, अथयाऽम्भयागाग्नितात्तम  
 पुनरप्येव निर्दिश्यत । किञ्च—

“समस्तस्मृतिर्यं धौना आरापिता यत्

इति यद्व्यमाणसमस्तस्मृतिर्यकस्य लक्षणं आरापिता इत्यारापितपदं रूपरूपं  
 भवमात्रकथनात् बहुवचनानुपपत्त्या ‘अत्र बहुवचनमस्ति मिति यत् वृत्तिरुता  
 लिखिते तादृशापि वृत्तिरुत कारिकाहृष्टित्वमस्मात्तं स्थापकारिका य धौता  
 आरापितौ यदेवेन’ मिति मुनितात्त्विकत्वेन बहुवचनारित्वाक्यत्वात् ३\* । यत्  
 विलापे च समासो ‘त्यन्तामि’ कारिकाभिन्नाप्रये समापिन—

‘मन्यन्तं राजाश्रीदेव्यन्तं मनस्पिता ।

मम्लो मा च विपादन एमिनीय हिमाभस्ता ॥’

इयं प्रालापमा तु न लक्षितं वृत्तप्राये ‘माग तु पूर्ववदिति रूपरूपये  
 प्रालापमानुष्यतया प्रालापक सूत्र एवाह, सूत्र’ वृत्तिरुतामेवे तन्नुपपन्नमि यात्  
 स्तत्रापि नानुपपत्ति विलापे च समासगत्यत्र चकारस्यानुक्तप्रालोपमासमुद्यप  
 परत्वेन सूत्र एव प्रालापमाया उक्तत्वेन तनुयतया प्रालापककथनेऽनुपपत्तयमाणा ।  
 माग तु न लक्षितस्य तु निशिष्य न लक्षिता चकारण तु लक्षितेव्यभिप्रायः ।

(A) स्वावधिकारवृत्तया ज्ञापनरूपस्य सम्यक्त्वस्य सम्यक्त्वनिष्ठत्वेन नमस्यतास्य  
 नमस्कार्यनिष्ठत्वेन तादृशार्थं कथनां विवाज्जुपात्र इति भावः ।

१ भावनं तत्र तत्र कथायां प्रत्येकवत् पदार्थकौशलेन पत्रं यथावर्थात्, य ।

२ अनिष्टवृत्तयः यन्मत्रं न लक्षितं तत्र ‘आह’ क ।

३ ‘विरहे हृ’ इत्येतत् बहुवचनविषय आध्यात्मनोचितत्वात् परस्मैवकारिकायां य उपपत्तयानानोचिदाह  
 युज्यत एव बहुवचनविशेषविधिं यद्युक्तं य ।

४ ‘कारिकाहृष्ट’ अ । ५ ‘अथ कारिकाज्ञाता धौनीपराया’ पूर्ववदुक्तत्वात् इति य ।

## नियतिकृतनियमरहितां <sup>१</sup>ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

परामर्शनीयमर्थमाह—नियतीति । तथाच इत्थं परामृशतीति बोध्यम् ।  
 श्लोकार्थस्तु 'भारती काव्यविद्यावी देवता जयति उत्कृष्टा । 'यतो नियतिकृतेत्यादि  
 विशेषणशेषेति चेन्न ब्रह्मनिर्मितिनो किञ्चन कवेः काव्यरूपां निर्मितम्  
 आदधती जनयन्ती, भारतीप्रसादादेन कविना काव्यकरणाद्वारत्या अपि काव्य-  
 कर्तृत्वात् । ब्रह्मनिर्मितिवैलक्षण्यमेव—नियतिकृतेति । नियतिः  
 भट्टश्च तत्कृतः तन्मित्रं नियमः जन्यत्वरूपं तद्रहिताम् भट्टाजन्त्या-  
 मिष्यर्थ, शब्दार्थोभयात्मन काव्यव्यालीकमुल्लासार्थमकमलाद्यर्थोऽष्टाजन्त्यस्यान् ,  
 शब्दार्थौ तु तज्जन्यत्वमस्त्वेषेति बोध्यम् । न चैवमर्थोऽंशो भारत्या भग्नजन्य एवेति  
 कथं तदाधानात्तदा उन्मूल्य इति वाच्यम्, वस्तुतोऽनाधानेऽपि तज्जन्यत्वमेवोपनिबन्ध-  
 स्तैव तदाधानत्वं शेषवत्वात् तावन्मूल्यं कर्तव्यत्वात् । यद्वा नियम्यत इति  
 नियति सत्सारस्तत्र कृतो नियमः ऊल एव एव नाङ्गनायामित्येव रूपं तद्रहिताम्,  
 कविनिर्मितावङ्गनायामपि मुल्लासार्थमकमलाद्युपलम्भात् । अरुवर्त्तो तु नियति-  
 रदृष्टं तत्कृतो नियमः नियमविशेषः चन्द्र एव चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वाद्यवगम  
 इत्येव रूपं तद्रहितामित्यर्थः । कविनिर्मितौ मुखेऽपि चन्द्रपदप्रयोगेणाह्लादकत्वाद्यवगमा-  
 दिर्याह,—तत्र । कविनिर्मिताश्चपि चन्द्रे चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वाद्यवगमात्  
 तद्रादिरवामाश्चात् । अथ चन्द्र एवेति नियमः कविनिर्मितौ नास्तीति चेत् तत्  
 किमर्थमेव चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वानुगम इत्येव नियमः, ॥ च ब्रह्मनिर्मितावेवार्थित  
 न कविनिर्मिताविरथं । तर्हि तस्यानुरगमस्यात्यन्ताभावरूपत्वेन तत्र नियतिकृतत्वं  
 बाधितमैव । यदि च भवन्नुच्चर्यमाप्तिर्योग्याह्लादकत्वाद्यवगम एव नियमपदार्थ-  
 स्तदापि नियतिकृतत्वविशेषणं तत्र व्यर्थमेव जन्यत्वाद्यवगमस्तैव नियतिकृतत्वेना-  
 व्यावर्तकत्वात् । किञ्च ब्रह्मनिर्मितावचन्द्रे लक्षणया चन्द्रपदप्रयोगः आह्लादकत्व-  
 रूपप्रयोजनावगम (४१) तत्रैतत्तत्तादृशनियमस्तदापि नास्त्येव । ह्लादैकेति । ह्लाद-  
 मुख स एव एक केवलं दुःखासम्भिन्नो यतस्तन्मयी तन्म्वरूपा, स्वार्थं मयद् ।  
 अनन्येति अन्यत्वं स्वमित्रं स्वीयसमागच्छादिकारणं तदपरतन्त्रां तदनेधीनां, परतन्त्र-  
 पदस्य पराधीनार्थकत्वेऽपि पदान्तरोत्तरार्थत्वेऽधीनमात्रार्थकत्वात्, एतद्व्यालीकार्थोऽ-

(A) ह्लादेन एकमयीम् आनन्दैकम्वशाकामित्यर्थः ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वा-  
धुपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा पट्टसा न च हृद्यैव तैः

मात्रे बोध्यं न तु जन्ये शब्दयोगे । यद्यप्येतावतीव नियतीत्यादेरपि गतार्थता, तथाऽपि गोवृष्यायात् पृथगुपादानं समवाय्यादिकारणानधीनाधियत्यधीनाद्य ध्वस्तोऽपि विलक्षण्यताभावेन । अत्रत्यसौ तु (A) साङ्ख्यमते कार्यकारणयोरभेदेन प्रतिभा-  
ज्यात् काशदान्या प्रतिभा तत्परतन्त्राभिमिति व्याख्याते, तन्म ; अन्ये-पदार्थं एव नत्रयान्यये परमाण्वाधुपादानपरतन्त्रा ग्रहनिर्मितिस्त्वेति विलक्षण्यता तु कविचाङ्गिर्निर्मिति-  
रिति वृत्तिविरोधापत्तेः तत्र परतन्त्रपदार्थं एव नत्रयान्ययमानात् । नवरसेति । नवसङ्ख्या रसाः शृङ्गारादयो यत्रेति बहुमीहि, ततश्च सा वासौ रुचिरा चेति कर्माधारः । तेन नवरसत्वं रुचिरत्वमेवेति द्वयमत्र विधेयम् ; तेन विशेषणद्वयेनैव ग्रहनिर्मितितो विलक्षण्य बोध्यम्, रसपदस्य स्मृतत्वेन ग्रहनिर्मितेर्मधुरादिपद-  
रमत्वाद् रुचिरमात्रत्वाभावात् । अत्र एव नवरसै रुचिरमिति न तत्पुरुषस्तथा नव[रस]त्वस्य विधेयत्वाप्रतीते, नवमी रसै रुचिरमित्येव तत्पुरुषे निपदतन्त्रा-  
कारोऽपि दोषः । दर्शितबहुमीहौ तु ध्रुविरूपात्मित्यन्नाङ्गोर्ध्वरूपमिव पूर्यपदार्थो नवम्य विधेयतयैव प्रतीयते ; व्यक्तीभविष्यति चात्रे वृत्तौ बहुमीहिरेव ।

कविनिर्मितो ग्रहनिर्मितितो विलक्षण्य 'भ्याख्यातुमाहौ नियतिरुत्तेत्यादि-  
विशेषणीराक्षितानि ग्रहनिर्मितिविशेषणानि वृत्तिरुत्तरेण्यति—नियतिशक्त्येति । नियतरूपा ग्रहणो निर्मितिरित्यप्रेषणम् । एवमुत्तरत्रापि । "नियते" एवस्य "शक्त्या" कारणत्वरूपसामर्थ्येन "नियतरूपा" तज्जन्यरूपेत्वर्थः, कविनिर्मिति-  
स्वरूपयोगे तदजन्येति विलक्षण्यम् । "सुखदुःखेति" इदं मोहान्तं तज्जनकपरं (B)  
मुखादिजनकत्वभावेत्यर्थः । (C) "परमाण्वादी"ति उपादानकारण समवायि-

(A) अत्रेदं चित्तमीयम् साङ्ख्यैरुपादानोपादेयभावस्थल एव कार्यं कारणभेदान्युपगमेन अत्र निर्मितभूतार्थां प्रतिभायां तत्कार्यत्वं कान्वाद्भेदोऽपि कथं साङ्ख्यत इति ।

(B) यदपि साङ्ख्यमतानुसारेण निर्मिते भवन्ति एवमुक्तं स्तमोहस्वभावा इति यथाश्रुतमेव साङ्ख्यते तथाऽपि वृत्तौ परमाण्वाधुपादानेत्यादिदर्शनात् व्याख्ययमानानुसारेण व्याख्ये तज्जनकपर-  
मिति ।

(C) जाला-उरगने मानौ यत् सुखं हस्यते रजः ।

तस्य वडैकमानो य परमाणु स कीर्तितः ॥

तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् एतद्विलक्षणा तु कचिवाङ्-  
निर्मितिः, अत एव जयति ; जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति  
तां प्रत्यस्मि प्रणत इति दृश्यते ।

कारणम् ; सर्वत्र कारणपदार्थान्वयः (A) । “कर्म” कुम्भकारादिक्रिया । रसपदस्य  
निर्देशाद्वाह—“पट्टसेति” मधुरादिरसपदकथनीत्यर्थः । मनेन नवरसेत्यत्र  
बहुव्रीहिव्यक्तीकृत । तथाच रसाधिक्यादपि कविनिर्मितौ वैलक्षण्यं दर्शितम् ।  
वैलक्षण्यान्तरमपि दर्शयति—न चेति । ब्रह्मनिर्मितौ रसैर्न ह्येति वक्तुमशक्य  
मधुरादीर्हृद्यत्वादतो हचिरामित्यत्र हचिरमात्रमित्यर्थमभिप्रेत्य ब्रह्मनिर्मितौ  
तन्मात्रत्वाभावेनैव दर्शयति—“न चेति” । “तै” रसैः, तिकादिनाऽहृद्यत्वादित्यर्थः ।  
इत्याकाङ्क्षासत्त्वादेव तैरित्यासिध्यं दर्शितं, न तु नवरसहचिरामित्यत्र तत्पुरुष-  
लभ्यत्वादिदुष्कमिति भ्रमः कार्यः, तत्र बहुव्रीहौबोध्युक्त्या दर्शितत्वात् । न च  
हचिरामित्यत्र हचिरमात्रमित्यर्थे ह्यद्वैक्यत्वेनैव पौनरुक्त्यं ह्यद्वैकजनकत्वहचिरमात्रत्वयोः  
सुखमात्रजनकत्वरूपत्वादिति घाय्यम्, पूर्वत्रालङ्कारापीनह्यद्वय इह तु रसाधीनह्यद्वय  
विषयित्वादेन भेदात् । “निर्माणमिति” श्रुतिसन्निर्मातृत्वार्थं यत्र व्याख्यातः  
हृदमिदित्वाभावेन (B) निर्मितमित्येव तस्याप्यर्थः । इत्थं ब्रह्मनिर्मितिविशेषणा-  
न्येव दर्शयित्वा नियतिकृतेत्यादिभिः कविनिर्मितिविशेषणानि श्लोकोक्तानि  
तद्वैलक्षण्यबोधकानीत्याह—एतद्विलक्षणा त्विति । “वाचः” कण्ठताल्या-  
द्यभिधानेन “निर्मितिः” वाङ्निर्मितिः, कण्ठताल्याद्यभिधानात्तद्वैलक्षण्येनार्थस्या-  
प्युपनिषन्नादर्धस्यापि वाङ्निर्मितिस्त्वेवार्थांशे वैलक्षण्यस्यापि वाङ्निर्मितिर्वैल-  
क्षण्यत्वात् । अत एवेति विलक्षणकार्यकारित्वादेवेत्यर्थः । स्तुतिरूपमङ्गलस्या-  
प्यस्य मानसमस्कारः (C) व्यञ्जनरूपमपीत्याह—जयत्यर्थेनेति । तच्च नमस्कार-  
स्तादृशस्तुतिकृतेवेत्याह—तां प्रत्यस्मीति । लभ्यते स्तुतिधोतृभिः ।

(A) द्रव्यात् परं पूर्वं वा यः श्रूयते स प्रत्येकमभिप्रायव्यत्यते इति न्यायारिति भावः ।

(B) निर्मितेतिपदस्य भावप्रत्ययान्तत्वात् क्रियमात्रवाचित्वे यत्र मधुरादिरसत्वमधु-  
पन्नमित्यतो जगत्परतया व्याचष्टे—निर्मितमिति ।

(C) अथ भावः । जयत्यर्थः उत्कर्षः, स च विशेषानुपादानात् सर्वप्रतियोगिक इति कल्प्यते  
नारत्या सर्वानुदृष्टत्वज्ञाने तुल्यविवेकित्वान्वायेन प्रकारान्तरेण वा भावत्यपेक्षया सर्वस्याप-  
दृष्टत्वज्ञाने सर्वान्तयानिनि स्वस्तिपन्नसि आराध्यापेक्षयाऽऽकृष्टत्वज्ञानं व्यञ्जनत्वा इत्यनेवेति  
वाङ्गोपनिनी ।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसैर्ऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीरुपादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगणोचिताऽऽचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवाऽनर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव

विचारणीयकाव्यस्य प्रयाजनमस्य यत्र तच्छिचारकालङ्कारागारे जगत् प्रवर्तते, अत्र काव्यस्य प्रयाजनदर्शिका कारिकामुन्यापयति—इहाभिधेयमिति । इह अन्तर्द्वारागच्छे यद् अभिधेयं ध्वनिगुणाभूतव्यङ्ग्यचिन्तात्मकं त्रिविधं काव्यं तन् सप्रयाजनम् इति कारिकाकृतं महत्तर्यं । ‘सप्रयाजनमाहं’ति पाठं काव्यमुद्देश्यत्वेन प्रयोजनञ्च दिश्यत्वेन सहैवाइत्यर्थः ।

अर्थकृते इति, अर्था धनं तस्य कृत् करणमुपायजनं तर्क इत्यर्थः । एष विदुषश्च ज्ञानम् युक्त्वा जनं प्रार्तिस्तस्य इत्यर्थः । सर्वत्र सम्प्रदायित्वाद् भावे लिपि । यश-आदिषु धनुष्यर्थं करोतिना निगूढग्रन्थ—कालिदासादीनामिति । अत्र कधीनामित्युपमेयं बोध्यम् । एवमुत्तरत्वापि । ‘यशः’ करातीत्यप्रेषणम्वय । ‘काव्यं’ कर्तुं । कालिदासादीनामिवेत्यनेन सनादप्रवृत्तनाद् यशःकरणे बाधः परिहृतः । एवमुत्तरत्वापि । ‘श्रीहर्षो’ राजा, धारकेन करिना रत्नाखली नाम गारिकां तन्नाम्ना कृत्वा ततो धनं लब्धम् । व्यग्रहार व्याचष्टे—राजादीति । आदिना भगवत्यादिगत राजाचारपरिग्रहः, काव्येन तदुभयस्यैव वर्णनान् ततस्तज्ज्ञानम् । शिवेतरस्यानर्थहेतुत्वेन तत्सतिमाह—आदित्यादेरिति । आदित्यस्तुतिरूपात् (A)काव्यान्मयूरमदृश्यं कुष्ठिन्यनिवृत्ते । सद्यः परेत्यादिकं व्याचष्टे—सकलेति । ‘मौलिभूत’ (B)प्रधान

(A) काव्यामिति । मूर्ध्निगतकृपात् ।

(B) प्रधानभूतमिति । प्रयोजनं हि गुणयोगेनैव द्विविधम्, यत्र कीर्तिजननेदरापनया गौणत्वमानन्दस्य तु वस्तुत्वान्नुपपन्नमिति तस्य प्रधानम् ।

(A) रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मित-  
शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मिनार्थतात्पर्यवत्पुराणादीति-

भूतम् । एवं एतदव्याख्या<sup>१</sup> । 'समनन्तर' काव्यार्थबोधानन्तरम् । एव सद्य-  
पक्षयत्तया<sup>२</sup> । निर्वृतिपक्षे रसरक्षणानन्दपरतया व्यावष्टे-रसास्वादेति ।  
रमकर्मपदास्वादनं तद्वृत्तं सन् 'समुद्भूत' सम्भूत वा पाठमेवात् । उभयपक्षाप्युत्-  
पन्नमित्यर्थः, रसस्य स्वप्रकाशानन्दरूपतया उन्मेषमानत्वंस्य वक्ष्यमाणत्वात् । (B) स  
च न काव्यं इत्यनेन तु 'काव्यंज्ञानान्तरवैलक्षण्यमेव साधयिष्यते, न तु काव्यस्या-  
भावे इति तत्रैव व्याख्यास्यते । तन्काळे चिन्तयान्तरबोधो नास्तीत्याह-  
विगलितेति ज्ञानाविषयीभूतेत्यर्थः । विलक्षणं काव्यमैवेतन् करोतीत्यतः काव्यपदं  
विलक्षणकाव्यपरतया व्याख्यानुमाह-प्रभुसम्मितेति(०) । प्रभुत्वं प्रमोदपदेशः,  
'तत्सम्मित' तत्सुर्यं यत् 'शब्दप्रधान वेदादिशास्त्रम्,' आदिपदात् 'वैदिकमन्त्र' (D)  
ततो विलक्षणमित्यर्थः । एणसिंह इति कम्पविभक्तिं प्रभुणाऽऽदिष्टे 'यथा  
समामर्हिह इति न व्यशङ्क्यते प्रमोदपदेशस्य शब्दप्रधानत्वात्, तथा वैशेषिकशब्दस्यापि  
परिवृत्त्युक्तमत्याह(३) शब्दप्रधानत्वम् । सुहृदिति । अत्रापि सुहृत् सुहृदुपदेशः,

(A) रसास्वादनपदम् आस्वादनपदस्य करणपुत्रत्वात् रसानामास्वादनं यन्मात्रेति  
बहुव्रीहिना वा विभाषादिसंयोगात्, एतत् समुद्भूतमुत्पन्नमित्यर्थः । अनेन एतदाशङ्क्यकारणस्य  
लौकिकानन्दकारणवैलक्षण्योक्त्या लौकिकमानन्दस्य वैलक्षण्यं उच्यते विगलितत्वादिविशेषणान्तर-  
मध्यत्रोपपुन्यते भाव्यत्वाच्च निर्वृते परत्वमुपपद्यते इति ध्येयम् ।

(B) प्रतीकोऽर्थं बहुव्रीह्यां अभिनवाग्राह्यमर्थमतेहेत्वाचमरे इत्यर्थः ।

(C) वेद पुराणं काव्यं प्रभुमित्रं प्रियावचनं इति प्रथमाभाषणकोऽत्र उपरीक्ष्यतयाशु-  
सम्बन्धः ।

(D) अत्र 'वैदिकमन्त्र' इति पुनः पाठः, वैदिकमन्त्रस्य वेदान्तार्थत्वादेव आदिपदेन  
सद्वृत्तस्यार्थान्वितत्वात् ।

(E) परिवृत्त्युक्तमत्यादिनि । स्वाभावोऽप्येतत् इत्यादिना वेदाणां सत्त्वानुपपत्त्या एव पाठस्य  
फलवत्त्वं बोधितम्, न तु 'अभिधीते' इत्यादि समानार्थकस्य वद्विं स्तौमीत्यादेः, न वा ईदं अग्नि-  
मित्यादिभ्युद्गमेण पाठस्य इति तेषां शब्दप्रधानता । प्रशिक्षितयेवन्निरुद्धे "नियन्ताद्योपुक्तो  
नियन्तानुपुक्त्या भवति" "अर्थवन्तः शब्दसामान्यान्" (अ १ पा ९) इत्यादिभिः । पञ्चमवैदिक-  
मन्त्रेऽप्येति ।

हासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन (A) रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं  
यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसताऽऽ-  
पादनेनाऽभिमुखीकृत्य रामादिवद्वतितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं  
च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।

तत्तुल्यं यद्व्यंशान्तरपर्वयुक्तं पुष्पादिवृत्तिरूपमितिहासशालम् । आविष्कारादुपपुष्पा-  
परिग्रहः, ततोऽपि विलक्षणमित्यर्थः । सुहृदुपदेशपुष्पायोर्यथापि भयंस्त्वैव  
प्राप्तव्यं न तु शब्दपरिवृत्तमन्वमतोऽर्पणान्तरपर्वयुक्तम् । तेषां विलक्षण्ये  
हेतुमाह—शब्दार्थयोरिति अर्थोऽत्र वाच्या लक्ष्यश्च । तयार्गुणभावे हेतुमाह—  
रसाङ्गेति । रसाङ्गभूतं रसवाचकं व्यापारं व्यञ्जनात्मकं यस्मै व्यङ्ग्याय,  
तत्प्रवणतया व्यङ्ग्यप्रधानतयेत्यर्थः ; व्यङ्ग्यार्थस्यैवास्वाद्यत्वेन तत्प्रधानता ।  
यद्यपि रसस्य साक्षात्कार एव धर्क्यते, तथापि प्रथमं व्यञ्जना, तत एव साक्षात्कार इति  
स्तिङ्गान्तरपिप्राणत्याद्वयचञ्चलाया रसाङ्गुत्यम् । भट्टलोलुपते तु रसस्य व्यञ्ज-  
नैवेति तन्मते स्पष्टमिदम् । तादृशं काव्यं न सामान्यकविसाध्यमित्यत आह—  
लोकोत्तरेति, अन्यलोकविलक्षणवर्णनाया निपुणस्य कवेः कर्म्मैत्यर्थः । कान्ता-  
सम्मिततयेति व्याचष्टे—तत् कान्तेवेति । “कम्” काव्यं कर्त्तुं ।  
सरसता शृङ्गारोन्मुखता, काव्येनापि प्रथमं शृङ्गारादिरसबाधनं ततो  
वर्णितायं प्रवृत्तिनिवृत्ती उपदिश्येते । उपदेशस्याकारमाह—रामादीति ।  
रामस्य पित्राद्यादिपालनकृत्य इव प्रवृत्त्युपदेशः ; शय्यास्य परदातृहत्यादिवृत्त्य  
इव निवृत्त्युपदेशः । ‘उपदेशश्चेति’ घकारः पूर्वोक्तयशभादिनमसमुच्चये ।  
यथायोगमिति यथासम्भवंमित्यर्थः । तेन यथाऽर्थो कवेरेव, व्यवहारे उपदेशपर-  
निवृत्तयः सहृदयस्यैव शेषमुपयोगः । सर्वथा तत्रेति । ‘तत्र’ काव्ये  
काव्यार्थोपे च । तत्तत्फलार्थं कविना सहृदयेन च सर्वथा यतनीयमित्यर्थः ।

(A) रसाङ्गेति । रसानामङ्गभूतं बोधस्त्वेनोपकारको यो व्यापारः साधारणीकरणस्यो  
भोजनस्वास्थ्यो वा तत्प्रवणतया संप्रतयेत्यर्थः । एवञ्च—सति कर्म्मव्यापारे तद्वत्तत्त्व रसा-  
न्वाङ्मयावयवभावात् तत्रैव वरसतादप्येव शब्दार्थयोरेव गुणत्वमिति ज्ञेयम् ।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

शक्तिर्निपुणता<sup>A</sup> लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

अस्येति काव्यस्य काव्यार्थबोधस्य च कारणमाहेत्यर्थः । एतेन 'काव्यतदर्थ-  
बोधयो कारणकथनमुपकान्तमिति बोध्यम् । तदुपकारणमाह<sup>१</sup> शक्ति-  
रित्यादि । लोकशास्त्रकाव्यादिपुण्यत्वेन्यभ्यस्य । काव्यज्ञपद काव्यकर्तृत्वविशेषको-  
मप्यपरतया स्वयमेव व्याख्यास्यते, एवमुद्भवपदमप्युत्पत्तिमप्युभयपरतया । तत्र

A निपुणतेति । इह प्रसङ्गान् व्यासस्य प्रथमाद्युपयोगान्तराणां व्याकरणादिशास्त्रा-  
वेक्षणानिपुणस्य काव्यनिष्कर्षे सर्वबोधे च उपयोग उदाहरणे प्रदर्शितः ।

तत्र व्याकरणनैपुण्यं यथा—

उभयी प्रवृत्ति कामे समेत्येति मुनेर्मनः ।

अपवर्गे तृतीयेति भण्य पाणिनेरपि ॥

लिङ्गानुसामननैपुण्यं यथा—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा त्रिपाथे प्रेषितं मनः ।

मनस्तत्रैव रमतं चर्य पाणिनिना हता ॥

उपनिषदनैपुण्यं यथा—

अणोत्प्लोषान् महतो महीयान् योगे त्रियोगे त्रिभोगोऽङ्गनादा ।

स्पृष्ट्वा सन्ने सन्यमिन् महीमि धनोपवीतं परमं पविशन् ॥

अन्यथा—

महौ च सर्वमपरं य तु किञ्चिदस्ति तन्मात्रं मे सति परापरभेदबुद्धिः ।

आरे यदा गृह्यन्ते च तथा रतिर्मे मूढा किमर्थममर्तानि कर्तुमस्ति ॥

साधुयनैपुण्यं यथा—

प्रतिपुङ्गवं सन्निहितां कृत्स्नपरां विविधकल्याणोपधिनाम् ।

बहुल्ययंप्राहिम्यं प्रकृत्य इह दुर्गन्धा गणिकाः ॥

वैशेषिकशास्त्रनैपुण्यं यथा—

अविद्रिगस्तदु-क्तं निर्गुणं यन्तु किञ्चिन्-

जटमनिहि कश्चिन्मोक्ष इत्यापपक्षे ।

१. 'काव्यकर्तृकाव्यबोधोपदेशोरेव यदनीकस्योक्तवान्, अत एव इतोरेव कारणकथनमाह' क ।



शक्तिः कवित्वधीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न

शक्तिद्वयम् । तदुभयकारणद्वयं व्याचष्टे—शक्तिः कवित्वधीजेति जनिका बोधिका च शक्तिरित्यर्थः । एतच्च कश्चित्त्वधीजेत्यत्रापि कश्चित्तत्त्वबोधनीजेत्यर्थः । उभयोर्भेदेऽपि संस्कारत्वेनैकत्वादेकत्वमम् । संस्कारश्चात्र भतीन्द्रियात्मगुणरूप- तथा पुण्यविशेष एव, तथाच तदुभयजनको पुण्यविशेषादित्यर्थः । चक्षुर्वर्ती तु भावनाख्यसंस्कारमेषाद्, तत्र, स्मृतिरिति तस्यान्यथाज्ञकन्यात् पदार्थस्मारक- भावनायाश्च सत्यसाधारणत्वेनाप्यवर्तकन्यात् काव्याकर्तृकाव्याबोद्धव्यावर्तनाय पुण्यविशेषस्यावश्यकत्वाच्च । तादृशशक्तिद्वयस्य तादृश फलद्वयं प्रति कारणताप्राप्तकं तदुद्वयव्यतिरेकेण तत्तत्फलद्वयव्यतिरेकमाह—यां विनेति प्रसृतं वेति च ।

मम तु मगधनद्वस्त्रेस्तादृशवर्ण-

स्मरद्वस्त्रमदित्याक्षीणीविमोक्षो हि मोक्षः ॥

पूर्वमीमांसातनैपुण्यं यथा—

तमो द्रव्यं नैकपादं घटवदिनि भावे समुदितं  
वक्षीद् रुचिं स्यात् कथमिष न हि स्वर्गागुणवत् ।  
हृणीवायत्तकं शिथिलयिमुमन्तव्यं वसित्त  
तमोदृष्टं धत्ते कथमभिमिपेण्णुवदना ॥

व्यापराशान्नैपुण्यं यथा—

भाषादभाषाद् यदि नानिरिक्तं सम्बन्धमिषि स्वीक्रियते वक्ष्यते ।  
जन्मविभाषि प्रतियोगिशून्यं श्रीलक्ष्मणश्रीगणपतेर्वत् किम् ॥

योगशास्त्रनैपुण्यं यथा—

आहारे विरतिः समन्तविषयप्राप्ते निवृत्तिः परा  
नाम्नाये नयनं सदेतत्परं यथैकमानं मनः ।  
सौमन्वेदमिच्छा शून्यमधुना यद्विचाराभाति ते  
तद् यथा सन्नि योगिनी किमपि भो किं वा विधोगीत्यपि ॥

शास्त्रमूलनैपुण्यं यथा—

गृहोदन्तं किञ्चिच्छृणु कथयतो मत्त उदितं  
न विश्रान्तो न्याये कथमपि तव स्यात्स्यति यत् ।  
भग्नमौ काठिन्यं मयसि मिथितत्राप्यनुनया  
महामानं सोऽप्रचवपरिणामं विमृशत ॥

तत्र काव्यस्य जनकताप्राहक 'या विनेति' यां शक्ति विनेत्यर्थः । तस्या बोधरुताया प्राहक प्रवृत्त वेति, अत्रापि या विनेत्यस्यान्वयः । वाकार- अव्यर्थे, तथा च जनिकया शक्त्या प्रवृत्त जातमपि काव्यं यां बोधिकां शक्तिं विना उपहसनीय स्यादित्यर्थः । सत्काव्योपहासादेव च तदर्थबोधव्यतिरेकलाभः । एतेन जनक- शक्तिव्यतिरेकेण प्रवृत्तत्वात्मनो नाशङ्कनीय जनकशक्तिव्यतिरेकेण प्रवृत्त- स्यादुक्तत्वात् । मैथिलास्तु अनुपहसनीयकाव्यकारणकथनमेवात्रोपमान्तमित्यभि- प्रायेण अनुपहसनीयकवित्वबीजरूप सस्कारविशेष इत्यर्थः, तथाच अनुपहसनीय काव्य यां विना न प्रसक्तं प्रवृत्तञ्च यत् काव्य तदनुपहसनीयमेव न त्वनुपहसनीयमित्यर्थ इत्याहुः, तत्र ; काव्यपदस्यात्र अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे प्रवृत्त वेति वाकारेण तत्रैव प्रवृत्तत्वान्वयबोधतात्पर्यस्य प्राहणीयत्वनियमात् न त्वनुपहसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरे (A), उपहसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरस्य शङ्काप्रतीते (B) बोधकशक्त्यकथने 'इति वयस्तस्य काव्यस्य उद्भावे निर्माणे समुत्पासे च हेतु' इति वृत्त्यनुपपत्तेः ।

अन्ये तु तर्कपरमेष्ठिम्, तथाच यां विना यदि प्रवृत्त स्यात् तदा अकाव्यत्वेनोप- हसनीय स्यादित्यर्थ इत्याहुः, तदपि न, 'यथाभूतस्यास्य तर्कस्य घटादावेव व्यभि- चारेण मूलनैषित्वात् (C) यां विना प्रवृत्त काव्य' स्यादित्यापादकद्वयार्थकरणे तु काव्यपदस्यास्तत्काव्यसाधारण्यपरत्वे इष्टापत्तिः, अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे तु तस्य शक्ति विना प्रवृत्तत्वाप्रसिद्ध्या आपादकाप्रसिद्धिः, अनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयो-

(A). धर्म्यन्तर इति । तादृशबोधतात्पर्यग्रह सम्भवतीत्यर्थः ।

(B). तादृशप्रतीतिरिति । तथाच शक्तिं विना अनुपहसनीयकाव्यस्य प्रवृत्तत्वेन बोधरुते तादृशव्योपहसनीयत्वम् नितरामिति भावः । अत्रानुपहसनीयकाव्यभित्तकाव्यनित्यप्राद्वारेण तत्रैव प्रवृत्तत्वान्वय सम्भवति नन्वुपोपादानाच्च बोधेयतावच्छेदकविधेयधोरैक्यमित्यन्तरसा- दाह—बोधकेति ।

(C). मूलनैषित्वादिति । व्याप्तिप्रशस्त्यसम्भवादिति भावः ।

1. 'उपपत्तेर, वयस्कताया शक्तेर्बोधकारकतायुक्तौ तादृशेनसाधनवपत्ते', क । ययम् अधिकोऽत्र पूर्वभागस्य टिप्पणीति प्रतिपादितः ।

2. 'यथाभूतस्यास्य तत्र स्य शक्ति विना प्रवृत्तानुपहसनीय च एव अभिचारेव मूलनैषित्वात् । यदि च यां विना यदि प्रवृत्त काव्य सादित्यापादकद्वयार्थग्रह काव्यपदस्यावृत्तकाव्यसाधारण्ये इष्टापत्तिरुप- हसनीयकाव्यपरत्वे तु शक्ति विना यदनुपहसनीयतां च आपादकादिति त्वनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयोर्विरोधा- भूलमेवित्यर्थः । अथ काव्य यदि इतरकाव्यकारणैव प्रवृत्त स्यात्तदा उपहसनीय स्यादिति तर्कोपेक्षयाच उपहसनीयकाव्य एव तद्व्यभिचरिति चेत् शक्ति विना चमत्प्रतिपत्तिरुपपत्तिरिति सत्येव जनिते वदुपहसनीये

प्रसरेत् पूष्टं वा उपहसनीयं स्यात्, लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मक-  
लोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दो-व्याकरणा-भिमानकोप-कला<sup>(A)</sup>चतुर्वर्ग-  
गजतुरग-खड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसन्ध्यानाम्

रिंराधा मूलजीविन्यञ्च । अथानुपहसनीय काव्य पदं, तथाच अनुपहसनीय काव्य  
यदि शक्ति रिना प्रसृत काव्य स्यात्तदा उपहसनीय स्यादसन् काव्यरदिति तर्क-  
परिष्कार इति चेत्तथाऽपि धृतिरिराध पत्रान् प्रागुक्त<sup>२०</sup> ।

लोकशास्त्रेत्यादिक व्याचष्टे—लोकस्येति । लोकवृत्तस्यैव वर्णनीयत्वेन लोक-  
मात्रावेक्षणं तत्रानुपयुज्यमता साकपदं तद्वृत्तपरस्तदा व्याचष्टे—लोकवृत्तस्येति ।  
अक्षणावित्यस्य निरण निमर्शनादिति अत्रैव च सकलपञ्चमस्तपार्थान्यय ।

(A) कणा गीतापञ्चमु पट्टिभेदाः पद्या—मीनं (१) वाद्यं (२) नृत्यम् (३) आलेख्यम्  
(४) विनोपल्लेखम् (५) लण्डुलक्ष्ममन्त्रिविकाराः (६) पुष्पाभरणम् (७) वेशनवसमाङ्गराग  
(८) मणिमृष्टिकाक्रम (९) दासनचमम् (१०) उन्मेषाद्यम् (११) उदकापान (१२) विभ्रात्र  
योगा (१३) मातृवप्रयनविकल्पा (१४) गगतापीड्योपन (१५) वेपथ्यप्रयोगा (१६)  
कर्णपञ्चनङ्गा (१७) गच्छयुक्ति (१८) भूयगवाचनम् (१९) पेयवाळा (२०) कौसुमारात्र  
योगा (२१) क्षन्तगचव (२२) विचित्राक्रयभन्धविकारविद्या (२३) पात्रकरसरागासव  
मोहनम् (२४) सूचीचालक्रमानि (२५) सूत्रनीडा (२६) वीणात्रमरुकावाणि (२७) प्रौढिका  
(२८) प्रतिमाला (२९) दुष्वाचकयोगा (३०) पुष्पकवाचनं (३१) नाटकाव्यायिकान्शनं  
(३२) काव्यममम्यापूर्णं (३३) पट्टिकात्रयानविकल्पा (३४) लक्ष्मकर्मणि (३५) लक्षणं (३६)  
वास्तुविद्या (३७) हृदयरक्षरीक्षा (३८) धातुवत् (३९) मणिताग्राहकान्शनं (४०) वृत्तापुनर्वेद  
योगा (४१) मयककुटागवकपुत्रविनि (४२) गुरुमागिकप्रणयनम् (४३) उन्मेषादन संवाहन  
वेशमनि च कौशडम् (४४) अक्षमुष्टिकाकथनम् (४५) मुच्छिन्नविकल्पा (४६) देशभाषा  
विज्ञान (४७) पुष्पकटिका (४८) निमित्तज्ञानम् (४९) पञ्चमामृका (५०) प्रारणमामृका  
(५१) सत्रात्र (५२) मानमी काव्यक्रिया (५३) अभिमानकोप (५४) छन्दोपात (५५)  
क्रियाक्रम (५६) छलितवयोगा (५७) वक्षणावधानि (५८) वृत्तविनोया (५९) आकरंश्रीका  
(६०) आलक्षीजनानि (६१) वैभविक्रीका (६२) वैभविक्रीका (६३) व्यापामिक्रीकात्र  
विधाना (६४) शानम् इति चतु पट्टिरुविद्या काममृत्प्यावयविन्य । काममृत्प्य ३अ० १६ख० ।  
आमां विधरणमन्ये च कलाभ्यामन्तर टीकायां दृष्ट्यानि ।

काव्य धर्मिभारात् । अथ तत्रापि पुष्पविधिवत् शक्तिर्नुरति सेदुपहसनीयकाव्यस्यापि भौदमसत्रन  
कलेन (१) पुष्पविधिवत्त्वादायादकाव्यविधिरिविमानमपिकेन न ।

आदिप्रवृत्त्यादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः, कार्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तारणस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुद्भासे च हेतुर्न तु हेतवः ।

स्यापरवृत्तञ्च लतालास्यकुसुमविकसनानि । 'व्यभिधानकोर' नामलिङ्गानुशासनम् । एषां ज्ञानोपयोगं स्वह एव । 'कला' हेलालीलाव्यं स्त्रीभावा । 'चतुर्वर्ग', धर्म्मार्थकाममोक्षा (A) । कलादिखड्गग्रन्थेषु सर्वत्र लक्षणग्रन्थान्वयः, एषां सर्वेषामेव 'काव्ये' वर्णनीयत्वात् 'तज्ज्ञानापेक्षा । इतिहासादीनामित्यत्र आदि-पञ्चाशत्याहुपरिग्रहः । व्युत्पत्तिः सस्कारः, स ज्ञानेक्षणीयार्थविषयः । काव्यप्रपञ्च काव्यकर्तुं तद्विवेचकस्य काव्यार्थबोधुभयपरतया व्याचष्टे—काव्यं कर्तुमिति । काव्यकर्तुं पदेनात् काव्यकरणे तद्विवेचकापदेशाच्च अन्वयसंशयकूपे योजने प्रवृत्तिर्बोद्ध्या । एतावताऽप्युभयकारणकचनमुपकान्तमिति बोध्यम् । प्रवृत्तिरत्र 'प्रवृत्तिविषयज्ञानजन्य' सस्कारः प्रवृत्ते' लणिकत्वात् । इति हेतुरित्यत्र हेतुत्रयार्थकहेतुपक्षोत्तरैकवचनलक्ष्य-भाषार्थमाह—इति त्रयः समुदिता इति । समुदायार्थैकवचनात् समुदायत्वात् इति भावः । तदुद्भवपदं तन्निर्माणतदर्थबोधोभयपरतया व्याचष्टे—तस्य काव्यस्येति । उद्भास तदर्थज्ञानम् । एवञ्च त्रयान्तर्गतायां शक्रेत्युभयकारणत्वमुक्तम् । तयाच शक्तिपदं न जनकशक्तिमात्रपरम् । हेतु फलोपधायकः । न तु हेतव इति न तु प्रत्येक फलोपधायका इत्यर्थः । अत्र च न तु व्यस्ता इत्यस्य हेतव इत्यत्रान्वये न तु हेतव इत्यत्र हेतुपदमधिकं स्यादतो न तु व्यस्ता इत्यत्र कारिकास्येन "इति" शब्देन परामृष्टा इत्यव्याहृतान्वयेन वाक्यभेदः कार्यं, तयाच समुदिता एव "इति" शब्देन परामृष्टा न तु व्यस्ता प्रत्येक परामृष्टा इत्यर्थः । एतादृशपरामर्शफलमाह—हेतुर्न तु हेतव इति । तयाच दण्डवकादिवन्मिलितानामेव फलोपधायकत्वमुक्तम्, स्वरूपयोग्यता तु प्रत्येकमस्त्येव । मिलितानां तथात्वन्तु मन्त्रायनधीतकार्यं प्रत्येक

(A) धर्म्मग्रन्था —मन्वादिप्रणीता धनुर्महितादिव । धर्मग्रन्था —वाणस्यादिप्रणीता धर्म-शान्त्रादिव । काव्यग्रन्था —वाल्मीक्यादिप्रणीता वरमसूत्रादिव । मोक्षग्रन्था —उपनिषद्भक्त्यनुप-कारकाश्च व्यासादिप्रणीता महाभूतानि ।



विषयज्ञानेन 'व्यासज्यवृत्तिधर्माविषयीकरणात् ; विशिष्टस्य काव्यत्वे च यत्र शाब्दी व्यञ्जना शब्दालङ्कारो वा तत्तार्थविशिष्ट' शब्द काव्यम्, यत्र त्वार्थी व्यञ्जना अर्थालङ्कारो वा तत्र शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति विनिगमना ; न त्वेकत्रैव पद्ये द्विविधं काव्यत्वं वैयर्थ्यात् । दोषमिश्रेष्यत काव्यत्वानङ्गीकारादाह—अदोषाविति । व्युत्तसम्बन्ध-भवनमतयोगाङ्गिप्रत्यादयो<sup>१</sup> ये शाब्दबोधविघटका दोषा, ये च 'प्रतिबलवर्णत्वादयो रसबोधविघटका दोषा तन्मात्रान्याभाववन्तावित्यर्थः', एषु सन्सु रसबोधानुदयात् । दोषान्तरं तु काव्यापकर्षकमेव न तु काव्यत्वविघातकम् ; अतः "तथाभूतां इष्टा नृपसदसि पाञ्चालतनयामि"त्यादौ न्यूनपददोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणोऽपि काकुत्स्थ-कृतवाक्यार्थान्मङ्गलान्युदाहरणत्वम्, 'कृतमनुमत दृष्टं वा यैरिव गुणपातरु'-मित्यादौ पुनरुक्तदोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणोऽपि रौद्ररसच्यन्युदाहरणत्वञ्च वक्ष्यमाण 'नानुपपन्नम् । केचित्तु एकत्रैव 'काव्ये दोषवद्वयवाच्यच्छेदेनाकाव्यत्वम् अन्यानच्छेदेन तु काव्यत्वमतौ बोधसामान्याभाववन्तावित्येवार्थमाहुः, तच्च एकत्रैवमप्युदाहरणमाया-वनुपादेयमेव<sup>२</sup> । सर्वथा नीरसस्य—

"गोरपत्न्यं बलीमर्हो यासमन्ति मुखेन स "

इत्यादेः

"अद्राव्यं प्रज्यलत्यग्निरुच्यै प्राज्यं प्रोपशुद्धस्तयेन" धूम "

इत्यादेश्च काव्यत्वानङ्गीकारादाह—सगुणाविति । गुणा हि माधुर्य्योज प्रसादाख्या रत्नधर्मा एव वक्ष्यन्ते, काव्यस्य च गुणाभ्यरसवत्येनैव सगुणत्वम्<sup>३</sup> । अत एव वक्ष्यति—

"गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता" इति ।

( ८५ उद्दाने )

तेषां गुणानां गुणवृत्त्या परम्परावृत्त्या इति तदर्थान् । भावतद्भासाभावाशान्ति-भावादपमावसबलत्यानि यानि व्यङ्ग्यानि असलक्ष्यक्रमतया रसतुल्यकृताणि वक्ष्यन्ते तेष्वपि गुणाङ्गीकारान् न भावादिकाव्येष्वव्याप्ति (A) । अत एव "नियतिवृत्तनियम-

तथाच एकत्वानवच्छिन्नानुयौगिनारूपव्याप्तिस्त्विति व्यासज्यवृत्तेर्लक्षणम् । एवञ्च काव्यत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वे अर्थनिरपेक्षेण शब्दे शब्दनैरपेक्षेण अर्थे च काव्यत्वप्रत्ययोऽनुपपन्न इति भावः ।

(A) तथाच ये रम्याद्विन इत्यत्र रसपद भावादेरप्युपलक्षकमिति भावः ।

१ 'व्यासज्यवृत्तिधर्मः यावदाश्रयविषयविचलनियमान्' न । २ 'इष्टरक्षा' क-न । ३ 'प्रतिकूलवर्णादयो' क-न । ४ 'न विवदन्' छ-न । ५ 'पयो' छ-न । ६ 'तत पर'—'वज्रव्यवृत्तिताया प्रतीतिमात्र-साक्षिकत्वादि'ति न-पुनरुक्तिः फट । ७ 'रक्षा' क । ८ 'नान' क-न । ९ 'तत पर'—'तत सरसाविति एवैवमिति नीरसव्याप्तिरिति छ-पुनरुक्तिः पारः ।

दापगुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते । कापीत्यन्तैर्न दशत् यत् सर्वत्र

रहितमि' स्यादित् भारताविषयमात्रस्य भविष्यत्येव दशाविषयवर्तिनाम् श्रद्धा  
रीयासूसादिव्यभिचारिभावाच्च मातुष्यस्य काशमृत्परिशदादिभावाच्च आना  
शुणस्य सत्यात् । व्यक्ताभविष्यति चेदम् आनाशुणयवस्पर्शान्तरादप्यतया बह्व्यमाण  
भूतानामुद्भूतवृत्तयात्रौ राशपरिशदाभावात्प्रनाशमहात्म्यम् । वैचित्र्यमद्भुतम् (A) इत्य  
लङ्कारमात्रमात्रव्यक्त्यणम्, वैचित्र्यञ्च मद्भुतमिदं प्रतीतिमात्रिकं तदभावे हि  
कान्तकामयमानमात्रं न तत्र कामयम् कथम् ) 'इत्यमरास्यत्यमेव श्रद्धार  
रसद्वयमपि तत्र अतिशयानिगारणाय सादृश्यादिनिर्दिष्टावयव एवावयवितुमाह—  
अनलङ्घनी पुनरिति । अत्र इत्यर्थे 'नन', अथ च पुन 'गद' । तथाच  
काव्युदाहरणत्रिगुण इत्यलङ्घनी अपीत्यर्थः, नन प्रोढाङ्गनी तु सुतरामपि पायानि ।  
तथाच सालङ्घनी इति पर्यायमिति । 'अङ्गनी इति एवम्य अशोढाङ्गनीति (C)-  
परव्यवस्थामितिमात्रमिदमुक्तिः \* । नामना निर्दिष्टनामलङ्काराणामनादप्युक्ति  
भङ्गीसाय सालङ्कारत्वमेव वैचित्र्यमात्रस्य सालङ्कारत्वान्नित्यता बह्व्यमाणेषु निर्गुण  
च्युतचन्दनमिदं नानाभिप्रायैः (D) । कार्पात्यन्तेनेति अत्र दृष्टता इत्यभिप्राये यथ

(१) सौन्दर्यमहद्वार इति वामवमुखम् । वैशित्र्याभ्युद्धारद्वार इति दक्षिणवमुखम् ।

तथाच धामतमुत्तमं सौन्दर्यमस्य त्रैवित्रापनया व्याख्यामन्त्रमिति प्रतिभाति ।

(B) कस्य कामधामन मा न त्वं कामधन कम् । इति शम्भाश्वत्थामा वाम्भ्याम्  
प्रहस्यत ॥ इति काव्यान्त—२३ अ० १ प० ।

[illegible]

(D) इह पास्कानामालाइनमौड्य्याय धन्यानि प्राचीनान्यन्वाचीनानि च काव्य  
लक्षणान्मुद्रिष्यन् । तत्र शरीर सार्वणिथयप्रवर्तिता पत्रवर्ग इति शब्दो । काव्यमाला  
य्य गुणालङ्कारमन्त्रयो द्वावर्गयोश्च इति वाक्यम् । गुणालङ्कारमन्त्रयो मातृकाया  
मन्त्रम् काव्यमिति वाक्यम् । ध्वन्यामर्क वाक्य काव्यमिति सगिममन्त्रम् । निपा  
गुणालङ्कारलक्षणमिति वृत्तिम् वाक्यम् काव्यमिति पोष्यवर्ग (वयम्) मन्त्रम् । अगरो मन्त्रो  
साङ्गारो मन्त्रो काव्यमिति इत्येवम् । रमाङ्गारो मन्त्रो मन्त्रमन्त्रम् वा रमाङ्गारो मन्त्रो

१ इति दृष्टिक शोभनकायमेव ख-य २ प्रोशान्दकतो सुतरां ख-य ३ मान्दकतो इति  
करण इत्यन्तु उक्तप्रसिद्धाध्यानिशमाय मित्यमिति ख ।

सालङ्कारौ कचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा—  
 यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैवक्षपा-  
 स्ते चोन्मीलितमालनीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः<sup>१</sup> ।

कापीत्यन्तस्य तस्यैव यन् सर्वत्रेत्याद्यर्थकत्वात् । कापीत्यनेनेति तु 'प्रामादिक' पाठः,  
 तस्य तादृगर्थबोधकत्वाभावात् । सर्वत्र सालङ्कारत्वलाभश्च ईषदर्थकनप्रा अप्यर्थक-  
 पुनरश्वेन घेत्युक्तमर्थ । कचित्त्विति मलङ्कारस्फुटस्यस्याधिवृत्तित्वादिति भावः ।

यः कौमार इति । रेयानदीतीरं वेतसीनामतस्तले कृतसङ्केताया नायिकाया गृहे  
 स्वयं परामशोऽयम् । तादृगस्थले सुरतार्थं ममात्कण्ठानिर्वर्तिका सामग्री मम गृह  
 एवास्ति तथाऽपि कृतसङ्केते (B) तत्र रेखाया रोधसि तीरं वेतसीनामतस्तले सुरत-  
 म्पापारलोलाविधाननिमित्तं (C) चैव समुत्कण्ठने । विलक्षणरतिज्ञमभायकप्राप्त्यर्थं  
 विलक्षणरात्र्यादिप्राप्त्यर्थं च तत्रात्कण्ठा युज्यते, तत् सर्वञ्च मम गृह एवास्तीत्याह—  
 यः कौमार इति । कौमार कुमारीत्यम् अनुदात्तम्, त्रियाहेन यस्तद्वरः पतिरित्यर्थः  
 स एव वरः श्रेष्ठ विलक्षणरतिज्ञमप्येत्यर्थः । हिरवधारणे । चक्रवर्त्ती तु कौमार-  
 मभिनययौगम् उपभोगेन यस्तद्वरः पतिरित्यर्थः इत्याह, तच्च न क्वचिन् कुलटोक्तौ  
 तावता फललाभान्, अन्यस्याप्युपभोगकृत्यसम्भवात् । एव विलक्षणरात्र्यादयोऽप्यत्रैव  
 सन्तीत्याह—ता एवेति । कदम्बानिला कदम्बवनानिला, वनानिलानां प्रौढ-  
 त्वेऽपि वनवह्निमये प्राग्योपलम्भादाह—प्रौढा इति, न तु कदम्बपुण्यानिला इत्यर्थः  
 चैव कदम्बपुण्याभावात् प्रौढा इत्यस्थानुपपत्तेश्च । अत एव कदम्बपदमत्र (१) धुलि-  
 कदम्बपरं तस्यैव चैव सम्भवादिनि चक्रवर्त्तिशालशानमयुक्तं तदनिलानां प्रौढाना-

मिति केशवमिश्रमतम् । रसाद्रिमद्वक्त्य काव्यमिति शौद्रोदनिमतम् । रसात्मकं वाक्यं  
 काव्यमिति दिग्भनाप्रमतम् । रमणीयार्थप्रतिपादकं वाक्यं काव्यमिति अज्ञानाप्रपञ्चितराजमतम् ।

(A) मालती वामन्तिककला । चक्रवर्त्ती धुलिम्बूहः । अत्र प्रौढा युवान इति छिद्यविशेषण-  
 बलादभिरालम्ब्योन्मायकतायिकाभावात् प्रतीयते इत्युद्योतं स्पष्टम् ।

(१) य-ग-पुस्तकयो 'यत्रे नि पद 'तन्मते' इत्यनन्तरं योजितम्, अतएव 'पूर्वतुभूत'  
 इत्यधिकं व्याख्यानञ्च दृश्यते । तन्मते त्रिधावित्यन्तस्य विशेषणमिदम् ।

(१) निमित्तमिति । यथाच लोलाविनाविन्यत्र निमित्तार्थं सप्तमी 'तत्र स्थितौ यत्रोऽभ्यासः'  
 इतिवदिति बोध्यम् ।

(D) धूलिकदम्बपुष्पविशेषः । अत्र चक्रवर्त्तिव्याख्याबलेन रमणीयं मालतीसुरभय  
 इत्यनेन सौगन्ध्यलाभेऽपि विशिष्टसौगन्ध्यलाभाय सदुपादानस्य सार्वक्यसम्भवात्, टीकाकृन्मते  
 कदम्बपदसार्थकस्य दुरवस्थात्वात् वनानिलस्यास्य अलम्बानिला इत्येतावनाऽपि सम्भवात् ।



सा चैवास्मि तथाऽपि तत्र सुरतयापारलीलाविधौ  
रेवारोहसि बेंतसीतम्लले चेनः समुत्क्रण्यते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः, रसस्य हि' प्राधान्यान्नालङ्कारता ।

मध्यनुदीपकत्वात्, सौरमलामस्तु मालतीसुरमय इत्यनेनैव । ममावस्थावैलक्षण्यमपि  
तत्र(१)नास्तीत्याह—सा चैवेति ; तदवस्थैवास्मीत्यर्थः । एवञ्च चित्तं स्वभाववैलक्षण्य-  
विशयेन विस्मयेनादीक्षितः शृङ्गारमासोऽत्र\* व्यङ्ग्यः । अत्रेति । मस्तुटे तु  
विभावनाविशेषोक्तौ मल्लभूतौ स्त एवेति बोध्यम् । तथाहि—उत्कृष्टाकारणानां रति-  
समर्थनायकाद्यभाषानामभावेऽपि उत्कृष्टारूपफलकथनाद् विभावना “क्रियाया” प्रति-  
पेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावने”ति तद्वृत्त्यात् ; क्रियापदस्य च तत्र कारणमात्रपरत्वात् ।  
तथा अनुत्कृष्टाकारणानां रतिसमर्थनायकादीनां सत्त्वेऽपि अनुत्कृष्टारूपफलस्य  
उत्कृष्टारूपभावकथनाद् विशेषादिकि “विशेषादिकिरूपणेषु कारणेषु फलावच” इति  
तद्वृत्त्यात्, तत्र च फलावच इत्यस्य फलभावकथनमित्यर्थात् । अनयोः स्फुटत्वञ्च  
कारणभावफलप्रभाषयोर्वाचकेन नञोऽनिर्दिष्टा दुस्मिन्मध्यमतीति कृत्वात्\* । यच्च हरो वर  
इत्यनुप्रासः सोऽपि न स्फुटः रसोपकारकत्वे सति शीघ्रप्रतीपमानस्यैव स्फुटतयाऽभि-  
प्रेतत्वात् ; सविसर्गतया गुरुणा रेफेण घटितस्यास्य अनुप्रासस्य तु शृङ्गारानुप-  
कारकत्वात्, “रणौ लव” इति शृङ्गारीयमाधुर्यव्यङ्ग्यकृत्वा वक्ष्यमाणत्वात्(१) । नन्वत्र

[illegible]

1 'रसज' इति मुद्रितपुष्पकपाटः । 2 'भामावैलक्ष्ण्यविषयविवक्षयनिर्वाहमात्रेण' छ, 'भामावैलक्ष्ण्यविषयविवक्षयनिर्वाहमात्रेण' छ । 3 'ज्ञानमुत्प्रेष्य तदभावाभावात्' छ । 4 'अथवा साक्षात् प्रतीति' छ ।

‘उपनायकविरयः’ इत्यादिनास एवास्ति व्यङ्ग्यस्तस्य चोर्जस्विनामा’\* लङ्कारत्वेन गुणी-  
भूतव्यङ्ग्ये च यद्यमाणात्वात् स एवात्र स्फुटोऽलङ्कारोऽस्तीत्यत आह ‘रसस्य हि’  
रसाभासस्य (A) होत्यर्थः, उपनायकविरयत्वेन रसस्याभासत्वादेव प्राधान्याद्रसा-  
न्तरानङ्गत्वात्, अपरस्याङ्गत्वं पञ्च रसस्यालङ्कारतया यद्यमाणात्वादिति भावः ।

तत्त्वान् अतोऽन्या अस्फुटत्वेन । न च स गतेत्येककारेणानत्वाभावाप्रतीतिः (अतत्त्वाभावस्य १)  
अतत्त्वाभावत्वेन प्रतीती कथमस्फुटत्वमिति वाच्यम्, विशेषणसङ्गतैवकारेण विशेष्ये विशेषणादोगम्य  
व्यवच्छेदो हि प्रत्याप्यते न तु विशेषणाभावाभावा एवाहृत्य, पर्यवसानान्तु तत्रेत्यस्फुटत्वमेव ।  
एव विशेष्यमङ्गमेताप्येवकारेण विशेष्यभिन्ने विशेषणाभाव एव नाहृत्य प्रत्याप्यते किन्तु विशेषण-  
योगाभाव इति दृष्टव्यम् । अत एव “शङ्ख पाण्डुर एव” इत्यादौ नापाण्डुर “पार्थ पुन धनुर्धर”  
इत्यादौ च नान्यो धनुर्धर इत्यादि कर्माचित् स्फुटत्वाय प्रयुज्यते । इत्यप्याह—त्वन्मुन  
त्वन्मुनेनैव तुल्य नान्येन केनचिदिति, अन्यथा पुनरस्ति तत्र स्वादिति । अग्योऽस्फुटत्वं  
च सन्देहस्यमङ्गुरोऽयमयोरस्फुट इति विभाषनीयम् इति ।

(A) रसाभासस्येति । अत्रेदमत्रेयम्—होतेऽस्मिन् व्यङ्ग्यभावेनोपपत्त्यलामान्  
टीकाकृतौ रसाभास इति सङ्गच्छत इति । तथाहि ण्कस्मिन् वाक्ये अवधारणव्यत्य  
दुरपवादेतया अभ्यवधानाद्वानेकार्थतया ‘हि’ शब्दान्ध रक्षणीत्यर्थ उक्तत्र तथाऽपीत्यनेन  
साकादृश । एवं वरत्तद्वन्वार्थं पति । तथाच य कौमारहर स एव हि वा  
इत्यनेन विवाहान् पूर्वमन्यत्र वदन्नुपगमाया पञ्चदशी प्रथमप्रणयिनोऽग्राभरपमुत्कण्ठा-  
कारेण नास्तीति सूच्यते । ध्वमुत्तरवत्त्वमपि कालादीनामुदीपनकारणाना सत्त्वमवगम्यते ।  
इत्थ लिपित्वव्यनुदकण्ठाकारेण उक्तप्रमाना उत्कण्ठा ‘ते हि नो विवन्ता गता’ इतिवत् सकल-  
मातुष्यसारसम्मारोपादानभूत नववीरनमेवातीततया पुनश्चुञ्च व्यापयन्ती विवादेनैव व्यभि-  
चारिणं सुवविपुलमिति, दर्पणकारोक्तस्य कालक्षेपासहिष्णुत्वलक्षणाद्यौत्तुक्यम्यात्राभुमयेना-  
विपरीकरणात् स्वराष्ट्रवाच्यतापत्तश्च, नापि शृङ्गारस्यम्, सम्मोहम्यात्रानुभवात् विप्रलम्भस्य च  
मायकालाभक्तुम्यामम्भवात्, तदव्यतिरिक्तस्य प्रकृतान्तत्वाप्रसिद्धिरिति कस्यचिरात् ।  
पञ्चोद्गीत-विश्रमाथ-राममर्कवागीशायाम् “तत्र सरत्तवापसरलीलाविधौ रेषारोपमि नेतमीतस्तरे”  
इत्यनेन उत्कण्ठाया विश्रमाथ-विश्रिष्टाकात्रिणकप्रसुतविषयमौत्तुक्यमेव व्यभिचारिण  
वर्णयन्ति । उक्तं हि विश्रमाथेन “अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तत्  
रसनधर्मयोगिनिवाद् व्यभिचारिणामपि रसराष्ट्रवाच्यत्वेन गताय मन्तव्य”मिति । ‘अनुभावाद-  
हृत्परिशेषादित्येन रते सम्पूर्णरसत्वं न सम्भवति वर्णनीयत्वेन चमत्कारित्वेन औत्तुक्य-  
स्यैव प्राधान्यम्’ इति च तत्र टीकाया राममर्कवागीश । कस्तुनस्त्वत्र दर्पणकृतस्य कालक्षेपा-

तद्भेदान् क्रमेणाह—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्धनिर्वुधैः कथितः ॥४॥

इदमिति काव्यम्, बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्ज-  
कस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मन्तानुसारिभि-

‘तद्भेदान्’ काव्यप्रभेदान् । ‘क्रमेण’ कारिकावृत्तयेण । इदमिति । ‘वाच्या’  
इतिशयिनि’ वाच्यपेक्षया अधिकवस्तुकारिणि, ‘व्यङ्ग्ये’ सति ‘इद’ काव्य ‘ध्वनि’  
तदेव ‘उत्तम’ काव्यमित्यर्थः । अत्र कारिकास्थस्य बुधपदस्य आलङ्कारिकबुध-  
परत्वेऽपि ध्वनिव्यवहारस्योद्देशमर्थनाथं तद्वृत्तिमवृत्तपदार्थानां वैयाकरणरूपबुधानां  
मतं दर्शयति—बुधैर्वैयाकरणैरिति । आशुमित्रादिना कर्मिणाणां मेलकामात्रा  
दनेकवर्णध्वनितकलसादिपदस्य शानासम्भवात् ‘पृथ्वी’ रचनां भुवनसंस्कार  
सचिवस्यानुभूयमानवर्णमवर्णस्थ पदव्यवक्तृत्वं तैरुच्यते पदस्य स्फोटपरिभाषा  
वर्णमवर्णस्थ(४) ध्वनिपरिभाषा च तैः कृता । मर्यादाध्वन्यानुवर्णपेक्षया पदप्रधान

सङ्क्षिप्तत्वात्प्रतीतावपि “अधुनैवाप्य शब्दो ममान्तु इतीच्छा औत्तुह्यमि” नि रसगङ्गापरोक-  
लक्षणे औत्तुह्ये तेषामभिप्रायकल्पने न काचित्पुनरिति । समुच्चयने इत्यनेन औत्तुह्यमप्य  
स्वशब्दव्यवहारादपि न नृपदस्य स्वरति दुःखमात्रं भवतीत्याचार्यकल्पनया निराकरणीया । वेतसी  
तस्य वृद्धदेसीपदेनवत् तुलनासाक्षादितिष्ट कार्मरीराज्ञौ वेतयनाम्न प्रसिद्धस्तद्विधेयं पत्र तेन  
वेतनलतायास्तत्त्वबारेणकदाचित्तो वा शरिरिष्यादिककल्पनया भावसर इति ज्ञेयम् । शिलावाङ्मी  
काचित् कार्मरीदेसीया कवयित्री राक्षसध्वन्याद् भद्रसिका इति शिलाभट्टारिका, तस्या  
पधनिमिति शङ्कधापदौ स्पष्टम् ।

(४) अत्र वर्णमवर्णमिति कलितकथनम्, स्फोटात्मरूपदस्य व्यञ्जनाकाले तस्यैव भूयमाणत्वात्  
वर्णान्तराणाञ्च तद्वर्णानां सम्कारमन्तरावनेकत्वात् न तु भूयमाणतादशाया प्रथमादिवर्णानामपि  
ध्वनित्वं नैव्यते । उक्तपरिभाषाया प्रमाणन्तु महाभाष्ये—एव तर्हि स्फोट शब्द, ध्वनि  
शब्दगुण ध्वनिरूपा बुद्धिः । ध्वनि व्योमस्य शब्दानां ध्वनिस्तु मनु लभ्यते । अस्यो  
महाश्र केरादिबुधं तत्त्वभावतः ॥ अस्य व्याख्याया केष्ट—शब्दस्य ॥ उपकारक  
व्यञ्जकत्वेनेत्यर्थं ननु यथा कट पुन पुनर्दृश्यमानोऽपि न भ्रम्यकल्प्यते तथा विलम्बिताया  
वृत्तावकार एव पुन पुनरुपलभ्यते इति वृत्तिभेदेऽपि वणस्य भदो न गृह्यत इति सर्वान् वृत्ति  
तत्कालस्यम् । ध्वनि स्फोटमिति व्यङ्ग्यो व्यञ्जकत्वार्थः । शब्दानां व्यञ्जयानां सम्यन्वी  
व्यञ्जकत्वं यो ध्वनि स महानल्पश्च लभ्यते व्यञ्जयस्त्वभिन्नकाले इत्यर्थः ।

रन्यैरपि न्यग्भाविनवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनसमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

यथा—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनज्जने पुलकिता तन्वी 'तथेयं तनुः ।

मिथ्यावादिनि दृति वान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा ।

वापीं स्नातुमिनो गताऽसि न पुनस्तस्याऽयमस्यान्तिकम् ॥ ३ ॥

अथ तदन्तिकमेवरन्तुं गताऽसीति प्राधान्येन व्यज्यते ।

तस्य स्तोत्रस्य व्यङ्ग्यमेव, तद्व्यङ्ग्यस्य शब्दस्येति वरमवर्णकपदस्येति । तत इति, शब्दस्यैव विवक्षित इति मत्तनुसरणम् ; न तु काव्य इत्यवश्यम् । अन्यैरिति कारिकास्थबोधस्य व्याख्या । न्यग्भाविनेति । न्यग्भाविनं स्वात्त्रिजयेन निरुद्धीकृतं वाच्यं येन तादृशव्यङ्ग्यव्यञ्जनसममित्यर्थः, व्यङ्ग्यस्य वाच्यत्वादिशक्तिव्यतिरेकेन वाच्यस्य न्यग्भाविनत्वात् । शब्दार्थयुगलस्येति काव्यस्येति, तद्व्यङ्ग्यस्य काव्यत्वेनेति त्वात् ; तस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इत्यन्वयः ।

निःशेषेति । उपनायकमानेतुं श्रेयितां तदुपभोगलुप्तचन्दनादीन् वापी-  
स्नानव्याजेन शोषयन्तीं दूतीं प्रति नायिकायाः सोऽलुप्यनोक्तिरियम् । मयेष्टयाऽसौ  
नायात इत्येवं मिथ्यावादिनि हे दृति ! वान्धवजनस्य मम अज्ञातकामपीडागमा एवम्  
इतः मत्सकशावृत्तं स्नातुं वापीं गताऽसि न तु तस्यायमस्य अन्तिकम्, यतस्ते स्तनतटं  
निःशेषच्युतचन्दनम्, अधरस्य निर्मृष्टरागः, नेत्रे च दूरम् अतिशयम् अमनज्जने, तथा  
इयं तन्वी क्षीणा तनुः पुलकिता, तथाशब्दः समुच्चये । स्नानकाव्यमेवेति सर्वमिति  
सोऽलुप्यनोक्तिः । अत्र 'व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति । ईदृशं व्यङ्ग्यं वाच्यार्थपेक्षया  
प्राधान्येन विशिष्टम् यतत्काव्यस्य रूपेण शब्दार्थयुगलेन व्यज्यत इत्यर्थः ; 'वाच्यार्था-  
पेक्षया' प्राधान्यञ्च विप्रलम्भातिरव्यङ्ग्यत्वात् ; 'विप्रलम्भो हि दुस्तस्मिन्ना रतिः,  
दुस्ताधिक्याच्च दृढतिष्ठानः' ।

1. 'तथेय' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 2. 'पीडागमे' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 3. 'प्राधान्येनावधारणेन  
अन्तिके' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 4. 'व्यङ्ग्यमाह' स-न । 5. 'वाच्यार्थमाह' स-न । 6. 'पेक्षया' स-न । 7. 'तथाहि तदन्तिकमेव वान्धव-  
जनस्य मम अज्ञातकामपीडागमा एवम्' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 8. 'तथाशब्दः समुच्चये' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 9. 'वाच्यार्था-  
पेक्षया' प्राधान्यञ्च विप्रलम्भातिरव्यङ्ग्यत्वात् ; 'विप्रलम्भो हि दुस्तस्मिन्ना रतिः,  
दुस्ताधिक्याच्च दृढतिष्ठानः' इति मुद्रितपुस्तकपाठः ।

तदुक्तम्—

सम्मोहं सुखसम्मिमां विप्रलम्भस्तु दुःखयुक्त ।

रतिस्तयो प्रकर्षं स्यादाधिकात् सुखदुःखयो ॥ इति (A)

कचित्तु प्राधान्येनाधमपदेनेति पाठस्तिष्ठति, तच्च (B) न रुचिरम्, बाध्यापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्ये उदाहर्तव्ये व्यङ्ग्यप्राधान्यकथनस्यानुपपत्त्यात् 'किन्तु पञ्चमोहात् "अधमपदसंज्ञायानामेषां व्यङ्ग्यत्वं"मिति ग्रन्थकृता (यद् १) वक्ष्यते तद्दर्शनादत्र तथा पाठ केचित् रचयन्ति, तत्पदस्य प्राधान्यञ्च तदन्तिके दृष्ट्या भगवन्ने वाच्यार्थे तस्यापराधाभावात् तस्याधमत्वोक्तवनुपपत्त्या द्वितीरमणरूपव्यङ्ग्यार्थनैवाधमत्वोपपत्तेः (C), तत्र, अधमपदप्राधान्यस्य ग्रन्थकृतसम्मत्त्वेऽपि प्रवृत्तेऽनुपपुक्तस्य कथनानौचित्यात् । घस्तुतस्तु अधमपदप्राधान्यमपि नास्ति द्वितीरमणसापेक्षत्वादेव तस्याधमत्वोक्तपुपपत्तेः, तथा \* अधमपदस्येनाग्येनामपि पदानां द्वितीरमणव्यङ्ग्यत्वमस्त्येव, (D) तथाहि ज्ञाने स्तान्धन्वाधररागयो जालनमेव न तु व्युत्तिनिर्माणार्जने, तयो सम्मोहघर्षादेव सम्भवात् अतश्च्युतनिर्मुहपदे अपि तस्य व्यङ्ग्ये प्राधान्ये एव, तथा ज्ञाने समस्तस्तनस्यैव

(A) अत एव इत्यमानं स्वप्रवृत्तदृष्ट्या स्वनायकोपभोगेन च व्यङ्ग्येन वाच्यतदन्तिका-न्मनापक्षपादं तु साधिका' इत्यस्य पूर्ववाक्यस्यैव तु साधिका' इत्यस्योपपादिका विष्णोति प्रतिमाति ।

(B) तत् तादृशाभावावस्थानमित्यर्थः ।

(C) अधमत्वोपपत्तिरिति । अत्र वाच्याप्राधान्यस्य व्यङ्ग्येन द्वितीरमणेनोपपत्तेः वाच्य-तिद्वयप्राधान्यगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवाम्य स्यात्तु ध्वनित्वमिति चिन्तनीयम् ।

(D) अण्डं चिन्तनीयम्, टीकाहता तथाहीत्यादिना व्युत्ततदविमृष्टाधराविशदाना ज्ञान-व्यापत्तेन द्वितीरमणव्यङ्ग्यताया सदसाधारण्यं प्रदर्शितं तत्र ' तथा नि शेषच्युतेत्वाद्वा गमकतया वा नि चन्दनव्यवसादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तातोऽपि अवन्ति अतएवैव ज्ञानकार्यत्वेनोपात्तानीति शेषभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तज्ञानी इति पञ्चमोहासग्रन्थविरोधो दुष्परिहर इति सर्व्वेवामेव तादृशपदानामुभयसाधारणार्थकत्वेव व्याख्यानमुचितमिति । तथाच रसगङ्गाधरे—अपि बाधध

चन्दनलोपो न तु तदमात्रस्य, अतः सम्मोहघृष्टत्वेन तदपदमपि तथैव । पद्मधर-  
पदमपि उत्तानत्वेन चुम्बनघृष्टत्वव्यञ्जना तथैव, काने तु न्युञ्जस्य ओष्ठस्थापि राग-  
लोपः स्यात् । तथा इयम् पदतत्तणवर्तिनी तन्वी त्सु पुलकिता, पूर्वसमयरत्नौ  
भावानुद्बोधेन पुलको नासीद्विवानीन्तु निरानाधरतिनिव्वहिन भावोद्बोधात् पुलकः,  
काने ॥ घर्ममधमेण पुलकलोपः स्यादतः 'इव'मिति पदमपि तद्वचञ्चकम्, अतः कथमधम-  
पदस्य प्राधान्यम्, अधमपदमहावानामिति ग्रन्थकृद्विहितस्य तु अधमादिपद-  
सहायानामित्यर्थः । अत्र (A) केचित्—तदन्तिक न गताऽसीति वाक्यार्थस्य रतिविह-  
र्षणेन बाधान् न गताऽसीत्यत्र विरोधलक्षणया गताऽसीति लक्ष्यम्, तथाच तद्वश-  
स्याम्यङ्गत्वाद् गताऽसीत्यनन्तरं लक्ष्यमिति पूरणीयम्, व्यज्यते इत्यस्य तु  
रन्तुमित्यवधान्याद् रन्तुमिति व्यज्यते इत्येवमेव ग्रन्थकृद्विज्ञेन व्याचक्षते, तन्न,  
न गताऽसीत्यस्य वाक्यत्वेन लक्षणया (B) वयमायात्, वार्त्तिं ज्ञातुं न गताऽसि  
तदन्तिकमेव गताऽसीत्येवमन्वये' तदन्तिकगमनस्य शक्यैव बाधनसम्भवाच्च (C) ।

जनस्याद्यातपीडागमे स्वार्थपरापणे ज्ञानकालातिशयभयवशेन नरीमदीयप्रियोरन्तिकमगत्यैव  
वार्त्तिं ज्ञातुमितो भवन्तिकान्ताद् गताऽसि, न पुनस्तस्य परैरेवामभिज्ञतया तु ज्ञातृत्वमाध-  
मस्यान्तिकम्, यतो हि शेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तदमेव शौरस्यक बापीगतबहुल्युवजमप्रपात-  
वदयाव्यवहृत्पदमायस्वस्तिकीकृतमुजलतापुष्पेन तदन्त्यैवोन्नततया मुद्रामर्शात् । एवं त्वया सम्य-  
गक्षालनेन उत्तरोष्ठो न निर्मिष्टरागोऽभूत्सु तदपेक्षया मण्डूकचल-वदनशोधनाहुत्वापीनामभिक-  
सम्प्राप्तावहतीति तथा । किञ्च सम्यगक्षालने नेत्रे जलम्रात्रसस्पादं दूरमुपरिभागं पृथक्पृथक् ।  
शीतवशात्तान्माद्य तव तनुः पुलकितेति । . एवं साधारण्येऽप्येव वाक्यार्थेषु सुस्पष्टार्थं बाधाभावाद्  
तात्पर्यार्थस्य सदित्यनाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणावकाशोऽनन्तरञ्च वाक्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्य-  
मापकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीती सत्प्राप्तमनपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोगको तु ज्ञातृत्वरूपो यन्मं  
साधारणात्मा प्राच्यार्षवशायामपरायामपराधान्तरनिमित्तकदुःखज्ञातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण  
दूरीतसम्मोहानिमित्तकदुःखज्ञातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीति ।

(A) केचिदिति साहित्यदर्पणकृता इत्यर्थः, तथाच दर्पणे—“अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं  
गताऽसीति विपरीतलक्षणा लक्ष्यं सन्धेयं च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूरीवैशिष्ट्याद्बोध्यते” इति ।

(B) तन्मतेऽपि वाक्ये न लक्षणा, किन्तु मण्डूकस्यैव एवार्थं लक्षणेति न दोष  
इत्यवेषम् ।

(C) इदन्तु न साम्यं 'त्यर्थेव पुनराशब्देन पूर्वान्वयव्यवच्छेदात्' इति तर्कवागीश ।

(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशापिनि । यथा—

ग्रामनरुणं तरुण्या नववज्जुलमञ्जरीसनाधकरम् ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

अत्र वज्जुललतागृहे दत्तासङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्,  
तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

किञ्च निःशेषत्वादौ (A) पञ्चमोद्घाते गमनविधेर्व्यङ्ग्यत्वमेव ग्रन्थकृता ब्रूयते,  
निषेधलक्ष्यत्वव्याख्याने तद्विरोधः स्यात् । न च बाधातृत्तणां विना भूतुपपत्तिरिति  
प्राच्य वाच्यार्थबोधानन्तर बाधावतारे बाध्यमानेन तेन यथोक्तस्यङ्गनेऽनुपपत्त्याभावात् ।  
अतः पराक्तम्—

कचिद्वाच्यतया ख्यातिं ब्रूयितुं शक्यतस्य बाधनम् ।

१ एकत्र लक्षणैः स्याद्व्यञ्ज्यं व्यञ्ज्यैव तु ॥ इति

अतादृशीति । व्यङ्ग्ये वाच्यादनतिशापिनि मति काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्यम्, तत्र  
मध्यममित्यर्थः । वाच्यादनतिशयः वाच्यतुल्यचमत्कारित्वे वाच्यन्यूनचमत्कारित्वे  
च भवति, तत्र वाच्यन्यूनचमत्कारित्वेऽसुन्दराख्य गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—  
ग्रामनरुणमिति । नवया वज्जुलस्य (B) अशोकस्य मञ्जरी सनाधकरं विशिष्ट-  
पाणिं ग्रामतरुणं मुहुः पश्यन्त्यास्तदृश्या मुखच्छायां नितरां मलिना भवतीत्यर्थः,  
मुहुर्दर्शने अन्यगङ्गानिरासार्थं ग्रामतरुणत्वोपादानम्, ग्रामस्य परिवितत्वेन  
मुहुर्दर्शनेऽपि शङ्काऽनुवयात् । चक्रवर्ती तु—ग्रामस्य मध्ये न यत्र तरुण  
इत्यनेकनापीप्रार्थमानत्वसूचनं मुखमालिन्योपपादकमित्याह, तत्र, तादृशनिर्वाण-  
प्रापकाभावात् । उभयत्र तरुणत्वोपादानं परस्परानुरागसूचकम् । मञ्जरी  
नरत्वेनाकालीनत्वप्राप्त्या लोकेषु तत्प्रदर्शनौचित्येन करो तत्स्वरूपाच्छङ्कानुरागः ।  
अत्रेति । गृहव्यापाराहतागृहेऽग्रामनव्यङ्ग्यं लतागृहचिह्नदर्शानामुत्तममालिन्येन वाच्येन

(A) “वाच्यव्यङ्ग्ययो निःशेषत्वाद् निषेधविज्यात्प्रभा” इति पञ्चमोद्घातग्रन्थः ।

(B) “वज्जुलो वज्जुलोऽशोके” इति “वज्जुलं पुंसि विनिश्चे वेत्तसाशोकोरपि” इति

च कोटः ।

1. ‘पूर्वम् वचनेन वाच्यतया मितेव तु’ इति हर्षव्यासः । 2. ‘नवय’ ख ४ ।

(४) शब्दचितं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्वरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीय-  
मानार्थरहितम् । अवरमघमम् । यथा—

सामाजिके प्रतीयत इत्यर्थः, तच्च व्यङ्ग्यं वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनघमत्वकारि  
इत्याह—(A) गुणीभूतमिति । वाच्यन्तु मुखमालिन्यमधिकवमत्वकारीत्याह—तद-  
पेक्षयेति । अशम्भाय—चमत्कारस्तावन्न विप्रलम्भमव्यङ्ग्यमव्यङ्ग्यं वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य च,  
'तन्न सङ्केतस्थलचिह्नहस्तनायकदर्शनात् मुखमालिन्यमन्यथासिद्ध विप्रलम्भादेव भवतीति  
व्यङ्ग्यनिरपेक्षमेव वाच्य विप्रलम्भमव्यङ्ग्यम् ; व्यङ्ग्यन्तु वाच्यमालिन्योपपादकमेव,  
न तु वाच्यसाहाय्यं धिना स्वतो विप्रलम्भमव्यङ्ग्यं नायिकाया अकार्यत्वात् नो गृह्य-  
समापनानन्तरमप्यदाऽपि नायकप्राप्त्या स्पष्टदयाम्बासनेन वा विप्रलम्भानुवपात् ।  
भूतो लतागुहेऽगता सङ्केतस्थलचिह्नहस्तोपनायकदर्शनात् मलिनमुखीरपेक्षं वाच्यसह-  
कृतमेव व्यङ्ग्यं विप्रलम्भमव्यङ्ग्यमिति वाच्यमुखनिरीक्षकतया व्यङ्ग्यं न्यूनघम-  
कारीति\* । न च अकार्यहेतोरपनायकस्य दर्शनात् कोपेनापि मुखमालिन्यं भवतीति  
वाच्यमपि कथं व्यङ्ग्यनिरपेक्षं विप्रलम्भमव्यङ्ग्यमिति वाच्यम्, स्वयं कृतसङ्केताया-  
स्तस्यास्तर्शनेन कोधानुवपात् 'कोपे सति मुहुर्दर्शनाभावाच्च' । निशेपेत्पादौ तु  
वाच्यविरुद्धं व्यङ्ग्यं न वाच्यमुखनिरीक्षकमिति भन्त्यम् ।

शब्दचित्रमिति । वाच्यचित्रम् अर्थविश्रमितीत्यर्थः । उभयसाधारणं  
चित्रत्वमाहितमैवोत्कीर्तयति—चित्रमितीति । सर्वथा मीरसस्य काव्यरवा-

(A) हृदयप्रावधेयम्—गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमत्र वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनघमत्वकारिणं  
दत्तसङ्केता नागत्यर्थमभिप्रेत्यैवौ\* मुखमालिन्येन व्यव्यमानम्य विपादित्यं तु पर्यवसाने  
प्रधानतयैवावस्थानात्तदभिप्राये असंख्यक्रमध्वनिस्त्वमेवास्य युक्तमिति ।

१ 'वराहमिहः साहसनायकमुद्धृष्टं नायकमालिन्येन वाच्येन व्यङ्ग्यनिरपेक्षेण शब्दे ( अर्तुम् )',  
स्पष्टकथ्यापत्ताया नायकदर्शनाच्चित्रमुख्या विप्रलम्भासं संनानुभवसिद्धत्वात् । व्यङ्ग्यं तु सङ्केतस्थलगतम-  
न्वये विप्रलम्भं स्वतो व्यङ्ग्यं न भवति अकार्यत्वात् नोपि सङ्केतस्थलगतमव्यङ्ग्यं मुहुर्दर्शनाभावाच्च-  
नाघौलमुखमालिन्यकृतनेन भवति एव विप्रलम्भो व्यङ्ग्यमनुगतो वाच्यमुखनिरीक्षकत्वादित्यं व्यङ्ग्यं न्यून  
घमत्वकारि व्यङ्ग्यमुखनिरीक्षकं वाच्यं लघिचमत्वकारी न ।

२ 'न च तद्वशेनाकार्यत्वात् सङ्केतस्थलमालिन्यं लघिचमत्वकारीति वाच्यत्वात् मुहुर्दर्शनाभावाच्च' न ।

३ 'यतः परं 'तन्न इ' शब्दव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्येन चमत्कारीतावतिवम्, स न पुनरुत्कीर्तयति' पाठः ।



स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-

मूर्च्छन्मोहमहपिहर्षविहितसानाहिकाऽह्वाय वः ।

मिद्यादुच्यदुदात्त'ददुरदरीदैर्घ्याऽदरिद्रु म-

द्रोहोद्रेकमहोम्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥ ४ ॥

(A) विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।

मन्दीकारादपरिस्फुटरसवृत्तिगुणवत्तया गुणयुक्तत्वं बोध्यम् । स्फुटप्रतीयमानेति ।  
 'प्रतीयमान' इत्यर्थः । न च वाक्यमिदं मन्दीकारमस्फुटमिति (B) यदृच्छयाऽपि गुणीभूत-  
 इत्यर्थकस्य वक्ष्यते तदभेदापत्तिरिति वाच्यं स्फुटालङ्कारत्वे विग्रहः, 'अस्फुटालङ्कारत्वे  
 तु गुणीभूतइत्यर्थमिति भेदात् । सार्धं वा वैचित्र्याभावात्त्रिरलङ्कारन्तु भकाव्यमेव  
 सातृत्वात्त्वयित्वाक्यलक्षणमावात्(C) । अधममिति । पूर्वव्यापेक्षया न्यूनमित्यर्थः,  
 न त्वसत्काव्यमित्यवधेयम् । स्वच्छन्देति । मन्दाकिनी मन्दा अवाप मन्दिति वा  
 युष्माकं मन्दतां पापेनापकृष्टां मित्रात् नाशयतु इत्याशी, 'मिन्दा'विति पाठे तु  
 रिषी सप्तमी । कीदृशी ? स्वच्छन्द यथा स्यात् तथा उच्छन्द उद्विगच्छत  
 अच्छस्य निर्मलस्य कच्छकुहरे स्यसमीप्यर्षिषर्यतगुहाया छतेनरस्य पुंल्लिङ्गस्य  
 वेगवतोऽभ्युन कृत्या कान्त्या मूर्च्छन्त नभ्यन्त मोहा मशवानि येषां तादृशीर्महोर्मि  
 इषेण विहितं ज्ञानाद्यादिक वस्यां तादृशी । उच्छलरिति शब्द मत्तौ । व्युत्पत्तिः, 'मन्दासो  
 दुर्लभश्चातः' इति कोषः । तथा, उद्यत् प्रकाशमानम् उदात्तं ददुरदरीणां मन्दीकाराणां  
 दैर्घ्यं यस्यां तादृशी, येषां तु जलप्रवेगेन उपरिमाद्यमद्वात् तदुद्यत्तां दैर्घ्यप्रकाशात् ।  
 तथा, मन्दिराणां महतां द्रुमाणा द्रोहोद्रेकेण 'उद्विगच्छतोदयेन ये महोर्मय' स' मेदुर-  
 मदा निविडप्रवाहवापत्या । अत्र छकारवकारानुमासो ध्वज्यम् । मन्दाकिनीविदय-  
 मायस्य सतोऽपि तदननुगुणौजोगुणव्यञ्जकवर्णानुप्रासेन दीर्घसमासेन उदात्तद्वर-  
 दरीत्याद्यपुष्टार्थकविशेषणेन च अक्षर्यणतादस्फुटत्वम् । अर्थविग्रहाद्- विनिर्गत-

(A). काश्चोत्क-मेरुद्विप्रणीतदृषीवक्तव्य वक्ष्यमिति प्राञ्ज ।

(B). अस्फुटव्यवधारणं गुणीभूतइत्यर्थमित्यर्थः ।

(C). सातृत्वात्त्वयित्वा कान्दल्लक्षणं सत्य तादृशव्याप्योत्तरत्वात्त्वयित्वा ।

1—'ददुरदरी' दोषोऽदरिद्रु इति मुद्रितपत्र-छट ।

2 'महोर्मय' छ । 3 'महोदयेन' छ-न ।

ससम्भ्रमेन्द्रु तपातितागला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥ ५ ॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूप-  
विशेषवर्णनो नाम प्रथम उल्लासः ।

मिति । य ह्यग्रीवन्तुं मानद अतोर्मानखण्डक मित्रस्य मानदायकञ्च आत्म-  
मन्दिराद् यद्वच्छयाऽपि विनिर्गतमुपश्रुत्य परम्परया धुरता ससम्भ्रमेण सभयेन इन्द्रेण  
द्रुत पातितागला पत्तिनद्वारपिधाना सती अमरावती भिया निमीलिताक्षीव भवतीत्य-  
म्बयः । उपश्रुत्येत्यत्र पातितक्रिययैककर्तृकत्वं (A) बोध्यम् । अत्र समापकनिराकाङ्क्ष-  
वाक्यबोध्यत्वेन प्रधानभूतस्य उत्प्रेक्षारूपार्थालङ्कारस्य चमत्कारेण सतंऽपि राज-  
विषयस्य भावस्य तिरोधानादस्फुटत्वम् । न च पातितागला भवतीत्यम्बये राजविषयभाव  
एव निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यप्रधानतया स्फुट इति ध्याय्यम्, तदा 'निमीलिताक्षीव' इत्यत्रापि  
भवतीत्यस्यानुपद्वापत्तेः, अतोऽन्तुपङ्गेन निराकाङ्क्षवाक्यबोध्यतया च चमत्कारिण्या  
भाष्यप्रतीतेर्विलम्बनमेव भाषास्फुटत्वबीजमित्यभिप्रायेणेदमुदाहृतम् । यस्तु तस्तु  
उत्प्रेक्षयापि परपुरीरूपपरस्त्रीभीतिजननाद् राजविषयभावप्रकर्षणमेवेतदिति ध्यापातत  
पवेदमुदाहरणमुक्तम् । षष्ठोल्लासे "ते दृष्टिमात्रपतिता" इत्यादिक यदर्घचित्रोदाहरण  
षड्यने तदेगोदाहरण बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यविरुक्तकाव्यप्रकाशादर्शे काव्यप्रयोजनादि-  
निर्णयस्य प्रथमः प्रतिबिम्बः ।

(A). भग्नैककर्तृकत्वकालेन अगलपातने मृत्याह्वानावसरालाभस्विन्यनो भयातिशयो  
भ्यस्त्यमावोऽपि न चमत्कारातिशय पुण्यातीति इदमम् ।

## द्वतीय उच्छासः

—

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकत्रिधा ।

अत्र काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

(६) वाच्यादयस्तदार्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

(७) तात्पर्यार्थोऽपि केपुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्दृश्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां

विशिष्टयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वेनोत्तत्वाद् बोध्यबोधकभावस्यैव च तयोर्वैशिष्ट्यत्वेन कया कया वृत्त्या तयोर्वैशिष्ट्यमिन्याकाङ्क्षाया तत्तद्वृत्त्या तयोर्वैशिष्ट्यं निश्च्युताह—  
क्रमेणेति । 'स्वरूप' तत्तद्वृत्त्या बाध्यबाधकस्वरूपम् । तथाच बाधकबोध्यता-  
सम्पादकवृत्ति<sup>१</sup>स्वरूपकथनमेव 'स्याद्वाचक' इत्यादिना उपक्रान्तम्, न तु बाधकादि  
सङ्गाकथनम्, तथा सति 'साक्षात् सङ्केतित याऽपि'मित्यादिवक्ष्यमाणवाचकलक्षणे  
बहुविशेषणापादानदैयर्थ्यं स्यादिति तद्वसरे दर्शयिष्याम<sup>२</sup> । परञ्च स्याद्वाचक  
इत्यादौ शक्त्या प्रतिपादको लक्षणया प्रतिपादका व्यञ्जनया प्रतिपादकश्चेत्यर्थ<sup>३</sup> ।

अत्र काव्य इति । यद्यप्यकाव्यस्याऽपि शब्द आलङ्कारिकैर्यञ्जक उच्यते इत्यतः  
काव्य इत्यव्यायर्त्तक तथापि काव्यविवेकालङ्कारास्त्रपरमेवात्र काव्यपद बाध्यम्<sup>२</sup> ।  
'स्वरूप' लक्षणम् ।

केपुचिदिति । प्राचीननैयायिकमनञ्चित्यर्थ<sup>१</sup> । तन्मते पदापस्थापितानां पदार्थानां  
संसर्गा बाध्याद्वासमानस्तात्पर्याख्या वृत्तिमपेक्षते तात्पर्याविशेषसंसर्गस्वैव बाध्या-  
ज्ञानात् । 'इयमेयाधुनिके' संसर्गमर्थ्यादाच्यते<sup>२</sup> । तदाह (५) आकाङ्क्षेति ।

A आकाङ्क्षा प्रतीतिर्यवसानविरह, स च ओतुङ्गिहासस्वरूप, योग्यता पदार्थानां

१ 'बोधकवृत्ति' इति उच्यते । २ 'बाध्यम्' तत्र जघनानन्दीकृतं ग्रन्थानुगतावधारकम्, न ।

३ स उच्यते नाभिः ।

सङ्केतस्याभेदेनदिति कयाचित् कञ्चित् प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या  
वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

सङ्केतस्थल दर्शयन्त्या दूत्या उक्तिरियम् । ऊहेति पथ्येत्यर्थः । निश्चलेति  
सम्बोधनम्, तस्य च निरुपमेत्यर्थः । शङ्खशुक्तिः शङ्खकपालम् । चक्रवर्त्ती तु निश्चलः  
पृथिवी सेव निप्यन्देत्यर्थः इत्याह, तत्र , पृथिवीचक्रस्य भवलाशप्स्य पवित्र-  
क्षमतायाः “निष्कम्पा रचिता नेत्रपुद्गल(A) वेद्य साम्प्रताम्” इत्यत्र दोषोद्भासे  
प्रत्यक्षतैव दृश्यमाणत्वात् , अन्यथा निश्चलनिप्यन्दत्वेनेत्येव वृत्तौ लिखितं स्यात्,  
न निप्यन्दत्वेनेति । अतः सङ्केतेति ‘उच्यते’ व्यज्यते इत्यर्थः । अत्रैव विकल्पेन  
व्यङ्ग्यान्तरमाह अथवेति, तथाच भट्ट तत्र गत्वा त्यागनासाद्य आगतोऽस्मीत्येव  
यद्वदसि तस्मिन्नेत्यर्थः । मिथ्यात्वं विवृणांति न त्वमिति, यदि त्वं तत्र गतः  
स्यास्तत्र बलका आभ्यस्ता न स्यादिति भावः ।

वाचकादीनामिति श्रुत्यादिना प्रतिपादकादीनामित्यर्थः, ‘स्याद्वाचक’ इत्यादौ  
तौव उपक्रमस्य प्रदर्शितत्वात् । ‘स्वरूप’ लक्षणम् । ‘शक्या प्रतिपादकतयञ्च शक्यधीन-

बलकं शरीरक्रिया स्थानान्तरयात्रिका स्वप्नस्वययवक्रिया सवप्रायिका, यदि किञ्चिद्वले  
इति वात्स्यपुराणात् । निष्कले स्वच्छे मरुतस्थ भीरुमणेर्मांसे स्थिता वट्टस्य छुक्तिः  
शङ्खशुक्तिः छुक्तिसदृशं कन्द्यादिनिघागपात्रम्, न तु मुक्ताशुक्तिः तस्या बलाकार्णवसदृशवर्णत्वा-  
भावात् शङ्खशुक्तिवत्स्य तत्रासामर्प्याह । एवञ्च अचेतनोपमया आत्यन्तिकक्षोभाभावात् सूच्यते ।  
पार्श्वान्तिकपल्लवकारम्यान्तु सम्भोगविप्रलम्भभेदेन व्यङ्ग्यद्वय प्रकाशे स्पष्टमिति सर्वत्र ।  
अपरेत्यादिनोक्तस्य व्यङ्ग्यस्य तु विप्रलम्भपरतया मापुर्ज्यतिशय इति केचित् । “बलाका-  
वरपङ्क्तिः स्याद्बलाका विपङ्क्तिः । बलाका कामुकी प्रोक्ता बलाकन्तु बको मतः” इति कोप ।

(A) अत्र सर्वोप्यवर्णानुसन्धेषु नेत्रपुद्गल बोधयेति पाठो विपिहृदप्रमादकृत एव दोष-  
परिच्छेदे तथाऽदर्शनात् ।

I शङ्केति । इत इति ‘व्यापट’ ( १० पत्ती-२८ पृष्ठे ) इति पर्यन्त कारिकायास्कां च-म-विहित-  
पुस्तकचोत्तराणि विमिश्रम्—तथाच शङ्का प्रतिपादकत्वं दृष्टवाचकत्वेदेकं तदवाचक लक्षणादित्यर्थः ।  
वाचादिवादि । यदि तु वाचकमश्रकलमेव वाचाचक इत्यादिना लघावावच्छेदकमुक्तं सासदादौ वनयनभित्तौ  
अभित्तया प्रतिपादयति स तदा वाचक इत्यावनेव सामान्ये ज्ञेये वेद्ये स्तव्ये, यस्या प्रतिपादकत्वस्य  
लक्षणावच्छेदकत्वे तु तत्र षट्ते लक्षणावच्छेदकनचचोर्द्वयोर्ध्वञ्च प्रतिपादकत्वस्य लक्षणावच्छेद-  
वाचकभावाद्युपपत्तेः । एवञ्च अभित्तौ इत्यादि वाभित्तया प्रतिपादयतीत्यादिवाचकत्वात्, किन्तु प्रति-

## (६) साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः<sup>(A)</sup> ॥ ७ ॥

प्रतिपात्तिजनकत्वं तच्च परम्परया लाक्षणिकशब्दोऽप्यस्तीत्यतस्तद्वारणाय<sup>(B)</sup> साक्षात्त्व-  
धर्म्मत तदुपग्राहक<sup>(C)</sup> लक्षणमाह—साक्षादित्यादि । अत्र सङ्केतितमिति सङ्केत  
शब्दासदुपग्राह्यं कारितम्<sup>(D)</sup>, ततः कर्मणि च । तथाच सङ्केतग्रहणमित्यर्थः, प्रदे-  
य साक्षात्त्व विशेषणम् । सङ्केतश्च तच्छब्दीयो वाच्यः न तु शब्दान्तरीयः तत्र लक्ष्यार्थ-  
वाचकशब्दान्तरमादाय लाक्षणिकाव्यावर्तनात्, तथाच “साक्षाद्” गृहीतस्वसङ्केत यमर्थ-  
य शब्दोऽभिधत्ते स शब्दस्तस्यार्थस्य वाचक इत्यस्य, वाचक इत्यस्य शक्त्या प्रति-  
पादक इत्यर्थः उपक्रमवाचि व्याख्यात एव, अतोऽत्र वाचकसङ्केत इति नार्थः, तथात्वे  
यो यमर्थं साक्षादभिधत्ते साक्षादभिधया प्रतिपाद्यतीत्येतादृशस्य सामञ्जस्ये शेषरीय-  
व्यापसः, पूर्ववर्गिताकारकत्वात् ॥ शक्त्या प्रतिपादकत्वमेव लक्ष्यतावच्छेदकत्वम्, तथात्वे  
च शक्त्या प्रतिपादकत्वं न लक्षणं सम्भवति लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणपरिन्त्येतादृशमाध्या-  
योः अतोऽत्र अभिधत्त इत्यस्य अभिधया प्रतिपाद्यतीति नार्थः किन्तु प्रतिपाद्यतीत्ये-  
वार्थः । तथाच यो यमर्थं प्रतिपाद्यतीत्येतादृशमात्रकरणे व्यञ्जनया (६) अशब्दार्थप्रति-

(A) अत्र प्रदीप — न च साक्षात् सङ्केतवान् वाचक इत्येतावतैव स्वस्थान्य अभिधत्ते इत्यस्य  
वैधर्म्यं संयोगादिनाऽभिधया निवर्तिनाया वाच्यपक्षप्रकृताः शक्त्यामतिव्यापारणीयत्वात् । न च  
तथापि तत्रातिव्याप्तिरूपेणि वाच्य यस्य शब्दस्य यत्राप्यवहितमङ्गुलमहो यक्षप्रह उपयुज्यते स  
तदर्थवाचक इति हि लक्षणार्थः । इदं च यत्राप्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते इत्यादि वृत्तिर्ज्ञात्वा  
सङ्केतविशेषणतया साक्षात् तदं व्याख्यातम् । वस्तुतस्तु सत्यागादिनाऽभिधया निवर्तिनाया यत्र  
शक्त्यान्तरव्यवहारे तत्र वाचकत्वं वा प्रमादङ्गीन्त्वभिधानक्रियाविशेषण साक्षादिति । तत्र तु  
वाच्यार्थप्रतीतिव्यवधानेन तन्प्रतीतिरित्यप्रसङ्ग इति । एतन्मतं माधुष्यादिभ्यश्चकवर्गस्य  
माधुष्यादिवाचकतावारणाय सङ्केतितपदमिति प्रमाकारः ।

(B) लाक्षणिकशब्दमाधारणस्य शक्त्या प्रतिपादकत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्ववारणायमित्यर्थः ।

(C) लाक्षणिकशब्दोऽप्यस्तीति लक्ष्यतावच्छेदकत्वप्रसङ्गकमित्यर्थः । तथाच शक्त्या प्रतिपाद-  
कत्वं लक्ष्यतावच्छेदक साक्षाद् गृहीतस्ववृत्तिकार्यप्रतिपादकत्वस्य लक्षणमिति न काऽप्यनुपपत्तिरिति  
ज्ञेयम् ।

(D) कारितमिति कलाप्रमते निवर्त्येत्यस्य इत्यर्थः ।

(E) व्यञ्जनया शक्त्यापप्रतिपादकं दृग्गलहित इत्यादाविष्टाप्रतिपत्तिर्नवादाह अत्राप्येति ।

प इयतीत्याद्यः । तदाच वा यमर्थं प्रतिपद्यतीति तावन्वाचकत्वं लक्ष्यतावच्छेदकत्वस्य प्रतिपद्यतीति  
च शब्दं लक्ष्यतावच्छेदकत्वस्य प्रतिपादकत्वं सादृशं चक—सङ्केतितमिति । सङ्केतग्रहणं तच्च गृह्यतीत्यर्थं प्रती-  
कत्वं कारितं तत्र कर्माचकं तदाच गृहीतसङ्केतमित्याद्यः सङ्केत सर्वत्र परकीयसङ्केतस्य परीक्षादृशत्वात् ।  
सङ्केतवार इतिवाच्यमिति न तु शक्तिः । यदा वो वक्षिष्ये गृहीतशक्तिः च तस्य शक्त्या प्रतिपादक इत्याद्यः



(१०) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

पद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव

सङ्केतितश्चतुरिति । सङ्केतितः साक्षाद् गृहीतस्वमङ्केतः । चतुर्भेदः  
चतुःप्रकारः । प्रकारचतुष्टयमाह—जात्यादिरिति, जातिगुण/<sup>A</sup> क्रियायद्व्योपाधि-

(A) अत्रेदमवगन्तव्यम्, आलङ्कारिकैर्जातिव्यक्रियाभिन्नवस्तुमाश्रम्यैव गुणमध्येऽन्तर्भाव  
इष्यते, तेन 'प्रियोऽप्यनुव्रतितुम्' इत्यादौ वक्ष्यमाणविरोधात्कारोदाहरणे अभावविरोधव्यापि  
गुणविरोधतया न विभागव्याप्यत इति । स्पष्टमिदं आलङ्कारिकव्याप्तम् ( पृ ३५ ) ।

तथाऽप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं<sup>(A)</sup>, न युज्यत इति गौः

रूप इत्यर्थः । अथैरेव सङ्केतित्वमुचितमित्याशङ्कते—यद्यपीति । ‘अर्थः’ प्रयोजनं ‘हलवाहनादि, तस्मै ‘क्रिया’ गवादे’<sup>१</sup> अणयनादिः कर्तृकारित्वा<sup>(B)</sup> इत्यर्थः । ‘व्यक्तिः’ गवादिः, तथाच तत्रैव सङ्केतग्रहो वक्तुमुचित इति पूरणीयम् । अत्र समाधत्ते—तथापीति । ननु नानन्त्यव्यक्तिषु सङ्केतग्रहः किन्तु दृष्टव्यत्वादेव इत्यत आह—व्यभिचाराच्चेति । सङ्केतग्रहकालादुपपत्त्याद्यपि बोधस्य कार्यस्य तद्व्यक्तिसङ्केतग्रहरूपकारणव्यभिचारादित्यर्थः । कर्तुमिति व्यक्तावेव बालकेन सङ्केतो गृहीत इत्ययमर्थोऽस्यामित्रांश्चिरयं कर्तुमित्यर्थः ; न तु बालकेन ज्ञातुमिति बहुमिव्याख्यातोऽर्थः, तद्व्यक्तिसङ्केतग्रहकाले व्यक्त्यन्तरे बालकस्य व्यभिचापनुपस्थिते, तद्व्यक्तिशक्तिग्रहे तदुपस्थितेरात्रकत्वाच्च । नन्वेकव्यक्तिशक्तिग्रहोऽपि व्यक्त्यन्तरबोधं जनयति अतो न व्यभिचारः, न ज्ञातिरसङ्गः शक्तिग्रहप्रकारीमचङ्गमांशपस्यैव यस्य कस्यचिद्व्यभिचारनियमादित्यत आह—गौरिति । अयं भारः, यदि सप्रकारक एव त्वन्मते शक्तिग्रहः स्यात् तर्दयं त्वन्मते व्यभिचारवारणं स्यात्, किन्तु सप्रकारक-

(A) कर्तुमिति त्वोक्तंमित्यर्थं बालस्य व्यक्तौ सङ्केतग्रहे ज्ञातेऽपि उक्तदोषेण तत्र प्रमात्वस्वीकारात्मन्मत्वादिति भावः ।

(B) अत्रैवं चिन्तनीयम्, गवादेराणयनादिश्रित्याकारित्वस्य अणयनकर्तृपुरुषनिष्ठत्वात् गोपिण्ड-निष्ठत्वान्नाद्यात् निष्ठगर्भक्रियाकारित्वनिवन्धना गवि प्रवृत्तिर्विवृतिर्वा न सम्भवति, गवादिक्र्म-कास्त्व्यतिरेकेण अणयनाद्यनुपपत्त्या तत्कारित्वादित्यस्य तन्निर्वाहकत्वादित्यर्थेन तदुपपादनेऽपि भर्तापक्रिया इति तादर्थ्यवक्तुं समामोहं घटते ‘विकृते प्रकृत्या तादर्थ्ये’ इत्यनेन प्रकृतिविवृति-भावम्यलं पृथक् तद्विधानादिति । अत्र केचित्—अर्थक्रिया कार्यं, तत्र प्रकृते हलवाहनादि शूद्रप्रहारादि च, कर्तृकारित्वञ्च गोपिण्डस्यैव न गोस्त्वज्ञातेरिति तद्विधानं प्रवृत्तिनिवृत्तिधोरणत्वमपि गोपिण्डस्यैवेति व्यवधाराधीनमद्वैतपक्षस्तत्रैवोचित इति । अर्थक्रियातन्मन्त्र कार्यपरत्वञ्च “अर्थक्रिया कार्यं तत्र समर्थम्ये”ति गौडप्रहसनन्तीयादौ तमिदिदीकाग्रव्याख्यानावामरे “अर्थस्य परार्थस्य क्रिया व्यापार इति नार्थं भर्तापप्रदापते किन्त्वर्थरूपा क्रिया कार्यं”मित्येव वदन् विद्वलेधेनोपपादितम् । मन्ये तु भर्ताप्य पुत्रादे क्रिया अर्थक्रिया तत्कारित्वादित्यर्थः । अत एव न्यायमङ्गव्यां “सत्त्वं तावदर्थक्रियाकारित्वमुच्यते सत्यपि पुत्रे तद्व्याप्यां दर्शनादपुत्रा वयमिति व्यदित्तान्ति लौकिका पुत्रादन्वस्मिन्नपि तद्व्याप्यकारिणि सति सपुत्रा वयमिति भुवन्तीत्युक्तम् ।



शुक्लश्रवणे इत्येतादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः ।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृपदच्छासन्निवेशितश्च ।  
वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः—

शक्तिप्रहाङ्गीकारे न स्याधवम् । प्रकारांशे शक्तिग्रहेणैव आक्षेपलभ्यव्यतिप्रहोपपत्ता-  
यस्मिन्मतानुपदेशः स्यादतो व्यक्तिभक्तिधादिना त्वया निष्प्रकारक एष व्यक्तौ शक्तिप्रहो  
वाच्यः, तथाच एकस्यां व्यक्तौ गौरित्यादिपदचतुष्टयस्य प्रकारकृतद्विविधविभागो न  
स्यात् पदानां प्रकारोपस्थापनासामर्थ्यादित्यर्थः । इदमुपलक्षणम्, निष्प्रकारकशक्ति-  
प्रहाङ्गुणमै उक्तव्यमिच्छानुद्धाराऽपि स्यादिति बोध्यम् । 'विषयविभागः' प्रकार-  
कृत 'न प्राप्नोति' स्वसत्तामिति शेषः । भगवत्त्वर्थो वाऽत्र प्राप्नोति । तदुपाधा-  
वेवेति, 'तस्या' व्यक्ते 'उपाधौ' प्रकारीभूते धर्मे इत्यर्थः । सङ्केत इत्यत्र गृह्यते  
इति शेषः । तथाच उपाधिगतत्वात् पदान् स्वशक्यस्यापत्तेः स्वरसन्ध्याया व्यक्तेः  
स्मृतिविशिष्टानुभवश्च ; भगवत्याया व्यक्ते स्मरणमेव आक्षेपः । न च व्यक्ते-  
रनुभवमात्रमेवास्तु किं स्मरणाङ्गीकारेणेति वाच्यम्, गोत्वप्रकारकस्मरणाभावे गोत्व-  
निशेषणकशान्दबोधानुपपत्ता, गोपदाश्च गोत्वेनाम्बुध्रमानुपपत्तेश्च गोत्वान्यत्वयो-  
रविनाभायामावेन अनुभावन(मान?)रूपाक्षेपास्तम्भवात् गोत्वायिनाभायाश्च  
गोस्मरणाङ्गीकारे तु भगव्येताभ्ये तदभेदाक्षेपः । तदुक्तम्—“जातिशक्त पद व्यक्तिमप्यनु-  
भावयति स्मारयति चे”ति । तत्र च जातिपदमुपाधिमात्रपरमेव\* ।

जात्याधुपाधिबन्तुर्ण्य विभक्त्यभिभागेन दर्शयति—उपाधिश्चेति । 'वस्तुधर्मः'  
वस्तुनि व्यक्तौ अनारोपितो धर्मः स च व्यक्तिवृत्तिजातिगुणत्रिरूपः । वक्तृ-  
पदच्छेति । स्वरसिक्ता इत्यपदश्च तथा सन्निवेशित भगवत्त्वोऽपि पुत्रादौ नामरूपः ।

१ 'वति भव' २ १. विषय नु जे न नु वाचे १)वक्तेन तस्या जात्याधुपन तदुक्तम्—जातिशक्त पद  
व्यक्तिमप्यनुभवयति कारयति न न्यधेपीदुपयन तत्र व्याप्त्यन्तिप्रतिपत्तयानिबन्धे च विनियोगः । न च यदि  
प्रसङ्गारथाय वास्तविकभावज्ञानमेवावश्यं वाच्यं, तथाच बालादौ पदार्थविभागादज्ञानमवश्यं तथाच तद्वि-  
व्याप्तिज्ञानमिति तौ विनियोगाभ्यामेवेति वाच्यम् अक्षपस्य एवमिदमभास्य ईज्ज्वात । तर्हि योपगदन्तेमात्र  
भगो न स्यात् (२) विभागाभावात्तानि विषय तत्र कारकपद एव न नु यत्र ३ न येन व्यक्तेरनुभवमात्रमेवास्तु  
किं अर्थमेति वाच्यं ब्रह्मकारकयोस्वरवाभावे बालानयेतादौ जीविमेषकशाब्दोपानुपपत्तः\* न ।

पदार्थस्य प्राणप्रदो<sup>(A)</sup> विशेषाधानहेतुश्च । तत्राद्यो जातिः । उक्तं

वस्तुधर्ममेव द्विषा विभजति सिद्धः साध्यश्चेति । 'सिद्धः' नित्यः, स च जातिगुणरूप तन्मते<sup>(B)</sup> गुणश्च नित्यश्च आधिभावतिरोमाशवेव<sup>(C)</sup> उत्पत्तिविनाश-  
प्रतीतिविशेषाविति । 'साध्यः' जन्य<sup>(C)</sup> क्रियारूपः । सिद्धमेव पुनर्विभजति—  
सिद्धोऽपीति । 'पदार्थस्य' व्यक्तेः, प्राणो हानोपादान<sup>(D)</sup> व्यवहारः, स्वप्रकारक-  
ज्ञानेन तत्प्रद इत्यर्थः, स च जात्याद्यखण्डधर्मितावच्छेदकरूपः, गोत्वैवन्त्यादि-  
धर्मिणावच्छेदकप्रहं विना गवादिधर्मिणो हानोपादानव्यवहाराभावात् ।  
'विशेषाधानम्' अतद्वर्णनं<sup>(D)</sup> व्यावृत्तिवृद्धिः, उद्देतु शुक्लविगुणरूप इत्यर्थः । यद्यपि  
गोत्वादेरपि अध्याविव्यावृत्तिवृद्धिजनकत्वमस्ति, तथाऽपि तत्र प्राणप्रदत्वमधिकम् ।  
शुक्लस्य विशेषाधानमात्रम्, अतो विशेषाधानहेतुत्वमर्थः । न च शुक्लादिव्यवहाराभा-  
वात्ताने धर्मिणावच्छेदकतया शुक्लस्याधिकमपि प्राणप्रदमेवेति वाच्यम्, तत्वेदन्त्याद्य-  
धिपयकशुक्लविज्ञानेन शुक्लदेहानोपादानानन्युपगमात् । अस्तु वा शुक्लमानपेत्यत्र  
तथा, तथापि प्रार्थमिकशुक्लव्यवहारे इदन्त्यादिव्यवहारेणैव प्राणप्रदम्, शुक्लत्वन्तु  
तत्र विशेषाधायकमेव, गोत्वान्यत्वादिकन्तु नैवमित्यभिप्रायः । आद्यो जाति-

(A) प्राणप्रद इति । प्राणप्रदत्वं च वाच्यमिति सम्बन्धित्वम् । यद्यपि शुक्लत्वादे-  
नित्यत्वान्युपाधौ गोत्वादिनां सम्बन्धमेव सम्बन्धित्वम्, तथाऽपि तस्य सम्बन्धः कदाचिद्वैतस्य  
न तु गोत्वादेरिति विशेषः । तत्र "प्राणप्रदो जातिः" इति प्रदीपः । प्राणः स्वाविशामावेन  
व्यवहारान्तरप्रदन्तत्रिव्यवहार इति कथिदृष्टम् ।

(B) यद्यप्येकैका एव हि बीजाख्यादिव्यवहार इति तन्मतेऽपि महाप्रलये जलपरमाणुवृत्ति-  
तया शुक्लरूपस्यैव नित्यत्वं न कृष्णादेः संयोगादेशान्नित्यत्वं वैरप्यङ्गीक्रियते, तथाऽपि द्वयान्य-  
नित्यवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिभानित्यर्थः इति कथिदृष्टम् ।

(C) तस्यासि नित्यवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिभानित्यर्थः, तेनानित्यगुणव्यावृत्तिरिति  
कथिदृष्टम् ।

(D) अत्र "अतद्वर्णनम्" इत्यस्य श्वाश्रयसमाप्तीयत इत्यर्थकत्वेन गोत्वादीनां विशातीय-  
व्यावर्तकानां न विशेषाधानहेतुत्वं सम्भवतीति चिन्तनीयम् ।

हि वाक्यपदीये—(A) “न हि गोः स्वरूपेण गान्धाप्यगाः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गो”रिति। द्वितीयो गुण, शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्य पूर्वापरीभूतावयव क्रियारूपः।

‘दित्थादिशब्दानामन्त्यपुद्धिनिर्ग्राह्य’ (C) संहृतममं स्वरूप वक्तु

रिति अत्रण्डोपाधिरित्यर्थः। ‘वाक्यपदीये वाक्यपदीयेनमा प्रथमविशेष (D) स्वरूपेणेति गात्वारिथ्यीभावेनेत्यर्थः। नाप्यगोरिति आगन्त्यहारोपि, इदन्त्यादिना उपस्थित एव धर्मिणीत्यर्थः। गोत्वाभिसम्बन्धात्तु इति गात्वादि धर्मितारण्येद्वैकविशिष्टज्ञानादित्यर्थः। गोरिति अत्रहास्य इति शेषः। शुक्लादिना हीति, प्राणप्रदेन ‘लब्धसत्ताक लब्धयवहास्यताक (D) वस्तु अत्रहासित शुक्त्वादिना व्यावर्त्तते (E) इत्यर्थः। साध्यस्वरूपमाह—साध्य इति। प्रत्यापरीभूत अवयव एकदेशो यस्य तादृशक्रियासमुदायरूप इत्यर्थः पूर्वापरीभूतक्रियाप्रत्यक्षामेव पाकादिपदप्रयोगात्। वक्तुयदच्छासन्निवेशितरूपमुपाधि दशयति—दित्थादीति। वक्तु पित्रादिना। दित्थादिरूपेण अर्थेषु दित्थादिज्ञानानां स्वरूपमुपाधित्वेन गृह्यन्त्या सन्निवेश्यते आरोप्यते इत्यर्थः। तादृशस्वरूपस्य च आद्युत्तिनाशिकमितानैकवर्णधर्मात् त्वेन तद्वाधोपाय पूर्वोक्त स्मारयति अन्त्यपुद्धीति अन्त्यगुणबुद्धियद्वैकमित्यर्थः। ननु तेनापि वर्णत्रयेण व्यञ्जने सैवानुपपत्तिरित्यत आह—संहृतमममिति तत्तद्वर्ण क्रमिकज्ञानभिन्नैकज्ञानेन विषयीकृतमित्यर्थः। वक्तुयत्तौ तु अन्त्यपुद्धि’ एव

(A) अस्मदुपलब्धवाक्यपदीये नावयव उपलब्धतः। अन्त्य प्रदीपकारहृत व्याख्यात तु—न हीति अन्त्यार्थं नौ स्वरूपेण न गोत्ववधारस्य नाप्यगाव्यवहारस्य विषय गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गोत्ववधारस्य विषय इति।

(B) अन्त्यपुद्धीति। “दित्थादिशब्दानां प्रथमवर्णप्रतीत्या किञ्चित् प्रकाशितमन्त्यवर्णपुद्धिः नि शेषतो प्राप्नु” इति प्रतीय।

(C) भर्तृहरिप्रणीत इति बोध्यम्।

(D) एतेन अन्येष्टुत्पत्तिकाल एव जातीनां सम्बन्ध गुणान्तां द्वितीयगुण इति लब्धत एवाव केपादिद्वि गुणानामुत्पत्तय जातिवैधर्म्यसिद्धौ तज्जातीवृत्त्यन्यपामपि जातिनो वैलक्षण्यं छगममिति तयोमदेन निर्देशो युक्त इति स्पष्ट बालबोधिण्याम्।

(E) एवाव वृत्तौ शुक्लादिनेत्यान्य विशिष्यते इत्यत्रैवान्वयो न तु लब्धसत्ताकमित्यप्रति भावः।

यदृच्छया दित्थादिष्वर्थेषूपपाधित्वेन सन्निवेद्यत इति सोऽयं संज्ञा-  
रूपो यदृच्छात्मक इति । गौः शुक्लश्रलो दित्य इत्यादौ चतुष्टयी  
शब्दानां प्रवृत्तिरिति (A) महाभाष्यकारः । परमाण्वादीनान्तु गुण-  
मध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् । गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत  
एकरूपाणां (B) मण्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्ग-  
मुकुरतैलाद्यान्मनभेदात् ।

प्रत्यक्षान्तरोत्पन्ना यदार्थस्मृतिरूपा बुद्धिः, तथा निर्माहा विषयीकृतम्, पदस्यैवात्र  
पदार्थत्वादित्यर्थः, तथा 'सहृत्तन्मम्' इन्वरप्रयोगाद्याधुनिकप्रयोगरूपकमरहितम्  
आधुनिकप्रयोगरूपत्वादिति व्याचष्टे, तत्र, तत्कथनस्य प्रकृतानुपयोगित्वात् । संज्ञारूप  
इति । तथाच तादृशी सज्ञा शक्ता शक्या चेत्थुक्तम्, धर्मिणस्त्वाक्षेपादेव काम इति  
भावः । यद्यपि समवायिसमवेतयोरेवाविनाभावः स एव चाक्षेपहेतुः, तथाऽपि भविष्या-  
भावोऽप्यसंग्रहः यत्का यदृच्छयाऽऽरोपितो धर्म्याक्षेपहेतुरिति बोध्यम् । यदृच्छात्मक  
इति, यदृच्छया भात्मा यद्वेति विग्रहः, सज्ञाया यदृच्छारूपत्वमावात् । प्रवृत्तिः  
(C) प्रवृत्तिविषयः । परमाण्वाद्विशब्दानां प्रवृत्तिविषयसारांशं निरस्यति—परमाण्वादी-  
नामिति परमाणुत्वादीनामित्यर्थः । अणु दीर्घं महद् इत्येवेति (D) परिमाणरूपगुणमन्वे  
पठितत्वात् तत्परिभाषासिद्धमेव तेषां गुणत्वं प्रमाणान्तरं नापेक्षते इत्याह—पारि-  
भाषिकमिति । ननु गुणक्रियायदृच्छोपाधिषु शक्तिग्रहाभ्युपगमेऽपि तेषामपि प्रति-  
व्यक्ति नानात्वेन तावेवानन्त्यव्यभिचार्यवित्यत आह—गुणक्रियेति, जातिवदेतेऽपि  
मनेकाग्रया एकीक एवेत्यर्थः । यद्यप्येषं सिद्धान्ते क्रियाया अपि नित्यत्वमेव सैद्ध्युचितम्,  
तथाऽपि महाप्रलये परमाणूनामपि निव्ययित्वेन अनित्यत्वम् । 'यदृच्छा' यदृच्छोपाधिः ।  
आलम्बनभेदादिति आश्रयत्वेन ज्ञातभेदादित्यर्थः, खड्गादेर्वस्तुतो मुख्याया-

(A) "श्रुतम्" इति सूत्रेण भाष्ये 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इत्येतावन्मात्रमुपगम्यते ।

(B) एकरूपाणामिति । गुणक्रियादीनामाश्रयभेदेन भेद इव प्रसिद्धः "भेद इव" इत्यनेन  
प्राज्ञोभेदस्तु मन्येन केनाप्युक्तो न वेत्यनुमन्वेयम् ।

(C) ननु महाभाष्यकारे प्रवृत्तौ च चतुर्विध्यमुक्तं सन्तु सहेतित्वचतुर्विध्ये प्रमाणतया  
शक्यताज्ञानार्हमतो व्याचष्टे—प्रवृत्तिविषय इति । इदन्तु प्रवृत्तिवदस्य धर्म्यवसित्वात्प्रमाणमेवेति  
बोध्यम् ।

(D) "अणु दीर्घं महद् इत्येवेति उक्तं इति" इति कारिकावली (स्रो. ११०) ।

हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो मित्रेषु शुक्लादिषु पदशेन शुक्लः  
शुक्ल इत्याद्यभिज्ञाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्,  
गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव 'पाकादित्वम्', बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु  
द्वित्यादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु द्वित्याद्यर्थेषु वा द्वित्यत्वा-  
द्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये । तद्वान्

अथत्वाभावात्(A) । जातिरेवेत्यादि मत व्याचष्टे—'हिमपय इति । 'अभिज्ञाभिधानम्'  
एकाकारशब्दप्रयोग, अभिज्ञप्रत्यय' एकाकारप्रत्ययम् । 'पाकादित्व' पाकत्वादि ।  
एव द्वित्यादिशब्दनिष्ठामेव जातिमात्रमुपपादयति बालवृद्धेति । उच्चारयितु-  
स्वरूपेदेन द्वित्यादिशब्दानामनेकत्व बालवृद्धेत्यादिना इनापित्वा द्वित्यत्वादि  
जातेनेकव्यक्तिवृत्तिस्त्वमुपपादितम् । शब्दवृत्तिजात्या तत्सम्प्रदायिनः शब्दार्थपक्षेप-  
सम्भवा न पुरुषस्येत्यतः पुरुषवृत्तिमेव(B) द्वित्यत्वादिजातिमुपपादयति प्रतिक्षण-  
मिति । नानापुरुषेषु द्वित्यत्वानुपलब्धेऽपि(C) पुरुषस्य पुरुषस्यावस्थानेदेनानेकत्व  
मुपपादितमेव । (D) द्वित्यत्वमिति त्रिपदशब्देन शब्दार्थवृत्तिजातिद्वयमुक्तम् ।  
एव सर्वत्रैव जातिमुपपाद्य सर्वेषां शब्दानां तथैव नक्तिरित्याह—सर्वेष्वपामिति ।  
'जातिरेव' इत्यतः जातिपदमलण्डापाधिपरम्, तेनाकारत्वाभावेत्यादिपरिहृतम् । एवञ्च

(A) अपमनाय, लङ्गमुकुरायै मुक्तादिवस्तुन प्रतिविम्ब एव गृह्यते तच्च वस्तुगत्या  
विम्बमूलस्य मुक्तादेव प्रत्ययक्यम्, विम्बश्च स्वस्थानस्थित इति न लङ्गादस्तत्तद्व्यवस्थामन्वयः ।  
तथाच शरीरकमीमांसामाध्यव्याख्याने श्रीमद्वाक्यप्रतिमिमांसा "एष विज्ञानपुष्पाभिमुपधादशोदका-  
दिव स्वच्छेषु धातुषु तेजो छत्रमपि बलीयसा सौम्येण तत्रसा प्रतिघोषेन प्रवर्तितं मुखमधुर्णं  
मुखं प्रादुर्बद्धं शोषवरात्तद्वरागमनमिमुलगाद्य मुक्तम्याद्यादयन् पूर्वंदृष्टाभिमुलगादशोदकदशतामामि  
मुक्तम्याद्य मुक्तम्यारोपयतीति प्रतिविम्बविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति" इति (अध्यात्मभाष्यभाष्ये ) ।

(B) एकाकार अर्थः ।

(C) 'एवामरूपो युवा विद्वान् छन्दः प्रियमायकः । सर्वशास्त्राविष्ठा च द्वित्व इत्यभिधीयते ॥'  
इति प्राचीनास्तद्वित्यलङ्कारस्य नानापुरुषेषु सम्प्रदान् 'अथैव' इति । नादस्तद्वित्यलङ्कारस्य प्रादुर्बद्धादिमा  
साङ्ख्येयं जातिस्त्वमोपपद्यते अलङ्कारत्वादिवदेकस्यैवावस्थानेदानुगणम् । अन्यं तु 'द्वित्य काट  
मनो हन्ती इतिपस्तन्याया श्रुतः', इति वदन्तो द्वित्यत्वस्य पुरुषवृत्तिप्रमेव नाङ्गीकृन्वन्ति ।

(D) अपमनाय क-मुस्तके भास्वि, किन्तु तत्र 'अपमनायाद अपमनायविशिष्टभदान्द मतान्तरे  
तु प्रत्ययस्यमित्येकार्थ इति पाठो दृश्यते, स च द्विपक्षीति प्रतिपादितः ।

अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवमयात्प्रकृतानुप-  
योगाच्च न दर्शितम् ।

(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अत्येति शब्दस्य ।

(१२) मुख्यार्थवाधे तद्योगे रुद्धितोऽथ प्रयोजनात् ।

शुद्धपदात् शुद्धत्वाद्विजात्याश्रयस्य शुद्धाविगुणस्यैवात्तेषु पद्यादिपरत्वे तु लक्षणैवेति (A)  
मन्तव्यम् । 'प्रवृत्तिनिमित्त' प्रवृत्तिनियम । 'तद्वानिति' नैयायिकमतम्, प्रकारी-  
भूतधर्मवानित्यर्थः, 'अपोह' इति बौद्धमतम्, 'अपोह' भतद्व्यावृत्ति (B) । 'न दर्शित'  
कारिकायामेव, वृत्तौ तु दर्शितमेव ।

मुख्यार्थवाध इति लक्षणांलक्षणं यत्तुं मुख्यार्थं दर्शयति—स मुख्योऽर्थ इति ।  
व्यापारो वृत्तिः । मुख्यार्थेऽपि अजहन्मय्यार्थस्मकोपादानलक्षणासंस्थात् तद्वारणाय  
व्यापारे मुख्यत्वायादानम्, मुख्यत्वञ्च व्यापारान्तरवाध विनैव (C) कल्प्यमानत्वम्,  
व्यापारान्तरस्य तु शक्तिवाधेनैव कल्पना ।

साक्ष्यलक्षणम् निरूपयितुं लक्षणा निरूपयति—मुख्यार्थवाध इति ।  
'अत्र ग्राहककथनेन ग्राह्याया लक्षणाया वक्तृतात्पर्यपरत्वे (D) सिद्धिरवधेया' १, यत्

(A) लक्षणैवेति । न चेन्न 'गुणे शुद्धपदं पुनि गुणिलिङ्गास्तु तद्वती'त्यादेरुक्तं, कोपाणा  
शक्तिनिरुद्धलक्षणांलक्षणपरत्वेऽप्युक्तं ननुपपत्तयः । गुण इत्यस्य च गुणत्वस्याप्यशुद्धत्वावहित्यर्थः ।

(B) अत्र प्रकीर्ण — "सौमत्यास्तु व्यक्तावानन्त्यादिदोषाद्भावस्य च देशकालानुगमाभावा-  
त्तदनुगतायामतदव्यावृत्तौ सङ्केतः" इति ।

(C) व्यापारान्तरार्थं विवेत्यन्य व्यापारान्तराव्यवधानेनेत्यर्थं सेनाभिषादूलब्धश्रमाया  
शक्तिवाधाभावेऽपि नातिप्रसङ्ग इति ध्येयम् ।

(D) अत्र वक्तृतात्पर्यम् 'अस्माच्छब्दान्मुखादर्थसम्बन्धी बोद्धव्य' इति वक्तुरिच्छाविषयत्वम्,  
एवञ्च 'सात्पर्यार्थोऽपि नेषुवि'दित्यनेन भाषादेकदेशिमात्मवृत्तिभावान् पदार्थद्वयसमर्पसात्क-

१ 'मन्तव्यं न तु वक्ष्यामि, यथादिपदादवयवस्यापि स्वसमवायिसमवायेनापेयापत्ते' २ ।

२ 'अर्थे प्रत्यक्षस्य एव लक्षणा, सा तु धारणात्तत्रैव अत्यन्तं, सात्पर्येण तदवयवस्यैव नैयायिका ।  
शक्त्युत्पत्त्यमुखादर्थसमवायेना लक्षणाव्यवधानेनैव लक्षणा, सा चातुर्भुजा न लक्षणा सत्या अपि  
पदार्थस्य परम्पर्येण न अस्तीति लक्षणा । तत्रैकद्वयस्य सात्पर्यार्थलक्षणा न लक्षणा तदवयवस्यैव  
पर्यायपदाश्च—मुख्यार्थवाध' ३ ।

इत्यन्यथ यथेत्यर्थे, वृत्ताप्रत्ययेऽम् । तथाच मुख्यबाधे मुख्यार्थयोगे ॥ ज्ञाते सति, रुद्धित इति रुद्धिज्ञानात्, 'अतपदापेक्षयाऽऽतपदप्रयोगस्य सामान्यतः सविशेष प्रयोजनकत्वनानाद्वा \* ज्ञातया यथा वृत्त्या भन्या मुख्यभिन्नोऽर्थो लक्ष्यते प्रतिपाद्यते(१) सा वृत्तिर्नृत्तणेत्यथ । सा चारोपिता पुर्येण लक्ष्यायनियततया जनिता स्वतन्त्र पथ्यामिका क्रिया वृत्तिः । अकिस्त्वीश्वरच्छास्त्रिका भन्या वा नित्यसिद्धा न पुर्येण जनिता । यदन्यस्य यथेय्यस्य दर्पणेऽपि व्यक्तम् । यथा—

मुख्यार्थेऽत्र तत्रात्र यथाऽन्याऽर्थं प्रतीयते ।

रुद्धे प्रयोजनाद्वाऽमौ लक्षणा अकिरपिता ॥ इति

( सा० ६० २५ ६० )

तत्र च गतिवृत्तिः, अर्पिता पुर्येण जनितन्यथ । रुद्धितोऽथेति । अत्र अथेत्यर्थे अयति \* कचिद् रुद्धिज्ञानात् कचिच्च प्रयोजननानानित्यथ । मुख्यबाधश्च 'मुख्यार्थस्य समभिर्यादृतपदार्थेऽन्यबाध एव' \* पदार्थस्य कचिद्व्यबाधान् । मुख्यार्थस्यान्यबाधाऽपि तात्पर्यनियतस्यान्यस्य मुख्यार्थतावच्छेदरूपणानित्याद् एव गन्ताया धातु इत्यादौ तात्पर्यनियतस्य तौर धातुन्यस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन प्रत्याह त्वेन, द्वित्रिणा गच्छन्तीत्यत्र तात्पर्यनियतस्य द्वित्रिणा [ अच्छन्तिनाश्च ] गमनान्यस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन द्वित्रित्वेन, कुन्ता प्रगिरन्तीत्यादौ तात्पर्यनियतस्य कुन्त्याद् प्रवेगान्यस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन कुन्तत्वादिना च अनित्याहात् । मुख्यार्थान्यस्य मात्रबाधनिरूपणे तु द्वित्रिकुन्तादेरपि गमनप्रवेशान्ययात् तत्र बाधाभावनाभ्यामिति स्यात् तात्पर्यविषय [ बाध ] निरूपणेऽपि तत्रैवाभ्यामिति द्विनित्यकुन्तत्वादिनाऽपि द्वित्रिकुन्तयार्थगमनप्रवेशान्यस्य सम्भवात्, किन्तु तदात्वेनान्यस्य तान्मूर्त्यनियतत्वात्,

तात्पर्यपरीक्षानुगतात्मकतात्पर्यस्य विशेषविषयनभासकतया वैलक्षण्यनाम्य सव्यसम्मतं वृत्तिर्न विद्यते ।

(१) कारिकास्थस्य लक्षणे इत्यस्य लक्षणया प्रतिपाद्यते इति प्रसिद्धाधिकृत्य लक्षणा लक्षणान्य लक्षणापदितत्वेनान्यत्वाच्च स्यात्तत्तद्वशादितिवागनैव व्याचष्ट—प्रतिपाद्यत इति ।

- 1 अतपदापेक्षयाऽऽतपदप्रयोगस्य सामान्यतः सविशेष प्रयोजनकत्वनानाद्वा
- 2 अतपदापेक्षया अत्र अत्र मुख्यार्थेऽन्यबाधेऽपि मुख्यार्थतावच्छेदकेन प्रत्याह त्वेन, द्वित्रिणा गच्छन्तीत्यत्र तात्पर्यनियतस्य द्वित्रिणा [ अच्छन्तिनाश्च ] गमनान्यस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन द्वित्रित्वेन, कुन्ता प्रगिरन्तीत्यादौ तात्पर्यनियतस्य कुन्त्याद् प्रवेगान्यस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन कुन्तत्वादिना च अनित्याहात् । मुख्यार्थान्यस्य मात्रबाधनिरूपणे तु द्वित्रिकुन्तादेरपि गमनप्रवेशान्ययात् तत्र बाधाभावनाभ्यामिति स्यात् तात्पर्यविषय [ बाध ] निरूपणेऽपि तत्रैवाभ्यामिति द्विनित्यकुन्तत्वादिनाऽपि द्वित्रिकुन्तयार्थगमनप्रवेशान्यस्य सम्भवात्, किन्तु तदात्वेनान्यस्य तान्मूर्त्यनियतत्वात्,
- 3 चारोपिता यः ।
- 4 समभिर्यादृतपदार्थस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन तात्पर्यनियतत्वात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥ ६ ॥

परसार्थावाहित्वकुन्तित्वादिनैवान्वयस्य तात्पर्यविषयत्वाद् तादृशान्वयस्य मुख्यार्थता-  
वच्छेदकञ्चयित्वकुन्तित्वादिनाऽनिव्याहत् अतस्तात्पर्यविरयेति मुख्यतावच्छेदकेति  
चोपलम् । ईदृगमुख्यार्थबाधज्ञानेऽपि यत् लक्ष्यार्थं मुख्यार्थसम्बन्धानुपस्थिति-  
स्तत्र सतोऽपि यत्तात्पर्यस्य न कश्चिप्रयोगार्हलक्षणत्वम्, किन्तु यत्तत्सामर्थ्य-  
रूपिका नैयार्थलक्षणैव सा, तथात्वञ्च बोध एव वक्ष्यते ; तद्वारणाय तदुपयोग इत्युपात्तम् ।  
अनेन मुख्यार्थयोगस्य लक्षणाज्ञापकत्वकथनेन शक्यसम्बन्धस्य लक्षणात्वं नैयार्थिक-  
मतसिद्धमुपेक्षितमिति मन्तव्यम् । तदुपेक्षावीजञ्च 'शुक्लं पट इत्यत्र शुक्लगुणसमवायस्य  
लक्षणात्वे तथा पट पदोपस्थाप्येत, न तु शुक्लगुणसमवायानाश्रयं शुक्लगुण इति' १ ।  
रुद्धिप्रयोजनान्यतरज्ञानं विना ज्ञातमपि यत्कुस्तात्पर्यं नैयार्थलक्षणेति  
तद्वारणाय रुद्धित इत्यादिद्वयम् । लक्षणाज्ञाने त्वय कम',—प्रथमं तात्पर्यचरित-  
निरुक्तमुख्यार्थबाधग्रहं, तात्पर्यग्रह एव च तद्विरयतोपदेकरूपस्थितिः, ततस्तास्मिन्नेयार्थं  
मुख्यार्थसम्बन्धोपस्थितिः, ततस्तास्मिन्नेयार्थं भूषणयोगरूपाया रुद्धिर्ज्ञानात् सामान्यताः  
सम्प्रयोजनकत्वज्ञानाद्वा यत्कुस्तात्पर्यरूपा लक्षणा ज्ञायते इति । अन्योऽर्थो  
इति । अत्रापि मुख्यतावच्छेदकधर्मभिन्नधर्मावच्छिन्न इत्येयार्थः, तेन सामान्यशब्दस्य  
विशेषपरत्वे विशेषस्याभ्युपगम्यते । ननु कारिकायां यदित्येयास्ति, वृत्तावपि  
यदित्येव वक्ष्यते, अनो लक्ष्यते स्मर्यते यत् तादृशी स्मृतिरेव लक्षणा सा धानुभाविषय  
न स्मारिकेति कश्चिन्नतेन' किं न व्याख्यायते, अलमव्यय'यत्'पदानुसरणेनेति ।  
'अतः परं जनयद्वशयोपस्थितिलक्षणेति जरन्मीमांसका अपि इति' २ चेन्न । लक्ष्यार्थोप-  
स्थितेरैव लक्षणात्वे तस्या अज्ञाताया एवानुमानकर्तव्यं वाच्यम्, तज्ज्ञानकारणत्वस्यानुगम-  
बाधितत्वात्, तथाच ज्ञातिरेव ज्ञाता वृत्तिः प्रत्यायिका इति स्थिते साक्षात्-  
सङ्केतितमित्यादिनायकलक्षणे साक्षात्पदवैयर्थ्यापाताद् असाक्षाद्वृत्तीतवृत्त्यन्तराभावाद्  
व्यञ्जनाया अव्यगृहीतत्वा एव बाधकत्वात्, शक्यार्थसाधारण्यस्य परार्थापस्थिति-  
माश्रयेव शान्दबोधजनकत्वेन फलविशेषाजनिक्तायास्तस्या उपस्थितेर्लक्षणात्वेन

१. 'प्रत्यार्थं लक्ष्यार्थं य शक्यं लक्ष्यतावच्छेदके तदभावात्तदपचया वक्ष्यतावच्छेदकात् तद्विरय-  
लक्ष्यार्थवीचागुपस्थितिर्वाचीनत्वा तदुपलब्धी च लक्ष्यार्थविरयतोपदेकरूपस्थितिः वीचापि । यदि च  
यद्विरयता उपस्थितेर्लक्ष्यार्थं जनयद्वशजनकत्वेन लक्ष्यार्थं लक्ष्यतावच्छेदके वीचापि पटः पट इत्यादौ  
प्रत्यक्षमायानुगमं ज्ञातव्यत्वं वीचागुपस्थितिः, एव कुलविषयित्वेयोरभावात्तद्वयं कुलं च  
वीचागुपस्थितिरेव । २. 'अतः' च ।



(A) 'कर्मणि कुशल' इत्यादौ दर्भ'ग्रहणायोगात् 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्यधिकरणत्वायोगात् मुख्यार्थस्य

विशिष्य कारणताकल्पकामात्राच्च उपस्थितिः लक्षणस्यादस्य हेतुत्वेन तन्मतानुसारेणास्य व्याख्यातुमनौचित्यात् । रुद्धिहेतुकाया प्रयोजनहेतुकायाश्च लक्षणाया उदाहरण द्वयमेकदैव दर्शयस्तत्र लक्षणं धृत्यति—कर्मणीति कुञ्जग्रहणायोग्यलौकिक-कर्मणीत्यर्थः । 'हा आदाने' इति धातुपर्यानुसारेण कुशलपदं कुशग्राहिणि शक्तम्, वक्षे तु लक्षणिकमिति धैयाकरणा, तन्मतेऽप्यवसमुदायाभ्या मित्रार्थबोधकस्य शब्दस्यावयवलभ्यार्थं एव शक्तिः समुदायलभ्यार्थं तु रुद्धिहेतुका लक्षणा । पञ्चमपदेन भव्यसमुदायाभ्यामेकस्यैव पक्षस्योपस्थापकमित्यता न तल्लक्षणिकम्, किन्तु योगरूढमेव । गच्छतीत्यर्थं 'डो'प्रत्ययान्तगमिना साधितमपि गोपदं न गमनविशिष्टमात्रे शक्तम्, किन्तु तुते गन्त्यपि, उणादिप्रत्ययान्तानां व्युत्पत्तेस्ते प्रायिकत्वाभ्युपगमात्, अतः'स्तन्मताजटमेनाह—'कर्मणी'ति । कलिङ्ग साहित्यिक इत्यादिकन्तु सम्बन्धमतसाधारण रुद्धिलक्षणादाहरणम् । अवयवलभ्यार्थमात्रे शक्ति-स्वीकारे तु मण्डपकुण्डलपदयोरपि मण्डपानकर्तृकुण्डलग्राहिणोरेव शक्तिः, गृहविशेष-भूयणविशेषयोस्तु लक्षणैव स्यात् । दर्भग्रहणायोगादिनि दर्भग्रहणस्य निरुक्त-

(A) अत्र साहित्यदर्पणकारा —'केचित्तु कर्मणि कुशल इति रुद्धाहुनादरन्ति । तेषामपि मभिप्रायः—कुत्र लोकीति व्युत्पत्तिलभ्य कुशग्राहिरूपो मुञ्जोऽथ प्रकृतऽसम्भवन् विधेयकत्वादि साधर्म्यमन्वयमन्वयिज लक्ष्यरूपमर्थं बोधयति, तद्व्ये न मन्वयन्त, कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्ति-लभ्यत्वेऽपि लक्ष्यरूपस्यैव मुख्यार्थत्वान् । अन्यदि शब्दानां व्युत्पत्तिरिमितानन्त्यच्च प्रवृत्ति-निमित्तम् । व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे गौ सेते इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्' इति । एतच्च मतं "लज्जात्मिका सती रुद्धिमेव योगावधारिणी । कल्पनीया तु लभत नात्मानं योगवाधन" इति भाट्टकारिकाऽपि समर्थयति । अन्यथा—'लज्जात्मिका जनिपदार्थोपस्थितिका कोपपरम्परा-प्रविद्धा सती भवादिप्रसिद्धा रुद्धि योगावधारिणी व्युत्पत्तिलभ्यार्थोपस्थितिनिप्रतिबन्धिका भवेत्, कल्पनीया लाघवप्रतिमन्वावृत्तिरिज्ञानीन्तवैहदावनीया तु आत्मानं पन्थोपस्थिति न लभते न जनयति, कुत इत्याह—योगवाधन इति, योगेन बाधनात्, रुद्धमन्त्या पन्थोपस्थापकत्वस्य च कल्पनामपेक्ष्य क्लृप्त्ययोगस्यैव पन्थोपस्थापकत्वमात्रं कल्प्यते इति भावः' इत्यभिप्रायो राम-तर्कवागीशसम्मतः ।

१ '—पक्षः उदात्तः इति रुद्धिहेतुकाया । २ योगाद्य धातुचलनम्' इति मुद्रितम् ।

३ 'तन्मते रुद्धिहेतुकाया' ।

वाधे, विवेचकत्वाद्वा सामीप्ये च सम्बन्धे, रुद्धितः प्रसिद्धेः, तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां तथा न प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येना-मुख्योर्थो लक्ष्यते यत्, स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

रूपेणायोगादित्यर्थः, एव गङ्गायाधिकरणत्वायोगादित्यत्र निरुद्धरूपेणायोगादित्यर्थः । मुख्यार्थस्य वाधे इत्यन्तेन द्वयोर्निरुक्तमुख्यार्थबाध दर्शयित्वा द्वयोर्मुख्यार्थयोग दर्शयति—विवेचकत्वाद्वा सामीप्ये चेति । यथास्तद्वच्चमुनयो सम्बन्ध-इयमित्यम् । कुशोत्पादनादि-स्यस्वस्वार्थं मद्रामत्रविवेचकत्वाद्येकधर्मवत्त्वं कुशप्रादि-इत्येव सम्बन्धः, तीरे तु गङ्गासामीप्य सम्बन्धः, सामीप्यन्तु स्यसयुक्तसयोग-परम्पर्य । कुशलपदे रुद्धिहेतुत्वमाह—रुद्धित इति । तद्विरण प्रसिद्धेरिति । भूत्प्रयोग एव प्रसिद्धिः । गङ्गाया घोष इत्यत्र प्रयोजनहेतुकत्वमाह—गङ्गा इति । 'तथा न प्रतिपत्ति' उत्तरकाल न प्रतिपत्ति । 'तथाप्रतिपादनात्मन' उत्तरकाल प्रतिपादनात्मन । प्रयोजनादित्यत्र ज्ञातादिति शेषः । तयाच भाविन प्रयोजनस्य ज्ञानमेव हेतुर्बोध्य 'सविधेयणे ही'ति न्यायात् । तज्ज्ञानञ्च इदं सप्रयोजनमित्येव सामान्यत एव, 'पावनत्वादिरूपेण तज्ज्ञानन्तु लक्ष्यार्थज्ञानोत्तरमेव, शैत्यादेस्तदानीं विशिष्टानुपस्थिते पाञ्चादेव तद्व्यञ्जनात्' । प्रयोजनसम्भावनाभावे तु सामान्यतोऽपि ज्ञानमित्यवश्यमेव (A) । रुद्धिहेतुकायान्तु रुद्धिमत्त्वादेव न सप्रयोजनकत्वज्ञानम् । नैयार्थलक्षणायास्तु प्रयोजनबाधोपस्थितेऽन तज्ज्ञानम् । मुख्येनेति बाधसम्बन्धयो प्रतियोगितया उपस्थितेन मुख्यार्थेन 'करणभूतेन(B) 'शब्देनैव लक्ष्यत इत्यर्थः । 'भारोपित' वक्तृमुख्येनेति शेषः । 'शब्दात्' वृत्तिः । सान्तरैरेति, मुख्यार्थबाधाद्युप-स्थितित्ववदानेन उपस्थिते लक्ष्यार्थं त्रिषयतासम्बन्धेन स्थित इत्यर्थः ।

(A) अवश्येनेति । वस्तुगत्या प्रयोजनाभावेऽपि अज्ञातक तज्ज्ञान सम्भवतीति भावः ।

(B) अत्र मुख्यार्थस्य कारणत्वं स्वबाधद्वारा स्वसम्बन्धज्ञानद्वारा वेति बोध्यम् । इदन्तु चिन्तनीयम्—अत्र "मुख्येन" स्वात्मानं बाधात् पूर्वमभिधेयैवावस्यत्वात्वेन शब्देन 'अमुख्य' अभिप्रेत्याशुपण्याय अर्थं दानि स्वाम व्याख्यानं कथं परित्यक्तमिति ।

1 'पावनत्वादि' इति अन्वयेन नैव भवतीति । 2 'रुद्धिहेतुत्वमाह' च । 3 'शब्देनैव' इत्येव ।

(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः 'परायें स्वसमर्पणम्' (A) ।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा (B) ॥ १० ॥

इत्थं लक्षणासामान्यलक्षणमुक्त्वा वद्विशेषानिह-स्वसिद्धये इति । स्वं स्वो-  
मुख्यार्थस्य निश्चितरूपेणान्वय, तस्य 'सिद्धये' बोधाय 'परस्य' मुख्यतानवच्छेदक  
धर्माद्विद्यस्य, 'आक्षेप' प्रत्यायन ययेति शेष, 'सा उपादान' नाम लक्षणा इति  
यथास्तद्धर्ममन्वय । मुख्यार्थ उपादीयते भन्वयप्रतियोगितया स्वजन्यानुभवविपर्ययोक्तियते  
अनयेति करणानुत्पत्त्या अग्रहत्स्वार्थस्य लक्षणेत्यर्थ । इयमेवायान्तररुमिति-

(A) परस्यान्वयप्रवृत्तिसिद्धयर्थं स्वार्थपरित्याग इति प्रदीप ।

(B) स्वसिद्धय इति । तात्पर्योपपत्तये यथा लक्षणया कृत पराभेद अक्षयार्थबोध  
स्वसिद्धये शक्यार्थज्ञानाय भवति, आक्षेपवैचित्र्यात् शक्यार्थमपि वाक्यार्थबोधविषयतामापादयति सा  
लक्षणा उपादान नाम एव यथा लक्षणया परायें परार्थम् अक्षयार्थस्य शक्यार्थेऽन्वयसिद्धयर्थमिति  
याम्, स्वसमर्पण भवति अनुसृत्यार्थस्यैव वाक्यार्थबोधविषयीभावात् कृत शक्यार्थस्य त्याग  
एव भवति सा लक्षणा लक्षण नाम, इत्येवमुपादानलक्षणाया द्विधा उक्ता सा लक्षणा शुद्धैव  
न तु गौण्यादिपीति कश्चिदपि । पृथग्भूत गौण्यादिषु उपादानत्वादिकृतो विभागो नास्तीति  
'लक्षणा तेन वद्विधा' इत्यत्र द्विष्यन्ता लुक्पीडयति । पृथगेव शक्यार्थस्य अभिप्रेत  
वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धिसम्भवे तदर्थं पराक्षेपो न युक्त इत्याशङ्क्या नावसर । एवञ्च उपादानलक्षणे  
शक्यार्थस्य लक्षणलक्षणादिविशेषणतया अन्वयसिद्धिर्वक्तव्या, तेन 'वाक्याया बोध' 'आयुष्ट' त  
मित्यादौ हीन-जनकाद्ये विशेषणतया प्रवादासु पदार्थवार्थमिति तत्र तत्र नातिन्यासि । कुन्ता  
प्रविशन्तीत्यादौ च कुन्तादिमयोगनिरूपकत्वं च तदुन्तिसाधारण लक्षणाचक्षेदकमिति कावेभ्यो  
एषि रक्ष्यतामित्याद्याविच कुन्तकुन्तादेर्विशेष्यविशेषणभावभावेन तत्रापि नाप्याहि । न च  
तथाऽपि चेतनगतत्वं प्रवेष्टकतृत्वस्य कुन्ते वाधात् नान्वयसम्भव इति बाध्यं तत्र तिष्ठोऽपि  
अचेतनसाधारणत्वात् लक्षणलक्षणाभ्युपगमात् ।

पृथगेव इवेतो धावतीत्यादेरुपादानोदाहरणत्वात्तुपपत्ति तस्यालक्ष्यत्वाभ्युपगमादिद्वैतेति व्यक्तम् ।  
रूपाउपादानलक्षणोदाहरणन्तु देशपुत्रयोग्यतान्त्रायक 'कलिङ्ग शोभते' इत्यादिकमेव । लक्षणया  
शक्यार्थस्य यथाकथञ्चित् वाक्यार्थेऽन्वयमात्रेण उपादानत्वस्वाकारे 'गङ्गाया बोध' ; 'आयुष्ट' तम्  
'कलिङ्ग साहसिक' इत्यानै सर्वसम्मतलक्षणलक्षणोदाहरणभावे शक्यार्थस्य लक्षणा  
विशेषणविधया मानात् उपादानत्व प्रसज्येत । पृथगेव इवेत शोभते इत्युदाहरणमपि प्रत्युक्तम्,



‘गौरतुबन्धः’ इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते ।

(A) ‘विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे’

इति न्यायात्, इत्युपादानलक्षणा(B) तु नोदाहर्त्तव्या । न ह्यत्र प्रयोजन-

मित्यत्र करणो युद् । तनु धर्मे कुन्ते’ शक्तस्य कुन्तशब्दस्य यदि धर्मिणि कुन्तिनि लक्षणा तदा गार्ह्ये शक्तस्य गोशब्दस्य गात्वशिगिर्धर्मिणि लक्षणा स्यात्, तथाच सामर्थ्याने ‘गौरतुबन्धः’ इति श्रुतिप्रक्रमेण उपादानलक्षणादाहरणमस्तु\* इत्याशङ्क्य निषेधति—गौरतुबन्ध इत्यादिना नोदाहर्त्तव्या इत्यन्तेन । अत्र\* व्यक्तिराक्षिप्यते इत्यन्तं लक्षणाप्रसङ्गम् । कथं मे स्यादिति, प्राणित्वेन\*प्राप्तिताया गोत्वजातेरर्थं भावनाकारः । जात्येति बाधितान्वयप्रतिषेधित्वेन उपस्थितया जात्या करणभूतया शब्देनैव लक्ष्यत इत्यर्थः । इत्य लक्षणामाशङ्क्य अन्तरं तत्र शक्तिप्रसक्तिं निरस्यति—न त्विति । प्रथमं गार्ह्येन गात्वमुपस्थाप्य ततस्तथैव शक्त्या गौरप्युपस्थाप्यते इत्येव शक्तिप्रसक्तिः, तन्निगमे हेतुमाह—विशेष्यमिति । ‘नाभिधा’ शक्तिः विशेष्य’ गार्ह्यधर्मिण ‘न गच्छेत् उपस्थापनाय न प्राप्ताति । तत्र हेतुमाह—क्षीणेति । यतो ‘विशेष्यं’ गात्वादावुपस्थापित ‘क्षीणशक्तिः’ क्षीण सामर्थ्या, शब्दबुद्धिकर्मणा निरस्य व्यापारभावेन सहदुश्चरितशब्दाव\*सहद्वेषा भावात् । पिनिष्ठे शक्तिस्तु ‘वैशिष्ट्यादेः शक्त्यभ्युपगमे गौरवादेव न बाधयेति भावः । इत्युपादानेति ‘इति’ पक्षे रीत्या प्रसञ्जिता ‘गौरतुबन्धः’ इत्यत्र उपादान लक्षणा नोदाहर्त्तव्या इत्यर्थः । अत्र हेतुः—न ह्यत्रेति न वेति । ननु गोशब्दस्य

(A) विशेष्यमिति । बाधुरीतिविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये चोपस्थाप्यते इति न्यायेन सम्बन्ध पूर्व विशङ्कोपस्थितरावश्यकत्वेन मात्र विभिन्नभाविह शङ्कनीय इति ज्ञेयम् ।

(B) इदम् विन्तनीयम्—गौरतुबन्ध इत्यत्र व्यक्तौ लक्षणास्वीकारोऽपि मुख्यार्थस्य जातेतु-बन्धनविधायकत्वमन्यथासम्भवेन नैत्युपादानलक्षणादाहरणे सम्भवतीति ।

1 ‘शक्तपदसं धर्मिणि कुन्तिनि लक्षणेनाशङ्क्य, ननु किं क्षीणशक्तिः हेतुः गौरतुबन्ध इत्यत्रैव गोपद-तदुपादानेन नोत्र जातिप्रतिष्ठायां बोधकत्वं नैपश्यति ननु लक्षणाप्रसङ्गात्’ ख न ।

2 यत्र परं पुनर्दिष्टं ‘नामावर्तनादि’ नोक्तिकमप्युपस्थापनादि कर्मण्युपस्थापनादुपादानं शक्त्या नामवत्त्वकत्वात् तदाच यत्किं इति शङ्क्य । 3 ‘व्यतिष्ठेयं यत् न । 4 निरवकीर्येति ख-न । 5 ‘सहद्वेषावभावादिनादिति भावः’ ख । 6 ‘विशेष्यतत्त्वभाविगति’ ख ।

मस्ति, न वा रुदिरियम् । व्यक्त्यधिनाभावित्वात् जात्या व्यक्ति-  
राक्षिप्यते; यथा (१)क्रियनामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश

गवि भूतिप्रयोगरूपा रुदिरस्त्येव, तत् कथमिदमुक्तम्? अत्र चक्रवर्त्ती—आधुनिक-  
देवदत्तादिपदे रुदिर्नास्तीत्याह । तत्र ; गवादिपदे रुदिमस्तीति सात् । शत्रोच्यते,  
न वा रुदिरित्येवमुक्ता न वा रुदिरियमित्युक्तेरयमभिप्राय—उत्पन्नाहेतु रुदिर्न भूरि-  
प्रयोगमात्रम्, किन्तु लक्ष्यार्थविनिर्मुक्तकेवलशस्यार्थं प्रयुक्तस्य शब्दस्य लक्ष्यार्थं भूरिप्रयोग  
एव लक्षणहेतु रुदि ; यथा—केवले देशे शस्यार्थं प्रयुक्तस्य कलिङ्गशब्दस्य कलिङ्गत्वेन  
पुरुषे, गोशब्दस्य तु केवलगतत्वेऽप्रयुक्तत्वात् न तादृशी रुदि । तर्हि कथं गो-  
प्रतीतिरित्यत आह—व्यक्त्यधिनेति । उपस्थिताया जात्या करणभूतया गोशब्देनैव  
व्यक्तिराक्षिप्यते स्वाशक्याऽपि स्मार्यते अनुमाप्यते चेत्पर्यं । जातेः करणत्वा च  
(२)तत्स्मरणं विना व्यक्त्याक्षेपाभावात् ।

नन्वेवमुपात्तशब्दस्याशस्यार्थोऽपि (३) शब्दबोधविषय इत्युक्तम्, तत्र क  
द्वयमित्यत्राह—पथेति । क्रियतामित्यत्र प्रत्ययार्थं कर्म, कर्त्ता तु मध्याहारलभ्य  
एव, एवं कुर्वित्यत्र कर्त्तृविहितप्रत्ययान्ते कर्म मध्याहारलभ्यम्, यथा तद्वय-  
मुपात्तशब्दाशक्यमपि शब्दबोधविषयस्तथा मन्त्रादिव्यक्तिरपीत्यर्थः । कर्मत्वादि-  
सामान्यरूपेणाव्याहृतं दर्शयित्वा कर्मविशेषत्वाविनाऽपि मध्याहार दर्शयति—प्रवि-

(४) इदन्तु बोध्यम् क्रियतामित्यत्र कर्त्ता कुर्वित्यत्र कर्मस्त्युभयत्र कर्त्तृकर्मगोर्बस्तुनोरेवा-  
क्षेप सत्येव 'जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते' इत्यत्र दृष्टान्तत्वसङ्गते । अथोपेव मीमांसकैर्याप्याहार  
इत्युच्यते । तद्वद्वीकारे शब्दाभ्युपगारप्रसङ्गादित्य दृष्टान्तमाह—प्रविशेत्यादि ।

(५) तत्स्मरणं विनेति । तयाच स्मरणात्मकव्यापारद्वारा शब्दबोधरूपशब्दजनकत्वेन जातौ  
'व्यापार' कारणमिति कारण'लक्ष्यस्य सम्भव इति भावः । अत्र स्मृतिं प्रत्यपि जातेर्न साक्षात्-  
कारणत्वम्, किन्तु परम्पर्येवेति बोध्यम् । इदन्तु विभाव्यते अविनाभावमन्वयेन ज्ञान्या  
स्मारिताया अपि व्यक्तेः पदवृत्त्या स्मरणमावाहृतं न शब्दबोधे प्रवेश सम्भवति, शाब्दी हाकाक्षा  
शब्देनैव प्रपूर्यत इति व्यापारः । उद्योतक्यास्तु—आहोर्गोत्रानुपासम्, व्यक्ति विनेत्यनेन व्याप्ति-  
दर्शिता । अनुमानसङ्कल्पदेनैव व्यक्तिबोधः, पदजन्यपदार्थोपस्थितिहेतुहेतुमन्त्राने वृत्त्येत्यस्य  
गौरवेणाप्रवेश इति भावः । प्रकृत्यर्थान्वितव्याप्यबोधकत्वव्युत्पत्तिरपि प्रकृतितादार्थ्यविषयान्वितत्व-  
विषयेति न विमर्शयान्वयानुपगिरिति प्राहुः ।

(६) मशक्यार्थोऽपीति । नृत्वा अनुपगम्यापितार्थोऽपीत्यर्थः, यथाश्रुते लक्ष्यार्थस्य तादृशस्य  
लक्ष्मत्वेन दृष्टान्तार्थं क्रियतामित्यादिष्वन्यन्तानुवाकनवैधर्म्यमिति ध्येयम् ।

'पिण्डमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च । 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लभ्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेरौ तस्य त्रिपत्यत्वात् ।

गङ्गायां घोष इत्यत्र तत्स्य 'रोषात्रिकृष्णत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा । उभयरूपा चेयं

इति । प्रसिद्धं इत्यत्र गृहम्, पिण्डमित्यत्र भक्षयेति वयागङ्गमप्याह्वयम् । 'पिण्ड' प्राप्तम् । नन्येयमर्थापत्त्युद्देशे, तथापि ध्यायति श्रुत्यायम्य ध्यायताम्य शब्दबाधम्वीर सम्मतादित्यत्र आह—पीन इति । 'न लभ्यते' शब्दवाचन न श्रित्याश्रित्यत, दिवाऽ भागित्यपीनमप्यत्र प्रथम शब्दवाचन त्रिपत्यारण्यसिद्धये । ननु तर्हि पत्यमनु भवसिद्धा तत्प्रवर्तनित्वत्वेन नह श्रुतेति, शब्दवाचनतर धन शानुपपत्तिज्ञान रूपया धर्मापत्त्या (A) रात्रिभाविन्य प्रतापने इत्यय । शाब्दी ह्याशङ्का शब्दमेव प्रपूष्यते इति मतनायापत्तिरप्येवमप्यय शब्दकर्मनापत्ते कर्मजातत्वे तादृशाप्यस्य श्रुतत्वात् धृता यापत्ति, तदस्यनापत्ते त्वर्थापत्तिरिति मतमदन व्यस्यिता यासात् ।

इत्यमुपदानरूपतां ध्यायताम्य परार्थं स्वममपणमिति लक्षणलक्षणां ध्यायते— गङ्गेति । स्वार्थमर्पयतीति परार्थमात्रे सार एव स्वार्थतामर्पयता पर्य । लक्षणेनेति उपलक्षणैवेत्यर्थ । 'अन्यत्रात्रे म्यगन्धार्थस्याप्रवेशेन' मेरागलक्षणम् । लक्षणमित्यय करणे युक्त । लक्षणेनेत्यत्र मय युक्त । इत्युक्ता शुद्धैरेति

(A) धर्मापत्तिरिति । त्रिभाषाभाषावत पीनस्य रात्रिभाषाव विनाशुपपत्तिरप्याकारि- क्तायापत्त्या । धर्म भाष, उक्तवाच्य विनाशक्यार्थ अनाववात् एवञ्च रात्रिभोजनाभाषवति त्रिभाषाभाषावपत्तिरपिणीन नामाव इति वास्तवार्थवार, अमलि कायक उरुपतावच्छेदकावच्छेदेनैव शिरेषमादप्यानुभवाभिसिद्धतया रात्रिभोजनाभाषावरावच्छेदन तादृशीकृषामाषो मामत, तच्च रात्रिभोजनाभाषावरावच्छेद रात्रिभोजनरूपत्वविषयीन नामाव इत्याद्यरण्य तुल्यविशिष्टेपत्तेन रात्रि- भोजनमप्यविरप्य तादृशीकृत्ये हेतौ सायाभाषावरावच्छेदमावप्रतिपादित्वमप्यतिरिक्त्यासि- ज्ञानतया पर्यारण्यति । तथाच रात्रिभोजनरूपत्वमूलाभाषावप्रतिपादित्वमप्यतिरिक्त्यासि- पीनत्वान् देवत्वं इत्याकारया अर्थापत्त्या 'अन्यत्रात्रे रात्रिभोजी इति शानुपपत्त्यत, तच्च मीमांसकैर्यापत्तिरिति नैवापिहेतुमिच्छिति व्यस्यित । एवञ्च अनुमानरूपवर्थापत्ति- दान्तापि व्युत्पत्तिर्भेदेन कजे करणे च वर्तन इति ध्यायत् ।

शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात् । (A) अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न

व्यावष्टे—उभयरूपा चेति । शुद्धेति शुद्धैवेत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—उपचारेणेति शक्यलक्ष्ययोगभेदोपचारपूर्वकत्वेनेत्यर्थः ; 'वक्ष्यमाणलक्षणाचतुष्टये तु तयोर्भेदोपचारपूर्वकत्वमस्त्येव, तयोः समानविभक्तिर्निर्दिष्टात् ; तादृशोपचारपूर्वकत्वे च सम्बन्धभेदवशाद् गौणीत्वं शुद्धात्वञ्च वक्ष्यते, अनयोस्तु तादृशोपचाराभावात् शुद्धात्वमेवेत्यर्थः\* । नन्वेवमनयो प्रथमिकभेदोपचारभावेन तन्मूलकं पञ्चादाहाप्यमित्रारोप-रूपं प्रयोजनमपि नास्ति, तथाच नेमे लक्षणे प्रयोजनज्ञाननिर्वाही किन्तु शक्यलक्ष्य-सम्बन्धमात्रज्ञाननिर्वाही एव, तथाच वक्ष्यमाणलेयार्थलक्षणाकूपे पदेति कथिर्योगा-नर्हत्वादभ्युत्पापे एवेति ज्ञानशङ्कां प्रयोजनान्तरसत्यप्रदर्शनेन निरस्यति—अनयो-

(A) अत्र बाह्योपनिषादा—'मुकुलमहास्तु गौवाहीक इत्यादिगौर्णां शक्यार्थ-लक्ष्यार्थयोः माहायाक्यमप्यन्वेनाभेदः प्रतीयते, शुद्धायान्तु शक्यार्थलक्ष्यार्थयोर्भेदः प्रतीयते तदेव बौद्धासीन्यापरपञ्चायं भेदप्रतीतिरूपं तादृश्यं नाम । इदमेव च शुद्धया गौणीयो भेदकम्, न वक्ष्यतामिदमस्त्वित्यतः । उक्तं च नितकरोति—अनयोरिति, भेदयोरिति शेषः । इदं सम्बन्धम् । उक्तयोश्चाज्ञानलक्षणाखण्डलक्षणाकूपयोः शुद्धया भेदयोरित्यर्थः । "लक्ष्यस्य" सीतदे "लक्षकस्य" गङ्गादेव "भेदरूपं" भेदप्रतीतिरूपं "तादृश्यम्" बौद्धासीन्यं "न" अप्सीति शेषः । किन्तुभेदप्रतीतिरेत्यर्थः । यद्वा लक्ष्यस्य लक्षकस्य च भेद-प्रतीतिरूपं तादृश्यं "न भेदरूपं" भेदो लक्ष्यनेज्जेनेति भेदरूपं न भेदकमित्यर्थः, गौणीत शुद्धया न भेदकमिति पाषट्, अभेदबुद्धिं विना प्रयोजनप्रतिपक्षेत्माचादिषि भावः । एतदेव विशदयति—हृदादीनामिति । तत्त्व गङ्गादित्वम् । यद्वा हिचाम् एषावै । शक्यलक्ष्ययोगाङ्गातीत्योरभेद-प्रतिपत्तौ लक्ष्यार्थेनेत्यर्थः ...न तु भेदप्रतीतौ, अभेदबुद्धिं विना प्रयोजनप्रतीते । तदेवाह—गङ्गा-सम्बन्धेत्यादिना को भेद इत्यन्तेन । यात्रतर्जनाभेदप्रतीतेर्नैवकछेदः ; मुकुलमहास्तुनिषादा-दिति मुकुलमहास्तुयोगापेक्षेनेत्यर्थः । को भेद, क कल्पितस्य इति पाषट् । तथा सति गङ्गाती-रोष इति पाषट् शब्दं स्वावर्तं विहाय गङ्गाया मोष इत्यवाचकशब्दप्रयोगानुपपत्तिरेव स्यात्, "स्वावर्ते" शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं प्रयोक्तव्यमिहे इति न्यायात् । अतः शुद्धायामप्यभेद-प्रतीतेर्न तादृश्यं भेदकं किन्तुपचारमिदमभेद भेदकमिति भाव इति व्याचक्षते ।

I "अत्र बाह्योपनिषादा न त्वार्थोपस्थापनं न तु सत्त्वमाधिक्यमप्यन्तरीयं सत्त्वार्थोपस्थापनमस्ती-  
दित्यभाषणवचनानुसारेण सत्त्वार्थं अत्राहमिदोपचारमिदमनन्तरीयमा-  
निरवभाषादित्यर्थः ।  
उपचारमिदमिदं सत्त्वमाधिक्यमप्यन्तरीयं सत्त्वार्थमप्यन्तरीयं सत्त्वार्थमप्यन्तरीयं सत्त्वार्थमप्यन्तरीयं  
इति वेत्तावै" अ-ब ।



भेदरूपं तादृश्यम् तदादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्व-  
प्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्बन्धः, गङ्गासम्बन्धमात्र-  
प्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को  
भेदः ।

(१४) (A) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

रिति । लक्ष्यस्य लक्षकस्य च भेदरूपमित्यत्र तयोर्भेदाऽभेदातिरिक्तं सम्बन्ध-  
सयोगादि, तस्य मात्रगर्भता बोध्या, तथाच तन्मात्रेण रूपं स्वरूपं निर्वाच्य  
यस्य तादृशम् । 'तादृश्य' लक्षणात्वम्, उदासीनार्थप्रत्यायकत्वेन लक्षणा तदस्यो-  
च्यते तदभावास्तादृश्यम् । तथाच अवयवार्थलक्षणाप्रमेद्व्याल्लक्षणात्व लक्ष्यस्य कुन्ति-  
तीरादे लक्षकस्य च कुन्तगङ्गादे अभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रेण न निराह्वमित्यर्थः,  
किन्तु प्रयोजनेनापि । तस्मिन्नाहं प्रयोजनमेवाह—तदादीनामिति । 'प्रतिपादने'  
प्रतिपादनदशायाम्, 'तत्त्वप्रतिपत्तौ' सामान्यतः प्रयोजनरत्वप्रतिपत्तौ सत्याम् ।  
'प्रतिपिपादयिषितस्य' लक्षणाया लक्ष्याभिजापनेन प्रतिपादयितुमिष्टस्य तदादां  
पावनत्वादे कुन्ताघरिरलक्ष्यादेस्व प्रयोजनस्य, 'सप्रत्यय' इत्यर्थः । प्रयोजनीभूतज्ञान  
विषयत्वात् पावनत्वादेरपि प्रयोजनत्वेनास्ति । परमुत्तरोत्तरमपि बाध्यम् । भेद  
पदस्याभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रपरतां मात्रगर्भताञ्च 'श्वक्तीकुर्वन्नाह—गङ्गा-  
सम्बन्धमात्रेति, गङ्गादिसम्बन्धेत्यर्थः, तेन कुन्तादेरपि सम्बन्धपरिग्रहः । 'का  
भेद' को विशेषः ।

एतल्लक्षणाद्वयभिन्नां चतुर्विधां लक्षणांमाह—सारोपाऽन्येति । यदि शक्य-  
यावकां लक्ष्ययावकस्य शब्दः समानविभक्तितया निर्दिश्यते, तत्र समानविभक्ति-  
दर्शनान् प्रथमलक्ष्यार्थं प्रत्ययार्थभेदारापो भवति, यथा गौरीहीकं आयुर्धृतमिति ।  
अत्र हि हलराहकात्मनि गौरीहीके गा धृते चायुषः प्रथमभेदारापो भवति पश्चादेव  
बाधाद् गासदृशे आयुर्जनके च लक्षणा, तादृशे प्राथमिकारापे च शक्यार्थं धारोप्य-  
माणा विषयी लक्ष्यार्थचारापाधिकरणं नियमः, तादृशं विषयी विषयश्च यत्र

(A) "अन्या अर्थाद् गौरी आरोपस्यवमानान्या भिद्यते न त्वानल्लक्षणाभ्यामिति तु-  
शब्दार्थः" इति प्रदीपः ।

आरोप्यमाण आरोपविषयश्च यत्रानपहुतमेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

(१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

लक्षणायाम् उक्तौ सामानाधिकरण्यविमस्त्या निर्दिष्टौ, सा लक्षणा सारोपा प्रायमिकाभेदारोपवतीत्यर्थः । एवमेव व्याचष्टे—आरोप्यमाण इति । अनपहुत-  
मेदौ इति । रूपक एव भेदापह्नवः, अत्र तु गोसदृशायुर्जनरुल्लक्षणावशादेव भेद-  
सानात् न तदपह्नव इत्यर्थः । न च रूपकेऽपि सारोपा लक्षणैवेति वाच्यम्, तत्राहार्यस्य  
मुखे चन्द्राभेदबोधस्यानुवर्तमानत्वात् । न चैव गौर्वाहीक इत्यादिकमपि रूपकमेवेति  
वाच्यम्, अत्र गोसदृशबोधस्यानुवर्तितत्वात् । न चानयोर्विनिगमनाविरहेण वैप-  
रीत्यमेव किं न स्यादिति वाच्यम्, आरोप्यमाणस्य प्राडनिर्देशे सारोपा, यथा गौर्वाहीक  
इत्यादौ ; आरोपविषयस्य प्राडनिर्देशे तु रूपकम् (A), यथा मुख चन्द्र इत्यादौ, अत्र  
हि सादृश्यबोधानन्तरम् अभेदारोपः, गौर्वाहीक इत्यादौ तु अभेदारोपादमन्तरं शब्दावेष  
लक्षणाया सादृश्यबोधः, तस्य इयमेव विनिगमना । अत एव रूपसादायुक्तम्—

अनुवाचमनुक्तवैध न विवेकमुदीरयेत् । इति

एवञ्च चन्द्रो मुखमिति प्रयोगे सारोपा लक्षणा, बाहीकां गौरिति प्रयोगे च रूपक-  
मिति बोध्यम् । सामानाधिकरण्येनेति सामानाधिकरण्यविभक्तिकृतयेत्यर्थः (B) ।

यदि ॥ बाहीकादर्लक्ष्यस्य सामान्यसार्थनामपदेनैव निर्दिष्टो न बाहीकत्वादि-  
सादृश्येपवाचकपदेन तदा भेदकधर्मबाहीकत्वादेऽनुपस्थित्या आरोपे उत्कटवत्तत्वा-  
वभाषसानात् सैव साध्यवसानैः सुच्यते इत्याह—विषय्यन्तरिति । व्याचष्टे—

(A) इदमत्र चिन्तनीयम्, रूपकमारोपाख्यलक्षणवीरन्या रीत्या दिविकविषयाशब्दयुगादे  
“सौन्दर्यस्य शास्त्रिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्भूतम्” इत्यादावारोप्यमाणस्य प्राडनिर्देशेऽपि  
रूपकालङ्कारस्यावयवमङ्गीकणीयत्वा ग्रन्थविरोधो तुल्यारं भवेति ।

(B) समानविभक्तिकृतयेति तु फलिद्वयम् ।

विपयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्त, कृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये  
सति सा साध्यप्रसङ्गा स्यात् ।

(१६) भेदायिमा च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।

गौणौ शुद्धौ च रिज्ञेयौ—

हमावारोपाध्यप्रसङ्गान्तरा सादृश्यहेतु भेदो गौर्वाहीकः <sup>(A)</sup> इत्यत्र

विपयिणाति, गौण्यम् आधुरिदमिदम् गता आधुरा च आरोपविषये बाह्यके  
पुनः व निगीण सत्तादृश्या । निगीणता च रिज्ञेयः (B) वाच्यः शब्दानुपादानम् । न च  
तत्र विपयिण कथं तुनायथा करणत्वं दर्शयति चान्यम्, विपयितावात्स्येनैवापासता  
विषयस्य प्रतीत्या रिज्ञेय विपयमानन विपयिण्यत्र तन्कारणत्वात्पात् ।

भेदायिमायिति । सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा शुद्धाति  
पयासह्यमन्यय । भेदायिमायित्युक्त्या समानाधिकरणमिति निर्देशाभावात् सादृश्य  
हेतुकापीय न गौणाति दर्शितम्, तत्ता रिज्ञेयकयत्वेन सम्बन्धरत्वरूपात् सादृश्यादपि  
न कर्मणि शुद्धात् इत्यत्र गौणीति (C) बाध्यम् ।

सादृश्यहेतु भेदायित्यस्य कारिकास्ये गौणायित्यतान्वय । आरोपाध्यवसान-

(A) वाहीका नाम दण्डविषय पञ्चाव इति प्रसिद्ध, सत्रन्व गुरुषो वाहीक इति केचित् ।  
अथ तु बहिर्भक्तो वाहीक इति श्रुत्युपपत्त्या शास्त्रीयावासादहिभूत इत्यथ । बहिर्पष्ठिलोरो यथा  
ईकश्च इति चार्तिकद्रव्येन बहिः शास्त्रस्य टिप्पण इत्युक्तत्वे च कृतं वचनारम्भान् वाहीक  
इति इयमित्याहुः इति बाणवाचिनीः शास्त्रीयावासादहिभूतयथा तिष्ठन्मुद्रादिना इत्यन्यत्र  
दृश्यम् । वाहीको दण्डेन अष्टक इति तत्पण्याय इति ह्यमच-द्र । वस्तुमस्तु वाहीक चार्तिक-  
जातीय जाड इति प्रसिद्ध । तवाच महाभारत पञ्चाना मित्युपपत्त्या नवीना यन्त्रराशिता ।  
तान् धम्मशास्त्रानशुचीन् वाहीकान् परिवर्जयेत् ॥ वाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा ।  
चार्तिका नाम वाहीकाम्पता कृतं छविर्दिशम् ॥ (इति कर्णक २०० अ० इति शब्दकल्पदुने) ।

(B) रिज्ञेयति । आधुरिदम् इत्यस्यैव सम्बन्धान्तर इत्युपपत्त्यैव पृतवाचकत्वमपि न रिज्ञेय  
तद्वाचकत्वं वस्तुविपयितावच्छिन्नत्वात् अतुगम्याभावस्यैव एव स्यात्त्वम्बीकारान् । एतन्मत  
साध्यवसानान्तरं सन्वयैव विषयागा सर्वनाम्ना निर्देशाभावस्यैव इति एतमेव । एवञ्च  
सादृश्यदर्पणतोऽप्य मतवैलक्षण्यमन्तीत्युक्तव्यम् ।

(C) वस्तुन सादृश्यत्वेन सादृश्याप्रतीतिरवात्र गौणीत्वाभावे पीकम् तत्र कर्मणि शुद्धात्

गौरय<sup>(A)</sup>मित्यत्र च । अत्र हि स्वार्थसहचारिणो जाड्यमान्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थोभिधाने प्रवृत्तिनिमित्ततामुपयान्ति इति केचित्<sup>(B)</sup> । स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते,

रूपावित्यत्र आरोपाध्यमानाम्नाम्या रूप ययोरिति विग्रहः । इत्थं गवादिशब्दस्य गवादि-सङ्घे लक्षणेति प्रतिपादिते जाड्यमान्यादिरूपे गवादिसादृश्य एव लक्षणा, ततस्तेनैव जाड्यमान्यादिना प्रकारेण शक्येच्च गोसदृशनाहीकप्रतीतिरिति केपाञ्चिममताह—अत्र हीति, भवेत्यर्थः । जातिशक्तिवादे स्वार्थो गोन्यम्, 'परार्थस्य' बाहीकस्य 'अभिधाने' अभिधया शब्दस्या प्रतिपादने । 'प्रवृत्तिनिमित्तता' शस्यतायच्छेदकताम् । तथाच—गोशब्देन प्रथमं जाड्यमान्यादिरूप गोसारम्भं लक्षणाया प्रत्याप्यते, तेनैव जाड्यमान्यादिना शस्यतायच्छेदेन जडमन्दो बाहीक शक्या प्रत्याप्यते इत्यर्थः<sup>१</sup> । न च शक्तिप्राहकक्रोधाद्यभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, धर्मे लक्षणाग्रहस्यैव धर्मिर्गणि शक्तिप्राहकत्वस्य तत्सिद्धान्तत्वात् । अत्र मते धर्मिण्यवक्षेपादेव लाभसम्भवे तत्र शक्तिकल्पनमन्याप्यम्, बाहीकवृत्तिजाड्यमान्यन्यकिमिशेषे स्वार्थगोत्वसहचाराभावाच्चेति द्वयमभिप्रेत्य तन् परिहृतां मतमाह—स्वार्थेति । 'गुणाभेदेन' गुणसाजात्येन । तेन लक्षणीयेषु बाहीकवृत्तिगुणेषु स्वार्थगोत्वसहचारिगुणसाजात्यमेव शस्यसम्बन्ध इत्युक्तम्, धर्मिणस्तत्वात्ते इति भावः<sup>२</sup> । एतन्मने जाड्यमान्यरूपे सादृश्ये यदि सादृश्यत्वेन रूपेण लक्षणा, तदा विस्तिष्ठलक्षणावाद्यमपेक्ष एव । यदि तु शुद्धसादृश्य एव लक्षणा, तदा गोसादृश्यवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यप्रतीति-

अमित्यादौ समागमिनितिरूपदयत्वेऽपि न तत्प्रसङ्गस्तत्र विवेकत्वधर्म्ममात्रस्य सादृश्यत्वाभावा-दिति ध्येयम् ।

(A) "यद्यपि बाहीकस्य बाहीकत्वेनेत्यन्तवा बोधस्थितौ सारोपात्वमेवोचितम्, तथापि हृदन्त्वस्यारोध्यविशेषणतया तदुदाहरणं हृदन्त्य"मिति प्रदीपः ।

(B) केचित्स्वित्वात्, तदीयन्तु गोवृत्तिजाड्यमान्यन्यशक्यतया शक्यत्वे सति शक्य-वृत्तित्वे सति स्वमिद्वयमानधिकरणत्वरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणाया सत्तासम्भव इति प्रदीपे स्पष्टम् ।

१ 'गोसादृशबोधात्मकगौरय' इव गोसदृशो गोशब्देन प्रतिपाद्यते इत्यर्थः । च ।

२ 'बाहीकवृत्तिजाड्यमान्यन्य स्वार्थसहचाराभावेऽपि सम्बन्धस्य लक्षणादिति । गुण एतेषां-काराद धर्मिणि सचवाच्यकते । येन शक्तिमि अवक्षिपति—न लिङ्गि । एवञ्च धर्मिण्यवक्षेपादेन प्रतीतिविहीनं न तत्र लक्षणा न वा शक्तिविनाशम्' इति ।

न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये । साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे । उक्तं चान्यत्र—

अभिधेयाविनामृतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गोणता <sup>१)</sup> ॥ इति

गौरीत्याद्य स्यादिति दूषणमभिप्रेत्य स्वपक्षपातिना मतमाह—साधारणेति । वक्रवर्त्ती तु—गोसादभ्यस्य साधदार्थत्वे गोसादभ्य बाहोर्क इत्येव बाधायति समानाधिकरण विभक्तिकारस्येद्वान्वयबोधनियमादिति दूषणमाह, तत्र, गौ शुद्ध इत्यत्रैव जातिशक्तिं बाधरीत्या आक्षिप्तपक्षयोरेवान्वयबाधस्य तै स्वीकाण्ड । ‘साधारणेति’ साक्षात्त्वेन साधरणता । ‘परार्थे’ बाहोर्कादिरूप, सङ्ग एवेत्यर्थः । न परे अपरे स्वपक्षपातिन इत्यर्थः । इत्य सादभ्यसम्बन्धाद् गौणी, सम्बन्धान्तरतन्त्रं शुद्धेत्युक्त्वा सम्बन्धादेव लक्षणं, तस्य सम्बन्धस्य सादभ्यरूपत्वे सा लक्षणा गौणीत्युभयत्र संवादमाह—उक्तञ्चेति । अभिधेयस्य शक्यस्य योऽरिनामृत सम्बन्धस्तस्य प्रतीतिर्यथा वृत्त सा वृत्तिलक्षणोच्यते इत्यर्थः । सम्बन्धदेव लक्षणेत्यत्र मय संवादः ।

(A) अभिधेयेति—

अभिधेयाविनामृते प्रवृत्तिलक्षणेप्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गोणता ॥

इति मुद्रिततन्त्रवार्तिकपाठः (अ १० वा २० सू १२)

अत्र न्यायज्ञा—“अभिधेयसम्बन्धित्वरूपपरित्यागप्रवृत्तबाधयोऽभिधेयाविनामृतशब्द गौण्यान्तु वृत्तादभिधेयसिद्धादिमन्त्रित्वरूपानादरेण क्लृप्तिप्रसङ्गाकारित्वादिगुणयोगमात्रादसूचनाया अभिधेयस्य गुणलक्षणाया व्यापारेऽप्युपादानम् । ननु लक्षणायाऽभिधेयानामापक्षणे यद्यपि पुर्याविना भावभावात् न यच्छादिसाधने लक्षणा स्यादित्याह—तत्रति । मयभाष्य—नात्र लक्षणा हेतुत्वेनाभिधेयानामुपादानम् तस्या सम्बन्धमात्रेण सात्त्विकवशादुपपन्नः । न चात्र लक्ष्यस्याभिधेयस्य लक्ष्येणानिर्वाचनेनैव धृत्तयोक्त विपरीताभिधानात् किन्त्वभिधेयसम्बन्धित्वरूपान्तर प्रदर्शनार्थं यच्छादिसाधनान्, अत्र च अभिधेयसम्बन्धादित्यन्वितत्वात्तद्वशं पुनस्तत्वरूप प्रवृत्त्य भावेन अभिधेयाविनामृतप्रवृत्तित्वाभावात् सम्बन्धमात्रत्वं च लक्षणाहेतोर्भावाद् युक्तैव लक्षणाया प्रवृत्तिरिति” ।

एतत्पक्षपूर्ववर्त्तिष्ठया प्रदीपे चतुर्थं “मात्रान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिधे” इति, तत्रैव बाध-  
रोधिनीष्टम्, ‘मात्रान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिधे’ इति वा एतादं नात्रोक्तम्यते इति ।

लक्ष्यमाणेति । अत्र प्रदीप—“लक्ष्यमाणं ये गुणा जात्यादयस्त्वेव यदि योग शक्यसम्बन्ध-

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम् । तच्चे  
हि मन्त्राः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्यात् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव  
सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

आयुर्धृतम् आयुरवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारण-  
भावादिसम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे  
आरोपाध्यवसाने । अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः  
सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम् । शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येना-

तस्य सम्बन्धस्य सादृश्यरूपत्वे सा वृत्तिर्गौणीत्यतः समादमाह—लक्ष्यमाणेति ।  
गुणा शक्यगुणा, लक्ष्यमाणश्च ते चेति द्वन्द्वः, तं परस्परं योगादित्यर्थः । तथाच  
शक्यवृत्तिधर्मरूपात् सादृश्यादित्युक्तम् । केचित्तु—गुणैः शक्यगुणैः लक्ष्यमाणस्य  
योगादिति समासगान्धार्यं व्याचक्षते, तत्र ; लक्ष्यमाणस्य गुणैः सह समासः,  
भक्षयस्तु योगादित्यत्र इत्यन्युत्पत्तेः, युक्तार्थत्वाभावे समासाभावात् ।

अविनाभूतैत्यतः 'अविनाभावे' व्याचष्टे—अविनाभावोऽत्रेति । 'नान्तरीयकत्व'  
व्याप्तिः, सा च यत्र धर्मस्तत्र तादात्म्येन धर्मोत्पेक्षरूपा गौणेत्ययोरिति । मञ्जा  
इति, मञ्जमञ्जस्ययोरेविनाभागभावात् । इत्युक्तमिति गौरवबन्ध इत्याद्यावुक्तमित्यर्थः ।

सम्बन्धान्तरतस्तथेत्यस्य विषयं दर्शयति—आयुर्धृतमिति । आयुरेकेत्यत्र  
एवकारः समासापाठ एव, प्रकृते 'त्वनुपपुक्तः । क्वचित् पुस्तके तु तच्छून्य एव  
पाठः । अप्रायुर्जनके लक्षणा, सम्बन्धोऽप्यत्र जनकत्वमेव । अनयोरोपाध्यवसान-  
पूर्वकत्वमाह—एवमादाविति । कार्यकारणभावस्य लक्षणा 'ज्ञानं ततः पूर्व-  
मारोपाध्यवसाने इत्यर्थः । ते च समानाधिकरणविभक्तिकत्वदर्शनान्निति बोध्यम् ।  
गौर्वाहीक इत्यतः गौरयमित्यतः च लक्षणाद्वयस्य प्रयोजनं दर्शयति—अत्रेति ।  
वाहीकादौ गवादेर्भेदे ; प्रतीतेऽपि एकत्र गो'ताद्रूप्यप्रतीतिराहार्या, अन्यत्र तु तादृशी

स्तदा गौणी वृत्तिरिति" इति । व्याख्यातव्योक्तकारैः "लक्ष्यमाणगुणैरिति लक्ष्यतावच्छेदकगुणै-  
रित्यर्थः, गुणलक्ष्यतावच्छेदकिका लक्षणा गौणीति भावः" इति ।

प्रमिचारेण च कार्यकारित्वादि । कचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा  
इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः । कचित् स्वस्वामिभावात्, यथा राजकीयः  
पुरुषो राजा । कचिदवयवावयविभावात्, यथा अग्रहस्त इत्यवग्र-  
मात्रेऽवयवे हस्तः । कचित् तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा तक्षा ।

(१७) लक्षणा तेन पङ्क्तिः<sup>(A)</sup> ॥ १२ ॥

प्रतीतिरेव 'सत्ययात्यप्रतिता उत्कटेत्यर्थः' । गोणभेदयोः प्रयाजनमित्यन्यथ ।  
भायुर्षु तम् भायुरित्मित्यनयो प्रयोजनमाह—शुद्धभेदयोस्त्विने । काव्यकारित्व  
लक्षणागम्यमेव, तत्र अन्यवैलक्षण्यमवयविचारित्वञ्च 'यथासद्वय प्रयाजनत्रय  
मित्यर्थः' । सम्बन्धान्तरं पल्लवयति—कचिदिति । उपचार इति । 'उपचार  
पूर्विका लक्षणा'<sup>१</sup> । 'स्थूणा स्तम्भ' । इन्द्र स्थूणा इन्द्राऽप्रमित्यन्तिरीत्या दृश्यमाण  
सर्वत्र सारापासाध्यवसाने वाप्ये । इन्द्रयन् पूजयत्य सद्धवय्य पूज्यमानत्यञ्च द्वयो  
प्रयोजनम् । राजेत्यत्रापि राजन्त् सेव्यमानत्वम् अग्रय्य सेव्यमानत्वञ्च द्वय प्रयोजनम् ।  
अग्रहस्त इत्यत्र समासनिर्देशो हात्प्रणिक्तप्रदर्शनमात्रपरः । स्वतु हस्तोऽग्र  
हस्त इत्येत्येव । 'अग्रयाग्रजिस्तम्भेन निर्देशो रूपकसम्परादत्र हस्तस्यैव  
निधेयस्य पञ्चानिर्देशोऽपि न रूपकमतोऽत्र लक्ष्यैव' । हस्तस्तु कार्यकारित्व  
'सत्यया हस्त' कार्यकारित्वञ्च द्वयो प्रयोजनम् । 'तात्कर्म्य' तात्कर्मकारित्वम्,  
'अतक्षा' प्राक्षणादि । तच्चयन् 'काव्यकारित्व' तदतिराध्य द्वया प्रयोजनम् ।

(A) इदं पुनरिहावश्यम्—मूलोक्तं लक्षणायाः पादविषय तावद उपानयलक्षणा (१)  
लक्षणलक्षणा (२) शुद्धा सप्तोपा (३) शुद्धा साध्यवसाना (४) गौरी सारोपा (५) गौरी  
साध्यवसाना (६) इत्यत्र विभागान्मुक्त्यामे उपपद्यते । इत्यञ्च—'रुद्रिप्रयोजनत्वम् । भेद सम्भवत्यपि  
न ते विभाजकत्वेनाप्ये, किन्तु हेतुत्वम् इति मन्त्रो भेदे न गणितः । अत एव च पञ्चाद व्युत्पन्न  
रहिता' इत्यादिना वक्तव्यं भेद दशमिष्यति । ( ७४ ) 'पञ्चविधेति रुद्रिप्रयोजनोपादानलक्षणा  
रोपाध्यवसानरूपै बन्धित्वापिभि कल्पिता विधा प्रकृता यस्यामिति पञ्चिवा इति चण्डीनाय  
व्याख्यानम् तन् 'शुद्धैव सा दिवा । सारोपाऽन्या तु' इति एव-तु 'अग्रहोऽतन्त्रोऽवयव

१ 'पञ्चपा ३७७ ३ । २ स्याज्ज' ४ । ३ उपचार सारोपासाध्यवसानाऽन्योय तत्पूर्वं  
समानरितिक्रियामादौपचार ४ ४ । ४ अत एव सारोपासाध्यवसानाऽन्योय तत्पूर्वं  
इत्युपाऽन्योय पानिवात ४७७ प्रयोजनकपालाभावात्' ५ । ५ व-इतिच इत्य-—६ ६ 'वर्णकोटय ४ ।

आद्यभेदाभ्यां सह । सा च—

(१८) व्यङ्ग्येयन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ।

आद्यभेदाभ्यामिति उपादान-लक्षणलक्षणाभ्यामित्यर्थः ।

चित्रमितत्वादनारेणम्” इति प्रदीपकारोक्तेरप्यनाकुलमवसीयते । तथाच इदमप्युच्यते—  
लक्षणायास्तावत् विभाज्यौ उपादानलक्षणत्वधर्माभ्यां, तयोर्विभाज्यौ सारोपात्वाप्यवसानात्व-  
धर्माभ्यां, तयोरेपि विभाज्यौ शुद्धात्वगौणीत्वधर्माविविध विभक्त्यद्वैतविभाज्यसाधारणलक्षण-  
परिग्रहेण लक्षणाया बहुविकल्परूपकत्वं युज्यते, न हि कदाचिद्वान्तरतद्वान्तरधर्माणां सङ्ख्या-  
मुपादानं व्यापकधर्माणां विभागो दृश्यते, न कलु केनानि शुद्धादिभेदेन रूपानां मधुरादिभेदेन  
स्वानां वा पाद्विध्यमुपादानं गुणानाम्, साधारणत्वादिभेदेन वा सज्जमिचारस्य त्रैविध्यमात्राय  
हेत्वानासानाञ्च सख्याधिक्यमभ्युपगम्यते । तदभ्युपगमे भेदाभ्यासिगदितस्य प्राचां विभाग-  
लक्षणस्यानुपपत्तिः, सर्वत्र कृतानां विभागानां संख्यावित्त्वापातेन व्यक्तव्यति । समाधानञ्चात्र—  
विभागस्य विभागकर्तृपुरषुद्वयस्वरूपविश्वसहकृतद्विज्जयाग्राचीनताभ्युपगमेन विभाग-  
लक्षणस्यान्ततोऽन्यथाकारेण च कथञ्चिन् करणीयम् । तथाच दीकृत्या मोक्षरेण सारोपात्ता  
विषयस्य स्वतात्प्रेनोहेन साध्यवसानायाञ्च सर्वनाम्नेषु वक्ता तदुभयपक्षतिरिक्तोपादान-  
लक्षणात्वं ‘कुन्ता प्रविशन्ति’ ‘कावेभ्यो ऽपि ह्यप्य’ इत्यादौ, तथा तदुभयभित्तलक्षणलक्षणात्वं  
गङ्गायां घोष इत्यादौ समानविभक्तिक्रममभिव्यहारादस्ये अङ्गीकृतमिति तन्मते तयोरेव  
नामान्तरविग्रहेण उपादानत्वं लक्षणत्वन्वेत्यानाकुलमवसीयते । एवं कारिकोक्तप्रमातुरोपेन  
उपादानलक्षणान्धु एव प्रथमं सारोपासाध्यवसानोदाहरणयोः प्रदर्शनस्योचितत्वेऽपि तत्परी-  
हारेण लक्षणलक्षणाभ्यामेव ‘आयुर्वृत्तम्’ ‘आयुरिकम्’ इत्युदाहरणात्, तत्रापि यौ साध्यवसानाया  
उदाहरणत्वेन स्वीकृतस्य ‘कुन्ता प्रविशन्ति’ ‘गङ्गायां घोष’ इत्युभयस्य स्वयमपि प्राप्तस्य  
परीहाराच्च सारोपादानुपादानाद्विहृतविभागविशेषो नास्तीति मूलश्रुतामप्यस्ति तत्रैव स्वरस इत्यव-  
गम्यते । पुनरेव च ‘एतल्लक्षणाद्वयमिषां चतुर्विधां लक्षणमाह’ इति टीकाहनुनि सङ्गृह्यते ।  
इत्युपादानलक्षणसारोपात्ताप्यवसानाभेदादलक्षणायाश्चतुर्विधत्वे नास्त्यनुपपत्तिः । गौणी ॥  
यद्यपि क्वचित् सारोपात्मिका क्वचिन् साध्यवसानात्मिका तथाऽपि कैश्चिद्वृत्त्यन्तरात्वेनैवा-  
भ्युपगतेति तत्राप्यस्ति कश्चिद् विशेष इति तस्या अपि सारोपादिज्यापकतुल्यतया निर्देश  
प्राधान्यसूचनायेति लक्षणाया बहुविकल्परूपकत्वमिति सर्वत्र चतुरस्रम् ।

सारोपादीनामुपादानत्वाद्विहृतविभागस्ये तद् अष्टौ भेदा लक्षणाया अवन्ति । तानां नामा-  
नुदाहरणानि च—



(१६) तच्च गूढमगूढं वा—

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वगितवक्त्रिणं प्रेक्षितं

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।

उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसघन्योद्गुरं

वतेन्दुवदनाननो तरुणिमोद्गमो मोदते ॥ ९ ॥

गूढं सङ्घट्टयैकसवेद्यम् । अगूढं वाच्यवत् सर्वजनसवेद्यम् । गूढत्वे ध्वनिः, अगूढत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यम् । मुखमित्यादि । यत हर्षः । इन्दुवदनापास्तनौ वपुषि तरुणिमादृम उद्गतं तरुण्यं मोदते उत्कर्षभाग भवति, यतो मुखं विस्तृतहास्यम्, प्रेक्षणम्, आयसीकृतवक्त्रभावम्, मतिरुद्गुदविभ्रमा, मतिरपास्तस्थिरता नानाविलास-विषयीकरणत्, यत स्थल मुकुलाकारस्तनम्, असदन्ध भङ्गविभाग, जघनं तेनोद्गुर-पीनम् भङ्गविभागेन मध्यक्षेप्यात् जघनस्थौल्याच्च । अथ विकासस्य पुण्यधर्मत्वेन स्मिते तद्वाधाद् विस्तारे लक्षणलक्षणा, असङ्कोचत्व विकासविस्तारयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः, पुण्यधर्मनोद्गत्वं सङ्घट्टयैकसवेद्यं व्यङ्ग्यम् । त्रिकाशस्य पुण्यधर्मत्वेन

- |                                    |                                    |
|------------------------------------|------------------------------------|
| १ । उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा     | छत्रिण पुरुषा गच्छन्ति ।           |
| २ । उपादानलक्षणा सारोपा गौणी       | सैवनि सारंपापीयि हेमन्ते छत्राणि । |
| ३ । उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा | काकेभ्यो वृषि रक्षयाम् ।           |
| ४ । उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी   | सैवनि हेमन्ते छत्राणि ।            |
| ५ । लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा      | भायुर्धृतम् ।                      |
| ६ । लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी        | पृथिव्यामिन्द्रो राम ।             |
| ७ । लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा  | गङ्गायां घोषः ।                    |
| ८ । लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी    | राजा गच्छति ।                      |

(महोदयसम्प्रदायिनि तात्पर्यम्) ।

(१) मुखमिति । 'इन्दुवदनापास्तनौ शरीरे तरुणिष्ठ उद्गम आविर्भावो मोदते स्वकाव्यजनने-  
नियन्त्रितोऽस्तीत्यर्थः । प्रकृत्यैवमिन्दुवदना सत्राप्येवविधं बौदनविजृम्भणमिति कष्टमापत्तिर्न  
विदग्धजनम्येत्येव सेदो वतेत्यनेन प्रतिषेधते, अहो रमणीयतातिशय इति विस्मयो वा, भार्येन  
परमोत्सवस्थानमुपसम्पन्नं पुण्यजनननामिति इहो वा, 'वसामन्त्रणसन्तोषसेदानुकोशविस्मये'  
इति नानार्थकोषात् । कथमित्यपेक्षायाम्—मुखमिति, यतो मुखं विकसितं प्रवृत्तं स्मितं

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्ज्ञा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।

अविदग्धैरज्ञानं तेषां पुण्यस्यैवानुपस्थिते, साहस्यहेतुकाऽपीय न गौणी तुल्यरिक्ततया द्वयोर्निर्देशाभावात् । वर्णने तु साहस्यहेतुकमात्रलक्षणैव गौणी, तद्य न प्रत्यक्षतस्मत्तमिति प्रागेव दर्शितम् । तथा मोदस्य प्राणिधर्मत्वात् तारुण्ये तदाद्यादुत्कृष्टे लक्षण-लक्षणा, स्वाधयोत्कर्षकत्वे मोदोत्कृष्टयोः प्रत्यक्षद्वयोः सम्बन्धः, उत्कृष्टतारुण्या-भ्यवत्त्वेनेन्दुयदनायाः प्रकृष्टत्वं सहृदयैकवेद्यं व्यङ्ग्यम्, तारुण्ये मोददायस्यैवाविदग्धै-रज्ञानात् ।

श्रीपरिचयादिति । जज्ञा अपि जना श्रीपरिचयाद् विदग्धचरितानामभिज्ञा

‘इषद्विज्ञासिनपन स्मिन् स्थायं स्पन्दिताधर्म’ इत्युत्कृष्टगङ्गास्वविशेषस्य यत्र तयाभूतम्, एवं प्रेक्षितं प्रेक्षणम्, भावे च, वसितो वसीकृतं स्वायत्तीकृतं स्वमम्वद् इति यावत् वक्रिमा वक्रत्वं येन तयाभूतम् । तथा गतिर्ममंन समुच्छलिता घातरूपेण प्रदुर्भूता विभ्रमा विज्ञासा वप्यां सा तयाभूता । यत्किञ्चिदपि अपास्ता त्यक्ता संस्था परिमितविषयकत्वं यया, भवेद्विषय-सहायिणीति यावत् । उतो वक्ष-स्थः मुकुलितो मुकुलकाराङ्गुनिर्गो वा स्तनी यत्र तयाविषयम् । एवं जवनम् असत्यं वन्धो विभ्रतामम्पादनं तेनोद्गुम्भितं पीरमिति यावत् । असमम्बन्धी वन्धः सुरतविशेषस्वात्र समर्थमिति वा (उत्कृष्टं वा) । यथाच अमराधारणस्मिताद्युन्नेयं स्तुतेनैव यौवनमोदमगमयतीति भावः । अत्र च विकारस्य पुण्यधर्मस्य निमित्तं, वसीकरणस्य चेतनधर्मस्य वक्रिमणि, समुच्छलनस्य मूर्तधर्मस्य विभ्रमे, संस्थायाः वप्यांशायाम्पादाय चेतन-धर्मस्य मत्तो, मोदस्य हर्षस्य चावेतने यौवनोद्गमे बाधितत्वात् विकारितादिवद् स्ववाच्यमम्वन्धा-श्रवणेन उपदर्शितायां लक्ष्यन्ते । तत्र विकासस्य पुण्यप्रसूतत्वस्य प्रसूतत्वमात्रेण सामान्यविशेष-भावः सम्बन्धः, अनोद्धारित्वं व्यङ्ग्यम् । एवं वसितत्वस्य सम्बन्धत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, पूर्वं मौग्यान् सर्वत्र वक्रता प्रेक्षितम्यामीव इदानीं त्वमिमत् पत्रेति युक्तानुरागित्वं व्यङ्ग्यम् । समुच्छलनस्य प्रादुर्भूतत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, सकलवशीकारित्वं व्यङ्ग्यम् । तथा वप्यांशायाम्पादापि अपरिमितविषयत्वेनैकाधिकरण्यं सम्बन्धः, अनुगतातितायो व्यङ्ग्यः, तस्य तादृशमतिप्रयोजकत्वात् । मुकुलितत्वस्य पुण्यप्रस्थानस्य तादृशमस्थानमात्रेण सामान्यविशेषभावः सम्बन्धः, उदितत्वेन तु मामानाधिकरण्यम्, अलिङ्गनयोग्यत्वं व्यङ्ग्यम् । एवमुत्सुगत्वस्पर्शोद्गुत्त्वस्य उत्कृष्टत्वेन वार्यकारणभावः सम्बन्धः उत्कर्षस्योत्सुगत्वहेतुत्वात्, रमणीयत्वं व्यङ्ग्यम् । एवं मोदस्यानियन्त्रितत्वेन सम हेतुहेतुमद्भावः सम्बन्धः मोदस्या-नियन्त्रितत्वे हेतुत्वात्, स्पृष्टणीयत्वञ्च व्यङ्ग्यम् । एतानि च काव्यभावनापरिपक्वदे सहृदयस्यैव प्रकाशन्ते” इत्युदाहरणवन्दिज्ञासलेषः ।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि<sup>(A)</sup> ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति ।

(२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥१३॥

अच्यङ्गया गृह्यङ्गया अगृह्यङ्गया च ।

(२१) तद्भूर्लक्षणिकः—

शब्द इति सम्यध्यते । तद्भूस्नदाश्रयः ।

(२२) (B) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

भवन्ति । तत्र दृष्टान्तालङ्कारमाह—उपदिशतीति, यौवनमद एव कामिनीनां ललितानि हेलालीलादीनि उपदिशति ज्ञापयतीत्यर्थः । यथा यौवनमदात् कामिनीनां हेला-लीलादिज्ञानं तथा ज्ञानामपि धीपरिक्वयात् रिद्धयोरितज्ञानमित्येवमाकारको दृष्टान्तालङ्कारः । अत्र पद्यप्रसक्तकथायात्मन उपदेशस्य चेतनगुरुधर्मत्वेन<sup>(C)</sup> अचेतने यौवनमदे तद्वाधानुज्ञापने लक्षणलक्षणा, प्रसक्तकथमुपदेशज्ञापनयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः, ललितज्ञाने कामिनीनामनायासः सर्वजनवेद्यो व्यङ्ग्यः, उपदेशावनायासेन ज्ञानमित्यविदग्धैरपि ज्ञानात् । क्वचित् पुस्तके तु अनायासेन शिष्टादानमभिधेयवत् स्फुटं प्रकाशते इत्येव पाठस्तिष्ठति । सम्यध्यते इति, 'शब्दोऽत्र व्यञ्जकलिङ्गा' इत्यतः सम्बध्यत इत्यर्थः । तत्र प्रयोजने ।

(A) ललितं नादिमालङ्कारविशेषः । तद्व्याख्यम्—“ललितारत्नयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्” इति साहित्यदर्पणे, “अनायासाप्योपदिष्टं स्वाल्ललितं रविचेदितं” इत्यन्यत्र । एष ललितारत्नयन्तविभिन्नलक्षणायां हेलालीलादीनां ललितत्वोपिष्टीकाकृत्यामसङ्कर्तवेति ध्येयम् ।

(B) तत्रति । “अत्र व्यङ्ग्यङ्ग्यादभिरूपयाम्यव्यञ्जनाभिरूपणीयाः सा च द्वेधा—शब्दनिष्ठा अर्थ-निष्ठा च । तत्रान्त्या शब्दलक्षणेऽनुपपुक्त्येव विवेचनीयाः । आद्या तु द्वेधा—अभिधामूला लक्षणा-मूला च । तत्र यद्यप्यभिधायी प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च तन्मूलं प्रथमं निरूपयितुमुचिता तथापि उपसिद्धत्वाद्दृष्टायां प्रकृतत्वाच्च तन्मूलमेव प्रथमं निरूपयति—तत्रेति । तत्र दार्शनिकशास्त्रे । व्यापारो व्यङ्ग्यप्रकाशानुद्बुधः” इति प्रदीपः ।

(C) चेतनो यो गुरुध्यापकादिस्तद्भूतत्वेनेत्यर्थः ।

कुत इत्याह—

(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥१४॥

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिषिपादयिष्या यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यन-  
स्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो  
व्यापारः ।

तथा हि—

(२४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तदादौ प्रतीयन्ते न  
तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः ।

(२५) हेत्वभावात् लक्षणा ॥१५॥

मुख्यार्थवाधादित्रयं हेतुः ।

यस्य फलस्य । अत्र फले इत्यन्वयः । फलञ्चात्र फलीभूतज्ञानविषयरूपं  
बोध्यम् । व्याचष्टे—प्रयोजनेति । नान्यत इति शब्दैकगम्ये इत्यस्य विवरणम्,  
व्यञ्जनादृते इति व्यञ्जनापेक्षस्य विवरणम् । व्यञ्जनं व्यञ्जनेति युद्धपुर्ण्यां  
रूपद्वयम् ।

समयाभावादिति । अत्र समयः शक्तिग्रहस्तद्व्यापारो(A) वा, मनो नात्र  
साध्याविशेषः । वाधादित्रयमिति रुद्धिप्रयोजनयोर्बैकल्पिकहेतुत्वात् त्रित्वम्(B) ।  
'हेतु' लक्षणास्वापकम्(C) ।

(A) शक्तिग्रहव्यापार वदार्थस्थितिः ।

(B) तथाच मुख्यार्थवाध एक, मुख्यार्थयोगो द्वितीयः, रुद्धिप्रयोजनान्तरत्वात् द्वितीय इति  
त्रित्वमित्यर्थः ।

(C) अपरमिधाय—मुख्यार्थवाधादिज्ञानत्रित्वं लक्षणज्ञान एव हेतुः, गङ्गायां घोष  
इत्यत्र शैत्यपावनत्वयोस्तद्विषयवैवाभावेन लक्षणाज्ञानं न सम्भवति, तत्र अपिदिते प्रमाणा-  
भावादिति न्यायेन तत्र दृष्टत्वे नान्वीतिः सिद्धमिति । एतेनोक्तज्ञानत्रयस्य वक्तृत्वात्पदोत्पत्त्य-  
प्रसङ्गायामहेतुत्वात् तदभावस्य लक्षणाऽभावमाधक्यत्वं न सम्भवति 'काव्यभावात् कार्याभावः'  
इति न्यायस्यात्रायोगात्त्रियाशङ्का निरम्या ।

तथा च—

(२६) <sup>(A)</sup> लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।

न प्रयोजनमेतस्मिन् <sup>(B)</sup> न च शब्दः स्वलक्षितः ॥१६॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि समाध इति तदं लक्षयति, तद्वद् यदि तदेष्येपि समाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् ; न च तदं मुख्योद्देश्यं, नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तदस्य भावनत्वाद्यैर्लक्षणोपैः

हेतुत्रयस्यैवाभावं दर्शयति—लक्ष्यमिति, मुख्यबाधस्य तु 'लक्ष्यस्यापकर्तव्येति' चरितार्थत्वाच्च प्रयोजनलक्षणायां मुख्यता इति भावः \*१०। ननु लक्ष्यस्य मुख्यत्वाभावेऽप्युपलब्धितार्थबाध एव लक्षणाहेतुर्गोच्य इत्यत आह—नाप्यत्रेति, तदाहो बाधा अधिकरणताया बाधो नास्तीत्यर्थः । अत्रार्थो तु—लक्षणीयस्य भावनत्वादस्तदाहो बाधो नास्तीत्यर्थ इति व्याचष्टे, तत्र, लक्षणीयार्थान्वयबाधस्य लक्षणाहेतुत्वाभावात्, 'यत्र फलेन नो' इत्यनेन 'प्रयुक्तं तद्वाच्यसत्यस्यैव' \* दर्शितत्वाच्च ।

नन्वेव लक्षणाहेतुत्ववहेत्याम गद् गङ्गादिशब्दानां भावनत्वादिराधक्यमेव नास्तिरित्यत आह—न च शब्द इति । 'गति' इत्यत्र ननु भवति तद्वत्त्वार्थकत्वं स्वभावो न स्वलक्षितार्थः । व्याचष्टे—गयेति । 'स्वाध' चाप्यन्वयबाधवान् । न च गङ्गाशब्दार्थस्येति । प्रमाणीय 'वाच्यत्वं हि प्रमाद्वारेण, तदे त्याहार्यमेव प्रतीयते इति न तदे तदुपलब्ध' \* परस्परान्वयस्य त्वय्यवर्तकत्वेन लक्षणाहेतुत्वाभावात् ।

(A) अत्र प्रदीप — 'यत्र गङ्गाशब्दस्य तीर (मीर ?) मुख्योद्देश्यं, तत्र च बाध, तीर च तत्प्रामाण्यं, तीरस्य च लक्ष्यत्वात्प्राप्तम्, सुप्रशस्तं प्रतिपादयितुमशक्यं भावनत्वात् प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति गङ्गाशब्दस्य तत्त्वत्वं तद्वद् यदि तत्त्वस्य मुख्यत्वात् तत्र च बाधो भवेत् प्रयोजनस्य च गङ्गादिशब्दभावकत्वादिविशेषस्य हेतुव सम्बन्ध स्यात् लक्ष्यगता प्रयोजनप्रतिपादनस्य च प्रयोजनान्तर सम्भवेत् तदा गङ्गाशब्दः प्रयोजन लक्ष्यत्वं च चेतद्वत्त्वत्वेत्यर्थः " इति ।

(B) अत्र प्रदीप — 'मुख्यार्थगताप्रतिपादनस्य बाधक्यं च स्वलक्षितमित्यर्थः । एवं "नापि गङ्गाशब्दस्यैव प्रयोजन प्रतिपादयितुमशक्यं" इत्यादिशब्दो बाधादिप्रमाणस्य इति प्रयो दृष्टव्यः । 'समर्थ' इति शब्दे ॥ 'वाचादिप्रमाणस्यैव' इति शब्दः "इति । "स्वलक्ष्यं वाचकशपारम विपरीतक्रियमाण गतिरवशेषनस्यैव" तादृश इत्यर्थ इति " मुख्यता इति चरित्यस्य गुणरूपाः दर्शनम् । यदुदितं \* तत्र शब्दो नैव स्वलक्षितः " इति ध्वन्यालोकोपेक्षादिवाक्यानामे धीमदभिनवगुहाचार्या ।

सम्बन्धः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्, 'न च गङ्गाशब्द-  
स्तदमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ।

(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या 'मूलतत्त्विकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेद्वक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयो-  
जनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृदनवस्था भवेत् ।

ननु पावनत्वादिवर्मयुक्तमेव तदं लक्ष्यते गङ्गायास्तदे घोष  
इत्यनोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा,  
तत् किं व्यञ्जनयेत्याह—

(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥

गर्भादि सादृशतहन्तव्यन्ते(A) तत्र य पावनत्वविशिष्टस्तस्य तदे 'सत्त्वेऽपि  
गङ्गाशब्दान् तदप्रतीत्या तस्याकिञ्चिदुक्तत्वात् । न च गङ्गा स्वलदित्यादिकं व्याचष्टे—  
न च गङ्गाशब्द इति । तदमिव पावनत्वमपि प्रतिपादयितुं नासमर्थं, अपि तु  
समर्थ एव, 'अनुभवसिद्धतद्गोपकत्वम्भवात्वेन स्वलदगतिर्बेत्तरम्' १ । तदाच तत्-  
प्रतिपादिका व्यञ्जनावृत्तिरेव स्वीकार्येति भावः ।

ननु लक्षणा विना विवक्षितार्थबोधानुपपत्तिरेव मुख्यार्थबोधः, विवक्षितार्थेभ्यो  
तदगतत्वेनापेक्षमाणं प्रवाहीय पावनत्वमेव, स्मृत्यो च पावनत्वं मुख्यार्थस्य  
प्रवाहस्य बोधोऽस्त्येव, प्रयोजनं तु तदुत्तरं नियमतो यन् प्रतीयते तदेव पावन-  
मित्यत्र आह—एवमपीति । अनुलम्प्यापाद्यार्थस्य इतिस्थस्यैव बोध्यतावगाह  
एवकारेण परमार्थः । प्रकृताप्रतीतिकृदिति मूलक्षणेर्विवरणम् । मूलञ्च  
लक्षणया तदबोधः ।

एव लक्षणया तदबोधानन्तरं पुनर्लक्षणया पावनत्वसंदेहे खण्डिते प्रथममेव  
पावनत्वविशिष्टे तदे लक्षणया पावने तदे घोष इति बोधोऽस्त्यु-  
क्तं नन्विति । प्रयोजनेनेति प्रयोजनीयतत्त्वविषयपावनत्वादिनेत्यर्थः । अत्र

(A) "अत्र ह्यनुपपत्तिर्गोपकत्वमस्ति ज्ञेयम् । तावद् गर्भं विजापोपात्तं मूढं दीर्घमुच्यते ॥  
सादृशन्तस्तं यावद् गर्भस्योत्पत्तिरिति ॥" इति वीरभद्रम् ।

१ 'नापि' इति मुद्रितपुस्तके । २ 'मूलत्व' इति मुद्रितपुस्तके । ३ 'योरपि' ख-न ।  
४ 'अनुभवसिद्ध' इत्यत्र नानुपपत्तिर्गोपकत्वेन स्वलदगतिर्बेत्तरमिति भावः ख-न ।

कुत इत्याह—

(२६) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्<sup>(१)</sup> ।

प्रत्यक्षादेर्हि नीलादिर्विषयः, फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा ।

प्रचीना—विशिष्टे लक्षणाया अयुक्तत्वे ज्ञानस्येत्यादिक हेतुमुत्पापयति—कुत इत्याहेति । ज्ञानस्येति । हि यस्मान् ज्ञानस्य लक्षणाग्रम्यज्ञानस्य विषयोऽन्यः । फलं तु फलीभूतज्ञानविषयः ततो लक्षणाग्रम्यज्ञानविषयाद्व्यपदेशः<sup>१</sup> । उदाहृतम् उदाहरणेषु दृष्टम् । यथा विकसितास्मितामित्यत्र लक्षणाग्रम्यज्ञानविषयो विस्तारः 'फलीभूतज्ञानविषयस्तु ततोऽन्यत् पुष्पवन्मनोहरत्वं तत्रैव दृष्टान्तान्तरवृत्तिरुदाह'—प्रत्यक्षादेर्हि<sup>२</sup>ति । 'प्रकटता' जातता । महामते घटादौ जाते हि तत्र जाततारूप एको धर्मो जायते । 'संवित्ति' अनुम्यवस्थाप । तदुद्भवमपि नीलादि-ज्ञानविषयानीलादितोऽन्यदेवेत्यर्थः इति व्यावृत्तते, तत्र, फलमन्यदित्यत्र फलपदस्य फलीभूतज्ञानविषयपरत्वे दृष्टान्ते सादृशज्ञानविषययोः प्रकटतासंवित्तयोः फलत्वेन

(१) अत्र प्रदीप — "अनु विषयकत्वोभेद इति सूत्रार्थः स चायुक्तः । अन्यत्वं हि अन्यत्वं वा अन्यप्रतीतिविषयत्वं वा । आद्ये पात्रकत्वादौ तदभावे, तद्वृत्तान्ते विषयादु भेद एव । अन्यत्वे 'प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः कन्तु प्रकटता सविशिष्टा' इति वृत्तिविरोधः, प्रकटताज्ञानस्य प्रत्यक्षजन्यत्वान्निरासः । न च अन्यज्ञाप्यमाधारत्वेनैक साध्यत्वमस्तीति । अत्र सूत्र—कारणस्य जननीभूतो विषयो यथा ज्ञानाद्व्यस्तया फलमपि तस्य स्वतो मिदम्, कारणत्वेनैव कारणव्यापि निवृत्तकालत्वविषयमात्रं । सैत्यादौ तु क्वचित् कल्पप्रतीतिरिति दृश्यते । तथाच लक्षणाग्रमेव यदि सैत्यज्ञानं तदा प्रयोगजनं न स्यादित्यर्थः । अतु लक्ष्यप्रतीतेर्न सैत्यप्रतीतिः फलं किन्तु ज्ञानस्यमन्त्रन्यस्याया लक्षणाया, तथाच न किञ्चिदुच्यमिति । अत्राहुः—अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावद्व्यवस्थापदाकं तद्विषयं विषयीकरोति अत्यनुपपत्तकमपीति कथं तदे पात्रकत्वमपि विषयीकुर्यात् । अन्यत्वानुपपत्त्या कल्पप्रतीतिरपि साञ्जुरेयमपि सैत्यं विषयीकरोति यथा तापोरसामावोसादिवमानं चन्दनं सैत्यमपि अन्यवीति चेत् यं चन्दनस्य सत्तिविषयाग्रमेव सैत्यजनकत्वं लक्षणायास्तु अनुपपत्तिप्रमातिरोति वैशम्पाय" इति ।

१. 'प्रत्यक्षादेर्नीलादि'—इति क्वचित् पाठः । २. 'यत्र य' इति क्वचित् पाठः । ३. 'दि को ईत्', अपवादतः तावत् सत्यज्ञानादौ तत्रापि "दि" यथा "ज्ञानस्य" लक्षणाग्रम्य "विषयः" फलीभूतज्ञानविषयान् "यत्र" फलीभूत फलीभूतज्ञानविषयवचनम् । ४. 'यत्र' यत्र । ५. 'यत्र' यत्र । ६. 'यत्र' यत्र । ७. 'यत्र' यत्र । ८. 'यत्र' यत्र । ९. 'यत्र' यत्र । १०. 'यत्र' यत्र । ११. 'यत्र' यत्र । १२. 'यत्र' यत्र । १३. 'यत्र' यत्र । १४. 'यत्र' यत्र । १५. 'यत्र' यत्र । १६. 'यत्र' यत्र । १७. 'यत्र' यत्र । १८. 'यत्र' यत्र । १९. 'यत्र' यत्र । २०. 'यत्र' यत्र । २१. 'यत्र' यत्र । २२. 'यत्र' यत्र । २३. 'यत्र' यत्र । २४. 'यत्र' यत्र । २५. 'यत्र' यत्र । २६. 'यत्र' यत्र । २७. 'यत्र' यत्र । २८. 'यत्र' यत्र । २९. 'यत्र' यत्र । ३०. 'यत्र' यत्र । ३१. 'यत्र' यत्र । ३२. 'यत्र' यत्र । ३३. 'यत्र' यत्र । ३४. 'यत्र' यत्र । ३५. 'यत्र' यत्र । ३६. 'यत्र' यत्र । ३७. 'यत्र' यत्र । ३८. 'यत्र' यत्र । ३९. 'यत्र' यत्र । ४०. 'यत्र' यत्र । ४१. 'यत्र' यत्र । ४२. 'यत्र' यत्र । ४३. 'यत्र' यत्र । ४४. 'यत्र' यत्र । ४५. 'यत्र' यत्र । ४६. 'यत्र' यत्र । ४७. 'यत्र' यत्र । ४८. 'यत्र' यत्र । ४९. 'यत्र' यत्र । ५०. 'यत्र' यत्र । ५१. 'यत्र' यत्र । ५२. 'यत्र' यत्र । ५३. 'यत्र' यत्र । ५४. 'यत्र' यत्र । ५५. 'यत्र' यत्र । ५६. 'यत्र' यत्र । ५७. 'यत्र' यत्र । ५८. 'यत्र' यत्र । ५९. 'यत्र' यत्र । ६०. 'यत्र' यत्र । ६१. 'यत्र' यत्र । ६२. 'यत्र' यत्र । ६३. 'यत्र' यत्र । ६४. 'यत्र' यत्र । ६५. 'यत्र' यत्र । ६६. 'यत्र' यत्र । ६७. 'यत्र' यत्र । ६८. 'यत्र' यत्र । ६९. 'यत्र' यत्र । ७०. 'यत्र' यत्र । ७१. 'यत्र' यत्र । ७२. 'यत्र' यत्र । ७३. 'यत्र' यत्र । ७४. 'यत्र' यत्र । ७५. 'यत्र' यत्र । ७६. 'यत्र' यत्र । ७७. 'यत्र' यत्र । ७८. 'यत्र' यत्र । ७९. 'यत्र' यत्र । ८०. 'यत्र' यत्र । ८१. 'यत्र' यत्र । ८२. 'यत्र' यत्र । ८३. 'यत्र' यत्र । ८४. 'यत्र' यत्र । ८५. 'यत्र' यत्र । ८६. 'यत्र' यत्र । ८७. 'यत्र' यत्र । ८८. 'यत्र' यत्र । ८९. 'यत्र' यत्र । ९०. 'यत्र' यत्र । ९१. 'यत्र' यत्र । ९२. 'यत्र' यत्र । ९३. 'यत्र' यत्र । ९४. 'यत्र' यत्र । ९५. 'यत्र' यत्र । ९६. 'यत्र' यत्र । ९७. 'यत्र' यत्र । ९८. 'यत्र' यत्र । ९९. 'यत्र' यत्र । १००. 'यत्र' यत्र ।





व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यम्  
अवश्यमेवेतिवच्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम्, अभिधामूलं त्वाह—

(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १६ ॥

(A) संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं निरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

‘विषयो नीलादिरिव तत्फलं प्रकटतासवित्री नपि तद्भिन्ने पश्येत्पर्य’ । अत्र च  
ज्ञानस्येति प्रहृताभिप्रायेणैव, सर्व्वेणामेव फलफलित्वं परस्परभिन्नत्वात्\* ।

व्यापारान्तरेण गम्या इति । इव च ‘स्यु’रित्यत्र पूरयित्वा इशितम् ।  
तच्चेति व्यापारान्तरमित्यर्थः ।

अभिधामूलान्विति । न त्वभिधेयमूलं तस्याप्रे दर्शयिष्यमाणत्वात् ।  
अनेकार्थस्येति, संयोगाद्यैरनियन्त्रिते इत्यन्वयः । नियन्त्रणञ्च भर्थांतरबोध-  
प्रतिबन्धः<sup>१</sup> । शब्दस्येत्यनेन समासाधीनानेकार्थकशब्दस्यापि परिग्रहः । अत एव इन्द्र-  
शशुरित्यत्र ‘समासपदेषुपि तथात्व दर्शयिष्यते । अवाच्यार्थेति, वाच्यस्वीच  
नियन्त्रणदशाव्याच्यतापन्नमेत्यर्थः ।

संयोगादीनेत्र परकीयकारिकया दर्शयति—संयोग इति । ‘विप्रयोग’ त्यागः ।  
‘साहचर्य्य’ साहित्येन कार्य्यकारित्वम् । ‘निरोधिता’ वरिभाष्य । एतच्चतुष्टय  
समभिध्याद्वत्तपदाद्यान्तरणेति बोध्यम् । ‘अर्थ’ प्रयोजनम्, ‘लिङ्ग’ चिह्नम्, एतदर्थं  
समभिध्याद्वत्त बोध्यम् । ‘अन्यस्य शब्दस्य’ समानविभक्तिकस्येति बोध्यम् ।

(A) मुद्रितपाठस्यैवैवम् २४-आलोके ३१० सङ्कटकं शोचोऽयं दृश्यते, तत्र “संयोग” इत्यस्य  
स्थाने ‘समम’ इति पाठः । इति पूर्व्वं “वाच्यत्वं प्रकटयित्वादीदित्यादिसंकात्य । शब्दार्थं  
प्रतिबन्धयन्ते ॥ रूपादेव वेकलात् ॥” इति कारिका धरते । किन्तु तत्र “सामर्थ्य्यमौचित्यं”  
इत्यादि श्लोकस्यादर्शनेऽपि सदागच्छत्यस्मिन्पदयोर्व्याख्यानं टीकाया दृश्यते ।

१ ‘नीलादिरिव’ नीलादिशब्दादन्वो यथा नीलादिशब्दस्य प्रकटता सवित्री नपि पश्येत्पर्य’, इति न ।

२. ‘एव नेकार्थं बोधकम्’ ४ । ३ ‘व्यासाधीनानेकार्थं कश्चिदर्थः’ क ।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे<sup>(A)</sup> विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इत्युक्तदिशा—सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिरित्यच्युते ;  
राम-लक्ष्मणाविति दाशरथौ ; रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गव-  
कार्तवीर्ययोः ; स्थाणुं भज भवच्छेदे इति हरे ; सर्वं जानाति देव इति

‘सामर्थ्यं’ निरिष्टक्रियाजनसामर्थ्यम् । ‘मौचिती’ तात्पर्यानिर्वाहकत्वम् ।  
‘देश’ समभिव्याहृत प्रदेशः । ‘काल’ समभिव्याहृतदिनपञ्चादि । ‘व्यक्तिः’ शब्दस्य  
स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गम् । ‘स्वर’ उदात्तादि । ‘अनवच्छेदे’ अनेकत्वे । ‘विशेषस्य’  
एकतरस्य, ‘स्मृतौ’ पदार्थोपस्थितिरूपायां हेतव इत्यर्थः । एतच्च मीमांसकमत  
एव, नैयायिकमते तु सर्वेषां पदार्थानामुपस्थितिः, नियन्त्रणवशादेकस्वैयार्थस्य  
शाब्दानुभव इति । एकत्रैव संयोगादीनां द्वित्रि सम्भवेऽपि यथास्फूर्तिं  
नियन्त्रकत्वं बोध्यम् । ‘अशङ्खचक्र’ इत्यत्र त्यागे नम् । अनयोः शङ्खचक्रसंयोगस्यागौ  
हरिपदस्यानेकार्थस्थायान्तरधारणेन<sup>(B)</sup> अच्युतरूपायंबोधकौ । एवमुत्तरेत्तरमपि  
बोध्यम् । दाशरथ्योरिति पाठो युक्तः द्वयोरपि पदयोरनेकार्थत्वात्<sup>(C)</sup> ।  
भज साहचर्यम् । निरोधितायां—रामार्जुनेति, रामोऽत्र भार्गवः, अर्जुनः<sup>(D)</sup>  
कार्तवीर्यः । अत्र द्वयोर्विभावः प्रसिद्धः । <sup>(E)</sup> स्थाणुमिति भज भवच्छेद

(A) अनिवार्ये इत्यर्थः ।

(B) ‘यमामिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुक्रादिकपिमेवेषु हरिर्ना कसिले त्रिषु ह’  
इत्यपरः । ‘हरिर्वातामर्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु । सिंहाश्चकसिभेकादिशुक्लोकान्तरेषु च ।  
हरिर्वाच्यवटाज्यातो इतिक्कफिल्लवर्गयोः’ ॥ इति विश्वः ।

(C) ‘रामः पशुविशेषे स्यान्नामदान्ते इत्यनुये । रामवेद्याऽसिते इवेते मनोहेषु च दाक्ष्यवत्’ ॥  
इति विश्वः । ‘दाशरथि श्रीर्मांश्च लक्ष्मण’ इति त्रिकाण्डे ॥ न चैवमन्योन्याश्रयः, प्रकाशान्तरेण  
निश्चितैकतरसात्त्विकपुरषभेदेन तदुपपत्तेः । एवं रामार्जुनगतिस्तित्यादावपि ।

(D) ‘अर्जुनः ककुभे पापं कार्तवीर्यमपूरयो । मातुरेकसतेऽपि स्याद धवले पुनरन्यदद’ ॥  
इति मेदिनी ।

(E) ‘स्थाणू शङ्खशिखी’ इत्यमरः ।

युष्मदर्थे ; कुपितो मकरध्वज इति कामे ; देवस्य पुरारातेरिति शम्भौ ; मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते ; पातु वो दयितामुख-मिति साम्मुख्ये ; भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपादेशाद् राजनि ; चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ ; मित्रं भातीति सुहृदि ; मित्रो भातीति रवौ । इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत् । आदिग्रहणात्—

एहमेतत्स्थणिआ एहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।

एहमेत्तावस्था एहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥ ११ ॥

प्रयोजन हर्बोधकम्, अशस्ववृत्तबोधवारकञ्च । सर्व्वमित्यत्र प्रकरण देशपदस्य राजरूपार्थबोधकम्, अशस्वबोधवारकञ्च । युष्मदर्थ इत्यनेन प्रक्रान्तराज्यार्थ एव दर्शितः, न तु युष्मत्त्वेन तस्य शक्तिरिति मन्तव्यम् । कुपित इत्यत्र मकरध्वजपद कामसमुद्रयोर्नेकार्थकम्, कोपस्तु कामस्येव विभक्तम् । न चाधिष्ठातृदेवतयोर्ध्वयोरपि कोपविभक्तेः, अधिष्ठेययोस्तु कामिनीविरयेष्वाजलसाम्योर्ध्वयोरपि नेति को विशेष इति वाच्य विरहिण्यां कुपित इत्यर्थात् । देवस्य इत्यत्र तुल्यविभक्तिकस्य त्रिपुण्ड्र-शब्दस्य सन्निधिर्नियन्त्रकः । मधुना इत्यत्र मधुपद्मनेकार्थम् (४), कोकिलमादौ वसन्तस्य सामर्थ्यम् । पातु व इत्यत्र मुत्तपद्मनेकार्थम् (५) कामुकसाम्मुख्ये तात्-पर्यात् तत्रैवोचिता । भात्यत्र इत्यत्र परमेश्वरपद्मनेकार्थम्, अत्र राजधान्यां राह एव सम्भवेति न नारायणस्य । भात्यत्र गगने चन्द्र इति तु ज्याय उदाहरणम् । काले—(०) चित्रभानुरिति दिने विभातीत्यत्रान्वयः । व्यक्तौ—(०) मित्रमित्यादि द्वयं स्पष्टम् । इन्द्रशत्रुरित्यादौ बहुवीहितवपुरुषाणांभेदे उदात्तादिस्वभेदे ।

(A) 'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मधे पुष्पते मधु । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाप्तोने मधुमे' इति विश्वः ।

(B) "मुत्तमुपाये प्रारम्भे ॥॥ नि सरणास्त्ययो" इति रैमः ।

(C) "सूर्य्येवहो चित्रभातु" इत्यमरः ।

(D) "मित्रं सुहृदि न द्वयोः । पुमि सूर्य्ये" इति मेदिनी । अत्र अभ्युत इत्यादीनां एतेषां सप्तम्यन्तानां वाचकत्वं नियम्यते इत्यप्याहतेन सम्बन्धो बोध्यः ।

(३४) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ १६ ॥

तथेति ध्येयकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उद्भासः ।

शब्दाणां व्यञ्जनायामर्थविशिष्टं शब्दं काव्यमित्यभिप्रायेणाह—यत् सोऽर्था-  
न्तरेति । 'युक्' युक्तः ।

इति धीमद्वेङ्कटरन्यायालङ्कारमहाचार्यविरुद्धे काव्यप्रकाशादर्शे  
शब्दनिर्णयस्य द्वितीयः प्रतिबिम्बः ।

## तृतीय उल्लासः

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यथाः । तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम् ।

(३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

कीदृशीत्याह—

(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां <sup>(A)</sup>वास्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥ २१ ॥

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ २२ ॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् ।

अर्थस्य—वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यथात्मनः । क्रमेणोदाहरति—

अर्थाः प्रोक्ता इति वाच्यलक्ष्यस्तद्व्याप्त्युरित्यनेन प्राप्ता इत्यर्थः । व्यञ्जकता व्यञ्जकानां तेषां व्यञ्जनायाय । व्यञ्जकता सप्तहायिका 'वाच्या इत्यर्थः । 'कीदृशीति व्यञ्जनायाय कीदृशः\* ।

वक्तृवृत्तिः । कालविषय्यन्तानां वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् अन्यार्थधा-  
हेतुर्षोऽर्थस्य व्यापारः वृत्तिः सा व्यक्तिरेव व्यञ्जनेवेत्यर्थः ।

\*प्रतिपाद्य' उच्यमानार्थवादादेभ्यः । 'विकार' बेल्लङ्घ्यम् यत्र शिर-  
मालति । सन्निधेर्नित्यत्वं 'समाहास्यन्द्वाक्येऽपि नपुमकलित्वाकार्याभावात् (B) विराम

(A) सात्त्विकयोग्यताकाङ्क्षान्वितपदममुदायो वाच्यम्, तत्र 'वृत्त्यं वास्यह विरोध-  
इत्यर्थेऽभिव्याप्तिवारणाय स्वार्थबोधसमाप्त्यन्वयमपि विशेषणं देवमिति शक्यतर्कवादीनां । अभिप्रे-  
यिष्यो वाच्यः, तथाच बोद्धव्यादस्य भेदः स्पष्टः एव ।

(B) 'विराममप्यनुनादादुक्तं' नवसंज्ञात् 'स्यमोलोपेर्वा' इति कान्तन्त्रम् । अत्र  
वाच्यवाच्याभ्यां स्तुतिः गन्धमन्त्रिधिरिति मन्त्रपदयोस्मिन्कार्मधारममातेन शनितादुक्तेस्तुति-  
वदुपपादनं युक्तम् ।

१ 'कीदृशः, वेदाय वा व्यञ्जकतायां लक्षणा इति पूर्ववद्विज्ञातम् अ. २ 'कीदृशो कि-  
दृशविशेषात्' ख. ३ 'प्रतिपाद्यं किं सम्बोध्यो जय' ख. ४ 'समाहास्यन्द्वाक्येऽपि विराममप्यनुनादादुक्तेन  
नपुमकलित्वाकार्याभावात् सन्धायेकान्वितान्वापभावात् सन्निधेर्नित्यं इति उप. ख. ।

अइ पिहुलं<sup>(A)</sup> जलकुम्भं घेतूण समामदच्चि सहि तुरिअम् ।

समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ १३ ॥

अत्र चौर्यरतगोपनं<sup>(B)</sup> गम्यते ।

ओण्णिहं दोब्बह्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।

मम मन्दभाङ्गीए केरं सहि तुहवि-अहह परिहवइ<sup>(C)</sup> ॥ १४ ॥

व्यञ्जनादयिति भाव्यार्थमिह कृत्ये नपुंसकलिङ्गकाव्याभावेन द्वन्द्वकत्वे तत्कार्यस्य  
पैकल्यकत्वज्ञापनात्\* अत्र "सन्निधिनः" इति न रूपम्\* । अइ इति ।

अपि पृथुल जलकुम्भं गृहीत्वा समागतोऽस्मि सखि त्वरितम् ।

धमन्पेदसलिलनिभ्यास्तनि महा मिश्राम्यामि क्षणम् ॥ इति संस्कृतम् ।

जलाहरणपथे उपनायकोपभुक्तायाः सख्यां तच्चिह्नसवरणोक्तिरियम् । अपीति  
सन्निधनम् । अतिपृथुलमिति या संस्कृतम् । अमात् यौ स्वेदसन्निधनिभ्यासौ  
तभ्या नि सहा पुर्वज्ञा क्षण विधाम्यामीत्यर्थः । अत्र वक्तृणा अनाकाङ्क्षितार्थ-  
वक्तृत्वं वेलक्षण्य व्यञ्जनायां महावम् । बोद्धव्यवैलक्षण्ये उदाहरति—ओण्णिहं  
इति ।

ओशिदच्चं दोर्बल्य चिन्ताप्रलसत्तं सन्निवसितम् ।

मम मन्दभास्याया कृते मखि त्वामपि अहह परिभवति ॥ इति संस्कृतम् ।

(A) "अइ विडल" इति पाठे "अतिविपुलं" इति संस्कृतम् ।

(B) "अत्र वक्त्री कामिनी, कस्या दुःशौचव्यवस्थैशिव्य विज्ञाततां चौर्यरतगोपन व्यवह-  
रति" इति प्रतीप ।

(C) "कृतकानुपयोगा नृत्तं प्रतीपमुक्तिः । तुहेति कर्मणि वद्धी, परिभवतीत्यस्य  
"उत्सार्थत्वादि" चेति । तुहेति द्वितीयान्तमेव कथाश्रुतासनामिति दीपिकाकारः ।

मा साधत् परिभक्तयेद भवत्तत्त्वायं गमनागमनादिना कामुकस्य असादकव्यापारेण त्वामपीत्यपि  
"ममोऽर्थः" । सदीयमित्यने तु सदीयमौचित्यदिक् त्वामपि स्नेहवशात् परिभवतीत्यर्थः । अतः प्रय-  
गमीति मन्त्रोपेयम् । एतेन स्वीयम्यौचित्येनैवपरिभक्तवन्तान्मन्त्रवान् स्वीयसजातीयव्यक्तेरिति  
तित्तम्, एतेनोभयपरिभवाभावात्तन्मन्त्रमुच्यतुपपत्तेश्च" इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेपः ।

अत्र हृत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

तथाभूनां दृष्ट्वा नृपसदमि पाञ्चालतनयां  
यने व्यापैः सार्धं सुचिरमुपितं बल्कलधरैः ।

विराटस्यावासे स्थितमनुचिनारम्भमभूतं

गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुम्पु ॥१५॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः<sup>(A)</sup> कुम्पु ॥ योग्य इति काका प्रकाशयते ।

उपनायकोपभुक्तत्वेन ज्ञातायां हृत्यां मायिराया सांख्युण्डवाकिरियम् । अहह खेदे ।  
श्रौतित्रयादिक कर्तुं सखि त्वामपि परिभरतीत्यन्वयः । त्वामप्येत्यधिकारात् मम त्वेभि  
परिभरा युक्त इत्यर्थः । अत्र बाह्यस्याया अकार्य्यकारित्वेन 'अन्यतो ज्ञाताया हृत्या-  
स्तथात्य वैलक्षण्यम् । काकुयैलक्षण्ये उदाहरणं—तथाभूनामिति । कद्रु इत्या-  
मीम प्रति 'आर्य्य खिद्यते कदाग्रिह गुरु पिति सहदेवस्यात्तौ पुनर्भीमस्याकिरियम् ।  
पाञ्चालतनया द्रौपदीं नृपाणा मदमि तथाभूता दुःशासनबाह्वृकवाम् श्रुतमतीं दृष्ट्वा  
इत्यन्वयः । एव घने ईतगने व्यापैः सार्धं बल्कलधरैरस्मामि सुचिरमुपितम्,  
विराटस्यावामे भनुवितारम्भेण कद्रुयूरादिवगेन निभृत गुप्त स्थितञ्च दृष्ट्वा गुरु  
पुंनिष्ठिः 'तन्निमित्तमेव इत्थं खिन्ने मयि भामा ममापकारित्वेन खेद भजति कुर्यां  
ममापकारिण इत्येव खेद कुम्पु त्यद्यापि न भवतीत्यर्थः । उपरि स्थितञ्च भावनात्तम्,  
दृष्ट्वेत्यस्य कर्मपदम् । अत्रेति शिरस्चलनं महावृत्ततया काका सहवृत्तेन वात्स्यायनेन  
मयि न दाय्य इत्यादिक प्रकाशयते इत्यर्थः । शिरस्चलनमहवृत्तत्वमेव य काका  
वैलक्षण्यम् । ननु वात्स्यायं मिद्ध एव वात्स्यायं व्यक्तर, मिद्धिस्तु खेदभजनयाग्ये  
मयि 'खेदभजनस्यानोचित्यवगाह बाधेन न भवति, किन्तु खेद भजनीत्यनुचितमित्येव

(A) विघटजननि सप्त मातृस्वयमिति प्रणीपाणदणवन्निवे ।

१ 'वक्तु' इति क कुम्पु नास्ति । २ 'तत्कथञ्चन' इति । ३ 'सहवृत्त' इति । ४ 'खेद' भजति  
'भजनयोग्य' कुम्पु तु न भजतीत्येव वात्स्यायनात्कथञ्चन नञ्जन वक्तुमतीं दृष्ट्वा  
'गतेतादृशत्वान्तीनेव वात्स्यायं सिद्धौ वाच्यमिदं वात्स्यायनोक्तत्वात् । अनेनैव सुगदवयव म तु काकुयै  
'सिद्धिवाक्याय' इत्यर्थः अने प्रथमवाक्यावाच्यमिदं वात्स्यायनम् । ५ 'अत्र' अत्र भजनयोग्यम्  
'६' तु खेद न भजनीयवयवम् वात्स्यायं 'सदम' इति शब्देनैव लब्ध्या (इति) न नाभयान्न वन्त्यथा  
'७' ज्ञातायां भजननय बोधान्दृष्ट्या । तथाच 'जान' इत्येव वात्स्यायनोक्तत्वात् । अनेनैव सुगदवयव म तु काकुयै  
'सिद्धिवाक्याय' इत्यर्थः न नाकुयैलक्षण्यत्वात् न नाकुयैलक्षण्यत्वात् न नाकुयैलक्षण्यत्वात् ।

अत्र सन्ध्या सङ्केतकाल इति तदस्य प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुञ्चइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।

एमेअ किंति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं ॥१९॥

अत्रोपपत्तिं प्रत्यभिस्तुं प्रस्तुता, न युक्तमिति कयाचिद् वार्यते ।

(A) अन्यत्र द्यूं कुसुमावचायं कुरुष्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।

तुदत्यनन्यमना स्वधर्मां गृहभारे(B) सज्जले ।

क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विग्राम ॥ इति संस्कृतम् ।

भक्ता स्वधा देशी । अत्रेति, उपनायकसन्निध्यभावे एतादृशोक्तेश्चमनुकारित्वा-  
भावादुपनायकसन्निधौ केव इयमुक्तिः । उपनायकश्च वाच्यार्थबोधभ्यस्तन्त्यानस्य-  
ज्ञानेभ्योऽन्य, तस्य च सङ्केतकालवृत्तस्यैव तत्सन्निधि(C)वैलक्षण्यम्, तद्वशात्  
सन्ध्यात्यारिक सामाजिकबोधं व्यङ्ग्यम् । 'तदेवोपनायकेन तु वक्तृवैलक्षण्यादव-  
गम्यते' । 'तदस्य' वाच्यार्थबोधे उदासीनम् । प्रकरणवैलक्षण्ये उदाहरति—  
सुञ्चइ इति ।

भूपते समागमिष्यति तव क्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।

एवमेव किमिति तिष्ठसि तू सखि सज्जय करणीयम् ॥ इति संस्कृतम् ।

समुष्णान्ताभिमारनिवर्त्तिताया सख्या उक्तिरियम् । एवमेवेति तत्परिचर्योप-  
क्रमरहितवेत्यापातत, अभिसारोऽर्त्तवेति तु गूढम् । करणीय रन्धनादिसामग्रीम् ।  
अत्रेति वार्यते इत्यत्र इति व्यज्यते इति शेषः, प्रकरणप्राप्ताभिसारनिवर्त्तनस्यैव  
सामाजिकबोधत्वात्, गोपनीयकार्यविषयत्वमेव च प्रकरणस्य वैलक्षण्यम् । देश-

(A) अन्यत्रेति । "सखीवैराग्याणि स्वोपनायकेन सहायता प्रियमर्त्तां हृष्टा सखी प्रति  
अधिकाया उक्तिरियम् । यत् 'पुष्पाववाय भाटयन्तीं सखीं प्रति मालती कथ्यतीत्यत्राप्यव्याख्यानम्,  
प्रच्छन्नकाण्डो माधवः, भावस्तां विद्यासवतीं कामन्दकीं प्रति मालत्या व्यन्यते' इत्यभि-  
व्याख्यानस्य सारस्वतीतीर्थकृतं सन्तु चिन्त्यमेव मालतीमाधवप्रकरणेऽप्य पद्यान्यानुपक्रममात्" इति  
बालबोधिनी ।

(B) "गृहभारे" इति संस्कृतमिति केचित् ।

(C) "मन्यसन्निधि सन्निहितोऽन्य" इति प्रदीपः ।

1. 'उपनायकस्य सन्ध्याकालसंबोधस्तु नञ् वैलक्षण्याद्' च, 'उपनायकस्य तु दत्तवैलक्षण्यादेव' च ।



नारं हि दूरं भ्रमिनुं समर्था प्रसीदताऽय रचिनोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यता-  
मिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

गुरुजनपरवत्स पिअ किं भणामि तुह मन्दभाङ्गी क्खु अहं ।

अज्ज पवासं वचसि वच सअ जेत्थ सुणसि करणिज्ज ॥२१॥

वैलक्षण्ये उदाहरति—अन्यत्रेति । देशश्च विधेयक्रियाधिकरणत्वेन निर्दिष्ट स्थानम्,  
अङ्गुष्ठापर्याप्त्युत्तीकरणमेव च तस्य वैलक्षण्यम् । स्वमन्दैतस्थानेऽन्यासा सखीना  
पुण्यारव्य वारयन्त्या उत्तिरियम् । अत्रास्मीति, भङ्गमिच्छये अस्मीत्यप्ययम् । अहमत्र  
पुण्यारव्य कर्तामीत्यर्थः । त्यमेवान्यत्र बुञ्चित्यगह—जाहमिति । व इति बहुवचन  
मग्नलिरित्येकवचनञ्च बहुषु प्रत्येकमग्नलिकरणेऽप्यसामर्थ्यात्सूचनाय । अत्रेति 'भभि  
सार्यताम्' भनोयताम् । निवेद्यन् इति, तथाच तत्रिवचनमेव सामाजिकवाच्य अङ्गुष्ठ  
मित्यर्थः । निर्गन्तीकरणमत्र देशस्य वैलक्षण्यम् । (A) तादृशदशस्यात्र वाच्यत्वोऽपि  
सतम्भ्य अधिकरणत्वमेव निर्देशहेतुत्वेन पुर स्कूर्तिकम्<sup>१</sup> । परमन्यस्या दूत्या  
साभिध्यस्तत्वेऽपि तन्मात्रिण्यस्यापि देशवैलक्षण्यादत्र ह्यमात्र तदत्र पुर स्कूर्तिक<sup>२</sup>  
दूत्यास्तु निवेद्यार्थवाच्य प्रकरणसाविध्यादेव । कालवैलक्षण्ये उदाहरति—गुरुअणेति ।

गुरुजनपरवत्स प्रिय किं भणामि तत्र मन्दभाङ्गीने खल्वहम् ।

अत्र प्रजास मज्जमि मग्न स्यमेव मन्यमे करणीयम् B) ॥ इति तत्सूक्तम् ।

विधाद्याहया प्रगस्तिनु(प्रगस्तु)मुच्यत नायक प्रति नायिकाया उत्तिरियम् । 'तत्र C)

(A) वाच्यवैलक्षण्ये पुरदुसुनादणमित्याशङ्कामपाकरोति—तादृशनि । दशान्य वाच्यत्वोऽपि  
वाच्यवस्त्वन्तराफभया व्यङ्ग्यवाच्य उपयोगविशेष एव पृथग्विदशरीत्रमिति हृदयम् । उद्देशो  
अभित्यादी प्रथमाहं देशवैलक्षण्यमस्त्वपि अत्राह विहाप्यतया वाच्यतया वाताता हृतसङ्ख्यादि  
विशेषणेन वैलक्षण्यं वाच्यवैलक्षण्यमिति दशवैलक्षण्यसाम्य विविक्तविषयतति प्ययम् ।

(B) अत्र टीकाकृतमनुवादमात्रानुमाण प्राकृतसङ्कापादो गृहीतः । मुद्रितपुस्तकेषु  
'मन्दभाङ्गी' अह 'मन्दभाङ्गी' अह इति पाठभेदो दृश्यते । एव मन्यम् इत्यनुवादस्येन  
छगमीत्यत्रापि तन्मते पाठान्तरमनुमीयते 'छगमि' इत्यत्र तु श्रुतापि इत्यनुवादो पुनः,  
श्रोष्यमीति सत्यं, भविष्यन्मामीत्येव । बहुवचने आष्यमि' इत्यनुवादितवत् ।

(C) 'तुह' इत्यस्य 'त्वाम्' इति द्वितीयान्ततवाश्रयात् स्थान इत्यन्याध्याहारा  
निष्प्रयोजनक इति बोध्यम् ।

1 'अपि अनेनधिकरणवत्तया दृश्यत्वेन पुर खोत्पादवैलक्षण्यमेव ख । 2 भूतिवर्गिणि  
तद्वत्परममेव ख । 3 विदितव्यं ख पुच्छते नापि ।

अत्राय मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि,  
तव तु न जानामि (A) गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तथा सौन्दर्यसारश्रिया  
प्रोद्धास्योद्युगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।

आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमवःक्षिप्तं चले लोचने  
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचितं दोर्लभे (B) ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकृतविशेषो ध्वन्यते ।

स्थाने किं मणामीत्यन्यथ १० । अथ वसन्ते । 'स्थानमीष्टे उद्यमानमन् भागिनीति ।  
गुरुजनेत्यादिना अनिवर्तनीयत्वसूचनम् । "अन्यथे" जानासि । अथेति, "न भवामि"  
मृताऽस्मि । तच्च स्थिति अत्र प्रयासोद्यमादेव न जानामि, अन्यथा ॥ स्वमृत्युहेतु-  
क्रियाभ्यो निवर्तते इति 'जानाम्येवेति भावः , व्यज्यते इति वसन्तकालस्य कामोद्दीप-  
कत्वरूपाद्वैलक्षण्यमिति शेषः । द्वारोपान्तेति । उपनाविक्रया भावं बुद्ध्वा भाग-  
तस्य सख्यु सख्यशुक्तिरियम् । मयि द्वारोपान्ते निविडसन्निहिते सति सौन्दर्यसार  
श्रौर्यम्या, तादृश्या तथा ऋतुयुग प्रोद्धास्य परस्परसमासक्तम् अन्यान्यसमासक्तं समा-  
सादितं प्रापितम्, समासकमिति भावे क , एव पुरतः शिरोंऽशुकानयनादिक्रमपि  
कृतमित्यर्थः । अथेति 'आकृत' भावः । 'कुलस्त्रीभिस्तावत्तुजैव क्रियते कुलदामिस्तु  
क्रियाविशेषेण 'लज्जाकरणं ज्ञाप्यते तच्च भावसूचकम्, तदिह सर्व्वेय क्रिया लज्जाकरण-

(A) गतिमिति दशामित्यर्थः । यथाच तवापि दुःखाविशयो मरणपर्य्यन्तोऽपि तन्भाष्यते,  
गुरुनेषु कथञ्चित्प्रियाय निवर्तन्तेति, अथवा अस्मि तत्रापि तव सीमाव्यावकाश इति मम मरण-  
मिदानीं तवाकिञ्चिन्करमिति व्यज्यते इति भावः ।

(11) "अत्रोरूपमासङ्गादिचेष्टावैशिष्ट्यात् प्रच्छन्नकान्तविषय आकृतविशेषो ध्वन्यते । तत्र  
प्रथमाद्धेन कृष्टकमालिङ्गनम्, शिरोंऽशुकं पुरतः आनीतमित्यनेन गृह्यमाणच्चेति अथ क्षिप्ते  
चले लोचने वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणमित्येताभ्यां सूर्याम्समये कोलाहलरहिते काले  
समागन्तव्यमिति सङ्कोचिते दोर्लभे इत्यनेन पारितोषिकालिङ्गनं कृतमीति व्यज्यते" इति प्रदीपः ।

1. 'स्थानमीष्टोद्यमात्' ख.न. 2. 'जानास्येवेति' क.ख. 3. 'क्षिप्ता' ड. 4. 'एव  
वसन्ते' घ.

निराकाङ्क्षप्रतिपत्तये प्राप्तानसरतया च पुनः पुनरुदाहियते ।  
वक्त्रादीनां मिथः संयोगो द्विकादिभेदे अनेन क्रमेण लक्ष्य व्यङ्ग्ययोश्च  
व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

शार्पिका (A) ऊरुयुगममासङ्गनादीनामुल्लासपूर्वकत्वादेर्लज्जाकरणशायकत्वात्\* ।  
चेष्टादेरित्यादिपदान् चेष्टाश्चिरदपरिग्रह । यथा—

न ते मयि पदाक्षेप इमे दृग्निवारणम् ।

अहर्ज्वाणा चतूक्तौ मे मौनयालम्बते स्म सा ॥ इति

अत्र पदाक्षेपादिचिरहोऽप्यादृतसूचक । ननु वक्तृवैलक्षण्योदाहरणमेव 'बोद्धव्य-  
वैलक्षण्योदाहरणमपि सम्भरति', तन् किं बहुभिन्नाहरणैरित्युक्ताह—निराकाङ्क्षेति,  
'प्रत्येकमेवा प्राधान्येन व्यञ्जकताया किं किमुदाहरणमित्या' काटक्षानिरसकप्रतिपत्तये  
इत्यर्थः । इत्यमेमि सहायैषां व्याख्यान्यञ्जकत्वे उदाहृतं लक्ष्यार्थव्यङ्ग्याथयारपि  
व्यङ्ग्यमनेन क्रमेण क्रियाविसम्मिश्रादाहरणेषु बाधमित्याह—वक्त्रादीनामिति ।  
'द्विकादि' वक्तृबोद्धव्यादि द्वित्र्यादि । 'मह' सम्भेदे मिलने । तथाहि साहस्यी  
त्यादौ मनुष्यमित्यादिलक्ष्यार्थस्य यत् कामुकरिपेत्यादि व्यङ्ग्यमुक्त 'तद्व्यञ्जने  
वक्तृबोद्धव्यमात्रपक्षयवैलक्षण्य सहायम् । उभ निश्चलेभ्यादौ यद्व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकत्व  
मुक्त तद्व्यञ्जने प्रकरणबोद्धव्यवैलक्षण्य सहायम् । अत्र च वाच्यायस्य व्यञ्जकताया  
द्विकादिभेदेन उदाहरणम् "अप्ता एव निमज्जाह" इत्यादिक इति पुस्तके  
लिखित तिष्ठति, तन् न युक्तमेव उक्तदाहरणेष्वेव तत्सम्भारस्य निराकाङ्क्षोत्पादिना  
सूचितत्वात् ।

(A) "ऊरुयुगममासङ्गनादीनामुल्लासपूर्वकत्वादेर्लज्जाकरणशायकत्वात्" इत्यत्र द्विष्यतीति  
प्रतिनामि भाष्यया सम्य "सर्वत्रैव क्रिया लज्जाकरत्वमपि" इत्यत्र हेतुने साध्याविषय इति  
चिन्तनीयम् ।

(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच् शब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ॥ ३ ॥

आर्याः व्यञ्जनायां शब्दविशिष्टार्थस्य काव्यत्वमित्यभिप्रायेणाह—शब्दप्रमाणेति ।

न हि प्रमाणान्तरेति काव्ये इति शेषः । नाद्वयो तु प्रत्यक्षदृष्टोऽप्यर्थो व्यञ्जक इति बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे  
अर्थव्यञ्जकतानिर्णयस्य तृतीयः प्रतिबिम्बः ।

## चतुर्थ उल्लासः

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूप-  
मभिधानीयं तथाऽपि घर्मिणि प्रदर्शिते घर्माणां हेयोपादेयता  
ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

(३६) अविचक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविचक्षितं वाच्यं यत्र सः,  
'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः । तत्र च वाच्यं कचिदनुप-  
युज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमिनम् । यथा—

'स्वरूप लक्षणम् । अभिधानीयमिति अभिधातुं वाच्यमित्यर्थः, तद्देशो  
शब्दार्थानिर्णयकारिको न त्रस्तुतथा' इति भावः । प्रदर्शिते इति भेदभेदरूपप्रकर्षेण  
दर्शिते इत्यर्थः । सामान्यतस्तु 'इदमुत्तममतिरूपिणी'त्यादिना दर्शितमेवेति बोध्यम् ।  
ज्ञायत इति 'तत्तदर्थमिच्छित्वेन ज्ञायत इत्यत्र, सामान्यार्थमिच्छित्तया तु सामान्य  
कथनेनैव ज्ञातयादिति वाच्यम् ।

अविचक्षितवाच्य इति ध्वनिस्तान्दविचक्षितवाच्यो विरक्षितान्यपरवाच्यश्च  
भवेति तत्राविचक्षितवाच्यत्वं लक्षणाभूतमर्थ एव सम्भवति, अतो लक्षणाभूतवध्वनि  
त्वयार्हशापि' प्रदर्शनीयत्वाद् तयोश्च कारिकायाः<sup>१</sup> पूर्व्यानुक्तत्वेन 'अर्थलक्षणम् तद्व्य-  
शब्द'<sup>२</sup>पूरणेन दशमद् व्याचष्टे—लक्षणाभूतेति ध्वनिरिति श्लोच इति च<sup>३</sup> ।  
व्यङ्ग्यस्यागूढत्वे गुणीभूतवाच्यत्वमेव न ध्वनित्वमतो ध्वनित्ववत्त्वमप्यभाह—

१ निताप ४ । २ तत्तदर्थमिच्छित्तया च 'तत्तदर्थमिच्छित्तया' च । ३ यद्यपि ध्वनौ नुक्तवधौ  
भवेति । ४ तत्तदर्थमिच्छित्तया' च । ५ इत्यत्र 'वाच्य' इति वाच्यत्वमनुन विना नाशोति  
व्यङ्ग्यत्वम्, तत्तदर्थमिच्छित्तया' च पुनर्निर्दिष्टं पाठः तत्र 'वाच्य' इत्यत्र ध्वनौति इति भावः ।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विवेहि तत् ॥ २३ ॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ।

एवमुक्तं यदु तत्र किमुच्यते सृजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥ २४ ॥

गृहेति । तथाच एव च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याभि<sup>१</sup>त्येतत्स्फोरेणायाह—प्राधान्ये इति ।  
 व्याचष्टे—तत्र च धाच्यमिति । अनुपयुज्यमानत्वादिति वाच्यतावच्छेदकेन  
 रूपेणेति शेषः । ‘अर्थान्तरे’ अवच्छेदकान्तरे, ‘परिणमित’ धर्मितया मातृम्,  
 धाच्यो धर्मी अवच्छेदकान्तरेणैव प्राप्त इत्यर्थः । उक्तद्विविधलक्षणात्प्रादा-  
 लक्षणायामेव एवं भवतीति बोध्यम् । ‘अन्यपञ्चविधलक्षणास्तु तु रूपान्तरेणापि  
 ‘न वाच्यार्थाव्यपदेश इत्युक्तम् ‘अत्यन्तं वेति कारिकाञ्चलिन । त्वामस्मीति ।  
 अस्मीत्यहमित्यर्थे धर्म्यम् । त्वामह वच्मि उपदिशामि । समवाय इति । तत्  
 तस्मात् । अष्टेति, उच्यमावार्थमहिमैव ‘वच्मीत्यस्य अर्थस्य लाभे’<sup>२</sup> ‘वचनात्  
 वचनवापनमनुपयुक्तम् अतोऽत्र उपदिशामोरेयेवार्थः । ‘तथाच उपदेशत्वेन रूपेणैव  
 वाच्यार्थस्य वचनस्फोरेणैव धर्मि<sup>३</sup>मिति’<sup>४</sup> दर्शयति—अत्र वचनादीति । ‘पत्यवर्तक  
 वचनं ह्युपदेश’<sup>५</sup> । अनुपेक्षणीयत्वञ्च एतद्वचनोक्तं गूढं व्यङ्ग्य प्रयोजनम् । वचनादि-  
 रित्यादिपदाश्च स्मिद्वचनं निपादकविज्ञापकम्, परापमानदायित्वं तद्व्यङ्ग्यं गूढं प्रयो-  
 जनम् । मतिपदमपि प्रकृत्यमतिपरम्, परापमानतः स्वरक्षणं च तत्प्रयोजनं गूढव्यङ्ग्यम् ।  
 सर्वत्र शक्यामेव एवं लक्ष्यार्थं शक्यसम्बन्धः । अत्यन्तं वेति व्याचष्टे—एवंचिदिति  
 रूपान्तरेणापि वाच्यार्थस्यान्यथानुपपत्तेरित्यर्थः । ‘लक्षणलक्षणादिपञ्चक एव एवं  
 भावो बोध्यः’<sup>६</sup> उपेक्षेतमिति । प्रमाणान्तरावगतापत्कारिणं प्रत्येय इत्युक्तिः । अत्र

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणाया कश्चिद्वक्ति ।

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । एष च—

(४१) (A) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

य तत्रेति सप्तमीचोदः पाठः, यत्रेति षष्ठे तु तत्रेति भूरूपोयम् । परं सुखितच्चेति 'द्वय क्रियाविशेषणम् । विपरीतेति उपरुतपदस्य 'अपरुते सुजनस्यापरस्य दुर्जनस्ये सुखितपदस्य च 'दु'खिते 'विपरीते लक्षणलक्षणपदेत्यर्थः । विपरीत्यमेष य शक्य-  
लक्ष्यबो सम्बन्धः । पूर्वद्वये बोधव्यपुस्तस्य भववर्तु कौटिल्यम्, तृतीये च दुःखित-  
त्वस्य कौटिल्यस्यैव व्यङ्ग्यम् । विषये लक्ष्यार्थस्यातिशयो व्यङ्ग्य इति तु  
'वर्षमकम् ।

बहुपदेदं विवक्षितान्यपरवाच्यव्यङ्ग्यमाह—विवक्षितच्चेति । यत्र पक्षौ ।  
व्यङ्ग्यनिष्ठमिति व्यङ्ग्येच निष्ठा बुधोपयियापय्यांसिर्वस्येति विग्रहः ।

तस्य विभागं चिकीर्षुतादौ द्वैविध्यमाह—कोऽपीति । एष च इति तु तदुत्पत्त्या-  
पिका 'वृत्तिः । (B) वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्योऽपरिवेषो यस्य

(A) स्मरित्स्मरणे "अमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः" इति विवेचः ।

(B) वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्य इति । अत्रमत्र दीक्षाकृताभावात् —  
विभाषापरिहृतावाच्यार्थबोधस्य व्यङ्ग्यस्यैव बोधोऽप्यत्र च क्रमो यद्यपि सत्यप्यत्र व्यङ्ग्यलक्ष्य-  
समस्तयामपि विभाषाबोधोऽपि कश्चिद्व्यभिचारिणश्च वाच्यतया तेषामेकताप्रधानेन श्रुतिरिति  
उचितोक्तमित्यतिसम्भवात् तदुक्तस्य एव सम्बोधो भवतीति विभाषादिवाच्यार्थबोधस्यैव व्यङ्ग्यबोध-  
क्रमस्यैव लक्ष्यतायामतिस्वीकृतमेव हेतुमिति । न त्वेतावता वाच्यार्थमात्रबोधस्यैव सत्यप्यत्र व्यङ्ग्यबोधस्य च  
क्रमः सर्वत्र दुर्लभ इति प्रम काव्यः । अत एव दीक्षाकृतोक्तम्—अन्येता केवलमात्रा प्रतीयौ  
विलम्बेनान्याद्येवमिति । तत्र सर्वमेति—

'सद्भावपेक्षिभाषादेर्बोधोक्तस्य वा भवेत् ।

कटित्यन्यसमाधेये तदा दोषो न वित्तने' ॥ इति ।

अन्यत्र च 'अत्र व्यङ्ग्यपरीते विभाषादिप्रतीतिकारणत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्दुरप्य-

अलक्ष्येति । न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः,  
अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः(Δ) । स तु लाघवान्न लक्ष्यते । तत्र—

तादृश व्यङ्ग्यं यस्येति बहुवीहिद्वयेन कोऽपि ध्वनिस्तदृश इत्यर्थः । परः तदन्यस्तु  
लक्षणीयव्यङ्ग्यबोधक्रम इत्यर्थः । तत्राद्यो रसभावादिव्यनिर्धश्यते, (B) रसादेरत्यन्ता-  
कार्यकत्वेन शीघ्रबोधाद् (C) वाच्यबोधसमकालमेव व्यङ्ग्यबोध इति प्रमोदयात् ।  
ननु रसादिस्थापि भावानां कारणानि विभाया कार्याण्यनुभाया कार्यविशेषाश्च  
सहकारिणो वक्ष्यन्ते, 'कारणे च त एव वाच्या अपि व्यङ्ग्यरस्यादिवोधे भासमानतया  
प्रपाणकरसम्यायेन चर्च्यमाणा रसतामापद्यन्ते इति वक्ष्यते' । तथाच ये विभायादयो  
वाच्यास्त एव व्यङ्ग्यरसशरीरमिति वाच्यविभायादि-व्यङ्ग्यरसयोर्मैशभावाद् 'वाच्य-  
व्यङ्ग्यबोधक्रम एव नास्तीति' कुतोऽलक्ष्यत्वमिति भ्रान्तशङ्का निरस्यशाह—  
न खल्विति । एवकारात् तन्मात्रस्य रसत्वव्यवच्छेदः, किन्तु (D) तन्मात्रस्य वाच्यस्य  
(E) तद्विशिष्टस्य रसादेर्व्यङ्ग्यस्य रसत्वमित्याह—अपि तु रसस्तैरिति, शान्द-

धातपत्रभेदवज्राधवात्र संलक्ष्यते' इति । न खल्वित्वादिवृत्तिग्रन्थेऽपि विभावादिवोधरसादिव्यङ्ग्य-  
बोधयो क्रमाभावशङ्कापरीक्षाराम्यां स्पष्टोऽयमर्थ इति ।

(Δ) भस्ति क्रम इति । विभावादिवोधस्य कारणतया पूर्ववर्तित्व रसादिवोधस्य च कार्य-  
तया उत्तरवर्तित्व तयोः कार्यकारणभावानुरोधेन सिद्धमेव कारणत्वस्य कार्यान्वयवहितप्राप्-  
क्षणरहितत्वाच्च, तथा चक्षकमात्रकालस्यातिमूर्धन्यतया रसादिव्यङ्ग्यस्यान्वयक्रमत्वकथनं युक्त-  
मेवेति हृदयम् ।

(B) रसभावादिव्यनेसलक्ष्यक्रमताया हेतुमाह—रसादेरिति । रसादीनामात्यन्ताकार्यक-  
त्वञ्च मनसो विषयान्तरपराङ्मुखीकरणेन श्रुतिरिति अन्यममाक्षेपे उपयुज्यत इति बोध्यम् ।

(C) रसादिव्यङ्ग्यक्रमस्यालक्ष्यताया हेतु शीघ्रत्वम्, तत्र शास्त्रमाह—वाच्यबोधसम-  
कालमेव व्यङ्ग्यबोध इति प्रमोदवादिति ।

(D) तन्मात्रस्येति । प्राप्तो विभावानुभावयो ष्विद व्यभिचारिवरचेत्यर्थः ।

(E) तद्विशिष्टस्येति । तथाच—'न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस' इति वृत्तिग्रन्थे  
विभावादीना यद् रसत्वमुक्तं सत् समूहालम्बनात्मकरसबोधे विशेष्यविधया नियतविषय-



(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नो रसायलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥

आदिग्रहणाद्भावोदय-भावसन्धि-भावशयलत्वानि । प्रधानतया

बोधयित्वैस्तै रसो निष्पाद्यते ज्ञायते चेत्यर्थः । तथाच 'वाच्यविभागादेर्भेदो बोधक्रमश्चास्तीत्याह—इत्यस्ति क्रम इति । तदुक्तं दर्पणे—

प्रतीयमानं प्रथमं प्रत्येकं हेतुलभ्यते ।

ततः सम्बलितं सर्वान् विभाषादि सचेतमाम् ।

प्रमाणरूपसम्यायाद्यव्यवमाणो रसो भवेत् ॥ इति । (३५ प०)

लाघयादिति शीघ्रोपस्थितिकत्वादित्यर्थः ।

अवश्यक्रमान् व्यङ्ग्यान् दर्शयति—तत्रेति । तदाभामेवमत्र तत्पदेन रसभावयो-  
र्द्वयोरपि परामर्शः । अक्रमः अवश्यक्रमः । भिन्नो रसादीनि पराङ्मुखे सति  
रसादय एवालङ्कारा यद् यन्ते (A), तादृगालङ्कारादिषु पराङ्मुखत्वेन अलङ्कार्य<sup>३</sup>तया स्थितो  
य स यय काव्यस्य भवित्वनिर्व्याहकाऽक्रम इत्यर्थः । पराङ्गभूतो 'रसादिस्तु अवक्रमत्वे-  
ऽपि' काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवनिर्व्याहक 'यवेति भिन्न इत्यादिना तत्रत्यवच्छेद-  
कृत' । आदिग्रहणादिति भावशान्त्यादिरित्यादिग्रहणादित्यर्थः । भाषादयादि-

लेनास्वायमानत्वेन च साधनस्येण गौणम्, मुख्यं रसत्वम् अङ्गनदशापन्नाना स्याद्विभाषानामेवेति  
"व्यङ्ग्यं स तैर्विभाषाद्यै स्याद्वि भावो रसः स्यात्" इति ग्रन्थकृतोऽप्येवाह लक्षणै स्फुटमव-  
गम्यते इति भावः ।

(A) चरन्त इति । अत्रैव "यदाङ्गभूतो रसादि" इत्यादिना तथा पञ्चमोहासे "पते च  
रसवशाद्यलङ्कारा" इत्यनेन गुणीभूतरसादीनामलङ्कारत्वं वृत्ती स्वीकृतम्, कारिकायाम् रसवशाद्य-  
लङ्काराणां लक्षणं नोक्तमेव । एवञ्च भिन्नो रसायलङ्कारादित्युक्तिः अप्रतिपिदमनुमतं भवतीति-  
न्यायेन परसम्मतं तत्तुल्यमङ्गीकृत्यैवेति बोध्यम् ।

यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः, यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु—प्रधाने वाक्यार्थे यत्राद्भूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्य—  
रसयत्प्रेष-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्ग्या-  
भिधाने उदाहरिष्यन्ते।

तत्र रसस्वरूपमाह—

(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाद्यकाव्ययोः ॥ २७ ॥

लक्षणं तदुदाहरणावसरे वक्ष्यते। अलङ्कार्यतयेत्यत्र(१) अलङ्कारयोग्यतेषु  
विशदिनैत्याह—प्रधानतयेति। परानङ्गत्यमेव प्राधान्यं सैव चालङ्कारयोग्यतेति  
भाष<sup>१</sup>। काव्यस्य तु सर्वत्र सालङ्कारत्वं वैचित्र्यमात्रसम्पत्तिरिति प्रागेव दर्शितम्।  
यथोदाहरिष्यन् इति। शून्य वामगृहमित्यादिकं तद् बोधम्। परङ्गत्वे तु तस्य  
अलङ्कारत्वमेव नालङ्कार्यत्वमित्याह—अन्यत्र स्थिति 'वाक्यार्थे' रसादिकपे,  
रसस्याङ्गत्वे रसवान्, भाषस्याङ्गत्वे प्रेषान्, भ्रमासस्याङ्गत्वे ऊर्जस्वी, भाषशास्त्रा-  
वेदङ्गत्वे समाहितं नाम अलङ्कार इत्यर्थः। गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधान इति  
अरण्यगुणोभूतव्यङ्ग्यस्य अभिधाने कृते स्तरीत्यर्थः, एते च रसयदाद्यलङ्कारा  
इति 'तदुत्तरं वक्ष्यमाणत्वात्'।

'रसस्वरूप' रसलक्षणम्। तत्र विभावाद्यर्थकं स्वविभावो रस इति रस-  
लक्षणं कर्तुं विभावादिपरिभाषा ग्राहयति—कारणानीत्यादिना व्यभिचारिण  
इत्यन्तेन। अथवा सहकारिणः कारणान्तरपरम्, अत्र तु रत्यादेः कार्म्यविशेषणमेव,  
रत्यादिस्वकारणत्वज्ञाने शीघ्रकर्मविरक्तत्वात् सहभावात् तथा व्यवदेशः। तानि च  
किर्वैवाद्यस्त्रयस्त्रिंशद्भावा वक्ष्यन्ते। रत्यादेरिति—

(१) अलङ्कार्यतयेत्यस्य अलङ्कारविशिष्टतयेत्यर्थकत्वे अलङ्कारस्य रसादेरन्तत्वं  
भास्तीत्यासाह स्मात् तत्प्राक्कारण्यं व्यापारे—आत्मन्ययोग्यतेति १।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

(A) व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२५॥

‘रतिर्हासश्च शोकश्च श्रद्धोत्साहौ मय तया ।

ध्रुवपुसा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता ॥

इति वक्ष्यमाणस्यायिभावानामित्यर्थः<sup>१</sup> । एतच्च स्थायिन स्थायिपरिभाषितस्य रत्यादेर्यानि कारणानि (B) आलम्बनादीपनरूपविशेषा, यानि च कार्यणि गणयिष्यमाणत्रयस्त्रिशत्कार्यमित्येव सामान्यम्, यानि च सहकारीणि निर्व्यङ्ग्यद्वयम्भयस्त्रिशत्कार्यविशेषा लोके नात्यकाशमिग्नलोकव्यवहारे कारणानितयैव ध्रुयन्ते इति शेषं तानि चेत्तादृशकार्ययोगैर्बहुयन्ते इति शेषः, तदा यथास्मद्वक्ष्य (C) विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च कथ्यन्त इत्यर्थः । व्यभिचारिणा सञ्चारिपरिभावाऽपि दोषेण्ज्ञाने व्यक्तीभविष्यति । अत्र च रत्यादेरित्युक्तयैव निर्व्याहरे स्थायिन इति यदुक्तं तेन रसान्तरस्थायिभावरस्य रसान्तरे स्थायिभावत्वं नास्ति किन्तु (D) व्यभिचारित्व-

(A) “व्यक्तं व्यक्तविषयीकृतं, व्यभिचयः भगवत्तया चित्” इति रसगङ्गाधरकृता । अत्र “सूत्रे ‘तै’” इत्यनेनैव विभावादिप्रसङ्गौ विभावाद्यैरिति सहायं सूचीया, तेन विभावाद्यै सह तैर्यैक इत्यर्थोद रसान्तरसमूहालम्बनरूपनालम्बन” इति प्रदीपोद्गमः । “नैरिति मन्त्रायं सूचीया, विभावादिनिर्व्यङ्ग्यं तैर्विभावादिभिः सहेति समूहालम्बनरूपना” इति परमानन्दचक्रवर्ती ।

(B) आलम्बनोदीपनरूपेति । प्रदीपकारिणो उदीपनस्य कारणत्वं “यद्यप्युदीपकस्य स्थायिनि न कारणत्वम्, किन्तुत्पन्नं तस्मिन् ईषदुर्गुणधायकस्वरूपमुदीपकत्वम्, तथाऽप्युदीपिनो ज्ञातमात्रं एतेत्युदीपकेऽपि कारकत्वोपचारात् तत्रापि विभावव्यवहारः” इत्युक्तम् ।

(C) विभावा इत्यादि । विभावादिनाम्ना म्युक्तवि प्रदर्शिता प्रदीपकारा — विभावादि-संज्ञा च विभावनादिव्यापारयोगात् । तदा यथा—वाग्नात्मनया स्थितान् रत्यादीन् स्थायिनो विभावयामि रसास्वादाङ्गुरयोऽव्यक्ता नयन्तीति विभावा, अनुभावयन्ति च तानित्यनुभावा, पोषकमया विशेषेण धमिति काय स्थायिनं धारयन्ति विशेषणभिरुभयं धरन्तीति वा व्यभिचारिणः इति ।

(D) व्यभिचारित्वमिति । तथाच साहित्यदर्पणे—“रत्यादयोऽव्यनियते रसे त्युच्यन्ति चारिणः” इति ।

१ ‘रतिर्हासश्च शोकश्च’ इत्यादिना त्रैलोक्ये स्थायिभावा वक्ष्यन्ते यत्र शान्तिरसत्यायिभावत्वं निर्व्यङ्ग्यद्वय-वक्ष्यते देशमिताय न । २ “इत्यर्थः” एतद्वचनरक्तं य पुनश्चो न्नाय कारणानि विभावा कार्यान्तु-भावा सहकारीणि च व्यभिचरिणः चयनं इत्यर्थः इति शीघ्रचक्रो दृष्टान्ते, य च पूर्ववाक्यस्य टिप्पणीति प्रतिपादयति ।

राम एवायम् अपमेव राम इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके  
 धावे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वायमिति, रामसदृशोऽयमिति  
 च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्र-  
 तुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

'नर्तके' अनुकारके । काव्ये तु रामादावेवेति बोध्यम् । 'प्रतीयमान' व्यज्यमान ।  
 इत्य व्यञ्जनया रामसौ सामाजिकै प्रतीयमानो रत्यादी रस इत्युक्तम्, राम सीता-  
 विद्यकस्तिमानित्याकारकज्ञानसम्बन्धेन सामाजिकवृत्तित्वादेन सामाजिका रसयन्त<sup>१</sup> ।

अत्र मते व्यञ्जनाधीनज्ञानस्यास्वादकपत्वं नास्ति साक्षात्कारस्यैव तथात्वादिति  
 दूषणमवेक्ष्य तस्य साक्षात्कारत्वमुपपादयितुं श्रीगङ्गुक्तस्य मतमाह—राम एवाय-  
 मिति । अत्र मते रामत्वेनाहाव्यंज्ञाने(A) नटे, सान्ये तु राम एव प्रथमं विभावादिमी  
 रत्याद्यनुमानम्, तत्तन्तनुमानोद्वाधितया सामाजिकानां (B)वासनात्मिकया प्रत्यासत्त्या  
 साक्षात्कारतो रामादिरत्यादी रस इति निर्वर्ण । तत्र नाट्याभिप्रायेण पक्षभूत-

ष्याहारानुमानान्, प्रतीतौ विश्रम्भेन प्रकरणाद्यनुमन्धानकृतेनेति शेष, अन्येषां विभावादि-  
 प्रयनिन्नभिज्ञानां विभावादीनाम् आशेषादित्यर्थः ।

(A) चितोधिनिष्पद्यतामिच्छाप्रयोज्यं ज्ञानम् साक्षात्प्राप्तमित्युच्यते, रामभिन्नत्वेन  
 ज्ञाते नटे "रामोऽयम्" इति ज्ञानमिच्छैव सम्भवतीति तद्वदज्ञानान्याहाव्यत्वमुपपद्यते  
 इति बोध्यम् ।

(B) वासनेत्यादि । अत्र वासना रत्यादे स्तुमात्रम्याविशेष । अनुमानोद्बुद्धा च वामना  
 रत्यादिस्मृतिरूपता कर्णव्यव्यति । तथाच ज्ञानव्यवस्था प्रत्यासत्तिरित्येतेषां । अत्र नृप साक्षात्-  
 कारपक्षमप्यत्र प्रत्यक्षमात्रमात्रम्, न तु लौकिकप्रत्यक्षपरम्, तत्कारणानां बहुविधलौकिकतन्त्रिकर्षाणां  
 परकीयारत्यादावममवान्, ज्ञानलक्षणमत्रिकर्षस्य तु अलौकिकमत्रिकर्षमप्ये पणनेन तत्-  
 कार्थमप्यलौकिकत्वोचितत्वात् । 'निर्वर्ण' इति । तथाच महोदधमते रसस्याश्रयो रामादि-  
 स्तुकाभ्यं, तत्प्रतीतिकारण व्यञ्जनावृत्ति, तदधीनप्रतीतिन्यायमेव रत्यादे रसत्वाद्, रसांशे  
 विशेषमीदृगप्रतीतिरस्यैव नृप रसयसाध्यवहारनियामक इति सामाजिका रसवन्त उच्यन्ते ।  
 श्रीगङ्गुक्तमते तु अभिनयव्यवहारे नटादयोऽभिनेता काव्ये तु रामादय एव रसस्याश्रय, तदधीननि-  
 कार्ण न व्यञ्जना किन्तुनुमानोद्बुद्धावमेति विशेष इति बोध्यम् ।

सेयं ममाङ्गेषु (A) सुधारसच्छटा सुपूरकपूर्णशलाकिका दृशोः ।

मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ २५ ॥

दैवादत्तमद्य तथा चपलायननेत्रया विमुक्तश्च ।

अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चापम् ॥ २६ ॥

इत्यादिकाभ्यानुसन्धानरलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च  
नटेनैव प्रकाशिनैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभि-

नटज्ञानाकारमाह—राम एवेति । चित्रलिखितं तुरगे यथा तुरगोऽयमित्याहार्यं  
प्रतीतिस्तथाभूतया रामाऽयमित्याहार्यप्रतीत्या ग्राह्ये नटे पक्षे, विभाषादि-  
शब्दव्यपदेश्यैः कारणकार्यसहकारिभिः हेतुभिः अनुमीयमानो रामादि-  
रत्यादि सामाजिकानां वासनया प्रत्यामरया कारणभूतया ध्वन्यमाणाः  
साक्षान्निबन्धना इत्यन्वयः । तत्र रामत्वेन नटज्ञानस्य सम्यग्वादिज्ञानचतुष्टयभिन्न  
त्वेन आहार्यरूपतां परिशिष्यमाह—सम्यङ्मिथ्यासंशयसाहचर्यप्रतीतिभ्यो  
विलक्षणयेति । तत्र साधारणसम्यग्ज्ञानद्वयाकारमाह—राम एवाय-  
मिति 'अत्र रामत्वायागा नास्ति इति 'रामत्वायागपहिताऽय'मिति वा प्रथम  
स्यार्थः (B) । 'एतद्व्या न राम' (C) इति 'एतद्व्यसामान्यनिष्ठभेदप्रतियोगिपमा-  
भिन्नाऽयमिति वा द्वितीयस्यार्थः । एतद्व्यमुपलक्षणम्, अथ राम इत्यनवधारणात्मकस्य  
सम्यग्ज्ञानस्यापि सम्भवात् तदाऽपि विलक्षण्य बाध्यम् । बाधानवतारदशायाम्  
अदामे रामत्वेन ज्ञानमिष्याज्ञानम्, तदाकारमाह—रामोऽयमिति, इदं तु औत्तरकालिके  
वादे भाषिणि तत्पुत्रं रामाऽयमिति न्यर्थः । संशयाकारमाह—रामः स्यादेति ।  
सादृश्यप्रतीत्याकारमाह—रामसदृशोऽयमिति । आभ्य प्रतीतिभ्यां विलक्षणत्वेत्यर्थः ।

(A) सुधात्मस्य छटा तरङ्गपतन्यस्यार्थः ।

(B) अत्र रामपदवृत्तत्यैवकारण्यं अत्रात्रव्यवृत्तदार्ढ्यकनया ईदृशोऽन्वयसंशय इति शेयम्,  
तत्रापि भवति बाधके प्रथमान्तपदार्थो मुख्यविशेष्यतया भाग्यत इति नियमानुसारेण रामत्वायोप-  
रहितोऽयमिति द्वितीय कल्पः । एवमुत्तराणि ।

(C) अत्रावम्यदमङ्गतन्त्रैवकारण्यं अन्यथागन्तव्यवृत्तदोषं इति पुनरुक्तमिति रामत्व  
योगाभाव इति तृतीयस्य पर्यवसितार्थः ।

मन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद्

अनुमानुसामाजिकानां विभावादिज्ञानोपायमाह—नटेनैवेति । काव्ये तु वास्तव एव रामे (A) शाब्दैर्विभावाविभित्तिर्यथ । नटेनापि प्रकाशनस्योपायमाह— शिक्षेति । गुरुदेश शिष्या, यौन पुन्येन प्रवृत्त्या दृढतरः सस्कारोऽभ्यास, ताभ्यां निर्व्यर्त्तितस्य निष्पादितस्य स्वकार्यस्य अभिनयस्य प्रकटनेन प्रकाशनेन चेत्यर्थः । तत्प्रकाशनेऽभिनेयार्थज्ञापक काव्यानुसन्धानमपि हेतुरित्यतस्तत्समुच्चयबोधक- अकार । अनुसन्धेयं काव्यमयमाह—सेयमिति दैवाद्दहमिति च । तत्राद्यं सम्मोग- भृङ्गात्माह्वये, द्वितीयं विप्रलम्भनाट्ये । तत्र आचार्यो यथा—नदर्शनं या तत्तद्गुह्यं दत्तवती सेय सीता मम रामस्य मनस सकाशात् लोचनगोचर गता प्राप्ता, गोचरमिति भावप्रदाननिर्देशाद् गोचरत्वमित्यर्थः । पृथं मनोगोचर एवासीदधुना तु लोचनस्यापि गोचरोऽभूदित्यर्थः । सा कीदृशी? बहुष्वेवाङ्गेषु सुधारसस्य छटा कणाद्युष्टि, तथा दृष्टो शोभन पुरः समूहो यस्य तादृगस्य कर्पूरस्य शलाकिका स्वल्प- शलाका तादृग्या शलाकया दृशि कर्पूरदानेन दृक्प्रीणवात्, तथा बुष्पापनिषेधेन मनोरथ तस्य विषयप्राप्तिरूपा श्री शरीरिणी । केचित्तु मनसां मनोरथश्रीरित्यन्वय- माहुः । अन्ये तु मनस शरीरिणी मनोनिर्मितशरीरयतीत्यन्वयमाहुः, सद्ब्रह्ममपि मनस इत्यस्य वैयर्थ्यापातादुपेक्षितम् । द्वितीयं लोकार्थस्तु स्पष्ट एव । तत्र “तया” सीतया । अचिरलो विलोलो जलदो यत्र तादृश वर्षाकाल इत्यर्थः । इत्यादि— काव्यस्य नटेन यदनुसन्धानं तद्वलादित्यर्थः, अभिनेयार्थज्ञाने सत्येऽयं अभिनयसम्भवात् । तत्र कृत्रिमत्वेन सीतादिज्ञाने कथं तद्विषय-रामरत्यादिज्ञानमित्यत आह—कृत्रिमै- रिति । यद्यपि कृत्रिमत्वज्ञानस्यानुभवसिद्धस्य दुरपह्वत्वेन अनभिमानासम्भवं एव तथाऽपि अकृत्रिमत्वेनाभिमन्यमानैरिति वज्रव्यत्यासेनात्रान्वयः कृत्रिमत्वज्ञानस्तत्वेऽ- प्याहार्यः कृत्रिमत्वज्ञानसम्भवात् । सूत्रे संयोगादित्यस्य मिलन(B) गम्यगमकभावध्यायं

(A) शाब्दैरिति । शाब्देनोपलम्भापितैरित्यर्थः शून्यं वासगृहमित्यादौ आविकानीनां शाब्दै- र्योपस्थितैरिति बोध्यम् ।

(B) मिलनमिति । अकस्मात्—विभावादीनां स्थान्तरसाधारणतया व्यवहारेण प्रत्येकं तेषां रत्याग्रनुमापकर्त्तव्यं न सम्भवतीति मिलितानामेव कृतात्वं वाच्यम्, तथाच व्याप्तिपर्व्यवमितान्य गम्यगमकभावस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तदुपस्थापकेन संयोगपदेन स्मारितस्य मिलनरुपार्थस्य विशेषणविधया विभावानुभावाव्यभिचारिण्यपि अन्यथे तात्पर्यमनुसन्धेयमिति ।

अनुमोयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविल-  
क्षणः स्यादित्येन संभाव्यमग्नौ रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामा-

इत्यभिप्रायेणाह—गम्यगमकमात्रं व्याप्तिः । तथाच अयं राम  
सीतादिविरय(क)रतिमान् सीतादिनिभावादिमत्त्वादित्यनुमानम्(Δ) ; तद्विद्वतादि-  
रत्र मतुवर्यं (१) । परमनुमितस्य रत्यादेर्वासनया ग्रन्थामत्या मासान्कारे (४) यद्वादे  
रथ्यनुमितस्य साक्षात्कारापत्तिं परिहरति—वस्तुसौन्दर्येति, तदेव च अन्यानुमीय-  
मानवैलक्षण्यम् । बाधनिवृत्त्याधवरिहारार्थं(८) पक्षतत्पक्षकसंग्रहमस्य दर्शयति—  
स्थापित्येनेति पक्षस्थापित्येनेत्यर्थः । तत्रेति नटे सामाजिके(९) चेत्यर्थः । (३)असत्तः-

(Δ) प्रतीतोद्योते तु रामोऽयं सीताविरयकरतिमान् सीताघातमकविभावादिमन्त्रिणां  
सीतादिविरयकरकटाक्षरतिमत्त्वाद् वा यज्जैवं तज्जैवं वयाहमिति प्रयोगो दर्शितः । अत्र हेतुप्रबो-  
ध्यासेन पृथग्भूते विभावादीनां प्रत्येकमनुमापकत्वमवश्यीयते ।

(४) साक्षान्कार इति, साक्षात्कारेण रमनीयत्वं इति कल्पितार्थः । एवमुत्तरप्रापि ।

(८) परिहारार्थमिति । अयमत्र प्राचामभिप्रायः, पक्षे साध्यत्वस्य तदभावस्य वा निग्रहे  
अनुमितिर्न भवतीति सन्नैवामनुभवस्तदर्थमनुमितिं प्रति तदुभयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया  
तदुभयानुत्पत्तदशापामेन सम्भावितमवस्थस्य पक्षे साध्यमवस्थस्य अनुमिती कारणत्वं ध्यायेन  
कल्पनीयं स एव च पक्षेति ।

(९) सामाजिक इति । एतेन रम्यप्रतिभूताया रत्यादिव्याघोदं कटसामाजिकयोरसत्त्व-  
मुक्तमित्यवगन्तव्यं न तु रत्यादिम्याविभावाग्रम्य, तेन सामाजिके रत्यादिवामनास्वीकारेण  
रतेरपि तत्र स्वीकार आवश्यक इति ग्रन्थविरोधो नास्तद्वनीयः ।

(३) असत्त इति । अयदित्यस्य विशिष्टेन रूपेण कविद्वयनदन्वितमित्यर्थः, अमविषय इति तु  
सत्त्वम् । नतदम्यपदमत्र भलीकृत् अलीकस्य ज्ञानामम्बरेण तद्विम्बेरेणमाधनताज्ञानम्याप्य-  
सम्भवात् तद्वीनाया इच्छाया अपि अलीकविषयकत्वामम्भरेण तत्र तस्या दृष्टान्तत्वेनोपन्यासा-  
मीचित्वात् । विशिष्टरूपेणामत्र 'कनककटलीयेष्टमप्रेक्षणीयपेशेनेन्द्रनीलचित्पदीदाशील'चत्  
क्षणविषयकमिच्छाविषयत्वयोश्चैतत् शब्दः । ज्ञानपक्षे तु अयसि स्वीयपरतिवापनस्य परकीयरतेर्न  
सम्बन्ध परकीयरतिवासनायाम्पु न सामाजिकवृत्तित्वमिति उद्घोषिताया अपि तस्या परकीय-  
रतौ साक्षान्मज्जिकर्तृत्वामम्भयो दोषमत्ताऽपि स्वविषयवृत्तित्वादित्य सम्बन्धोऽस्त्येव ।  
तथाच स्मृतिपर्यवमिताया उद्बुद्धवासनाया सजातीयरत्यादिविरयोक्तत्वं स्वभाव इति  
निर्गलितोर्थः । परकीयरते स्वसामाजिकपरिणयेन ज्ञाने तत्र अमविषयत्वविषयेन इच्छाया  
अत्र दृष्टान्तत्वमपि साधु साङ्गते इति धर्मीनिर्दिष्टावधीयम् ।

जिकानां वासनया चर्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुः ।

न(१) तादस्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभि-

ऽप्यर्थस्य विषयोकरणमिच्छाया इव वासनाया अपि स्वभाव इति भावः । तथाच  
उक्तानुमानतुल्य<sup>१</sup>साक्षात्कार(२)विषयो रत्यादिरत्र मते रस इति निष्कर्षः ।

अस्मिन् श्रीशङ्कुक्रमते कारणान्तराधीनाया एव(३)वासनाद्वयप्रत्यासत्ते स्वीकारः, तस्या-

(१) तादस्य उदात्तानि, प्रकृते त्वप्रतीतेस्तुकार्प्यशमादीनामनुकूलं नदादीनां वा  
हस्तादिवननेऽनुपकारकतया रसस्तदस्य, तन्नापन्तादस्य तेषां । नदरामादिदृष्टिकृतेष्वेति तु  
फलितार्थः । न प्रतीयते इत्यादि । अस्य विवरणकारादिकृत व्याख्यायां बालबोधिण्या उद्दिष्टे—  
“न प्रतीयते मानुषीयते तदानीं शमादीनामनामनेन तद्व्यापारस्यभावात्, असन् सत्त्वेनानुमान-  
प्रमाणाविषयत्वात् ; वस्तुनो रामागनया नदयस्तत्त्वेनानुमितयाऽपि रसस्य सामाजिकेऽप्रत्यासत्त्वमव-  
कारजननासम्भवात् । नोत्पद्यते न जन्यते विभावादीनां वास्तविकत्वाभावात् ; नाभिव्यज्यते  
न व्यञ्जयथा उपस्थाप्यते सिद्धयैव तत्पम्भवापत्तिः” । इति विवरणम् । “अभिधात इत्युप-  
कृतम् । लक्षणात् इत्यपि बोध्यम् ।” इति साखोधिनी । द्वितीयेन भव्येन । विभावादीति,  
अस्यसम्भवात्त्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्यादिति व्यक्तिविशेषादपरिहारेणोपस्थापन साधारणी-  
करणम्, सदात्मना । “भाव्यमात्र साधारणीक्रियमाणः । सखोद्वेकेत्यादि, सख गुणव्योद्वेकेन  
रजस्तमसी अभिमूयाविभारेण च प्रकाशः, न प्रवाचन्यास्मिन् सखि ज्ञानम्, तस्य विभ्रान्ति  
शेषान्तरसम्पर्कराहित्येनावस्थानम्” इति विवरणम् । नोत्पद्यते इति । अत्र सामाजिकप्रतीति-  
विषयताऽऽवत्ररामादिरत्यादी रस इति सिद्धान्ते विशेषणीभूताया प्रतीते कारण सामाजिका,  
विशेषणीभूताया रते कारणञ्च रामादिरिति विशिष्टस्य कारणस्य न कुत्रापि सम्भवतीति  
कारणासम्भव एव रमानुपपत्तिवीक्षणमुन्नेयम् ।

(२) साक्षात्कार इति । प्रदीपकारास्तु श्रीशङ्कुक्रमते रत्यादेस्तुमावातिरिति साक्षात्कार  
नाम्युक्तकठिणः । तथाहि “सख चातुमिति सखमतकारप्रतीतिरूपा चर्चना, अतस्तस्या विषयी-  
क्रियमाण स्यामी रस इत्युच्यते । चर्चना च सामाजिकानामिति तेष्वेव रस इति व्यवहारः”  
इति । अत एव तैत्रत्र मते दूषणमप्युक्तम्—“श्रुद्वयद्वयग्राहि यस्त प्रत्यक्षमेव ज्ञान सखमतकार  
मानुषित्यादिरिति लोकेप्रसिद्धिमवभूयान्यथा कल्पने गमनाभावः ; सूत्र्यान्ययैव योत्रन-  
सम्भवात्” इति ।

(३) वासनाद्वयप्रत्यासत्ते स्वीकृत इति । अत्र वासना यदि ज्ञानविशेषस्तदा तस्या  
ज्ञानलक्षणसन्निकर्षत्वं निर्विवादम्, रत्यादिविशिष्टे सामाजिके सत्या- न्यतेरावश्यकत्वेन



व्यज्यते<sup>(A)</sup>, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकृत्व्यापारेण भाव्यमानः

अनुमानादुद्घात इति गौरव<sup>(B)</sup> परिहरता भट्टनायकस्य मतादह—न तादृश्येनेति । अत्र मने भावकृत्वाख्य एको व्यापार सामाजिके कायेन नाट्येन च अन्यते, तत्र च प्रत्यक्षस्या रामादिरत्यादिसाक्षात्कार इति निष्कर्षः । भट्टलोहट्टमते एकोयस्य रत्यादेर्यद्वयया बोधः तत्र च स्वावृत्तित्वमानमर्थमिदम्, तत्रिरस्यति<sup>१</sup> न तादृश्येनेति न स्यावृत्तित्वेनेत्यर्थः । अत्र च 'स्वावृत्तित्वपर्यगसानमपि निरस्यति—नात्मगतत्वेनेति, रसाऽत्र रत्यादि प्रतीतस्यैव रसत्वात् । रामादिरत्यादौ स्वीयत्वमस्वीयत्वञ्च न गृह्यते<sup>(C)</sup> इत्यर्थः । काव्यनाट्यज्ञानं विनैव मीतव्यं रामादिरत्याद्यनुपपत्तेरुक्त्यादाह<sup>(B)</sup> नोत्पद्यत इति काव्यनाट्याभ्यां नात्पद्यते इत्यर्थः, ताभ्यामेव

तदनुपपत्तिकल्पनागौरवमपि नास्ति, तस्या भावनाख्यसंस्कारस्यत्वे च अनुमानादुद्घाते सति स्मृतिरवश्यमङ्गीकार्या, एवञ्च वृत्तयेऽपि स एव दोष इति किमतेन सम्बंधेन पक्षार्थान्तराभावात्, एवञ्च प्रत्यावृत्तित्वभेदमयोर्दोषोक्ततास्यैव वा कल्पः दोषः प्रदर्शित इत्यनुमानेयम् ।

(A) नाभिव्यज्यत इति अयमभिप्रायः—भट्टेनवादिमते प्रतिभाभिमित्वाविशिष्टायां छन्दःशुक्तिरजतादीनां ज्ञानागोचरावस्थयाऽभिव्यज्यत यथा नाङ्गीक्रियते तथा प्रसीयमानादशायामेव रत्यादीनां रसत्वमङ्गीकुर्वन्निष्ठारिकैरपि रसानां ज्ञानागोचरावस्थया सत्त्वं नाङ्गीक्रियते । व्यवहृत्यन्तु पूर्वं प्रमिदस्यैव कल्पः—यथा अभिकारे स्थितो घटयदि प्रदीपनं व्यज्यते इति । एवञ्च ज्ञातातावत्प्रथमं सत्त्वरूपस्य व्यवहृत्यन्तुनियतपक्षमन्वाभावादु रसस्य व्यवहृत्यन्तुमपि गोचरयते इति । ज्ञातवताऽपि भट्टनायकमतस्य भट्टलोहट्टमतद्वैतस्य बोधाय ।

(B) गौरवमिति । इत्युपलक्षणम्, परोक्षज्ञानस्याहार्थतामनुपपत्तेरने रामत्ववापनिश्चयसत्त्वं न अयं राम इति ने रामत्वायगाहिनी अनुमितिरिव न सम्भवतीत्यपि दोषो द्रष्टव्यः ।

(C) न गृह्यत इति । अयमभावः—भट्टलोहट्टमते राम सीताविषयकरनिमानित्याकारको दाशविधिविशेषको रसानुभवः, श्रीसङ्कमते च अयं सीताविषयकरनिमानित्याकारको नटविशेषकः, उक्तमतद्वये परान्तरायां रते सामाजिकवृत्तित्वाभावेन प्रत्यक्षरूपतो दोषः, रसानुभवस्यानुमिति रूपत्वे चमत्कारित्वानुपपत्तिश्च साक्षात्कारस्यैव चमत्कारित्वानुभवात् । उक्तदोषेण रत्यादि सामाजिकवृत्तित्वैव रसानुभवविषय इत्युक्तौ संभ्यानां वीडाऽस्तद्व्यापार इति रसानुभवे स्थावि-

१ 'साहित्यरूपीदोषोऽनेन तादृश्यत्वं न साधनमेतत् ' २ 'अविवक्षितपक्षपरवादः' क्ष ।

स्थापी सत्त्वोद्वेकप्रकाशानन्दमयसंविद्धिश्रान्तिसत्त्वेन भोगेन  
(<sup>१</sup>)मुज्यते इति भट्टनायकः(<sup>२</sup>) !

तदुत्पत्तिरिति समनिरसार्थमिदमुक्तम्, न तु तदुत्पत्तिरेव नास्त्येत्यर्थः प्रमाणसिद्ध्या-  
स्तदुत्पत्तेर्दुर्लभ्यत्वात् । मट्टोल्लुप्तमृतोक्तं तस्याभिप्रेत्यङ्गत्वमपि निरस्यति—नाभि-  
ध्यज्यत इति । तर्हि त्वया कीदृशमुच्यते इत्यत्राह—अपि तु इति । काव्ये नाट्ये  
व हाते सति पुरुषे जायमानेन भावकत्वाख्यव्यापारेण भाव्यमानः सन्निधाय-

भावमात्रं विषयो न तु तदावकत्वा, अनुकार्यार्थकत्वं सन्त्येव कश्चिदपि । एतेन पूर्वोक्तमतद्वयापेक्षया  
भट्टनायकमते विशेष स्पष्ट एवेति ।

(A) भोगेनेति । अस्य भावकत्वव्यापारेणेत्यर्थः, तादृशव्यापारस्वीकारप्रयोजनानु-  
भाक्त्वासाधारणमद्वो विषयभक्तविरिक्तकाश्च । व्यक्तीभविष्यति चेदमुपरिष्ठात् । एवं मुज्यत इत्यत्र  
भोगः सत्त्वोद्वेकात् प्रकाशमानानन्दस्वरूपस्य स्वाविभाषविभाषाद्यतिरिक्तालम्बनशून्या लौकिक-  
दृष्टानुभवविलक्षण सविदिति प्रदीपोदुद्योतयो स्पष्टम् ।

(B) भट्टनायक इति । प्रदीपकारास्तु—आद्यो पक्षो सदोपलब्धेव भट्टनायकमतेष्व  
'विभाषादिभिः संयोगाद् भोग्यभोजकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिः' इति भरतसूत्रं  
व्याख्याय 'न च भोगपक्षेऽपि दोषावकाशः भोग्यत्वालौकिकत्वात्, तदाभ्यन्यनिष्ठः' स्थायी  
अन्यनिष्ठैरेव विभाषादिभिः कथमन्वेन भोज्य, अनिप्रसङ्गादिति चेत् उच्यते,—शब्दात्मन  
काव्यान्व प्रबो व्यापारा—अभिधा भावकत्वं भोजकत्वञ्च । सन्निधाय निरन्तरसाम्प्रसार्य-  
मिदत्वेन दिधा । भावकत्वं साधारणीकरणम्, तेन हि व्यापारेण विभाषाद्य स्थायी च  
साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणब्रतेदेव यत् सौतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोप-  
स्थितिः, स्वाप्यनुभावादीनाञ्च सन्निधिविशेषानवच्छिन्नत्वेन । अन्त्यं व्यापाराद्य नाट्ये-  
ऽपि । एव काव्ये नाट्ये च द्वितीयव्यापारेण साधारणीकृतैर्विभाषादिभिर्नृतीयव्यापारसङ्घटित्येन  
तदाकृत एव स्थायी मुज्यते इति सन्मतं च विदुष्य सत्र 'तत्रपि न सम्भङ्गः, एतादृशव्यापार-  
इषकल्पने प्रमाणाभावात्, मुक्तैर्ज्ञातिरिक्तानुभवशचित्त्वेन निष्पीड्यमानस्य वास्य अभि-  
व्यक्तिरस एव पर्यवसानादिति दोषं ब्रुवन्ति । तत्रेदं विन्यते, 'विभाषनादिव्यापारवत्त्वा'-  
दित्यनेन प्राप्तो विभाषादिमात्राणीकण्यां व्यापारविशेष मिदान्तपक्षेऽप्यत्ररवक इति भट्ट-  
नायकमते भावकत्वव्यापारकल्पनाया विप्रमाणकत्वकथनममङ्गतमिति । स्वसङ्गाप्रकारास्तु—  
एतन्मतमुच्यते "मत्त्ववैतल्य पूर्वस्यान्मतर ( आचार्याभिप्रेत्युत्पादमतरात् ) भावकत्व-  
व्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः ; भोग्यन्तु व्यकिर्भोगकत्वन्तु व्यक्तुनादिविशिष्ट"मिति ब्रुवन्ति ।

पयन्तु—यथा वेदान्तमते अविभाषा विद्वेषावपत्तयः कश्चिद्वयम्, एवम् एतन्मतेऽपि विभाषादीनां

मान(४) सन् रत्यादि 'भोगेन' साक्षात्कारेण 'भुज्यते' विन्ययीक्रियते इत्यर्थः ।  
इदंशब्द साक्षात्कारः स्वप्नकाशानन्दमयो नियमनिष्ठ सन्नेन स्वरस इत्यग्रे स्फुटी-  
भविष्यति । रत्यादिः कीदृशः ? 'स्थाधी' काव्यनाट्येन विनापि रामादौ स्थातमान्  
स्थायिपरिभाषितो वा । भावकत्वव्यापारेण कीदृशेन ? 'अभिधातो(५) द्वितीयेन',  
विधिराम्यस्थलिङ्जन्य (०)पुरुषनिष्ठ 'प्रसक्तव्यापारोऽभिधा तत्तुल्यकक्षेण ।  
वास्यजन्यत्वेन पुरुषनिष्ठत्वेन च तत्तुल्यकक्षता । तदुक्तम्—

भावकत्वं भोजकत्वमेति व्यापारद्वयम्, तयोराद्येन चित्तवशा अपि सीतापालम्बनकामादि-  
रत्यादयो लक्षातन्तु-भावेन सामाजिकानामन्तःकरणे पुनराविर्भाव्यन्ते, सन्काप्यवादिना मते  
कारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थान्त्यैव नाशपर्यायतया नष्टाना पुनरुद्भवो नानुपपन्नः, तामामेव रत्यादि-  
व्यतीर्णां पुनरुद्भवासम्भवेऽपि तद्दीव्यवस्थापनाविशेषापीना सामाजिकानां स्वनायिकादि-  
विषयस्वादिविशिष्टा रत्यादयस्तेषामन्तःकरणे आविर्भवन्तीत्यभ्युपगम्यत्वं तत्रैव च भावकत्व-  
व्यापारस्य सामर्थ्यम् । तत्वादीनां चित्तवृत्तिविशेषाया साक्षिभावस्यत्वेऽपि सात्विकस्य कृष्णादि-  
द्वैतप्रतिकूलितवृत्तिरक्षणरसमन्वयेन भोजकत्वव्यापारेण कृतावर्णविशेषभेदेन इतरल-  
साक्षात्कारविश्लेषण उक्त्य प्रकाशो भवतीति भोजकत्वव्यापारेऽपि सफलः । एवञ्च पतन्मते  
रत्यादीनां पञ्चातये भवत्युत्पात स्वगतत्वे मीमांसापवित्र्यादि दूषणं निरवकाशम् । वृत्ति-  
गतस्य विश्रान्तिमतरयेत्यन्तम् अभेदेन भुगभावत्वं अन्वित्र वेदितव्यम् । मीमांसाशास्त्र-  
प्रसिद्धभावनार्थकामिधादि-साक्षिष्याद भाव्यमान इत्यत्र उत्पाद्यमान इत्यर्थपरिग्रहस्यैवित्येऽपि  
प्रकृते तन्ममभवाद उक्त्यतिदार्ढ्यैव अतन्मते आविर्भावरूपतया धर्माभ्युपार्थोऽपि कथञ्चिद  
गृहीतो भवतीति भट्टनायकमतं तत्कृतप्रमाणबलोकनविमूढधियो वृत्तिव्यपदेशकारणा अधिपा-  
मालोचनायमुपन्यस्यामः ।

(४) सन्निभाप्यमान इति । आन्यमान इत्यस्य मीमांसक्यतानुसारेणोत्पाद्यमान इत्यर्थकत्वे  
तन्मते नष्टस्य रामादिरत्यादेरुत्पत्त्यसम्भवाद्वाप इत्यतो व्यक्तये—सन्निभाप्यमान इति, सन्निष्ठ  
क्रियमाण इति तदर्थः । एतेन वाकीपरत्यादेः सामाजिकैः साक्षात्कारे हेतुरन ।

(५) अभिधात इति । अत्राभिधापदं सातबोधिनीकामते शान्तिप्रश्नोपपत्तिरिति 'अभिधात  
इत्युपपत्तयाम्, लक्षणात इत्यपि बोध्य' इति बाळबोधिनीरामानन्दभेन स्पष्टमथाम्यते । "तत्राभिधा  
निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधे" स्तुक्तवर्गां प्रदीपकाराणामपि स एव पक्ष इति प्रणिमतिः ।

(०) पुरुषनिष्ठ इति लौकिकवाक्याभिप्रायेण, डिटादिचटितवाक्यप्रयोगोत्पुरुषनिष्ठेत्यर्थः ।  
अर्थात्पेक्षेयवद्वाक्यस्थले ॥ लिङ्निष्ठेति विशेषः । केचित्तु सर्वत्रैव शब्दभावनां लिङ्निष्ठां  
वदन्ति । अनुवर्गं व्यधीमविष्यति धैतत् सर्वम् ।

(A) लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्या पुण्यप्रवृत्तिः ।

सम्बन्धबोधः करणं तदीय प्ररोचना चाद्वैतयोगयुज्यते ॥ इति ।

लिङ्जन्या अभिधेत्यर्थः । पुण्यप्रवृत्तिस्तस्या भाव्या जन्येत्यर्थः । मिथेण तु लिङ्-  
निष्ठैव अभिधेति व्याख्यातम्, तच्च नैयां सम्मतम् । पुनः कीदृशेन भावकत्व-  
व्यापारेण ? 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना' रामादिस्मन्बन्धिनां सीतादिविभावादीनां  
सामाजिकरूपमाद्युभयसम्बन्धित्वरूपं (B) साधारण्य (C) 'दर्शयता, सीता रामस्य  
मम चेत्याह्वार्यज्ञान सामाजिकानां जनयतेत्यर्थः । भावकत्वव्यापारस्य इदमधिकं  
सामर्थ्यमनेनोक्तम् । तदुक्तं वर्णनेऽपि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।

तदास्यादे विभावादे परिच्छेदो न जायते ॥ इति ।

(A) लिङ इति । प्रपञ्चितोऽयमर्थोऽयं सपदे लौगाक्षिमास्करेण—“भावना नाम भवि-  
र्भवनादुद्भूतो भावयितुंवांसारविशेषः । सा द्विधा—शब्दी सत्त्वना आर्या भावना चेति । तत्र  
पुण्यप्रवृत्त्युद्भूतो भावयितुंवांसारविशेषः शास्त्री भावना । सा च लिङ्गोद्बोधने, लिङ्गवशे  
भवेत् भा प्रवर्धयति मद्यप्रवृत्त्युद्भूतव्यापारवात् (वा भयम्) इति नियमेन प्रतीते । यद्  
यत्नाच्छब्दात्रिपमत् प्रतीयते तत् तस्य बाध्यम्, यथा—यमानयेत्यन्विन् बाधये गोराश्वस्य  
गोत्वम् । ॥ च व्यापारो लौकिकवाक्ये पुण्यनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः, वैदिकवाक्ये तु पुण्याभावा-  
लिङ्गादिशब्दनिष्ठ एव । अत एव शास्त्री भावनेति व्यवहियते । सा च भावना भवन्नय-  
मपेक्षते—बाध्यम्, साधनम्, इति कर्तव्यता च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति ।  
तत्र साध्याकाङ्क्षायाः कथ्यमाणाशक्योपेता आर्या भावना साध्यत्वेनान्वेष्टि, एकप्रत्ययगम्यत्वेन  
समानाभिधानध्रुते, संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वाच्च साध्यत्वेनाम्बय । साधना-  
काङ्क्षायाः लिङ्गादिशानं करणत्वेनान्वेति । तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि  
साम्या शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन, शब्दभावनाभाष्यनिर्वर्तकत्वेन वा । इति-  
कर्तव्यताऽऽकाङ्क्षायामर्थबाधज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति” इति ।

(B) उभयसम्बन्धित्वरूपमिति । एवं च ‘रामादिरत्वादी स्वीयत्वमस्वीयत्व च न  
गृह्यते’ इत्युक्तम्, अत्र तु स्थायिभावविज्ञाना विभावादीनामेव उभयसम्बन्धितया ज्ञानमित्युक्त-  
मत्रो न विरोधः । प्रदीपकारादिमम्मर्मे साधारण्यन्तु गृह्णावक इति वृत्तिप्रत्यतिपन्न्या व्यक्ती-  
कृतम् ।

(C) दर्शयतेति । अतः परमाग्नौपुष्पते दृश्यमान ‘इत्यर्थः’ इत्यत्रो देवकप्रमादेनापतित  
इति परित्यक्तः ।

लोके प्रमदादिभिः स्याप्यनुमानेऽभ्यासपादवचनां (A) काव्ये नाट्ये च तैरेव 'कारणादिभिः' कारणत्वादिपरिहारेण (B) विभावनादि-

परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्येवेत्यादिरर्थं तदेवामयसाधारण्यपर्यवसानात् । भोगेन कोट्येन ? 'सत्यस्य' सत्वगुणस्य 'उद्वेकेण' गुणान्तर विराघायाभिभिधेन या 'प्रकाशानन्दमयो' स्वप्रकाशानन्दरूप 'सन्नि' शान तस्या 'मिग्नन्ति' सत्ता पृथुमिहित-भावात्वेन विधान्ता वर्तमाना सन्निदित्यर्थः, 'तत्सतत्त्वेन' तत्स्वरूपेण । तस्यमतत्त्वया पर्यायो यथा—

'फेगलमपि एलडकन इहतिररा मानस सतस्रविशम्' ।

इति विरोधालङ्कारोदाहरणे, तत्त्वविश्वमित्यर्थः ।

अनया धीगङ्गुलभट्टनायकमतया रत्यादिसाक्षत्कारापमलौकिकानुसृतप्रत्यासत्ति-

(A) काव्ये नाट्ये चेति । अग्रमात्र — प्रमदादिसाक्षत्कारादीनां वस्तुना स्वस्वरूपतां न विभाषादिशब्दव्यपदेश्यत्वं न वा विभावनादिन्यापारवत्तम्, किन्तु कविशाक्यतन्त्रशास्त्रोद्य-विषयताऽऽपन्नानामेव, तथाच साक्षात्प्रमदादिज्ञानानामेव विभावनादिन्यापार स्वविषयप्रमदादि-न्यापारत्वमत्र चिन्तनानां सीतादीनां तदन्वयवाच्यं, अन्यथा स्वस्वरूपतां तेषां प्रत्यक्षतो दृष्टानां वा तत्तद्व्यापारव्यपदेशो प्रवर्ज्यते । नाट्य इत्यनेन च शब्दव्यपदेश्यत्वं शून्यवत्त्वविज्र(वाप्यकोप)शान-विषयानामपि सैवा साक्षात्न्यापारव्यपदेशयो सम्भव प्रतिपादितः, तेन अभिनयस्थले कवि-शाक्यानामावश्यकत्वेन पृथक्नवा वाक्यपदोपादानमप्यन्वितासाक्षात्वा नावश्यकम् । अत्र एव तत्तद्व्यापारव्यपदेशोऽसम्भवेऽपि सम्भवान्वित्वातिवारकतया शब्दपदोपादानमपि सार्यकमिति ।

(B) विभावनादित्यादि । "विभावनादिन्यापार साधारणरिक्तम्, तच्च सीतानिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्यनोक्तस्यति स्याप्यनुमानादीनाञ्च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन । अमेवैते शत्रोरेवैते तदन्वयवैते इति सम्बन्धिविशेषास्वीकारनियमस्य, न अमेवैते न शत्रोरेवैते न तदन्वयवैते इति सम्बन्धिविशेषातिहारनियमस्य बाह्यानाम्न साधारण्येन प्रतीते । साधारण्येन प्रतीतिश्च न सर्वसम्बन्धितया प्रतीतिः, किन्तु सम्बन्धिविशेषीयस्येता प्रतीतौ प्रतीतिः । यद्वा अमुकस्यैवैते इत्यवधारणं विना अमुकस्यैवैते प्रतीतिः । अत्र पृथगेकम्— 'अमेवैते' इति नियमानवसायादिति । तथाच स्वीकृताससर्गाग्रहात् स्वीकृतससर्गाग्रहप्रयोजनं सम्पद्यते" इति प्रदीपे स्पष्टम् ।

साधारणीकरणस्य विभावनादिशब्दव्यपदेश्यत्वे व्युत्पत्तिश्च सीतादौ स्वविषयताभिन्नत्व-

व्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः<sup>(१)</sup> ममैवैते, शत्रो-  
रेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति  
सम्यग्निविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतै-  
रभिध्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मनया स्थितः स्थायी 'रत्यादिः

कल्पनागौरवं<sup>(२)</sup> परिहरतेऽभिनवगुणाचार्यस्य मतं स्वाभिमतमाह—लोके इति ।  
अत्र मते प्रथमं काव्यतो नष्ट्यतो वा विभावादिज्ञाने सति रामोऽहं सीतादिष्व-  
रतिमानित्वाकारकं स्वस्मिन् सीतादिष्विष्यरतिमद्रामाभेदरोप भावार्थो न्यूनतया  
जायते, स च स्वस्मिन् रामादिरतिमक्षां साक्षात् नावगाहते, किन्तु स्वनिष्ठे  
वासनारूपगुणविशेषे तदीय वासनात्ममिदन्वञ्जगृहानस्तत्र 'रामरतित्वारोपरूप एव

रूपेण विशेषेण भाव्यन्तेऽनेनेति विभावनम्, एवं सीतादीनां कामिनीत्वादिरूपेणोपस्थिते पञ्चाद  
भूषेपादय स्वात्मवृत्तितया भाव्यन्तेऽनेनेति अनुभावनम्, एवं स्वीयवत्त्वाद्यनुकूलारूपेण  
विशेषेण अभितप्तार्थान्तेऽनेनेति स्वविचारणमिति । एतादृशेन साधारणीकरणेन रामादि-  
रत्यादिभिन्नत्वेन गृहीता स्वप्रेयसीविषयकस्यामात्रित्वादय एव स्वप्रकाशानन्दरूपा रसपद्मी-  
मधिगच्छन्तीति सिद्धान्तपक्षस्य निष्कर्षः । एतादृशाभेकादत्र मिथ्याज्ञानरूपं साधारणी-  
करणरूपेण दोषेणोत्पादितं इति न प्रमस्य दोषग्रन्थत्वनियमव्याप्यात् । रसानुभवस्य प्रमात्वन्तु  
तादृशाभेदपक्षे चिन्तयेते न वेदलम्बीयते साक्षात्कारो न्यायनये स्वाभिन्नत्वेनेवोपासनाया  
स्वात्मसाक्षात्कारादित्युपगम्य सम्प्राप्तीयमित्यलमपि नैव ।

(४) ममैवैते इत्यादि । अत्रान्यत्वेन सामाजिका परावृण्यन्ते । एवञ्च यदि सीतादि-  
विभावादीनां स्वीयत्वे सामाजिकायां द्विधाघापविशेषस्तदा शत्रोरेवैतार्यं ते सामाजिकानां शत्रु-  
सम्यग्निधन इति वक्तव्यम्, तथाच शत्रूणां ह्यजादयो न स्वसुखप्रतिबन्धका प्रत्युत तदुत्कर्षका एवे-  
त्याह—शत्रोरेवैते इति । मन्वेवमपि शत्रुलोविषया मम रतिरित्यनुसन्धानेन सामाजिकानामधर्म-  
मयाघापतिरस्तदुभयपरिहारावश्यकत्वेन शरितेष्व्यादाह—तटस्थस्यैवेति । तथाच सर्वं एव पक्ष  
तदोषः । एवं न ममैव इत्यादिशब्दत्रयेऽपि दोषा लङ्घनीयाः । तत्र प्रथमनिषेधो द्वितीयादि-  
विधाने पर्यवस्यतीति विशेषः । कामिनीत्वादिमात्रान्वेषोपस्थितौ च स्वप्रेयस्यादिरूपेण  
भावनायां बाधकविरहाच्च दोष इति विभावनीयम् ।

(५) गौरवमिति, आलोचितमिदं प्राक् (१०४) ।

१ 'रत्यादिक' इति मुद्रितपाठः । २ 'त' परं क-मुसडे 'तुल्यविवक्षिततया सञ्चिन् रामादिरत्यादि-  
महामध्यवगाहते तद्यथा' इत्याद्योऽर्थिकः । ३ 'अधिकरणेन रामरतित्वादिका प्रकारेण तादृशावर्णां रामा-  
दिदृशावर्णां रजनत्वेन प्रकारेण भूतत्वं स्ववर्तित्वप्राप्तीषी भूतत्वे रतिव्याप्तिर' च ।

स्यादये सामाजिके रतित्यादिना व्यधिकरणेन प्रकारेण यामनायत्तां रामाभेदञ्च  
गृह्णाति चक्षुःमनिरुपय्यां शुक्लो तदीय शुक्तित्वमिवन्त्वञ्चागृह्णातो भूतलं  
रजतवदित्यारोप इ०\* ततस्तत्समानाकारः सात्त्वानुकार इति निष्कर्षः (A) ।  
पुनश्च व्यञ्जनया रत्याद्युपनयः संयुक्तसमयायेन च व्यधिकरणरतित्यादिप्रकारको  
(B) यासनासात्त्वानुकार आत्मविशेषक इति न प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनागौरव-  
मिति सिद्धान्ताभिप्रायः ।

लोके इति, लोके संसारे प्रमदादिभिः कारणादिभिः स्यायिनो रत्यादेरनु-  
माने येऽभ्यासपादयस्तस्तेषां सामाजिकानां यासनात्मतया स्थितः अर्थात्  
कश्चिद् शुण्यविशेषः स पञ्च 'स्यायी' 'रत्यादि' 'अमित्र्यक' रामादिरत्यादि-  
स्यायिभाषाभिप्रायेण व्यञ्जनया 'प्रतिपादितः सन्'० 'प्रमात्रा' 'दर्शिताकात्मया  
साधारण्येन (C) भावरीकृतः सन् रस इत्यन्वयः । प्रमातृपदमथ भावप्रधाननिर्देशान्  
प्रमातृत्वरूपप्रमाणपर 'न पुनः प्रमातृपुरुषपरम्, स्वकार इयमिन्द्रोऽपीत्यप्रे स्यामिन्द्रत्व-  
रूपरत्यादिशेषेणानुपपत्तेः पुरुषमिन्द्रधामायाः रत्यादेः, स्याकारत्यादेः (D) ज्ञानस्थानाकारो

(A) निष्कर्षः इति । तथाच पूर्वोक्तमतेषु सामाजिके प्रतीतो रामादिरत्यादिभिरस्य,  
एतन्मते तु रामादिरत्यादिभिप्रायेण श्रुतीनां सामाजिकभावरूपेण स इति मताणां परस्परविरोधः  
स्युतः । प्रतीत्युपायगतविशेषकान् टीकायामग्रे च व्यतीतविधायि ।

(B) यासनेति । अत्र यामना यदि भावनालक्षणस्कारस्तदा तन्वातीन्द्रियत्वेन साक्षात्-  
कारानुगतितरत टीकाकृता इत्याद्यनन्तानुभवाया रतित्वेन स्वीकारान् तदीयधारान्त-  
पानित्यविशिष्टेष्वप्यस्या एव वा यामनात्वमुक्तमित्यवश्यम् ।

(C) साधारण्येनेति । अत्र यं 'स्वयामनायां रामरस्यपेक्षारोसारमकेन (क-मुक्तके तु  
रामरत्यादित्यारोपरूपेण) रामादिरत्यादिन्वययामनासाधारण्येन' इत्यत्र आदर्शपुस्तकेऽधिको  
ह्यपत्तेः, स तु पुनरभिप्रायेण टिपिकृतप्रमादकृत इति बुद्ध्या परित्यक्तः ।

(D) स्वाकारवाद इति । योद्धविशेषा हि बाह्यं बन्धुजातमेकान्ततोऽन्यन्मुक्तपुस्तके पद-  
पदादिपुन्या ज्ञानम्येवाकाशविशेषा ज्ञानेन विपरीतमन्त इति वदन्तीति ते स्वाकारवादिन-  
स्तन्मतस्य स्वाकारवाद इत्युच्यते । तदुक्तं—'न हि विधित्तयेव ह्येदया युता, तस्या तत्त्वज्ञा-

१ 'रत्यादिकारणादिभिः' ख. ग. २ 'प्रतीयते इत्यर्थे तादृशं च' ख. ३ 'रामोऽहं योता  
विपश्यति' इति मतिः स्वयमाद्येन ज्ञानलभ्यावाकाशया साक्षात्काररूपेण प्रमदा' ख. ग. ४ 'प्रमातृपुरुषपरमे  
तु स्वाकार इयमिन्द्रोऽपीत्यप्रे' यस्यापि मतेनामिष्यत्यस्य मुच्यविशेषस्य विज्ञेयत्वमुपपन्नं स्यात् ननु  
पुनरभिप्रायमात्रान् वाचनान्मुच्यविशेषस्य, अत्रापिदस्य उक्तवाचनान्मते मुच्यविशेषस्य अथपेक्षे परित्यागवादि  
विषयस्य ज्ञानरूपतया परिचायकत्वं तदुक्तत्वात्तदुक्तं ख. ।





कुत्र इत्याह—व्यापारोऽस्तीत्यादि, 'साधारणीकृति' हनूमदादिनाथकृत्मात्रिकृत्यारम्भे  
बोधात्मकसाधारण्यकारक, तत्प्रभावेणेत्यर्थः<sup>१</sup> । तथा 'रत्याद्यभेदारोप' स्वरासनाया-  
मित्यप्याह तत्रैव<sup>२</sup> ।

साधारण्येन(A) रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते । इति

यासनायतामैव तदा<sup>३</sup> रत्याद्यारोपादास्यादा 'भयतीत्यप्याह तत्रैव—

सरासनाना सभ्यानां रसस्यास्त्वाद्यं भवेत् ।

निर्यासनास्तु रङ्गान्तकाष्टकुल्यागमसन्निभा ॥ इति

कारणादिभिरित्यादिपक्षे कार्यसहकारिणारपि परिग्रहः । तै कीदृशी ? काये  
नाट्ये च 'कारणत्वादिपरिहारण' कारणादिनञ्चत्यफेत्स्यत्यपरिहारण 'अनौकिक  
विभागादिगण्यग्रहाय' , सादृश्याग्रहारहेतु यस्माद्यमाह—विभागादीति ।  
भाष्याद्वर्णाक्षररूपेण विशेषेण भाष्येण छापेन विभागेनम् परमनुभावेनम् अनुभव  
गायत्रीकरणम् व्यभिचारणं गीतचरूपेण विशेषेण व्यभिचारणं छापेनम्, 'दृग्-  
व्यापारव्याप्तित्यर्थः' । परतन्प्रदर्शनञ्च स्वरूपकथनमात्रं न तु रसाक्षररूपस्य उपपादा  
ऽस्तीति मन्तव्यम् । पुन कीदृशी ? 'साधारण्येन प्रतीते' सीतादिविभागादपि  
रामस्य भ्रम चेत्येवमुक्तमात्रारण्येन अहोर्ध्वप्रतीतिरित्यर्थः । (B) च साधारणी  
कृत्यात्मकव्यापारबलादिति(C) बाणम् तद्व्यापारारण्येन पदावृत्त्याधारण्य

कृत्यादपि भाषिणा राक्षसादिनिवृत्त्यर्थम्, प्रमादा सामाजिक तन्मद्वत्समाभवेन स्वामानं  
स्वम्' इति ।

(A) 'साधारण्येन' इत्यवयवव्यतिरिक्त्यन एकतरमात्रावयवव्यतिरिक्त्येवति तु कश्चित् ।  
अन्य 'स्ववामनामामानादिकरण्येन' इत्यर्थं क-युक्तत्वा इत्यतः, स य दीकापाड टिप्पणीति  
प्रतिभानि ।

(B) "तच्च" विभागादीनामुभयमाचारण्येनाद्वयप्रतीत्यञ्च इत्यर्थः, अत्र स युक्तक-  
पादो गृहीतः ।

(C) व्यापारकालमिति । अत्र पर क-युक्तत्वा 'रामाद्यभेदापकल्पन' इत्यादि इत्यतः  
॥ ॥ पञ्चवाक्यस्यैव व्याख्यातव्या टिप्पणीति प्रतिभानि रामाद्यभेदापकल्पनाया मायाणी  
करणान्तरस्य टीकाकृतामुक्तवानिति ।

१ स धारणीकृति साधारण्येन हनूमन्निनायकानदार वयाधारण्येनोक्तिस्तु, तत्प्रमाणं दाह्यस  
व्यापारण्य प्रभावेणेत्यर्थः । तत्रच चतुर्वाहानिमुद्राणि इत्यादि च । २ 'स्व वनायां राक्षानिनिवारणेण  
पञ्चकदम्बेन यथा' च । ३ 'रतिवन्तपान्' च । ४ 'अनेकित्याह' च ।

नियन्त्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायवलात् तत्काल-  
विगलितपरिमितप्रमातृभावबशोन्मिषिनेवान्तरसम्पर्कशून्यापरि-

स्यापि सिद्धेः । दर्शितमिदं साधारण्यं परिशेषेण <sup>१</sup>पर्यापयति—ममैवेति इत्यादि ।  
शत्रुपदम् आलम्बनविभावशत्रुभूतस्यायिमवाधयनायकपदम्, स न रौद्रवीरभयानक-  
'रस एव नायकपद' <sup>२</sup> 'कुदस्व नायकस्य कोषालम्बनविभावशत्रुत्वात्, जेतुर्नायक-  
वीरस्योत्साहालम्बनयूनज्जेतव्यशत्रुत्वात्, भीतस्य नायकस्य मयावलम्बनभूतभीयक-  
शत्रुत्वात्' <sup>३</sup> । 'तदस्यपदन्तु' <sup>४</sup> 'तादृशशत्रुन्धोदासोनपडरसोयशत्रुतायकपदम्' <sup>५</sup> ।  
तथाच शत्रुतदस्यपदभ्यां नयरस्मिन्नयनायकत्वात् (A) बोध्या । ममैवेत्यत्र मत्पदं  
रसबोधसामाजिकपरम् । तथाच एते 'सीतादयो ममैवेति' <sup>६</sup> रामादिनायकस्यैवेति च  
य' सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण स्वीकारः, यच्च नैव ममेति नैव रामादिनायक-  
स्येति सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण परिहारः, नियमेन तद्व्यवसायादित्यर्थः ।  
एवञ्च उभयीयत्वरूप साधारण्यं पर्याप्तस्यति । न ममैवेत्यत्र नैव मम इत्येवमेव-  
कारयोजनानावे 'ममैव' 'न शत्रोरेव' इत्यनयोरेकार्थतापत्तिः स्यात्, पूर्वत्र एव-  
कारेण परञ्च य नञा शत्रुगीयत्वस्यैव व्यपच्छेदान् । ईदृश साधारण्यं विभावादीना-  
मुक्तं दर्शयति—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।

तदाभ्यादे विभावादे परिच्छेदो न जायते ॥ इति

( सा० व० ३५, )

(A) नवभाषका इति । इदमत्र विन्तनीयम्, श्रुतावीरसाली तत्पुत्रसाहायिण्यायि-  
भावाश्रयस्य रामाद्युन्मादेलाभसम्भवः, हास्यरसे तु हासस्वरूपाविभावत्वाश्रय सामाजिक एव,  
'आकुञ्च्य पाणिमशुचि'मित्यादौ विष्णुसम्मर्मा तथा चिकित्सासङ्कटाल्यवङ्गभाषाकाम्यनिदङ्ग-  
सारिणीसेनप्रनृतयस्तदगलम्बनमेव, तेषां हासाश्रयत्वकल्पना तु कथञ्चित् न सम्भवति,  
तदाश्रयतया कपोलुपमवागन्तु असत्त्वमिदं किञ्चित् किञ्चित् ।

१ 'दमयति' ख । २ 'रौद्रवीरभयानकपद' ख । ३ 'कुदो हि कोषरूपस्यायिभावालम्बनस्य  
व्यवशयः, रौद्रोऽपि चकारादृशस्याविभावालम्बनस्य व्यवशयः, भीतो हि भयव्यवकल्प भयव्यवसायिभावा-  
लम्बनस्य इति' ख । ४ 'तदस्यपदालम्बनविभावशत्रुभूतौदासीनस्याविभावशत्रुतायकपदं यं चान्य-  
पद्रवीयनायकपद' ख । ५ 'तादृशशत्रुन्धोदासोन तद्वत्' ख । ६ 'विभावादीनां ममैवेति' न ।  
७ 'विदये' इति मु-सा द० पाठः ।

मितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार  
इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्यमाणनैकप्राणो विभावादिजीविता-  
वधिः (A) पानकरसन्त्यायेन चर्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव

परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्येतिरित्यर्थः प्रागेव व्याख्यातः । अत एवात्र शत्रोरेवेत्येव-  
कारणमर्थत्वम् । रामादिरत्यादित्वेनाभिव्यक्तो वासनारूपगुणविशेषः कीदृशः ?  
नियतप्रामाता सामाजिकः तद्गुणत्वेन स्थिताऽपि उक्तप्रमारूपेण "प्रमाना", "साधा-  
रण्येन" रामादि-रत्याद्यभेदारोपरूपेण साधारण्येन, "गोचरीकृतः" । तादृशत्वेन गोचरी-  
करणे हेतुमाह—साधारण्योपायेति । उभयसम्बन्धित्वेन 'सीतादिज्ञान साधा-  
रण्योपायः' । व्यञ्जनाधीनज्ञानसमानाकारसाक्षात्कारप्रदर्शनमनेन कृतम् । तत्र च  
"साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते" इति सवादां निर्मितं पद्यम् । उक्तप्रमारूपेण  
प्रमाता कीदृशेन ? तत्काले तादृशप्रभोत्पत्तिकाले प्रमातुः स्वस्मिन् रामाद्यभेदा-  
रोपनशाद् विगलितः ज्ञानाग्निधीभूत परिमितप्रमातृभावो रामाग्निभिन्नत्वेन 'स्थमात्र-  
विषयोभायो यस्तद्वशेन अर्थान् तद्विगलनशयेन उन्मिषति जात वेदान्तरस्य 'घटादे-  
सम्पर्केण निययीभावेन शून्य अपरिमितभाय रतिरामनासाधारण्यरूपापरिच्छिन्न-  
भावो यस्य तादृशेन । स्वस्मिन् रामाद्यभेदारोपादेन स्ववासनाया रामादिरतित्वस्य  
रत्यभेदस्य या आरोपात् तद्वत्त्वम् । अनेन स्वस्मिन् रामाद्यभेदस्य स्थामनायां  
य रामादिरतित्वस्य रामादिरत्यभेदस्य वा आरोपो वर्तितः । ईयात् कस्यचित्  
तादृशज्ञानोत्पत्तयः न वस्तुसिद्धिरित्यतः सकलसामाजिकज्ञानमेव तादृशज्ञानरूप  
सत्ताव दर्शयति—सकलसहृदयेति । एकरु इणस्यापरत्र दर्शनं सवादः । तथाच  
तादृशसत्तावाद् वस्तुमिदं । वासनान्मतया स्थिता गुणविशेषः पुनः कीदृशः ?  
प्रदर्शिताकारकस्वज्ञानादभिन्नोऽपि तादृशज्ञानेन गोचरीकृतः । ज्ञानविषयोरेवेदकथनमत्र  
परिणामवादाभिप्रायेण इत्युक्तमेव । तत्रैव स्वाकारयादेन दृष्टान्तमाह—स्वाकार  
इवेति, विषयो ज्ञानादभिन्ना ज्ञानम्येवाकार इति तन्मिद्वान्तात्, तद्वदित्यर्थः ।

(A) पानकेति । 'सखन्' इति माया । तद्वत्त्वन्तु—अभिरुचा फलं पक्वं मर्दितं वारिण्य  
हृदम् । शङ्करामरिचैर्मिश्रं लवङ्गेनुत्तजामिनम् ॥ अभिरुकाण्यमम्भूतं पानकं वाननाशनम् ।  
पित्तशोथकरं किञ्चित् छद्म्यं बह्विबोधनम् ॥ इति (भावप्रकाशः, पूर्वखण्डे द्वितीयभागे)

१ 'नीलकारः छत्रः' न । २ 'रतः सवाचनप्रदाः' यः । ३ 'नीलादेगर्हायज्ञानः' कः यः ।

४ 'प्रमादः' यः । ५ 'घटादः' इति ७-पुनरुक्तत्वेन दृश्यते ।

प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मा-  
स्वादमिवानुभावयन् अलौकिक<sup>(A)</sup>चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

एवविधरस्ततापन्नां वासनात्मकगुणविशेष पुन कीदृशः ? चर्च्यमाणतैकप्राणः ;  
प्राणो हि रस्ता, चर्च्यमाणता च साक्षात्क्रियमाणता तद्वशायामेव रस्तापन्न इत्यर्थः ।  
अन्यथा तु 'रत्यादिभिन्न<sup>(B)</sup>वासनारूप<sup>१</sup> इत्यर्थः । शब्द विभावादिज्ञानं यावत्तिष्ठति  
भ्रनुभवमिदं तावदेव तत्तिष्ठतीत्याह—विभावादीति, विभावादिज्ञानजोविता-  
यधित्तिर्य<sup>२</sup> । उक्तप्रमाया ये सीतारामस्तद्वतिस्त्वयामनादयो विप्रयास्ते सर्व एव  
रस्तापन्ना चर्च्यमाणा भवन्तीत्याह—पानकेति, मरीचकपूरपादिरूपमिश्रिता  
आमिक्षा पानकम्, तदीयस्य नानाद्रवीयरसस्य चर्च्यमाणतातश्चायां यथा एवत्वाभिमान  
तथा नानाविधैतत्सर्वणायामप्येकत्वामिमान इत्यर्थः । तत्कारणीभूतज्ञानविषयस्य  
विभावादेरपि चर्चणागाचरत्यमाह वर्णयेऽपि—

प्रतीयमानं प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।

ततः सम्बलितं सत्त्वं विभावादि सचेतसाम् ।

प्रपाणकरमन्यायाश्चर्चमाणो रसो भवेत् ॥ इति ।

( सा. ६, ३ प )

एवं प्रपाणकलक्षणमपि तत्रैव—आन्नमामं जले म्वितं मर्दितं इदमणिना । मित्तादीनाम्बुमुप-  
कूर्पूरमरिचान्वितम् ॥ प्रपाणकमिदं ब्रह्म भीमसेनेन निर्मितम् । सखी रुचिका कथं शीघ्र-  
मिन्द्रियतर्पणम् ॥ अन्यानि च पानकलक्षणानि तत्र द्रष्टव्यानि । आमिश्रावटितलक्षणन्तु  
अन्यत्र सम्भवति दूरेत्यनुमन्वेयम् । रसानुभवे मुक्तिस्तु दृष्टान्तविधया नाट्यशास्त्रे  
—'यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसयोगाद् रसनिष्पत्तिर्भवति । यथाहि गुडानिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधि-  
भिश्च पादपादयो रसा निर्वर्तन्ते तथा नानाभाषोपगता अपि स्वातिनो भाषा रसत्वमाप्नुवन्ती'-  
त्याह । 'पादपादय इति लोकप्रसिद्धं परस्परविविक्तैर्व्यो मधुरतिक्तामृगद्वयक्षुद्रपापेभ्यो  
मिश्रेण्यत्र विलक्षणं पादवदाम्बुवाच्यं' इत्याद्याभ्यांभिनवगुणपादकृता व्याख्या ।

(A) चमत्कार इति चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्याय इति साहित्यदर्पणकृतः ।

(B) रत्यादिभिन्नेति । अथ भाष, साक्षात्कारो हि रामादिरतिस्त्वचासनयोभेदोप-  
निदन्धन, तथाच तादृशाभेदोपमाने साक्षात्कारस्याप्यभाव इति सदानां रती रामादिनिष्ठैव  
वासना च सामाजिकनिष्ठेति छग्रहभेदे रतिवामने इति ।

१ ' रत्यादिभिन्नो वासनारूप एव, रत्यादिरपि रत्यादिरूप एव' क, 'रस्तादि रत्यादिभिन्नवासना-  
रूप' ग । २ 'यथा विभावादिज्ञानमनेकचक्षणार्थीगुणकम्' इतिपिकोऽयं  
परिदृश्यते ।

(४) स च न कार्यः, विभावादिविनाशोऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात् । अपि तु विभावादिभिर्व्यङ्गितश्चर्वणीयः । कारकज्ञापकाम्यामन्यत् क दृष्टमिति चेत्,

पुर इत्यादिपञ्चक स्पष्टम् । 'चमत्कार' साक्षात्काररूप आस्यात् । 'तदभिधस्य तस्य तत्कारित्वं परिणामरादामिप्रायेण बाध्यम्, रसतानापञ्चदशोयस्य तत्कारित्वात्' १ । 'इत्यमुत्साक्षात्कारविषयस्यापि वासनान्दे साक्षात्काराभिन्नत्वे स्वाकार इवाभिन्नोऽपीत्यनेन प्रकाशिते ज्ञानजन्यज्ञानरूपात्' २ कार्यज्ञानान्तरात् 'तस्य बेलक्षणेनापातत कार्यत्वाभावात्मेव साधयति—स च न कार्य इति । यदि ज्ञानोत्तर-ज्ञानरूपत्वे सति असौ कार्यं स्यात् तदा स्वपूर्ववर्तिज्ञाननाशक्षणेऽपि स्थितिमान् स्यात् ज्ञानात्तरज्ञानान्तररूपद्वित्याह—विभावादीति, विभावादिज्ञाननाशक्षणेऽपीत्यर्थः । 'सम्भव' स्थिति । न चावेष्टापत्तिरिति बाध्यम्, अनुभवरत्नेन विभावादिज्ञानरसयोरेकत्वेन नाशस्य विभावादिज्ञानाशक्षितिरित्यनेन उक्तत्वात्, अतःऽसौ ज्ञानान्तर-बेलक्षणेन अकार्य एवेत्यापातत एवाकम् । अथे तु तस्य कार्यत्वमपि पुरापह्य स्वीकरिष्यत्येव । तथा तस्य बेलक्षणेमेवेति साधयितुं ज्ञाप्याद्विषयान्तराद् बेलक्षणेना-ज्ञाप्यत्वमपि आपातत पर साधयति—नापीति । सिद्धस्येति प्रत्यक्षद्विज्ञान दशायामपि "सिद्धम्य" स्थितस्य तस्यभावादित्यर्थः । स्वज्ञानात् पूर्वं तस्य रसस्वरूपत्वाभावस्य कथमागतैक्याण इत्यनेनेव उक्तत्वात् तदेव पुनः स्मारयति—अपि त्विति । चर्वणीय इत्यत्र सन् रस इति पुरणीयम् । तथाच चर्वणीय सश्रेय रस 'अन्यदा तु वासनारत्यादिरूप पर न तु रस इत्यर्थः' ३ । नन्वेव तस्याकाप्यत्वेऽज्ञाप्यतया भ्रमयत्वे च विभावादिरपि तस्य न कारको न वा ज्ञापक इत्यायातम्, तथाच 'व्यक्त' स तैरित्यादिना कथं तज्ज्ञापकत्वमुक्तम्, कथं वा विभावाद्यनुभावेन्यादिभरतसूत्रेण विभावादीनां तन्निष्पादकत्वमुक्तमित्या-शङ्कते—कारकेति । दर्शितपीत्या अन्यसाधारणे एव तस्य कार्यत्वमेत्यत्वे न स्तः,

(A) रसस्य कार्यत्वाभावे ज्ञाप्यत्वाभावे च हेतु प्रदीपे प्रसञ्चितं विस्तारमयात् नेहो द्विष्यते । रसगङ्गाधरकारमतन्नु 'अमिनवस्तु' पदलिप्या व्यक्तीभविष्यति ।

१ चयनः स्व पुनर्दि नाभि न-मुक्त २—रायण उक्त विषयनेनापरिणामः ग्रीष्वाद्यनाशस्य तत् कारित्वात् इति विषयः । ३ इत्ये परिणामरादानन्वयन ज्ञानविषययोर्मिदचिद्धी वाचन(ना)या रसदिज्ञान रूपत सिद्धे कार्ये अ । अर्थः न । ४ 'वचनचौवाच्यस्य न रस इत्यर्थः' न । ५ 'इत्यायाति' न ।

न कचिद्दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या  
तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादि-  
प्रमाणतादस्यावबोधशालि<sup>(A)</sup>मितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहित-

विलक्षणव्यक्तौ तत्रानन्यसाधारणे तु कार्यत्वज्ञाप्यत्वे स्त एव इत्यतो विभावादिव्यपि  
अनन्यसाधारणे कारकत्वज्ञापकत्वे स्त एवेत्यतोऽन्यत्वादर्थन न दोषः किन्तु विलक्षण-  
सिद्धौ गुण एवेत्याह—न कचिद्विधिः । ‘लौकिकसिद्धे’ लोकसिद्धवस्त्वन्तर-  
भिन्नसिद्धे । नन्वेव ‘कोऽप्यजायत रसो निरन्तरम्’ इत्यादि लोकन्यवद्विद्यमानं  
कथं तस्य जन्यत्वमित्यतस्तस्य लौकिके अपि कार्यत्वज्ञेयत्वे साधयति—चर्वणेति ;  
तस्य विभावादिज्ञानतो निष्पत्तिश्चर्वणा निष्पत्त्यैव उपचरितेत्यर्थः ; वासनारत्या-  
द्यंशे ॥ न विभावादिज्ञानतो निष्पत्तिः, ‘अपि तु तद्विभ्रम्यस्वकारण्यत एवेति बोध्यम्’  
नत्वेतावतैव वासनारत्याद्यंशे भजन्यत्वमुक्तं तयोर्जन्यत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वात् ।  
एवञ्च विशिष्टस्य रसस्य विभावादिज्ञानजन्यत्वं एवांशिकं उपचारो न जन्यत्व इत्यव-  
धेयम्\* । एव घटादिसाधारणज्ञाप्यत्वभावेऽपि स्वेनैव स्वस्य गृह्यमाणान्याज् ज्ञाप्यत्व  
ज्ञेयत्वज्ञास्तोति साधयति—लौकिकेति । लौकिक<sup>(B)</sup> यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणं तत्ताद-  
स्थ्येन तदासांन्येन अर्थाद् योगजघर्मेण अवबोधशालिनो मितपरिभाषितस्य  
योगिनो यज्ज्ञान यद्य वेद्यान्तरसम्यक्करणं रहितं शुन्य विद्यान्तराग्राहि  
स्वात्ममात्रपर्यवसितम् आत्माद्वैतग्राहि\* परिमितेतरयोगिन सवेदनं ज्ञान ताभ्यां

(A) मितयोगी अपरिचिन्त्येभी मुञ्चानपदवाच्य , परिमितेतरयोगी परिचिन्त्येभी मुक्तपदवाच्य  
इति प्रदीप ।

(B) अत्र घ-विद्विद्युन्तकृत्य पाठः परिगृहीतः । क-ख-ग-चिद्विस्तुम्भकेषु दृश्यमान  
“लौकिकप्रमाणं प्रत्यक्षादि” इति पाठान् “लौकिकप्रमाणतादस्थ्ये”त्याकारवृत्तिप्रस्थानुसारितया  
सङ्गमशौचः ।

१ ‘यवपाशनिष्पत्तिश्च’ ग । २ ‘किन्त्यत एवेतावत् , तयाच विजिह्वं वक्ष रस(सः) विभावादिज्ञान-  
निष्पाद्य एवोपचारो न तु निष्पाद्ये वासनारतोऽन्यस्वकारणनिष्पाद्यत्वान्’ ख,—‘तथाच विशिष्टस्य रसस्य  
विभावादितो निष्पत्त्युपचारो न तु निष्पाद्यत्व विज्ञेयवासानाद्यस्तु स्वकारणनिष्पाद्य एवेति बोध्यम्’ ग ।

३ ‘पर्यवसितं सात्मनः’ ओमनामन परमाद्यमानस्य साहकमद्वैतग्राहि’ घ, ‘ओमनामनि परमाधनि  
पर्यवसितं समस्तपदार्थानामद्वैतग्राहि’ य ।

स्वात्ममात्र-पर्यवसित-परिमिते-तरयोगिसंवेदनविलक्षण-लोकोत्तर-  
स्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयनाम् । तद्ग्राहकं च न  
निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं  
चर्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभया-  
भावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न

विलक्षणस्य लोकविलक्षणस्य च स्वात्मकसंवेदनस्य गोचर इत्यर्थः । निर्दोषकवासना-  
ग्रहात् तदग्रे निर्विकल्पकत्वम् अभ्याशे सविकल्पकत्वम् ब्रूयते । इदानीं निर्विकल्पका-  
न्तरवैलक्षण्यान्निर्विकल्पकत्वाभावात्तमपि साधयति—तद्ग्राहकमिति । स्यमानग्राह्य-  
त्वाच्च तद्ग्राहकं तद्ग्राह्यं स्यमेव । विभावादीति । परामर्शं ज्ञानम्, तत्प्रधानत्वात्  
तदधीनत्वात्, तथाच ज्ञानाज्यनिर्विकल्पकत्वाच्च धैलक्षण्येन निर्विकल्पकत्वाभावात्  
भापाततः साधितम् । सविकल्पकान्तरवैलक्षण्येन तस्य सविकल्पकत्वाभावात्तमपि  
भापाततः साधयति—नापीति । स्वसंवेदनं स्वात्मकसंवेदनम्, तत्सिद्धत्वात्  
तन्मात्रग्राह्यत्वात्, सविकल्पकान्तरस्य तु स्वभिन्न<sup>१</sup>स्यानुपपत्त्यायेन ग्रहात्, (A) तद्वैल-  
क्षण्येन न तथात्वमिति भावः । इदञ्च गुरभिन्नतामेव मते, तस्मिन् तु सर्व<sup>२</sup>सवि-  
कल्पकस्यैव स्वेन ग्रह<sup>(B)</sup> इत्यवैलक्षण्यमेव । अत्राभेदेन तस्य तदुभयात्मकत्वमपि  
साधयति—उभयाभावेति । उभयाभावा उभयभेदः, (C) तेन विनिष्टं स्वरूपं यस्य  
स, उभयभिन्नं तद्वत्स्येत्यर्थः । भेदस्यान्यायवृत्तित्वमङ्गीकृत्येदं मुक्तम् । पूर्ववदिति,

(A) तद्वैलक्षण्येनेति । साहित्यद्वये तु—‘तथाऽभिलाष्यममंगवोगवत्स्वविरहाच्च च । सवि-  
कल्पकसंवेदः’ इत्युक्तम् ।

(B) स्वेन ग्रह इति । ज्ञानमात्रस्य ज्ञानसामपीवेष्टत्वरूपं स्वप्रकाशत्वमिति पुरुषा  
सिद्धान्तादिति भावः ।

(C) उभयाभावा इति । ज्ञानस्यात्मविशेषणत्वात्तद्विनिष्टे यथाशुभमेव संप्रवृत्ते,  
भेदाधिक्यैस्तन्मतान्भ्युपगमाद् व्याचष्टे तेनेति ।

१ ज्ञानानुपपत्त्यायेन ग्रहात् । २ सर्वसविकल्पकत्वात् । ३ सविकल्पकत्वात् । ४ तेन विनिष्टं स्वरूपं यस्य । ५ तस्यैव । ६ ‘शुभमुभयात्मकत्वमङ्गीकृत्येदं मुक्तम्’ इति ।

तु विरोधमिति (A) श्रोमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्,  
अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो  
व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनै-  
कान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

अलौकिकतत्कारकतद्भूतप्रकृतिभावादिवदित्यर्थः । न तु विरोधमिति । भगवति  
भगवत्तत्त्वमयः । मिलित्वनामेव विभावादीनां रसबोधकत्वे भरतसूत्रे द्वन्द्व-  
निर्देशस्याभिप्राय इति दर्शयितुं प्रत्येकस्य रसबोधनासामर्थ्यं दर्शयति—व्याघ्रादय  
इति, भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणामपि विमत्वा इत्यर्थः । एवमुत्तरद्वयेऽपि  
भनुभावा व्यभिचारिण इति द्वयं त्रिष्वेव बोध्यम् । पृथगनैकान्तिकत्वादिति ।  
भवेत्कान्तिकस्य साधारण्यम्, तच्च नानाकृतस्य, तथाच नानाकृतसाधारण्यत्वादित्यर्थः ।

(A) रसगङ्गापरकस्याप्यु आचार्यमतमित्यत्र विवृण्वते—“यस्तु तन्मनु यद्यमागभुतिमारस्येन  
त्याघवच्छिन्ना भगवत्प्रविशेह रसः, सर्वयैव दास्या विस्त्रियत्तमो विरोधं विरोधेन वा विद्वि-  
मादाय मित्यत्र स्वप्रकाशत्वाच्च सिद्धम्, रस्याघवमात्राय स्वविश्वत्वमितरभाष्यत्वञ्च । चर्षणा  
चास्य चिदागतावरणभङ्गं पृथु प्राप्नुना, ललाकारात्त करणवृत्तिर्वा, इयञ्च परमह्यस्वाङ्गान्-  
समापेक्षिलक्षणा विभावादिविषयमन्वलिनिश्चिदावन्दात्मनत्वात्, भाव्या च काव्यव्यापार-  
मात्राद् । अथास्या ललाकारभावे किं भावमिति चेत्, समाधायपि तदने किं भावमिति पर्वनु-  
षोक्तम् समाश्रयत्वात् । ‘सुखमात्यन्तिकं यत्तद्विद्याद्वयमौन्मिद्वयमित्यादिशब्दोऽस्ति तत्र  
प्रमाणमिति चेत्, भगवत्प्रापि ‘रसो वै स, रम होत्राय ललाकार आनन्दी भवतीति धृतिः, सकल-  
सहजप्रत्यक्षज्ञेति प्रमाणद्वयम् । येन त्रितीयपक्षे तदाकारविश्ववृत्तात्मिका रसचर्षणोपपन्नता सा  
शब्दव्यापारभाष्यत्वात् शाब्दी, अपरोक्षललाकारमन्वत्त्वाच्च अपरोक्षमिमिका, तत्त्वम्—(अमीनि)  
‘वाक्यवृद्धिर्वित्याहुरभिन्नगुप्तशब्दाकार्या’ इति । अभिनव मतान्तरमपि तत्रैव—‘नव्यास्तु  
काव्ये भाव्ये ॥ कश्चिन्मा भेदेन च प्रमाणितेषु विभावादेषु नव्यव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादि-  
शब्दौ गृहीतायामनन्तरञ्च सहजप्रतीतिरित्यस्य भावनाविशेषस्याप्य दोषस्य महिम्ना कल्पित-  
दुष्यन्तत्वाद्दण्डादिने स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने श्रुतिवाक्यकृत इव रजतवर्णं समुत्पद्यमानो-  
र्ध्ववर्णवर्णस्य स्रष्टुमान्यवस्तुमन्त्रादिश्रुत्यकल्पनादिरेव रसः । अथ चर्षणो दोरविशेषस्य,  
मारयश्च तत्राश्रयः, ह्योतरस्याविना लोकोत्तराद्भावेन भेदाशङ्कात् सुखव्यवहारो भवति, स्वपूर्वोप-  
स्थितेन रत्यादिना तदपहङ्गात् तदवस्थित्येनैकत्वाध्यवयानाद्वा नव्यद्वये चर्षणीयप्रोच्यते इति ।  
अस्मिन्मते पूर्वार्थद्वयोपयोगात्समवकाशः, अन्येषामपि नव्यता मनपेक्षस्तत्र तत्रैव प्रदर्शिता साहित्य-  
रमिकेन्द्रियव्या इत्यलम्बित्वेन ।



विषदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकृजितैर्दिशां श्रीः ।

धरणिर्भिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २७ ॥

इत्यादौ,

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः

कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।

एषश्च वर्णितान् प्रत्येकता विराधेन <sup>१</sup>न कस्यापि 'फलस्योत्पत्तिरता मिलिता निर्दिष्टा इत्यर्थः । मिलितनिर्देशाच्च साहित्यलभे दण्डवत् 'विषमिलितानामैव रसबाधकत्वं मित्यर्थः । तथाच नानाफलसाधारणेभ्योऽपि सर्वसाधारणं यन् कल हृदेव जायते 'इत्यर्थः । सकल फलन्तु न सर्वसाधारणमित्युदाह ।

ननु यत्र ग्लोके मिलितानामनिर्देशस्तत्रायनुग्रहमिदस्य रसबाधस्यात्पक्षौ का गतिरित्याशङ्क्य श्लोक त्रये मिलितनिर्देशाभावां दर्शयति \*—विषदलीत्यादि । तत्रापि, हे मुग्धे भद्राभद्रविशेषमशून्ये (A)दयिते प्रणतिपरे सति प्रसीद, बहुतरो हीपकस्तत्त्वात्, आश्रयकेऽन्यदा प्रसादे तु तत्र गौरवरत्ना न भविष्यतीति भावः । भूतो बहु तरोहीपनानि दर्शयति—विषदलीत्यादि । अल्पिन्मलिन अभ्युत्तर्भक्ष मैत्रो यत्र, विषत् तादृशम् तथाच तादृशाहीपकदर्शनादूर्ध्वमुखी स्यातु न शङ्क्यमि, तथा मधुकरा एव 'सुस्वरत्नान् काकिला, तेषां कृजितैर्दिशां श्रीः, वर्णान्वपि कचिन् काकिला माद्यन्तीत्यक्ता मधुकरकाकिल्याद्वन्दा वा । तथाच तन्मृगणान् तिष्यद्मुख्यपि स्यातु न शङ्क्यसीति भावः । तथा अभिनवाङ्कुरा एव अङ्कुरा दङ्का पावाण दारकास्त्रिगैरा यस्या, धरणिस्तादृशी, उद्दीपकत्वेन दुःखदायकत्वाद्दङ्कुराणां मर्मं च्छेदकद्रूपणम् । तथाच तदर्शनादग्रामुख्यपि स्यातु न शङ्क्यसीति भावः । अत्र मानिनीप्रलम्भस्य दयित आलम्बनम् तन्प्रणतिमेपादय उद्दीपनानीति विभाव मात्र स्थितिः ।

परिमृदितेति । मालत्वा अरस्याकथनमिदम् । तस्या अङ्ग परिमृदित-  
मृणालीयत् म्लानम्, बहोषु क्रियासु परिवाराणां प्रार्थनाभिः तस्या कथम्

(A) दयित इति, अत्र विषयसप्तमीति उद्घोषः ।

१ 'नैकधावि' ख । २ 'रससो' य । ३ 'दिवाधेन निवि' ख । ४ 'इयातो न दोष' ख ।  
५ 'नयना' य । ६ 'सुखकरत्ना' य । ७ 'सलप' य 'निदृश' य ।

कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-  
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥ २८ ॥

इत्यादौ

दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं  
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने 'किं चाञ्चित्प्रलूतम् ।  
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाभ्युपूर्णक्षणं  
बध्नुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

अथैका प्रवृत्तिः । बहुवचनेन प्रारंभादुत्सुकस्य एकवचनेन प्रवृत्तेरेकत्वस्य च साम ।  
प्रवृत्त्येकत्वेन तद्विषयक्रियैकत्वलाभाच्च । चक्रवर्ती तु—क्रियैकत्वलाभाय क्रियाया-  
मिति पाठं रचयति, तच्च निष्कलम्, अस्मदुत्थास्थानेनैव तत्सिद्धे । तथा तस्या  
कपोलं मभिनवकरिदन्तच्छेदवत् कान्तं पाण्डुत्वात्, छेदेति कृदभिहितभावत्वात्  
मभिनवच्छिन्नेत्यर्थः, तथाच अतिपाण्डुत्वलाभः । अत एव—

सद्यः कृत्तद्विरवशानप्येवगौरस्य तस्य ।

इति कालिदासकाव्येऽपि कृतस्यस्यैव सद्यस्त्वमुक्तम् । चक्रवर्ती तु मभिनवेति  
करिदन्तविशेषणमेवाह । अतः मालतीविप्रलम्भस्य भङ्गस्थान्याद्यनुमाद्यमात्रस्थितिः ।

दूरादित्यादि । निराकरणेन प्रसादाच्चिदृश्या अपक्रान्तस्य नायकस्य पुनरागमे  
जातभाषाया मानिन्याश्चतुःक्रियावर्णनमिदम् । दूरादिति सप्तम्यर्थे पञ्चमी, दूरस्य  
इत्यर्थः । तथाच जातागसि जातापरपथे प्रेयसि दूरे सति मानिन्याश्चतुः शब्दो,  
प्रपञ्चचतुरं नानावस्थाप्राप्तिकुशलं जातम् । प्रपञ्चचतुर्यं चिद्वृणोति—दूरादित्यादि,  
दूरस्ये प्रेयसि स्वसन्निहितागमनार्थम् उत्सुकम् उत्कण्ठितम्, आगते सति विष-  
लितम्, पूर्वनिराकरणलज्जया संकुचितम्, संभाषिणि च निराकरणेऽप्यवैमुख्य-  
दर्शनात् हर्षेण स्फारितम्, बाटुकरणं विनैव संश्लिष्यति सति पूर्वक्रोधाविमर्शेण  
अरुणम्, अञ्जिता आकुञ्जिता, मूलतायास्तथाभावश्च बाटुकरणं विनैव उत्तरोत्तरं  
प्रवृत्त्या भक्ष्यया, व्यतिकर समूहः, ईक्षणपञ्च गोलकं परमेव अतश्चतुरीक्षणयो-  
र्मेदाद् बहुवीहि । पूर्णं क्षणादिति तु कश्चित् पाठः । बाष्पाभ्युपूर्णा च कोपोत्तरं

इत्यादौ च—यद्यपि विभावानामनुभावानां (A) भौतसुस्थ-ब्रीडा-  
हर्ष-कोपा-स्रयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां (B) केवलानामेवास्ति  
स्थितिः तथाऽप्येषामसाधारणत्वमित्यन्तमद्वयाक्षेपकत्वे सति  
नानैकान्तिकत्वमिति ।

प्रसादात् प्रसादश्च हृष्यरूपव्यभिचारिभागा बाध्य । यद्यपीति पूर्वश्लोके (C) विभावानां  
मध्यमश्लोके अनुभावानां चरमश्लोके व्यभिचारिभागा केवलानां स्थितित्त्वर्यं ।  
कापद्य रौद्ररमस्याविभागाऽपि शृङ्गारऽत्र व्यभिचारिभागा इति प्रतिपादित प्रागेव ।  
एषा स्थितिश्च न बाध्यकजम्बाच्यस्य ब्रीडादीनामतथात्वात्, किन्तु शीघ्रप्रसीयमानस्य  
मेव विरहितन्यादीनामनन्यप्रयोजनरत्वेन ज्ञात ब्रीडादिबोधनात् बाध्यत्वमात्रन्तु  
न स्थितिः "शृङ्गारभूतान्यद्वयस्यापि तथात्वेन केवलस्याभावात् । केवलस्य च असा  
मध्यमेव विरहितम् तेन विरहितत्वाद्वा प्रसीदेत्यनेन प्रमादस्य हर्षरूपव्यभिचारि  
भावस्य, दूरादित्यादौ प्रपस आलस्यविभावस्य मत्वेऽपि केवलत्वमुपपन्नम् ।  
अन्यतमद्वयाक्षेपकत्वं इत्यतः तु द्वयत्वमविच्छिन्नम्, अनुताक्षेपकत्वे सतीत्ये  
वार्थः । एषामसाधारणत्वमिति शृङ्गारप्रसरणादसाधारण्यम्, सत्प्रकरण  
लामन्तु विरहितत्वाद्वा 'प्रणते नायके प्रसादः' प्रार्थनया परिमृदितत्वाद्वा तत्प्रवचने  
विरहिण्या मालत्या प्रकृतत्वेन दूरादित्यादौ तु मानवीपदेनैवेति बाध्यम् । अन्य  
तमाक्षेपश्च अयतमन्य व्यञ्जनया बोधनम् 'तद्वि विरहितत्वाद्वा प्रसादेन प्रार्थनीयस्याऽऽ

(A) भौतसुस्थितिः । अत्र व्यभिचारिणोऽलस्यस्य स्वसत्त्वाच्चत्वेऽपि यथा B शेषत्वं  
यथा सप्तमोक्तम् स्वयं बलवत् । चतुर्थपदस्य तस्य वक्षुवि बाधितत्वेन तस्यैककेन्द्रादिशेषवत्  
एव तत्पदेनोक्त्यापनाद्वा दोषपरिहृतो विधेयः ।

(B) केवलानामिति । अत्र दूरादुत्पन्नकमित्यादिभागे प्रवोत्साह्यन्वयविभावस्य सत्त्वात्  
केवलानामित्यन्यानुपपत्तिः प्रथमो वस्तुतुल्यप्रवृत्तवाचनिरूपणत्वात् जातगम्येति सिद्धवत्  
वस्तुया निरुद्धाच्च विद्यमानोऽप्यालस्यविभावोऽविद्यमानकल्प इति प्रतीत्योद्घोषतो कपक्षिण  
परिहृता बाध्यान्तुल्यनुमावसत्त्वेन तन्नुपपत्तिगद्वा तु नोपि स्थितिः बोध्यम् ।

(C) विभावानामिति । दक्षितत्वाद्यन्वयविनिर्दिष्टविशेषादुदीर्यविशेषानामित्यर्थः ।

१ मन् इति इति क पाठ २ तत्र इति क पाठ ३ मन् इति क पाठ ४ मन् इति क पाठ ५ मन् इति क पाठ ६ मन् इति क पाठ ७ मन् इति क पाठ ८ मन् इति क पाठ ९ मन् इति क पाठ

तद्विशेषानाह—

(४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥२६॥

लिङ्गनादेरनुभावस्य आक्षेपः । परिसृदिनेत्यादौ तु भङ्गस्यान्या ग्लाने, कथमपि प्रवृत्त्या  
आलस्यस्य, कपोले पाण्डुत्वेन चिन्तयाश्च व्यभिचारिभावानाम्, चिन्तनीयस्य माधव-  
स्याऽऽलम्बनविभावस्य तद्रूपादेरुद्दीप्तविभावस्य आक्षेपः । दूषदित्यादौ तु बाष्पाब्ज-  
स्यंशप्रसादेन आलिङ्गनादेऽ(A)रनुभावस्याक्षेप इति (B)त्रितयसत्त्वम् ।

‘तद्विशेषान्’ रसविशेषान् । शृङ्गारहास्येत्यादि(C)नाट्यकारिकात्वादेव नाट्ये  
इत्युक्तम् काव्येऽपीत्यपि बोध्यम् । एषां लक्षणानि तु “स्थायिभावभेदादेव रसित्वायि-  
भावको रसः शृङ्गार इत्यादिरीत्या बोध्यानीत्यभिप्रायेण ‘व्यक्तं स तै’ रित्यादिनेबोक्त-  
प्रायाणीत्यतो विशिष्य नोक्तानि”<sup>१</sup> । दर्पणे तु संज्ञाव्युत्पत्तिमुखेन शृङ्गाररसस्यान्य-  
थाप्यन्येषां लक्षणानि तद्विभाषार्थांश्च उक्तवान् । तत्र शृङ्गारस्य यथा—

शृङ्ग हि मन्मयोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।

उत्तमप्रवृत्तिप्रायो रसः शृङ्गार इत्येते ॥ इति

तदागमन मन्मथप्रति, तत्हेतुकं तद्वन् बीतरागाणां शृङ्गाररसानुदोधात् । तद्वि-  
भाषाव्यञ्चोक्ता, यथा—

(A) अनुभावस्याक्षेप इति । भवेद चिन्तनीयम्—बाष्पाब्जान् एवानुभावस्य सत्त्वेन  
तद्रूपक्यप्रसादेनालिङ्गनस्यानुभावस्याक्षेपो नानिप्रयोजनकः । उक्तञ्च दर्पणकारैः—सारिचकाभानु-  
भावरूपत्वात् न पृथगुक्ता इति ।

(B) त्रितयसत्त्वमिति । इन्द्रालम्बनोदीपकयोर्विभावत्वेनैकस्वमित्यभिप्रायेण, कपोलैरेव  
प्रक्षेपे तु वनूनामिव रसबोधकत्वम्, अन्यथा उद्दीपनविहङ्गसङ्गातेऽपि रसबोधापत्तेः । न चेष्टापत्ति  
पूर्णस्वरूपस्य रसस्याङ्गत्वाभ्यापत्तेः ।

(C) नाट्यकारिका “नाट्यसाधम्” इति नाम्ना प्रसिद्धस्य धर्म्यस्य कारिका, तत्र च  
“शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः” इति प्रथमान्ते पाठभेदः । उत्तरार्द्धेन पुरुषेण । श्लोकोऽर्थ  
सत्र पठेज्याये १६ सम्बन्धनया मुद्रितः । (गादकोवाड अखिलेष्टाल मिरीड )

१ ‘वस्तु’ इत्यत्र पर क पुनडे ट्यममान ‘वस्तु’ के लोकात् न च साधारणत्वेन तेनैव रसबोधकत्वस्यार्थं  
न्यासादय इत्यादिना कृतकार्यकारणभावस्य नान्यदन्तर्भावोऽप्येव’ इत्याह टिप्पणी सावित्रि च प्राग्विकप्रतिपत्तिरिति  
प्रतिपाति । २ ‘स्थायिभावकथनादिवोक्तानीत्यभिप्रायः’ ख, ‘स्थायिभावभेदादेव बोध्यानीति’ व्यक्तं स तै-  
रित्यादिनेबोक्तप्रायाणीति’ न ।

परोदा वर्जयित्वाऽत्र केष्वाञ्चाननुरागिणीम् ।

मालम्बनं नायिकां स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायका ॥ इति ।

अत्र पादत्रय नायकभृङ्गादे, चतुर्थपादे नायिकाभृङ्गादे । केष्वा चात्र परानूदा ।  
'दक्षिणाद्या इति, दक्षिणधृष्टनुकूलशठरूपाश्चत्वारो बालवृद्धरागीतरे रतिसमर्था' १० ।  
आद्यपादाद् धर्म्मोपयुक्तपरिग्रहं, तेन रतिसमर्थं स्वभर्त्तृत्वं । 'पर्युस्तपरोदा-  
विवयत्वे तु' ११ भृङ्गाद्यभास इति बाध्यम् । तदुद्बोधनमिमांशद्वयश्चोक्तः, यथा—

चन्द्रचन्दनरोलम्बयताद्युद्दीपन मतम् ।

धूम्रितेपकटाक्षदिरुभाव प्रकीर्तित ॥

त्यक्त्यौप्रचमरपालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिण ।

स्थायी भावो रतिं म्याम्रवर्णाऽयं विष्णुर्द्वैत ॥

रोलम्बा भ्रमरा । भौमरात्रिवर्जनं सन्मागभृङ्गादेव । निमलम्बे तु जुगुप्सा  
मात्रवर्जनम् । जुगुप्सा ३ बीभत्सस्यायिभावोऽपि रसान्तरे व्यभिचारिभाव  
इत्युक्तम् ।

हास्यस्य यथा—

विरुक्ताकारवाग्देशवेष्टादे बुद्धकादु(A) भवेत् ।

हास्यो हासस्यायिभावः श्वेत प्रमथद्वैत ॥

विरुक्ताकारवाक्चेष्टेयमालास्य 'हृसेश्वर' ।

तद्वत्तालम्बनं प्रोक्त तथेष्टोद्दीपन मतम् ॥

मनुभावोऽतिसकावरन्दनस्मेरतादयः ।

निद्राऽलस्यावदित्याद्या अत्र स्युर्न्यभिचारिणः ॥ इति ।

करुणस्य यथा—

इष्टनाशादनिष्टाते करुणाख्यो रसो भवेत् ।

धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथिता यमद्वैत ॥

शाक्तेऽत्र स्थायिभावः स्वाच्छाब्जमालम्बन मतम् ।

तस्य दाहादिक्रमस्था भवेदुद्दीपन पुनः ॥

(A) बुद्धक माया इन्द्रजालमिति यावत् ।

- १ 'दक्षिण' नामकहरीशोत्तररत्नसमर्थं च न । २ परोऽर्गन्धिवन नायकादिभ्रमणविवयत्वे  
समग्रापरिवर्त्तने च न । ३ सनुदाहृतं च न । ४ 'हृष्यन्' इति मुद्रितवादितादप्यपाठः ।  
५ 'द्विच' इति मुद्रितवाच्यः ।

अनुभावा दैवनिन्दा-भूषात-कन्दनार्थ ।  
 दैवर्षोच्छ्वास-निन्धास-स्तम्भ-प्रलपनानि च ॥  
 निर्वेद-मोहापस्मार-श्याधि-म्लानि-स्मृति-ग्रमाः ।  
 विषाद-जडतोन्माद-चिन्ताऽऽद्या व्यभिचारिणः ॥ इति ।

प्रलपनपर्यन्ता अनुभावा बोध्या । रौद्रस्य यथा—

रौद्रः क्रोधस्यायिभावो रक्तो कटाधिदैवतः ।  
 भालम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥  
 मुष्टिप्रहार-पतन-विकृतच्चेदायदारणैश्चैव ।  
 सप्राप्तसम्भ्रमाद्यैस्तस्योद्दीप्तिर्मवेत् प्रौढा ॥  
 भ्रूविभङ्गोऽनिर्दग्ध-बाहुस्कोटनतर्जनम् ।  
 भारमाऽवदानकयनमामुघोत्क्षेपणानि च ॥  
 अनुभावास्तथाऽऽक्षेप-कूरसन्दर्गनादयः ।  
 उग्रताऽऽवेग-रोमाञ्च-स्वेद-वेपथ्वो मयः ॥  
 मोहामर्षादयस्तत्र भाषाः स्युर्व्यभिचारिणः । इति ।

उग्रतादयो व्यभिचारिणः लग्णपूर्व त्वनुभावाः । वीरस्य यथा—

उत्तमप्रकृतिर्गौर उत्साहस्यायिमावकः ।  
 मोहन्द्रदैवतो (A) हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥  
 भालम्बनयिमावाञ्च विजेत्रभ्यादयो मताः ।  
 विजेत्रभ्यादिचेष्टायास्तस्योद्दीपनरूपिणः ॥  
 अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ।  
 सञ्चारिणस्तु धृति-मति-गर्व-स्थिति-तर्क-रोमाञ्चाः ।

तत्र च धर्मदानपुण्यैर्यथा च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ इति

<sup>1</sup>रोमाञ्चस्य व्यभिचारिभावश्चाभावेऽपि तन्निदानहर्षपरमेव रोमाञ्चपदम् । स चेति

(A) अत्र इत्यल्लिखितार्थोऽप्युक्तकेषु दृश्यमान “मेघवर्ण” इति पाठो लेखकप्रमादजनः  
 एवेति सुद्रिगसाहित्यदर्पणप्रवादी ध-शु-न्तकपाठ परितूहीतः । इदं चिन्तनीयम्—वीरस्य हेम-  
 वर्णत्वं दर्पणकृता कुल उपलब्धम्, नात्रशङ्के “गौरो वीरस्तु विजये” इत्यनेन तस्य गौरवर्णत्वस्यै-  
 वोक्तत्वात् । उच्यते च पीतवर्ण एव प्रसिद्धः स च अनुत्तरसाम्यैव वर्णः इति “पीतवर्णवाद्भुत-  
 स्यात्” इति भरतोच्चेरवगम्यते इति ।

धर्मधीरो दानवीरो युद्धधीरो दयावीरश्चेति चतुर्मेत्यर्थं दानादिषु सर्वत्रोत्साह-  
सम्पन्नाः \* । भयानकस्य यथा—

भयानका भयस्यायिमान् क न्नाधिदैवत ।

स्त्री-नीचप्रवृत्तिं कृष्णा मतस्तत्त्वविनारदौ ॥

यस्मादुन्मथ्यते मीतिस्तद्बालम्बन मतम् ।

चेष्टा घोरतरा तस्य भवेदुदीपन पुनः ॥

अनुमायास्तु वैवर्ण्यं गन्गाद्वयव्यापणम् ।

(A) पुलक-स्वप्न-रोमाञ्च-क्लम विक्षिप्तेष्वनादय ॥

जुगुप्साऽऽवेग-सम्प्लोह-सन्वास ग्लानि-दीनता ।

शङ्काऽपस्मार सम्प्रान्ति मृत्याया व्यभिचारिणः ॥ इति

पुलकहेतुत्वादेय (पुलकहेतुत्वादेय ?) अत्र पुलकोऽभूद्गम पथ । तथाच रोमाञ्चादस्य  
भेदः । जुगुप्सायास्तु व्यभिचारिणः । सम्प्रान्ति भ्रमण व्यलक्षारूपम्, अत्र भयकार  
तस्यात्र स्थायिभावत्वात् ।

भीमस्त्वस्य यथा—

जुगुप्सास्यायिमायस्तु भीमस कथ्यते रसः ।

नालवर्णो महाकालदैवताऽयमुदाहृतः ॥

दुर्गन्धमासः कथितमैश्यालम्बन मतम् ।

तत्रैव वृमिपातादिदुदीपनमुदाहृतम् ॥

निष्ठीरनास्यबलननेत्रसकाचनादयः ।

अनुमायास्तत्र मनास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ।

मोहाऽपस्मार आवेगा न्याधिष्ठ मरणादयः ॥ इति

अत्र च 'तत्र स्युः' रित्यादिक पञ्चाद्वन्दितम् ।

अद्भुतस्य यथा—

अद्भुतो विस्मयस्यायिमाया (B) गन्धर्वदैवतः ।

पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बन मतम् ॥

(A) 'पुलक' इत्यत्र 'प्रलम्ब' इति मुद्रितसाहित्यद्वयपाठः, प्रलम्बो नटयस्ता इति च  
व्याख्यातपक्षित्युक्तैः ।

(B) यद्यपि हस्तलिखितादृशपुस्तकेषु 'गन्धर्व' 'पुष्प्याने' 'मन्मथ' इति पाठो दृश्यते  
तथाऽपि मुद्रितसाहित्यद्वयसम्मान इव पाठोऽत्र परिगृहीतः । नाट्यशास्त्रे तु 'अद्भुतो गन्धर्व' इति ।  
इत्युक्त्या अद्भुतस्य गन्धर्ववत्त्वम् प्रतीयते ।

1. 'पुलक' क ख न, चतुर्मासिक इति चोक्तम् ।

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्यः  
परस्परावलोकना-लिङ्गना-घरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य  
एक एव गण्यते । यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-  
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।

गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ।

स्तम्भं स्वेदोऽथ रोमाञ्च-गदगदस्वर-सम्प्रदां ॥

तथा भेषविकासाद्या भवुभाषां प्रकीर्त्तिता ।

वितकाविगसम्भ्रान्तिहर्याद्या भ्रमिचारिण ॥ इति ।

संभ्रान्तिहर्याद्या इत्यत्र सम्भ्रान्तिजन्यहर्याद्या इत्यर्थः, तेनानुभावत्वेनोक्तात् सम्भ्रमा-  
वस्य भेदः ।

सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति । तत्र दर्पणे—

दर्शनस्पर्शनादीनि निवेदेते विलासिनौ ।

यत्नानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः ॥

इति सम्भोगलक्षणम्, तच्च नायकनायिकयोः (A) एकतरत्वं वा दिव्यङ्गयसम्भोगे भव्या-  
सम् (B) । तथा—

‘यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नामीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ’

इति विप्रलम्भलक्षणम्, तदपि नायकप्रसाद्यमानमानिनीविप्रलम्भेऽन्यासमतोऽन्यदेव  
लक्षणमाह । यथा—

सम्भोगं सुखसम्मिश्रा विप्रलम्भस्तु दुःखयुक् ।

रतिस्तयो प्रकर्षं स्यादाद्यिभ्यात् सुखदुःखयोः ॥ इति ।

अत्र यत्र निशेषयुक्तेयादौ वाच्यास्तदन्तिकाममनाद् यादृशं दुःखम्, रज्जु तदन्तिक-  
गमनाद् व्यङ्ग्यात्ततोऽधिकदुःखमिति दुःखसम्मिश्ररतिव्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यस्याति-  
शायित्वम् ।

अनन्तभेदत्वादिति । भेदः भेदकः, बहुव्रीहिणा भेदनन्त्यादित्यर्थः ।

शून्यं वासगृहमिति । अत्र उत्थायेत्यादिसमस्तक्रियासु पूर्वपूर्वक्रियापेक्षया

(A) अत्र “नायकयोः” इत्येकशेष उचितः ।

(B) भवेदं चिन्तनीयम्,—ईदृशस्थले विप्रलम्भश्चैव तथा उत्तरण सम्भोगादयं च स्वीकारे  
न किमपि बाधमिति ।



विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोष्य गण्डस्थलीं  
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसना बाला चिरं युम्बिता ॥३०॥

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया घत्से मनोहारिणीं  
लक्ष्मीमित्यभिवायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।

आनन्तर्यं क्वाप्रत्ययतो बोध्यम् । आनाम्य लज्जानम्रमुखात्यत्र भग्याहताया जातेति क्रियायामानन्तर्यं बोध्यम् । “लज्जा” इत्येव विद्यापदमिति तु चक्षुर्ती । तथापि नम्रमुखीत्यस्यान्यथार्थं ततः इत्यध्याहारावश्यकत्वेनेतो विशेषाभावादुपेक्षितम्\* ।

बाला समस्तक्रियासु कर्मो युम्बितेत्यस्य तु कर्म । शयनान् किञ्चिदुत्थानं प्रिय-  
जागरणे ऋदिति सबरणाय, बालात्वेनाप्रागल्भ्यात् । उत्थाने प्रवैस्त्वञ्च जागरण-  
हेतुराशुनृपसत्तये । सुचिरनिर्धर्षणञ्च अनुपगमाभिद्रानिधाय च । तन्निधयाश्च  
विश्रब्धं जातपुलकं परिचुम्बनम् । प्रियेण चिरं युम्बनञ्च भावनिधयेन बालायाश्वास-  
शब्दाऽपगमाय । युम्बितेत्यतः (१) सञ्चुलिकर्णपरिशोधनार्थं विरमिति चक्षुर्ती, तच्च  
प्रहसनमार्त्रं वस्तुतस्तदशुभ्रमागता उन्प्रेतायामैव तथाटौकित्यात् । अत्र द्वयो-  
रपि परस्परालम्बनिके रतो सामाजिकेन स्वगामनायामपेक्षिते रस । परमुत्तरोत्तर  
बाध्यम् । निर्दिष्टा स्वस्वक्रिया स्वस्वरत्यनुभावा । ता एव व्यन्ययेन परस्पर-  
रत्याकृष्टीपनानि । शून्ययामगृह्णन् द्वयो रत्योत्तरीक्यम् । स्वस्वक्रियान्यहृद्यौ हृद्यौ  
द्वयो रत्याग्र्यभिचारिणौ ।

नायिकारतिप्रयोज्यनायकताबुद्धत्य नायकरतिप्रयोज्यनायिकारतानुदाहरति—  
त्वं मुग्धाक्षीति । जय्यध्रान्तापत्रिण्या नायिकाया स्तनपिञ्जलमुदघादयितुं लक्ष्मेन  
तदुग्रन्धिं स्पृशति नायके सति नायिकया मङ्गलश्लोकित्वा अलीजनशृङ्गेन निर्यात  
इति समुदायार्थः । मुग्धाक्षीति मुग्धाङ्गानि वा स्वाभाविकमोन्दग्यप्रदर्शनाय  
सम्बोधनम् । वीटिका शन्यि । सखी अलीजनस्य नायिका । ऋदिति निर्याजे  
नायिकाया लज्जा स्यादत्ताऽज्ञानाभिनयाय शर्वैर्निर्याण तस्यालीकहतुकथनञ्च ।  
अत्रापि द्वयोरेव रत्यार्द्धावात्मने । एतादृशोक्ति वीटिकासम्पर्शो नायकरतेरनुभावौ,

(१) सञ्चुलिकर्ण, वृद्धि (सद्वृद्धिभावः) सङ्कल्प्य कर्मात् परितोन्मथमित्यर्थः । तत्र  
विस्तारिकाग्रन्थम्—“चि सलाममूलपरिशोधनान् इदृशा प्रियेण बालमेपकृतवान् इति ।

शाय्योपान्तनिविष्टसस्मिन्-सखीनेत्रोत्सवानन्दितो

निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

अपरस्तु (A) अभिलाप-विरहे-ध्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्च-  
विधः । क्रमेणोदाहरणम्—

नेत्रोन्मयः स्मितश्च नायिकारते । एकतररतेरनुभावा अन्यतररतेरुदीपनानि ।  
द्वयोदकानुभावव्यङ्ग्यौ ह्यौ व्यभिचारिणौ । रतिश्चे मामाजिके रसोत्पत्तिः ।

अपरस्त्विति । अस्यैतादृशपञ्चोपाधिभिः सहूलनमम्मयाघानस्यमिति (B)  
समस्तसम्भोगस्य स्वमिलाषेण सङ्कुलनसम्भवेऽपि एकत्वानुपाय इति चाभिप्रायः ।  
हेतुक इत्यतः हेतुपदं शापकहेतुपरम्, तत्र च 'अभिलापविरहे-ध्या-प्रवास-शापहेतु-  
कापक रतिजन्यत्वात्तन्त्रयस्य' \* । प्रदास्यतापो तूदीपकौ मम प्रियः प्ररसतीति भव-

(A) साहित्यदर्पणे तु पूर्वगत-मान-प्रवास-इत्यात्मकतया विप्रलम्भस्य वातुर्विध्यमुक्तम् ।  
सम्भोगविप्रलम्भयोरन्यथा व्याख्यानं प्रदीपे दृश्यते, तत्र "स ह्येषा सम्भोगो विप्रलम्भश्च, तत्र—

अनुद्भौ निपेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।

दृशंजन्यसंनदीनि स सम्भोगो मुच्यन्ति । ॥

स च परस्परालोकनादिभिरुपगमैक इत्येक एव गण्यते ।

भाषो यन् रतिनाम प्रकल्पं भविष्यति ।

भाषिष्यति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥

स च सङ्गमपूर्व, सङ्गमश्च, यत्रान्ययोरभिरापहेतुक इत्युच्यते अभिलापपदेन तद्वैतोत्पादि-  
सङ्गमाभावन्यं कथ्यमानम् । भाषन्तु क्वचिदीर्घायां प्रणयेन वा मानस्य, स ईर्ष्याहेतुक इत्युच्यते  
ईर्ष्यापदेन मानहेतोः कथ्यमानम् । क्वचित्तु कार्यवशादेशान्तरस्मिन् । स च प्रवासहेतुकोऽभि-  
धीशने, उत्पन्नमानोत्पन्नमानावपि प्रवासौ स्वज्ञानद्वारा विप्रलम्भप्रयोजकाविति भाष्यासि,  
प्रवासाद्रेण ज्ञानव्याप्ताद्वा । क्वचिच्छापात्, स च शापहेतुक इति व्यवहियते । क्वचित्तु-  
त्रितयातिरिक्तं गुण्यमादित् कारणात्, स एव विरहहेतुक इत्युच्यते । कश्चिदुदात्तास्याप्यत्रै-  
वान्तर्भावः " इति ।

(B) अत्र 'इति' पदस्य परं "अभिप्रायः" इति "हृदयम्" इति चाऽऽस्तांभेदेन अधिकं पाठो  
दृश्यते, स च ग्रामादिकं 'च'कारात्पठ्यते ।

1. 'मुक्तौ' इति पाठोऽपि । 2. 'यमित्यर्थे' हे चतुर्विधं विरहस्योत्पत्त्यर्थे व्यभिचारिभावः ।  
रतिप्रत्ययार्थः च, तत्रैव तु क्वचित्जनपुच्छकादात्मनः 'यमित्यर्थे' हेतुवत्तुमादित्यर्थः भाष्य-  
रतिप्रत्ययार्थः इति पाठो दृश्यते ।

प्रेमाद्रीः प्रणयस्पृहाः परिचयाद्गुहादरागोदया-  
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमवुराद्वेषेष्टा भवेयुर्मयि ।  
यास्यन्तःकरणस्य बाह्यकरणयापाररोधी क्षणा  
दाशसापरिकल्पितास्यपि<sup>(A)</sup> भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥३०॥

शापप्रतिवधात् प्रियान्तिकं गन्तुं न शक्नामीति ज्ञाने मति 'त्युदीय' । 'अत एव  
शापप्रदमत्र प्रियजनप्राप्तिप्रतिवधं प्रत्यपमेयं, तत्र उपनिष्कृत्यान्विष्टिह । प्रशमन्तु  
न प्रतिवधं प्रकृतेः स्वच्छया आगमनमममरात्' \* । अमिगपश्च अमिलितस्य जनस्य  
माक्षान् परम्परया वा प्राप्तोन्ना, तज्जनकप्रमाधनतापानधारा ॥ गतिरित्यनिलाप  
स्तज्जन्यत्यादनुभाय । इतमङ्गुलस्य नायकस्यानगमने सयुक्कणा रिह ।  
तदुक्तम्—

प्रियं हृत्वा तु सङ्कतं यस्या नायाति मग्निधिम् ।

मा मनामयदु साक्षा रिहान्कण्डिता मता<sup>(B)</sup> ॥ इति ।

'सा वाक्कण्डा गतिजस्यैवत्यनुभाय अमिगरित्वेऽप्यनुभाय शनपायान्' \* ।  
पयायकात्प्रयुक्तं मानुगमा इय इया । भावि उत्तमान वा प्रियजन  
वेक्ष्य प्रशमः । इष्टप्राप्तिप्रतिवन्धिका अन्तिहत्तुरी मिह्वरजमा वाक 'गप' । वतौ  
छात्रुदापनविभायारि युक्तमेव \* । तत्रामिगपहतमाह—प्रेमाद्री इति । प्रमशान  
माधरस्य पुरानुभूतमाश्रितौ कचेष्वस्थियमाश्रमा । मा ॥ माग्याप्राप्ता पौपात्रिन्ये  
धति परम्परया माग्योप्राप्तीच्छैः । मुख्यतया माग्या तास्ता ह्कण मयि मयु  
ह्कणान्धराभावेर मुख्यह्कणान्धरादानम् । घण क्रीण्य ? प्रेक्षणा आद्रा म्निधा

(A) मानव मन्त्रीकृत्य प्रवृत्ता इमाश्च इत्यादिमात्रं सम्भावितान्वित्यर्थं किं पुन  
यथायथा मा मन्त्रीकृत्य प्रवृत्ता इति निश्चितान्विति अपिमागय ।

(B) माहिल्यपण तु अन्य द्वितीयाद् विप्रकृता तु मा नया विगतान्तमवमानिता  
इवाकाणं ह्यन्त ।

१ वसन्तधौ पीपतात स्वरा २ चरमत्र धु मयुजकपीन हृष्यत ३ सतकण्डा चोत्पन्न-  
वपन्त्रं नृभिर्वाभिवात एव ॥ 'भाव एव (१) निजस्वरा(त्)नुमात्रं ॥ ४ तत्र स चोत्पन्नवपन्त्रं  
इत्यादिप्रतिवन्धकम् न न तप्य वन ५ प्रतिरोधान्दमि परिहृष्ट प्रवासक(२)प्रतिवन्धकं किञ्चावमनन्ध्या  
वपकाश्चाभात एव इच्छन् च वसन्तधौपात मा । ५ चरमत्र धु पुनवे नाणि

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां घातुरागैः शिलाया-  
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्मैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे

कूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ३६ ॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेष्ट्या

मन्त्रात्मनां प्रतिपदं पृथैः पवित्रे ।

शापहेतुकमाह—त्वामालिख्येति । मर्तृशापप्रतिरुद्धप्रियासन्निधिगमनस्य यत्तस्य  
‘मैघढारा प्रियायामुक्तिरियम् । प्रणयकुपिता त्वां प्रिया घातुरागैः शिलायामालिख्य  
आत्मानं तव चरणपतितं कर्तुं यावदिच्छामि तावदुपचितैर्वापै मे दृष्टिर्मुदुरालुप्यते  
अस्तस्मिन्नपि(A) समये कूर कृतान्तं द्वैवं नौ भाषयो, सङ्गमं न सहते ।  
'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुञ्चलकर्मसु' इति कौप । शिलायां लिखनमौग्यव्याप ।  
कुपिताया रक्तत्वेन घातुरागीलिखनम् । लिखनं चरणपातश्च द्वयमपि इच्छानियय  
एव न तु निष्पन्नमिति भावः । केचित्तु चरणपात एव शापप्रतिरुद्ध, लिखनन्तु  
निष्पन्नमैवेत्याहुः । चरणपातोऽपि लेखरूपं प्रवेत्यन्ये । अत्रालुप्यते इत्यन्तेन  
निराकाङ्क्षवाक्येन यत्तस्य विप्रलम्भरतिर्व्यज्यते, प्रिया तदालम्बनं दृष्टिलोपन्यद्गुण  
दैन्यं व्यभिचारिभावः, इयमुक्तिरेवानुभाषः । प्रकरणलभ्य शाप उद्दीपनम्, यत्तर्पितमे  
सामाजिके रसोत्पत्तिः । ननु कूर इत्यादिना निराकाङ्क्षवाक्येन व्यङ्ग्यो दैवनिर्गुण-  
सुधारूपव्यभिचारिभावोऽप्यस्तीति कथमयं नास्त्यारूपव्यभिचारिभावश्चनिरिति चेत्,  
तदर्थे इत्यादेशः(B), 'किन्तु द्वयोरपि निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वेन रसभावयोर्द्वयो-  
रङ्गाङ्गिभावापन्नसङ्करव्यभिचारिभावः वाच्यः, तथाऽपि सङ्करपदस्यिप्रलम्भ-  
व्यभिचमुपपद्यत एव' ३ ।

हास्यरसमुदाहरणम्—आकुञ्च्येति । रुदन्तं विष्णुशर्मणं दृष्ट्वा हसत उक्ति-

तारस्वरं प्रहितयूत्कम्पदात् प्रहारं

हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३७ ॥

हा मानस्यरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः काशिपो

धिक् प्राणाम् पतिनोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।

इत्थं वर्धरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-

श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तिरपि<sup>(A)</sup> ॥ ३८ ॥

रियम् । विष्णुशर्मा इति रोदिति । कीदृश रोदित्यत्राह—आकुञ्चयेत्यादि हाहा-  
हतोऽहमित्यन्तम्, वेण्या मम मूर्ध्नि धनुर्चि पाणिमाकुञ्च्य तारस्वरं प्रहितयूत्कञ्च्य  
यथा द्यान् तथा प्रहारमदान् । मूर्ध्नि कौड्ये । प्रतिपद प्रत्यययरूपप्रतिस्थान  
मन्त्रात्मना पृथक् कणामि पञ्चि । अत एव अशुचिपाणिप्रहारेणात्यन्तदुःखात्  
रोदनम् । तारेत्यादि द्वय प्रहारवानक्रियानिगेरणम् । यूत्क लाला । अत्र  
पतङ्गकुर्हासस्य रद्विष्णुशर्मा भालभवनम् । रादनकथनमनुभाय । रोदन-  
धारयार्था आकुञ्चयेत्यादय उद्दीपनानि । रोदनरुदनव्यङ्ग्या बलव्यपलता व्यभि-  
चारिभाय । हास्त्रे सामाजिके रमोत्पत्ति ।

कथयमाह—हा मानसिति । इहामानाया मन्त्रात्मना पुरस्त्राणां रोदन  
पूरांशार्थः । तन् कथयत रुस्यविदुकि पगर्द्धम् । पौराङ्गनानामिन्ध गिर चित्र-  
स्थानपीत्यन्वयः । भित्ति देहली । त्यरिताऽसि त्यरित गताऽसि । धिगिति  
शीघ्र तन्धराणां इहामीनप्राणानां तन्धरणेऽनन्धराणां स्वप्राणानाञ्च निन्दा । इग्वोह  
सन्धानानुपलभेनात्यन्तदुःखाद् दग्धे इत्युक्तम् । गिर कौड्यः । स्वरमङ्ग्या वर्धरा,  
अमान्मध्यरुद्धा, करुणा कथय्यसूचका । वर्धरमध्यरुद्धयो र्ध्वराये तेन सह  
करुणा इत्यस्य कर्मधारयः । अत्र रदतीनां गोरुम्य दद्यामाना भालभवनम्, रोदन-  
मनुभाय, 'रोदनधारयार्थाञ्च उद्दीपनानि' । मध्यरोदयङ्ग्या अतो व्यभिचारी ।  
गोरुमे सामाजिके रमोत्पत्ति ।

पुनरुक्ता पाठ्यन्तु यस्याधानां प्रयसान्तपदाभावेन पदम्यन्तस्य दुरपज्ञानव्यत्ययेन लेखकप्रमाद-  
कृत इति प्रतिभानि ।

(१) काष्मीरशत्रुजननोमत्ने उत्साहयित्रा भटनारायणेन रचितं कृतमिति जयन्तभट्ट ।  
राजपक्षा स्वयंतायां तत्परिबन्धिकापोकिरिषिमित्यन्ये । इति शल्लोचिनी ।

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकं  
मनुजपशुभिर्निर्मर्षादैर्भवद्भिर्द्विषदायुधैः ।

(A) नरकरिपुणा सार्धं तेषां समीमकिरीटिना-

मयमहमष्टद्वेदोमांसैः करोमि दिवां बलिम् ॥३९॥

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहित हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा

युष्मदेहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

रौद्रमाह—कृतमिति । स्वेच्छासृतद्रोणशिरस्त्रेदकुहस्याम्बल्यान्नोऽर्जुन(B)  
सम्बोध्य उक्तिरियम् । इदं स्वेच्छासृतमनुपिष्टशिरस्त्रेदकं गुरु पातकं यैरुदगतायुधै-  
र्मर्षादाशून्यै अत एव मनुजपशुभिः भगद्विरर्जुनाद्यै कृतम् अनुमतं दृष्टं वा, नरका-  
सुरस्य रिपुणा कृष्णेन सहिताना भीमकिरीटिसहितानाञ्च तेषाम् अष्टद्वेदोमांसै-  
र्भवमहं विरा विरुक्षितभूताना बलिं करोमितीत्यर्थः । किरीटी अर्जुन, मैत्रः सैलम् ।  
उदायुधानामीदृशाकार्यकरणानौचित्यान्मनुजपशुत्वासुक्तम् । तदुपपादनार्थम् उदायुधै-  
रिति, अत एव निर्मर्षादिरिति । नरकरिपुपदस्येवात् पातकरिपुत्वमपि सूचितम्,  
तेन पातककारिण पातकरिपूश्च हनिष्यामीत्यतो मन्त्रोपाज्जगदेव न इत्यतीति  
भावः । भयमहमिति पतन्तृत्तणवर्त्ती अहमित्यर्थः । अत्र अयत्त्यान्न क्रोधस्य  
अर्जुनाद्या भालम्बनानि नेत्रमकार्यम् उद्दीपनम् । तादृशं तर्जनम् अनुभाष ।  
तर्जनव्यङ्ग्यो गर्षोऽमर्षश्च व्यभिचारी । क्रोधज्ञे सामाजिके रसेत्तत्पत्तिः । न चात्र  
वीरो रस इति वाच्यम् असद्वीरत्वेन निन्दितेषु क्रोधस्यैवाग्निभांशात् सञ्जीव  
एवोत्साहात् ।

युद्धवीरमुदाहरति—क्षुद्रा इति । हे दृश्यमानाल्पसामर्थ्यत्वेन एते इयन्त लज्जा  
हरयः, संत्रासं विजहित त्यजन् यतो भिद्यन्शक्रेभकुम्भा अमी मम सायका मद्यापाशि-  
ष्यतन्तो युष्मदेहेषु अर्थान् पतितु लज्जां पर केवलं दधति, न ॥ पाताभिमुख्य पौरुषं  
या, युष्मदेहेषु निष्पतन्त इति तु नार्थः निष्पतनस्य पतनरूपत्वाभावात् । सौमित्रे इति  
मातृसम्बन्धकीर्तनम् अवीरत्वख्यापनाय । मेघनाद प्रसिद्ध पत्न्यान्ना, रामन्तु

(A) “पूर्वं दण्डक्रमेण कृतमिन्द्रायभिग्रायानन्ता क्रोधात् कर्म विस्मृत्यादुमन्त्र  
प्रागुपादानम् । पशुभित्तिवनेन कलिदानवोग्यन्ता ध्वन्यते” इत्युदाहरणचन्द्रिकायां स्पष्टम् ।

(B) “अर्जुनादीन्” इति युक्तं केचिन्मन्यन्ते उच्यते भवन्निति दिशंताम् ।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुपां नन्वहं मेघनादः  
किञ्चिद्भू भङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेपयामि ॥४०॥  
ग्रीवामङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः  
पश्चाद्येन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।

किञ्चिदन्वेपयामि । तत्र हेतुमाह—भूमङ्गेति, न तु सोऽपि सामस्त्येन ममान्वेषणपात्र-  
मिति माय । अत्र भूमङ्गेत्यादिना रामस्य सद्दीप्त्यन्वयमनुस्मादस्यैवानुभावा इति  
धीर एवात्र रसः, रामस्तदालम्बनम् । जलनिधिनियमनमुद्दीपनम् । तदन्वेषण-  
मनुभावा । वानरायुपेताख्यदूचो गर्जो व्यभिचारी । उन्साहने सामाजिके रसोन्-  
पत्ति । (४) वानधर्मद्वयाग्रीराद्युदाहरणानि तु वानाद्यतिशयवर्णनसंज्ञाका बोध्यानि ।

भयानकमाह—ग्रीवेति । गृह्णन्नाथ धातितत्पथस्य गृगप्रियां दर्शयतो  
दुष्पन्तस्य सारथिं प्रत्युक्तिरियम् । प्रकरणलभ्य एव दृग उद्गमस्तत्त्वात् मौढान्-

(४) केचित्तु “युद्धवीरो धर्मवीरो दानवीर इति त्रिधा । वीरस्यैव च भोगेऽर्थं कथ्यते  
सुरभि पर ॥” इति वदन्तो दवावीरं नेच्छन्ति । प्रतीपतु “युद्धवीरो दानवीरो दयावीरश्च”  
इति वीरस्य त्रैविध्यमेवोक्तम् । उत्तचातुर्विध्यस्तु साहित्यदर्पणतत्त्वम्मतम् । तत्र दानवीरो  
यथा—चण्डकौशिके द्वितीयेऽङ्के राज्ञ उक्ति —नन्वयमनुद्दीपयन्ति भगवता दीपयतो यथा —

नार्हन्ति सर्वमुवनान्यपि दक्षिण्यं सर्वस्वदानविनिवेदनकुण्डानि ।

एतां धनं कुलिकनन्दन तुल्यमद्य दृष्टव्यमिमा वसुमती विचिरेदयामि ॥ इति

अत्र दानपात्रं दिद्वामित्र आलम्बनम्, भयवन्तुदादिभ्यश्चतुर्दशकं उद्दीपनम्, तेन स्वाधि-  
मात्मन्य राज्ञ सर्वस्वदानोत्साहस्योद्दीपनात्, ईदृशोक्तिस्तुभावा, अनुद्दीपन इत्यादिपदव्युत्पा-  
दार्थादयो व्यभिचारिण, तदुत्साहजे सामाजिके रसोत्पत्ति ।

धर्मवीरो यथा शिशुपालवने वतुर्दशमो—

आननेन धर्मानं कल्प दधतां वक्ष्यितकामविग्रह ।

आप्नुत स विमलैर्जगैरमूढभूतिधरसूतिरशमी ॥

इत्यन्त शोकसमुदाय । अत्र राज्ञ उन्साहस्य यथा आलम्बनं दृष्टोत्पत्तिः प्राप्तो यथै  
निर्विघ्नादवप्रत्यय उद्दीपनम्, यात्रकरूपपरिहोऽनुभावा, इत्ये व्यभिचारी यथोत्साहजे  
सामाजिके रसोत्पत्ति । दवावीरो यथा मृच्छकटिके पाण्डुरे—

विपिनैर्वोपनीतस्त्व वधुविषयमागत ।

अपि प्राणावह जगता न तु स्वा शरणार्थिनम् ॥

इति चन्दनकृत्योक्ति, अत्र आर्य्यकचन्दनकृत्य दवाया आलम्बनम्, आर्य्यकृत्य

‘शप्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविधृतमुखम्रं शिभिः कीर्णवर्मा  
 पदयोदग्रप्लुतत्वाद्भियति बहुतरं स्तोत्रमुर्व्यां प्रयाति ॥४१॥  
 उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ ‘पृथूच्छोयभूपांसि मांसा-  
 न्यंसस्मिक्पृष्ठपिण्डायवयवसुलभान्युग्रपृतीनि जग्ध्वा ।  
 आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्गः (A) करङ्का-  
 दङ्गस्थादस्थिसंस्थं (B) स्थपुटगतमपि क्रव्यमन्यग्रमस्ति ॥४२॥

फालत्वाद् विधति बहुतरं प्रयाति उर्व्यां स्तोत्रम्, एतन् पञ्चेत्यर्थः । मृगं कीर्णम् ?  
 अनुपतति पश्चात्पतति स्थन्दने मृगानामङ्गेनाभिगमं यथा म्यात् तथा मुहूर्त्तदृष्टिः, तथा  
 शरपतनमयात् शरपतन(परि)जिहोर्पतो भूयसा महता पद्माक्षेन पूर्वकायं प्रणिष्ट  
 कुञ्चिताङ्ग इत्यर्थः । मयपदन्तु नात्र भीतिपरम्, तस्या अत्र स्थायिभावेन शब्दयाच्यये  
 रसन्वागात्ते । पद्माक्षेनेत्यत्र पृथोदरादित्यात् ‘त’ लोपः । तथा श्रमविधृतात् मुखान्  
 शिभिः अर्द्धावलीढैः शप्यै कीर्णवर्मा । अत्र मृगनिष्ठस्य मयस्य दुष्प्रसन्नं भातम्भनम् ।  
 शरपात उद्दीपनम् । मार्गं मृगक्रिया अनुभावा । वाच्यं धर्मो व्यभिचारी ।  
 भयने सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

वीमन्समाह—उत्कृत्येति । श्मशाने शरं भुज्जान् प्रेतं दृष्ट्वा माधवम्योक्तिरयम् ।  
 अथ प्रेतरङ्गः प्रेतेषु वरिष्ठः अङ्गुल्यात् करङ्कान् प्रेतगरीगात् अस्थिसस्य स्थपुट-  
 गतमपि क्रव्यं मांसम् अग्रम् अनावुलं यथा स्थान् तथा अतीत्यन्वयः । स्थपुट-  
 ग्रन्थिः । क्रमेण मत्तणाज्यग्रता । भक्षणक्रमेणाह—उत्कृत्येति । कृत्तिं धर्मं  
 उत्कृत्योत्कृत्य क्रव्यं जग्ध्वेत्यन्वयः । अथ अनन्तरं पृथूच्छोयेन महोनपुल्लतया  
 भूपांसि बहुलानि अस्मिक्पृष्ठपिण्डादिरूपावयवेषु सुलभानि उत्कटदुर्गन्धोनि  
 मांसानि जग्ध्वेत्यन्वयः । असं भुजम्भम् । स्मिक् नितम्बः । भादिना ऊर-  
 परिग्रहः । स्थपुटगतस्यानुपेक्षणाकार्त्तन्म । तवाकर्षणार्थं च दशनमरुदनम् ।  
 कश्चिदाच्छिद्य नेष्टतीति मयात् पर्यस्तनेत्रन्म । अत्र माधवनिष्ठगुप्ताया भक्ष्य-  
 शब्दो मत्तकः प्रेतश्चाश्लम्भनम् । श्रुतिगन्धानुद्दीपनम् । माधवम्येयमुक्तिः तद्वचङ्ग्यं  
 शरपागतत्त्वमुद्दीपनम्, ईदृशोन्मिन्ननुभावः मतिरुपार्णयो व्यभिचारिणः, व्योन्मादृशे सामाजिके  
 रसोत्पत्तिरिति । छष्टतरोनादृशानि तु मृगयाणि ।

(A) करङ्ग शिरोऽन्वि । (B) स्थपुटम् अस्थिसन्धिस्थानम् ।

१. ‘दभे’ इति पाठान्तरम् । २. ‘पृथूच्छोय’ इति पाठान्तरम् ।



चित्रं महानेय वतावनारः क कान्तिरेषाऽमिनवैव भक्तिः ।

लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एव सर्गः ॥४३॥

एषां स्थायिभावानाह—

(४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ मयं तथा ।

जुगुप्सा त्रिस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः (A) ॥३०॥

स्पष्टम् ।

निश्चिन्तनानुभावा । एतद्वर्णनयुक्तं जडता व्यभिचारिभार । जुगुप्सा मे सामाजिके रसात्पत्ति ।

अद्वैतमाह—चित्रमिति । सर्वप्रकाशप्रदं कश्चिन्महापुरुष इष्टं कस्यचिदुत्ति-  
रियम् । अर्थात्तुभूयमानमिदम् अन्तारमहत्त्वान्त्रिक चित्रं त्रिलक्षणं न तु रिम्भये  
अत्र चित्रपदं तस्यात्र स्थायिभावत्वेन गन्धराध्यत्ये रसत्वानासे । यत ह्ये ।  
एषोऽस्ताव महान्, एषा कान्तिर्न कापोत्यर्थः । इय मङ्गिरमिनरीय, धैर्यं लोकोत्तर  
प्रभावश्च महा अश्चर्यम् । अत्र च प्रभावविषय एव रिम्भय मने स्थायिभावः ।  
इयमाकृति काऽपि अनिर्वचनीया । एव रिमे सर्गं सृष्टिर्नूतन । अत्र धनु-  
रिम्भयस्य महापुरुष प्रालम्बनम्, तस्य कान्त्यादिकमुद्दिष्टनम्, धनुरियमुक्तिरेवानुभावा ।  
यतपरायणं हर्षं व्यभिचारिभार । रिम्भयने सामाजिके रसात्पत्ति (B) ।

रतिर्हासश्चेति । उत्तरस्तानामेते यथामूर्ख्यं स्थायिभावाः । रत्यादीनां  
लक्षणानि मूलानि दर्पण । यथा—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽयं मनस प्रगणायितम् ।

(A) कारिण्यं नाठ्यताम्बे दृष्टं ( ६ अ, १८ श्लो० ) ।

(B) रसाद्वापरकाराणु—‘चित्रं महानेय’विशेषे विष्णुपरावीक्षावि नात्र अद्वैतमन्त्रि-  
सम्भवति महापुरुषविषयाने सन्ध ‘पस्यामि देवान्त्वय देव देहे सर्वान्त्वया भूतविषेयमहान्’  
इत्यादिशिवे शुभीमावाहः । दृष्टान्तश्लोके मङ्गिरतीक्ष्णु महद्वदद्वैकप्रमाणा । एषा—

वरावरजानाठ्यदर्शनं दर्शनं एव ।

मङ्गिरमनाम्नीयं वीर्यामि हनयेतवा ॥

इति मृद्वग्रेनाभिप्रेषो न युक्त इति स्वयदर्शनं दर्शनं वाच्येयं प्रति यशोदाया ऋक्षेय  
दृष्टमहरणमनुवर्तमानम् । अत्र चदनमाद्यन्वयम्, तत्र वरावरदर्शनमुदीपयम्, इत्येवमन्वयव्यो

काव्य—१८

व्यभिचारिणो ब्रूते—

(४६) निर्वेद-<sup>१</sup>ग्लानि-<sup>२</sup>शङ्कास्यास्तथाऽसूया-<sup>३</sup>मद-<sup>४</sup>श्रमाः ।

आलस्यं<sup>५</sup> चैव<sup>६</sup> दैन्यं<sup>७</sup> च<sup>८</sup> चिन्ता<sup>९</sup> मोहः<sup>१०</sup> स्मृतिर्धृतिः<sup>११</sup> ॥ ३१ ॥

घोडा<sup>१२</sup> चपलता<sup>१३</sup> हर्ष<sup>१४</sup> आवेगो<sup>१५</sup> जडता<sup>१६</sup> तथा ।

गर्वा<sup>१७</sup> विषाद<sup>१८</sup> औत्सुक्यं<sup>१९</sup> निद्राऽपस्मार<sup>२०</sup> एव च ॥ ३२ ॥

रागादिबैरताद्येतोविकाशो हास इष्यते ।

इष्टनागादिभिर्मित्रेभ्योवैरुध्यं शोक उच्यते ॥

प्रतिकुलेषु तैश्चैव प्रबोधः क्रोधसञ्चितः ।

काव्यारम्भेषु सरम्भः उत्साहः स्मृदादृतः ।

रौद्रशक्त्यादिजनितं वैरुध्यं मनसो मयम् ॥

दानेक्षणविनिर्माहां अगुप्सेति निगद्यते ।

विविधेषु पक्षार्थेषु लोकसामान्यवृत्तिषु ।

विस्तारान्वेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ॥ इति

‘प्रवर्णयितम्’ उन्कट आवेगोऽनुपगच्छ, सोऽपि इष्टसाधनताप्राप्त्यारूपः, तत्त्विकद्वाराप, अभिलाषोऽनुपगच्छेनोक्तत्वात् । चेतोविकाश उपहसनीयत्वेन हानं मुखविकाश-रूपहास्योद्देतुः । इष्टनागादिभिरित्यदिपदाच्छेदोन्वयव्युत्पत्त्यात् । वैरुध्यं दुःखम् । सरम्भः सहर्षप्रवृत्तिः । तैश्चैव अपवित्रीयांश्च प्रबोध उत्कटत्वम् । रौद्रशक्त्यादि रौद्रः क्रोधः तस्य क्रोधरूपया शक्त्या ; वैरुध्यमिह भाविदुःखद्वेषः, तस्य च क्रोधजन्यत्वं तज्जन्यदुःखविययत्वात्, न तु तज्जन्यं दुःखमेव वैरुध्यं तदनुपपत्तिदशायामपि भीत्युपलम्भात् । एवञ्च मनःसोभयप्रादुर्भूतमात्रात्मकव्यभिचारिभावोऽस्य मेव ।

तेमाद्यादितुमात्रं, प्राप्यादिर्न्यमिवसी । अत्र विदयानादपि पुष्कला प्रीतिर्न प्रदीयते व्यग्रद-भावात्, तत एव य महापुरुषत्वविवन्धनो भावोऽपीति मन्यन्ते ।

सुतं <sup>१३</sup> 'विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्यमथोग्रता ।

मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३३ ॥

त्रासश्चैव <sup>१२</sup> वितर्कश्च <sup>१३</sup> विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

तयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ३४ ॥

विस्तार इति इष्टेनुभ्याऽसम्भाव्यत्यहानेन हेतुनुसन्धाने मनाभ्यापारणमेव चेत्तस्य विस्तारः । एते व्याधिमात्रा इव त्रासनायाममेदेनाद्यमाना रसतामापद्यन्ते इति वक्षितसिद्धान्तोऽप्येव ।

समाख्यातास्त्विति । नामत एव संक्षेपेणात्रा इत्यर्थः । असक्षेपकथने ॥ एकरसस्यापिमात्राऽपि अन्यरसे व्यभिचारिभावे इति सूचितम् । भूत एव दूरादुत्सुकमाग्ने इत्यादौ कोपोऽपि व्यभिचारिभावेनात्र । नामत इत्यनेन च लक्षणान्यन्यानुसंधेयानीति सूचितम् । तत्र दर्पण—

- (१) निर्बेदस्य यथा— तत्त्वज्ञानाधीन्यदिर्निर्बेदं स्वाद्यमाननम् ।  
दैन्य चिन्ता धुनिश्चास-वेदपर्या-च्छुसितादिहम् ॥ इति
- (२) ग्लानेर्यथा— इत्यायास मनस्ताप-क्षुत् पिपासादिसम्भवा ।  
स्नानिर्निष्पाणतकण-काष्ठाऽनुत्सा हितादिहम् ॥ इति
- (३) शङ्कुया यथा— परकौट्यो-त्तमदोषाद्यै शङ्काऽनर्थस्य चिन्तनम् ।  
वेदपर्य-कण-वेस्यर्य-पाश्वालोका-स्यशायहम् ॥ इति
- (४) भसूयाया यथा— भसूयाऽन्यगुणहीनामौदत्यादन्निष्पाता ।  
इष्टेक्षण-भ्रूनिभेदावका-कोपे-क्षितादिहम् ॥ इति
- (५) भवस्य यथा— सम्माह्वानन्दसम्पेदो भवः मद्योग्यंभवः ।  
भ्रमुना चात्तम-शेते मध्यो हसति गायति ।  
मद्यमप्रकृतिश्चापि पश्य वक्ति रादिति ॥ इति
- (६) भ्रमस्य यथा— सेदो रत्यध्वमत्यादे न्वास निद्रादिहृष्टम् । इति

- (७) आलस्यस्य यथा—आलस्यं श्रमगमोद्यैः 'पुस्तकार्येष्वनावृत्ः । इति  
 (८) दैन्यस्य यथा— दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिहृत् । इति  
 (९) चिन्ताया यथा— ध्यान चिन्ता हितानास्ते शून्यता-श्वास-तापहृत् । इति  
 (१०) मोहस्य यथा— मोहो विचिन्तता भोति-दुःखा-वेगा-र्यचिन्तनैः ।  
 धूर्णता-गात्रपतन-भ्रमण्या-दर्शनादिकृत् ॥ इति

विचिन्तता ज्ञानाजननम् ।

- (११) स्मृतेर्यथा— 'सद्व्यवहार-चिन्ताद्यैर्मुसमुग्रमनादिहृत्' \* ।  
 स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ इति  
 (१२) धृतेर्यथा— ज्ञाना-भीष्टगमाद्यैस्तु सम्पूर्णसृष्टता धृतिः ।  
 सौहित्यदृष्टानो-ह्लास-सहास-प्रतिभादिहृत् ॥ इति  
 (१३) प्रीडाया यथा— (A) सङ्कोचचेतसो प्रीडा वैषम्याद्योमुखत्वहृत् । इति  
 संकोचः सदृसा कार्येषु प्रवृत्त्यजननम् ।  
 (१४) चपलताया यथा— मात्सर्य-द्वेष-पागाद्यैश्चापत्यं त्वनवस्थितिः ।  
 तत्र भर्त्सन-पादप्य-स्वच्छन्दाचरणादयः ॥ इति  
 (१५) हर्षस्य यथा— (B) मनःप्रसादो हर्षः स्यादिष्टाकस्तिव्यादिभिः । इति  
 (१६) आवेगस्य यथा— (C) आवेगः सम्प्रमो राज-गज-वर्षादिसम्भवः । इति  
 सम्प्रमो महत्त्वेन अनजज्ञेयत्वेन वा ज्ञानम्, गजवर्षयोरपि अपकारसामर्थ्यात् तादृशं  
 भागमस्यैव ।  
 (१७) जडताया यथा— अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शबभ्रुतिभिः ।  
 अनिमित्तजनननिरीक्षण-तृष्णीभावादयस्तत्र ॥ इति  
 अप्रतिपत्तिः कर्तव्यमूढता, अतो ज्ञानाजननरूपाविचिन्ततात्मकान्मोहाद्वैव ।

(A) 'वाङ्मयीमाधो प्रीति वदनाममनादिदुःखाचारात्' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(B) 'हर्षस्तिष्टावासेर्मान-प्रसादोऽङ्गदुःखदादिकः' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(C) आवेगः सम्प्रमस्यैव वर्त्तते पिण्डबाहुता । उत्पातने स्मृतताऽग्रे भूमाद्याकुलता-  
 श्रिते । राजविजयजादेस्तु क्षात्रनागादियोजनम् । गजादे स्तम्भकम्पादिपांश्वाद्याकुलता-  
 निहावः । इष्टाद्वर्षा-मुषोऽनिष्टाकृतोवाश्रान्ये यथावयम् ॥ इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

१ 'नाथ कृपाविवदिहृत्' इति बुद्धिवाचित्यादर्पणपाठः । २. अवयवम् क इत्येव नास्ति ।

३ 'वचनादि-' ५ ।

(१८) गर्गस्य यथा— गर्गो मद्-प्रभाव श्री विद्या सन्<sup>१</sup>कुलजममि ।

भवता सयिलसाङ्गदर्शनाऽविनयादिरत् ॥ इति

भवता परस्मिन् ।

(१९) विद्यास्य यथा—उपायामात्रमन्मा तु विद्या स्तत्त्वसत्त्व ।

निश्वासा ऋषस दृष्टाप सहायान्वेषणादिरत् ॥ इति

निष्पाणताऽनौजस्य सत्त्वसत्त्ववाणा । तथाप्यमपि बलहानिरूपन्वेऽपि विभिन्नकारणकत्वेन  
ग्लानिर्देव्य विद्यादाना मेद् ।

(२०) श्रौतमुच्यस्य यथा—इष्टनशासेरौतमुच्य कालक्षेपासहिष्णुता ।

विचक्षण-स्वरा-लेद ईधनिश्चिततादिरत् ॥ इति

(२१) निद्राया यथा—चेतःसम्मिलन निद्रा भ्रम क्लम मदादिमा ।

जृम्भा क्षिमीलना ऋषस मात्रमद्गादिकारणम् ॥ इति

(२२) भवस्मारम्य यथा—मन क्षेपस्त्वपस्मारो प्रहाद्यावेगनादिज ।

भूपात-कर्म-प्रस्वेद-केन-लालादि<sup>२</sup>कारणम् ॥ इति

भवस्मारो मादथाभ्याधिस्त्वेऽपि शृङ्गार शतापेन, मयानकादौ तु म्बरादिष्येति प्रतिपाद्य  
मायं धृपगुणादानम् ।

(२३) सुप्तस्य यथा— सुप्त निद्रायमाणस्य विषयानुभवा य ।

काषा-वेग भव-ल्लादि-सुप्त दुःखादि<sup>३</sup>कारणम् ॥ इति

(२४) विबोधस्य यथा—निद्रापागमहेतुभ्या विबोध<sup>४</sup>चेतनागम ।

जृम्भाऽङ्गमद्ग-नयनो मीलना-द्वायलोकहन् ॥ इति

(२५) भ्रमस्य यथा— निन्दऽऽक्षेपापमाबादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।

नेत्ररमा शिरकर्म भूक्षपा लज्जनादिरत् ॥ इति

भभिनिविष्टता तन्निर्घातनापायभावना । तेनात्कर्मविकीर्षोरूपात् काषादस्य मेद् ।

(२६) भ्रमहित्यस्य यथा—(A)भ्रमहित्य तु लज्जादीर्हर्षाद्याकारगोपनम् । इति

(A) भ्रमगीत्वलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुहिरवहित्या । व्यापारान्तर्गतत्ववन्धवाऽवनापणविडोक्तमादि-  
करो ॥ इति स्रहित्यदपणलक्षणम् ।

१ 'कुलजममि' इति मुद्रितवर्तिका<sup>१</sup>पत्रपाठ । २ 'कारक' इति मुद्रितवर्तिका<sup>२</sup>पत्रपाठ ।

३ 'सङ्गी विद्यामुपेतल' मुद्रितवर्तिका<sup>३</sup>पत्रपाठ । ४ 'कारक' मुद्रितवर्तिका<sup>४</sup>पत्रपाठ ।

हरत्यघं संप्रति हेतुरेप्यतः

शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।

शरीरभाजां भवदीयदर्शनं

व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ ४६ ॥

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

सामाजिके माद्योत्पत्ति । महौ केत्यादौ तु निवृत्तये प्रलापत्वारोपाद् न तद्विषयभाव इति बोध्यम् ।

मुनिविषयां रतिमाह—हरत्यघमिति । अस्यागत नगरं प्रति धीरुष्णस्योक्तिरियम् । भवदीयदर्शनं कर्तुं कालत्रितयेऽपि शरीरमाश्रामं अस्मादश्रामं असीष्टमाजनस्वरूपां योग्यतां व्यनक्ति अनुमापयति, तत्र वर्तमानकालेऽघहरणम्, एष्यत भागमिष्यत शुभस्य हेतुत्वेन भाविकाले शुभवृत्ताम्, अतीतकाले च भवदर्शनानुमेयां शुभवृत्तां पूर्वाङ्गनाह—हरत्यघमिति । कृतं अनितम् । अत्र मुनि-पालम्बनम्, तद्दर्शनमुद्दिष्टम्, धीरुष्णस्येयमुक्तिरेवानुभावः, असीष्टवृत्ताप्यङ्गो हर्षो व्यभिचारी, मुनिविषयधीरुष्णरतिने सामाजिके माद्योत्पत्ति ।

एवमन्यदपीति । तत्र गुरुविषयतौ यथा—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्वृत्तः सयमितारिभिः ।

प्रत्यादिष्यन्त इय मे हृष्टलक्ष्यमिदं गतम् ॥

इति कुलगुरुं वशिष्ठं प्रति दिलीपस्योक्तिः । नृपविषयतौ यथा—

अहो महीयो भूपाल भुवनप्रितयोदरम् ।

माति मातुमशस्योऽपि यतोराशिर्यद्वत् ते ॥ इति

पुत्रविषयतौ यथा—

यदाह धात्र्या प्रथमोदित वचो

ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।

अभूच्च नम्र प्रणिपातशिङ्गया

पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकम् ॥ इति

पितृ-मातृ-विमातृविषयतौ यथा—

जीवन्मु दातपादेषु नये दारपच्छिदे ।

मातृमिधित्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥

इत्युत्तररामचरिते रामस्योक्तिः ।

अङ्गितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया  
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।  
नो पावत्परिरम्य चाटुशतकैराभ्वासयामि प्रियां  
घ्रातस्तायदहं शटेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ४७ ॥

अथ विधिं प्रत्यसूया ।

घ्राद्विषयवर्तौ यथा—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा ।  
त तु देश न पश्यामि यत्र घ्राता सहोदरः ॥ इति

कन्याविषयवर्तौ यथा—

पातु न प्रथमं व्यस्यति जलं युष्मास्वमिनेषु या  
नाऽऽदत्ते प्रियमण्डनाऽपि भयतां कोह्येन या पल्लवम् ।  
आद्ये च कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भयस्युत्तर  
सेय याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुश्रवताम् ॥

इत्याश्रमवृत्तान् प्रति कण्वत्याकि ।

सुहृद्विषयवर्तौ यथा मम—

दुःखे सुखे रहसि नर्मणि तुल्यधर्मा  
मर्मान्तिकेऽपि किल कर्मणि शर्मदायी ।  
धर्मोऽप्यवैति कथिरे बलितो न धर्मं  
स्थ मे सन्न जगति कोऽस्ति तर द्वितीय ॥ इति

उदःसीनविषयवर्तौ यथा—

यं पृथते सुरसरिः<sup>१</sup>मुखतोर्थं सार्धं  
क्षानेन शास्त्रपरिशौलनकीलनेन ।  
सौजन्यमानजनिकजितमूर्जिताना  
सोऽयं दग्धो यतति कस्यचिदेव पुम् ॥ इति<sup>२</sup>

जाने कोपेति । स्वप्रवृत्तं सख्यौ कथयत उच्चिरियम् । जाने स्मरामि ।  
पाणिना मा मा स्पृशेति हृत्वेत्यर्थः । यदा मा मा स्पृशेति पाणिनेव हृत्वेत्यर्थः ।  
‘तथाचात्तरमदृत्वा हस्तसङ्गमव निनिध्येत्यर्थः’<sup>३</sup> । शटेन ललेन । अघ्रेति भस्या

१. प्राचीनिके छ । २. यदयम् छ पुच्छे गच्छि । ३. अशतोवर्षे न । ४. ‘यत्तद्विषयानुसारं निश्चितम्’ न च य ।

(४६)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

व्यञ्जकवाच्यस्येव निराकाङ्क्षत्वादिति भावः<sup>१</sup> । अतोऽत्र प्रतीयमानोऽपि विप्रलम्भ-  
अभूयाभावस्य व्यभिचारिभावतामेवापन्नः । त्वामालिख्येत्यादौ तु मालुप्यमे-  
इत्यन्तं न केनापि साकाङ्क्षोक्तम् । एवञ्च रसकाव्येऽपि भावां भावकान्येऽपि रसो  
वर्तते एव । तत्तद्वृत्तित्वनिवामकन्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव ।

अत एवान्यशोक्तम्—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृतासिद्धिरनयो रसभावयो ॥ इति

न चैवमत्र रसस्य भावाङ्गत्वे विध्यमाणमपराङ्गतत्वं गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यमेव किमिदं  
न स्यादिति वाच्यम्, अत्र रसस्य अभूयानिर्वाहकत्वेन स्वचमत्काराभावावपराङ्गत्वा-  
भावात्, यत्र स्वस्यैव चमत्कारिता तद्वर्तिनस्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव तत्र  
स्वचमत्कारेणाङ्गिप्रकर्षकस्याङ्गस्यैव अपराङ्गत्वम्, तच्छब्दे बोध्यम्\* ।

तदाभासा इत्यत्र तत्पदस्य रसभावोभयपरादर्शकत्वमभिप्रेत्य व्यावष्टे—  
रसाभासा इत्यादि । अनौचित्येति शृङ्गारादौ यदु यत्कालम्भन वर्जितं  
तत्तत्कालम्भनकृत्यमेव अनौचित्यं बोध्यम् ।



तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे

विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।

सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्

तपःश्रीः कर्म्येषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥ ४८ ॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः स्तुम इत्याद्यनुगतं बहु  
व्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

“तत्र” शृङ्गारे । अत्र “इतिणाद्याश्च नायका” इत्यनेनाधर्मनायकयज्जनात् तेषामने-  
कांश्चैव धर्म्यत्वप्रौढ्येण अनेकोपनायकस्मिन्नाधिकारतापुद्गाहयति — स्तुमः कमिति ।  
हे वामाक्षि सुन्दरनयने, य पुरुषे विना त्व क्षणमपि न रमसे न हृष्यसि त क स्तुम  
तवेद्वेगानुरागनिधत्वेन तस्य स्तुत्यत्वाविति भाव । तथा य पुरुष मृगयसे भन्विष्यसि  
कोऽसौ, भयार्जज्मन्तरे रणरूपयज्ञस्य मुखे भवौ प्राणान् विलेभे त्यक्तवान् । विपूत्रो  
लभिरुपागोऽपि । त्वमकर्तृकान्वेषणरूप फल जन्मान्तरे सम्मुखरणमरणस्यैवेति भाव ।  
तथा हे शशिमुखि, य पुरुष बलावालिङ्गसि स क सुलग्ने जातः, तथा हे मदननगरि, य  
तु पुरुष ध्यायसि कर्म्येषा त्वदज्ञानरूपा तपःश्री । अग्रेति स्तुम इत्यादि धास्य  
चतुष्टये ‘अनुगत’ सम्बद्ध ‘बहुव्यापारोपादान’ इदमभिहितभावत्वात् उपात्ता बहुव्यापारा  
सदा रमणमार्गमालिङ्गनाभ्यासरूपा, तस्या अनेककामुकविषयमभिलाष व्यनक्तीत्यर्थ ।  
व्यक्तेनाभिलाषेण च स्थजनेकेषु साधनताशानधारारूपा इतिर्व्यज्यते इत्यर्थ, न  
त्वमभिलाषरूपैवात्र इतिरस्तस्या अभिलाषश्च दूष्यत्वम्येष प्राशुक्तत्वात् । मन्वीदृश-  
व्यापाराणां स्वीयैकनायकविषयत्वमपि सम्भवति तत्र कथं कामुकानेकत्वलाभ  
इति । अत्र चतुर्वर्ती—सर्वज्ञ वर्तमानानिर्दोषादेककालत्वात् लब्धे विभिन्नकालीनाना-  
मालिङ्गनावेषणादीनाम् ‘एकदैकपुरुषेऽसम्भ्रान् तदनेकत्वलाभ इति व्याचष्टे, तत्र ।  
■ स्यापि मच्छतीत्यादायि विभिन्नकालीनक्रियास्यपि तत्तत्कालधर्तमानत्व-  
मादाय वर्तमानानिर्दोषासम्भवादिकालत्वलाभान्, ‘अथवा एकपुरुषालिङ्गकाले  
अन्यपुरुषस्य कपिकान्वेषणासम्भ्रातहोषतत्त्वस्वज्ञान्, न ह्यत्र मानसमन्वेष्टेण चियज्ञित  
तस्य ध्यानेन गतार्थत्वात् । अत्राव्यते—ध्यायसि तु यमित्यत्र पूर्वनिर्दिष्टक्रिया-  
कर्माभूतस्य पुरुषस्य ‘तु’ शब्देन ध्यानाव्यये ‘व्यवच्छिन्नत्वात् यत्पुत्रचतुष्टयाच्च  
कामुकानेकत्वलाभ, न हि य पट्ट चालयसि कोऽसौ न तु परिधत्से कोऽमावित्युक्ति

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी

सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।

तत् किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं

तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥ ४९ ॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः सचलता तथा ॥ ३६ ॥

पदैकत्वे सम्भवति, न वा 'प्रष्टव्यैकत्वे प्रतिपद्य यत्पदनिर्देश उचितः । एवं भवन्नागरीत्यत्रापि भवेकपुरुषाभयनगरीरूपणादपि नानापुरुषविषयानेकमवनाभयत्व-  
सूचनं बोध्यम् ।

भावाभासो यथेति । अत्र भावो व्यभिचारिभावः, तस्य चात्र भृङ्गादीयावेन भृङ्गादवञ्जितमनुरागिणीविषयत्वाद्भासता बोध्या । राकेति । राका पूर्णिमा । तरङ्गितः तरङ्गदुत्तरोत्तरं जायमानः । तथाच सा इत्य सौन्दर्यादनुपेक्षणीया, तत् तस्मात् किं करोमि, मत्त भव्यां कथ मैत्रीं विदधे, तत्कर्तृकस्वीकारसमूहे इह क उपाय इत्यर्थः । यत्किञ्चित् स्वीकारस्यानुदेत्यत्रातु व्यतिकर इत्युक्तम् । मत्त तत्स्वीकारोपायविन्तया 'मनुरागित्वलाभात् तद्विषया चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तितैवे-  
त्याह—अत्रेति । एवमन्येऽपीति, रसाभासे निरोपेत्यादिकं यः क्रौमादहरे-  
त्यादिकञ्च । भावाभासे तु—

गाम्पाहमि गामैवसामिनअरिठइं न भाणामि ।

णाअरिआणं पण्णो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ इति

अत्र परपुरुषहरणाधीनो गर्वोऽनुचितः ।

रसमापेत्यादिक्रमप्राप्तान् भावशान्त्यादीनुदाहर्तुमाह—भावस्य शान्तिरित्यादि । 'शान्ति' नाशः । 'उदय' उत्पत्तिः । 'सन्धिः' विरुद्धयोर्द्वयोरप्यन्तेदकमेदेन एकत्र एकदा स्थितिः । (A) सचलता पूर्वपूर्वभावापेक्षया उत्तरोत्तरमाधानां

(A) कारिकास्य "सचलता" शब्दस्तालव्यादितया बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, उक्तञ्च प्रदीपे "सचलता तु कालभेदेन निम्नतरतया पूर्वपूर्वकमर्दिनाम् । न च भावस्य सचलतायाः शान्त्यनुदाह्यामविशेष शान्तोदयस्य वा शब्दस्यास्वादे तत्रेदद्वयोपगमात्" इति । साहित्य-  
दर्पणेऽप्यस्य तालव्यादित्वमुक्तम्यते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रक्षेपमुद्राङ्कितं  
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।  
इत्युक्ते क तदित्युदीर्य सहसा तत् संप्रमार्ष्टुं मया  
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्याऽपि

तद् विस्मृतम् ॥ ५० ॥

अत्र कोपस्य

एकस्मिच्छयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया  
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया बाढूनि कुर्यन्नपि ।  
आवेगादवधीरितः प्रियममस्तूर्ण्णां स्थितस्तत्क्षणं  
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दबलितग्रीवं पुनर्वाञ्छितः ॥ ५१ ॥

अत्रौत्सुक्यस्य ।

बलवत्ता (A) बलवत्समूहो वा, न तत्र पूर्वभावस्य नाशप्रतीतिरतो भावशान्तितो भेदः । एतेषां निराकाङ्क्षताप्यव्यङ्ग्यत्वे तत्तद्गुणित्य बोध्यम् । तत्र भावशान्ति-  
मुदाहरति—तस्या इति । स्वनायिकाकोपतच्छान्तिवृत्त सख्या कपयत उक्तिरियम् ।  
तत्र सम्भुकोपनायिकास्तनरगाङ्कितवत्तस प्रणमन्तं स्वनायकं प्रति कुपिताया  
नायिकाया उक्ति प्रथमाहम् । तत्र च प्रसेपं बालिङ्गनम् । मुद्राङ्कितं विहितम् ।  
इति पूर्वार्धे तथा उक्ते, तन्मुद्राङ्कितत्वं संप्रमार्ष्टुं गोपायितुं मया 'क तत्' इत्युदीर्य  
सहसा सा आश्लिष्टा, तत्सुखवशात् तथा तन्व्याऽपि तत् मुद्राङ्कितत्वं विस्मृत-  
मित्यर्थः । कोपस्येति शान्तिरित्यनुमद् । एवमुत्तरोत्तरमपि । कोपस्य च  
भृङ्गारे व्यभिचारिभावस्य दर्शितमेव । कोपहेतोर्मुद्राङ्कितस्यस्य विस्मरणेन कोपस्य  
शान्तिर्गर्भज्ञा विस्मृतमिति वाक्यस्य तद्वचनस्य निराकाङ्क्षत्वात् ।

मात्रेणमुदाहरति—एकस्मिन्निति । शयने शयनायाम् । विपक्षरमणी सपत्नी  
उपनायिका वा । सुप्त निद्रित इव निस्पन्द जाटुकरणविमुखो मा भूदित्यर्थः । अमन्देति  
यलितक्रियाविरोधणम् । न चात्र यदि पूर्वकोप प्रतीयते तदा सन्धिरेव यदि च तत्राश  
प्रतीयते तदा भावशान्तिरेवेति वाच्यं, पुनर्वाञ्छनेन उत्सुक्यस्यैव प्रतीतेः, न तु कोप-

(A) अत्र "बलवत्समूह" इत्यर्थः जनता इत्यादिवत् 'त' प्रत्ययेन कश्चिदुपपादनीयः ।

१. 'च' इति पाठान्तरम् ।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिवेरभ्यागमादेकतः

सस्सङ्गप्रियता च वीररमसोत्फालश्च मां कर्षतः ।

वैदेहीपरिरम्भ एव च मुहुश्चैतन्यमामीलय-

ज्ञानन्दी (A) हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्धन्यतः ॥५२॥

अत्रावेगहर्षयोः ।

काऽकार्यं शशालक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा

दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।

नाशस्तत्त्वयोरैकदशापि नाप्यौत्सुभ्योदयादेव कोपनाशमौय्यात् तन्नाशप्रतीतिं कोपस्तत्त्वे-  
ऽपि चादुकरणाद्यर्थमौत्सुक्योदयसम्भवात् ।

भावसन्धिमुदाहरति—उत्सिक्तस्येति । परिग्रह्यमाणवैदेहीकस्य भावनोप-  
नीतवैदेहीकस्य वा रामस्य परशुरामागमे परामर्जोऽयम् । तपःपराक्रमाभयनिधे भूत  
एव उत्सिक्तस्य उद्भूतस्वार्थात् परशुरामस्य अभ्यागमात् सत्सङ्गे प्रियता इच्छा  
वीररमसे वीरोचितोद्यमे उत्फालः उत्कण्ठता च माम् एकत एकस्या दिशि कर्षत,  
तपःपराक्रमद्वयवशात् यथासङ्गं तद्दृश्येनाकर्षणम् । मन्यत मन्यस्यां दिशि ययः  
अनुभूयमानः भावनोपनीत वा वैदेहीपरिरम्भः मां रुणद्धि मुनिपार्श्वं गमनान्निवर्त्तय-  
तीत्यर्थः । परिरम्भः कीदृशः ? हरिचन्दनं चन्दनविशेषः तद्वत् इन्दुवत् शिशिर-  
स्निग्धः, स्पृहणीयश्चैव स्निग्धत्वम् । अत एव आनन्दो आनन्दजनकः । अन्नेति ।  
'आवेगः' मुनायनयज्ञेयत्वरूपः सम्भ्रमः, स च उभयाकर्षणलङ्घनः । हर्षस्तु परिरम्भ-  
जन्यमानस्यलङ्घनः । अन्योर्वैरुदयोरैकदा एकत्र स्थितिरूपः सन्धिरत्र निराकाङ्क्ष-  
भावश्चैवत्यङ्ग-यः ।

भावसबलत्वं मुदाहरति—काकार्यमिति । उर्वर्गोर्विच्छात् स्वमरणमुपक्रम्य

(A) हरिचन्दनं देवतरविशेषः, तथाच “पञ्चते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः ।  
सन्धानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥” इत्यमरः । “हरिचन्दनमालीं स्यात्  
त्रिशूलानां महीवदे । नपुसकं तु गोत्रीर्चं न्योत्खाकुङ्कुमयोरपि ॥” इति मेदिनी । हरि-  
चन्दनं कोकणे प्रसिद्धम्, अल्प गुणा—इतिचन्दनस्तु दिव्यं हि य एरिह दुर्बलं मनुजैः । पिता-  
दोषविडोर्नि वमपु-भ्रम-कोप-मान्यमेदोहन् ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे ।

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियाः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा ।

चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा घन्योऽधर घास्यति ॥५३॥

अत्र चित्कर्तृत्सुक्य-मति-स्मरण-शङ्का-दैव्य धृति चिन्तानां सफलता ।

भावस्थितिस्तृप्ता उदाहृता च ।

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

पञ्चान्निरतमानस्य पुरुषस्य उक्तिरियम् (A) । अत्र कुलमित्यन्तेन च द्वकुले स्त्रीविरहा  
'दातृमहत्या त्वकाव्यमित्येव विचाररूपो चित्कर्तृ प्रतीयते । भूयोऽपि दृश्येत सैन्येन  
व्यङ्ग्यमोत्सुस्य विच्छेदोत्तरज्ञानत्वात् ततोऽपि बलवत् । दोषाणामित्यादि धृतमि-यन्तेन  
व्यङ्ग्या 'सम्या तदनुरागो दोषायैव त्यथनिर्धारणरूपा मतिस्तदाऽपि बलवती । (B) धृत  
वेद' । अहो इत्यादि मुख्यमित्यन्तेन व्यङ्ग्य मुख्यकर्मणीयन्यस्मरण ततोऽपि बलवत् ।  
किमि-यादि कृतधिय इत्यन्तेन व्यङ्ग्या शङ्का ततोऽपि बलवती । स्वप्नेऽपि सा दुर्लभेत्यनेन  
व्यङ्ग्य स्थानौनस्यरूप दैन्य ततोऽबलवत् । चेतः स्वास्थ्यमुपैहीत्यनेन व्यङ्ग्या  
धृतिस्ततोऽपि बलवती । कः खल्वित्यादि-पङ्क्त्या चिन्ता ततो बलवतीत्येव  
सफलतेत्याह—अत्रेति । घास्यति पास्यति । बलवतो व्यञ्जने इत्यवस्थाऽपि व्यङ्ग्या ।  
बलवत्समूह इत्यर्थे या सफलतेति तद्विज्ञानं पदम् । भावस्थितेरपि सम्भवात् किमत्र  
तदनुक्तिबीजमित्यत आह—भावस्थितिस्त्विति स्थितभावस्थिति, सा च भावा  
प्रातिरिच्यते इत्यतो भावाक्तिरेव तदुक्तिं जाने कामपरान्मुखीत्यादिकमेव तदुदाहरण  
मित्याह—उक्ता उदाहृता चेति ।

नन्वेतदाहरणेषु सर्वत्रैव रससम्भवाद रसजन्य एव किं नैत इत्यत आह—  
मुख्ये रसेऽपीति भाषाघपेक्षया भाव्यादाधिनयेन मुख्ये रसे सत्यपि ते कदाचन  
निराकाङ्क्षवान्ययङ्ग्यत्वदशायां साकाङ्क्षवान्ययङ्ग्यरसस्य अङ्गित्वं प्राधान्या

(A) यद्यपि यद्यपि मस्मदुपल-पेषु किमोर्वशीरोद्वेगेषु नोफलम्बते उवशीपुस्त्वसा  
वधिरुत्य विरचित कल्पान्तरमपि न दृश्यते तथापि १८७९ मृगम्-इति पुस्तके १२०  
पृष्ठे अधिकपाठरूपणोपलभ्यत एव । एतेन मुक्तकन्या देवदानीं दृष्टवतो राज्ञा ययात्रहन्तिरि  
मिति यदन्त श्रीवत्सलाभनकमलाभरवैवभाषमीमसना-य प्रत्युक्ता इति बाल्योधिण्या स्पष्टम् ।

(B) 'धुनं शास्त्रध्वजम्' इत्युदाहरणचन्द्रिका ।

ते भावशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।

(५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थोभयशक्त्युत्पत्तिद्विधा स कथितो ध्वनिः ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप-  
व्यङ्ग्यः उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः ।

तत्र—

(५३) अलङ्कारोऽयं वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते ॥ ३८ ॥

प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

शान्तुवन्तीत्यर्थः । भावशान्त्यादय इत्यत्र भावतच्छान्त्यादय इत्यर्थे भव्या  
'भावस्याङ्गित्वात्वात्पुनरुक्तिरूपन्यूनतापत्तेः' १ । राजानुगतेति विवाहप्रवृत्तो भृत्यो  
यथा रामा तद्दिने मनुमन्थने (A) तथा मुख्येनापि रत्नेन निपाताद्वाक्यव्यङ्ग्यो  
भावादि प्रधानीकृत्यानुपगम्यत इत्यर्थः ।

इत्यमसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं समाप्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य शेषमाह—अनुस्वानेति ।  
मनुस्वान् प्रतिष्वभिः । तस्य खलु जनकीभूतज्ञानोत्तरजायमानत्यक्ष्यं प्रभो लक्ष्यते ।  
तद्वामं तत्तुल्यं यथा स्यात् तथा सलक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यमिति व्यङ्ग्यमतीतिर्यस्य  
तादृशस्तु यो ध्वनिः स शब्दसामर्थ्यार्थसामर्थ्योभयसामर्थ्योत्पत्त्येव त्रिविध इत्यर्थः ।  
शक्तिरत्र सामर्थ्यम् । उत्पत्त्य व्यङ्ग्यत्वम् । तादृशव्यङ्ग्यसम्बन्धाभावे कान्यमपि  
तयोपचर्यते । अनेकार्थस्य शब्दस्तेत्यादिना यत्र शब्दो व्यञ्जकोऽत्र शब्दमाधान्या-  
च्छब्दशक्त्युत्पत्त्यम्, यत्र तु वक्त्रबोद्धव्येत्यादिना व्यङ्गी व्यञ्जकोऽत्र तदर्थमाधान्यादर्थ-  
शक्त्युत्पत्त्यम्, यत्र तु एकस्मिन् व्यङ्गे परस्परनिरपेक्षस्य शब्दस्यार्थस्य च सामर्थ्यं  
तत्रोभयशक्त्युत्पत्त्यम् । शब्दस्य तदर्थार्थ एव व्यञ्जनायां स्वीकृतत्वाच्छब्दार्थं व्यञ्जनायां  
शक्तिसद्वक्तृत्वं व्यञ्जना बोधित्वेति मन्तव्यम् । सन्निध्य व्याचष्टे—शब्दशक्तीति ।  
'अनुरणनं' प्रतिष्वभिः, इयमनुस्वानपदव्याख्या ।

तत्र व्यङ्ग्यद्वेविषयाच्छब्दशक्त्युद्भवद्वेविष्यमाह—अलङ्कारोऽयेति । वस्तु-

(A) वसत्य पुरोगामित्यमुक्तं मनुना "चक्रिणो दशमीस्थम्भ रोगिणो नातिन चियाः ।  
आलक्ष्य च राज्ञश्च यन्वा देशे वसत्य च ॥" इति ।

वस्तुवेति अनलङ्करणं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

उद्घास्य कालकरवालमहाम्बुबाहं

देवेन येन जरठोजितगर्जितेन ।

निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां

धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥ ५४ ॥

अयमेत्यर्थः । शब्दात् प्रधानत्वेनेत्यन्वयः । शब्दस्य व्यञ्जनायामर्थस्यापि व्यञ्जकताया उक्तत्वात् प्राधान्यमात्रं शब्दस्येति माध । अनलङ्करणमिति अलङ्कारमिन्नमित्यर्थः । अनलङ्करणमिति कचित् पुस्तके पाठस्तु प्रामादिक एव शुद्धिङ्गस्यालङ्काराभ्यस्य नभ-  
तत्पुष्पं नपुंसकलिङ्गत्वानुपपत्तेः, बहुव्रीहिणा त्वलङ्कारमिन्नत्वाभावात् । (१)

शब्दशुद्धत्यलङ्कारमुदाहरति—उद्घास्येति, येन देवेन प्राकरणिकेन राज्ञा कालकरवालं कृष्णवस्त्राद्यं महाम्बुबाहमिव उद्घास्य तस्य धाराभिर्जलैस्त्रि रिपूणां त्रिजगति ज्वलितः सकल एव प्रतापो निर्वापितः । करवालमहाम्बुबाहमित्यत्र धाराजलै-  
रित्यत्र च पुष्पव्याघ्रादिवपुषमासमानं, न तु भयवद्बलं रूपकं यन्नि इन्द्ररूपणाभावे तस्य महाम्बुबाहाद्व्यासकत्वस्य प्रतापे बहिष्करणभावे जम्बवां तन्निर्माणकत्वस्य चासम्भवात् ।  
'न च राज इन्द्रत्व प्रतापस्य बहिष्त्वञ्च गुणसिन्धुरित्यत्र गुणस्य जलत्वमिव व्यञ्जकमिति वाच्यम् उपमासमाससम्भवे धर्मिणि व्यङ्ग्यरूपवाधानुरूपस्य ग्रन्थकृतसम्मतत्वात्, १\*  
अन्यथा दशमोद्घासे—

पादाम्बुजं भवतु वो विज्जवाय मञ्जु

मञ्जीरसंज्ञितमनंहरजम्बिकाया ।

इत्यत्र अम्बुजे मञ्जीरवाधात् पादं अम्बुजमिवेत्पुष्पमासमासस्यैव परिग्रहो  
षष्ठ्यमरणोऽनुपपन्नः स्यात्, मञ्जीरि व्याङ्ग्यममररूपेण रूपकसमासस्यापि सम्भवात्,  
उपमासमाससम्भवे तु भक्त्येष गुणसिन्धुरित्यत्र गुणे व्यङ्ग्यजलरूपम् । नत एव  
इन्द्रोपमाध्वनुदाहरणमेवेदं न त्रिन्द्ररूपकत्वम् । देवेन कीदृशेन । जरठ कठिनम्  
अर्जितञ्च गर्जितं यस्य तादृशेन । अत्र इत्यत्र प्रकरणाद् राजान्वयिन्यर्थेऽवगते इन्द्ररूपो-  
ऽन्वयः शब्दशक्त्या व्यञ्जनया प्रतीयते । तथाहि येन देवेन इन्द्रेण प्रकृष्टस्तापो यस्य

१ 'न च दशमोद्घासे राजा इन्द्ररूपमिति वाच्यं कथञ्चा इन्द्रोपमाया एव वक्ष्यमाचक्षताम् । न च तैनापि  
कथं रूपकं नास्ति इति वाच्यं तदुक्तमित्येववाच्यम् नत प्रतीतिरिति वाच्यम् । न च इत्यादि व्यापक-  
रूपमन्तु गुणसिन्धुरित्यत्र गुणे व्यङ्ग्यजलरूपमिति वाच्यम् । अत्र वाच्यताया व्यञ्जनादिव्या-  
पकमिति चेत् न वाच्यं, न तदुक्तमित्येववाच्यम् । इत्यादि वाच्यम् । इत्यादि वाच्यम् ।

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय<sup>१</sup> इत्युपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद् विभो मधुरलीलः ।

मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥५५॥

स, अर्थाद् त्रिपुणामस्त्राग्नि वृष्टिधाराजलैर्निर्वापित, किं कृत्वा ? काटकरं कृष्ण-  
रश्मिं बालं मयीनं महाम्बुबाहमुल्लास्य । येन कीदृशेन ? कठिनोर्गर्गस्थलगर्गितेन,  
तत्प्रयोज्यमैवगर्जनमयैव तदीयत्वम् । तथाच तद्व्यङ्ग्यकविदृष्टप्रयोगाद् राष्ट्री-  
न्द्रोपमायां वक्तुस्तात्पर्य्यमुच्यते तत् इन्द्रोपमापि अथ व्यङ्ग्यं, अन्यथा प्रकृता-  
सम्बन्धेन्द्रप्रत्यायकशब्दप्रयोगोऽनुपयुक्त<sup>२</sup> स्यादित्याह—अत्रेति । ‘अभिधायकत्वं’  
प्रत्यायकत्वम् । ‘मा प्रसाङ्क्षीत्’ मा प्रसक्तं भूत् । प्राकरणिकं राजा, अप्राकरणिका  
इन्द्र, ‘उपमानोपमेयभाव’ उपमा । ‘कल्पनीय’ व्यङ्ग्य । दर्शितानिष्टप्रसक्तया  
तत्कल्पने वक्तुस्तात्पर्य्यस्य ग्राहितत्वारिति भावः । उपमाया अङ्गद्वारत्वाद्लङ्कार-  
व्यञ्जनासिद्धिरित्याह—इत्युपमालङ्कार इति । अत्र चकवर्त्ता—व्यङ्ग्यबोधे भविष्य-  
प्रसक्तबोधस्याहेतुत्वादप्यपत्तिमूलकानुमान एव तस्य हेतुत्वाच्च कल्पनीय इत्यत्र  
अनुमेय इत्येवार्थः । तदनुमानानन्तरञ्च उपमालङ्कारो व्यङ्ग्य इत्युक्तम् उपमालङ्कार  
इति व्याचष्टे, तत्र, ‘दर्शितानिष्टप्रसक्तस्य कवितात्पर्य्यग्राहकत्वयैव दर्शितत्वात्,  
न तु व्यङ्ग्यबोधकतया’<sup>३</sup> । तथा कल्पनीय इत्यत्र अनुमेय इति व्याख्याने उपमानोपमेय-  
भावातिप्रकाया उपमाया अनुमेयत्वव्यङ्ग्यत्वव्यङ्ग्यकथनानुपपत्ते ‘न’ हानुमेयस्य वत्तावे-  
र्धञ्जनया पुनर्बोध<sup>४</sup> ।

शब्दशक्तिमूलमलङ्कारान्तरमाह—तिग्मरुचिरेति । हे देव भवान् विभाति ।  
कीदृश ? शत्रूणां तिग्मो मित्राणां रुचिरश्च प्रतापो यस्य तादृश, विधुराणां शत्रूणां  
निशाकृत् चिन्तया विनस्यापि निशाकृत्करणात्, विना काटकराग्नौ । तथा मधुरा  
लीला यस्य ( स ), मत्या मानतत्त्वे प्रमाणतत्त्वे वृत्तिः व्यवसायो यस्य तादृश ।  
प्रतिपदे प्रतिस्थाने पक्षाणां ‘सपक्षाणाम् अग्रणीं ध्येष्ट’ ।

१ ‘कल्पनीय’ इति पाठान्तरम् । २ ‘दर्शितानिष्टप्रसक्तस्य कवितात्पर्य्यग्राहकत्वयैव व्यङ्ग्य-  
प्रमानानुपयुक्तता’ इति । ३ ‘अनुमानानुपयुक्तता’ इति । ४ ‘अनुमानानुपयुक्तता’ इति । ५ ‘अनुमानानुपयुक्तता’ इति ।



अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

अमिनः समिनः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो ।

अहित, सहितः साधुयशोभिरमनामनि ॥ ५६ ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वने ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ ५७ ॥

अत्र व्यतिरेकः । अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता ।

अत्रेति, पदपदमत्र समासैरुपपन्नं, तस्य भङ्गन विभक्त्यन्ततया द्विपदमान इत्यर्थः । तथाच द्विपदत्वज्ञानमाहाय्यादसण्डपत्त्यैव शृङ्गनिमूला गिराशङ्कार इत्यर्थः । तथाहि तिष्मरुचि सुख्य ज्ञानाय प्रवृत्तापशून्य, त्रिषु चन्द्र अनिशार भाशून्यश्च, मधु वसन्त लीलाशून्यश्च, मतिमान् तत्पदयत्मायशून्यश्च प्रतिपन्न तिथि पत्तानादिभूता च, इति गिराश व्यङ्ग्य एव शब्दे प्रकरणनियन्त्रितत्वेन न्यातव्याभावात् ।

द्विपदत्वज्ञानाभावेऽसण्डपदव्यङ्ग्य गिराशमाह—अमिन इति । हे मिमा त्यम् भक्तताम् अहितमिनि । कीदृश ? समित् युद्ध तत प्राप्तैरुत्कर्षे भमित व्यङ्ग्यात्, साधुयशोभि सहितश्च । अत्र अमिन मितशून्य समित मितमहित ध्वेति अहित हितशून्य सहित हितयुक्तध्वेति गिराश ।

शब्दशक्तिमूल व्यतिरेकालङ्कारमाह—निरुपादानेति, तस्मै शूलिने नमः । कीदृशाय ? उपादानस्य समयाधिकारणस्य सम्भार गिराश नानाकार जगद् अभिर्क्षो भवाभय एव तन्वते । शुभजाणितादिसमयाधिकारण मानृजदराद्याध्यसापेक्षत्वेऽपि स्तुतित्वादारोप्येदमुक्तम् । कला चन्द्रकला तथा श्लाघ्याय । अत्रेति गिराशचतुरो बाधककलाशून्य्य श्लेषबाधश्चित्रशब्दस्य च सामर्थ्याद् हरित्कलापुपादानमापन्न मितशोधधिकरणश्चित्रलेखकाद्वैलक्षण्यरूपा व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः । ननु वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा प्रत्येकत्वे सन्त्येकालङ्कारत्वमिति हाराद्विद्वद्द्वारा इत्यत्रे वक्ष्यति तत्रा व्यङ्ग्यत्वे त्वास्यादपात्रतया प्राधान्यात् परप्रत्येकत्वाभावेन कथमलङ्कारत्वमियत आह—अलङ्कार्यस्यापीति । भ्रमण सक्रवासी, तस्य तदज्ञाया ब्राह्मण्याभावेऽपि यथा दशान्तरीयब्राह्मण्यमादाय तथा व्यपदेश तथा वाच्यतादशीयमलङ्कारत्वमादाय तथा व्यपदेश इत्यर्थः ।

वस्तुमात्रं यथा—

पन्थिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।

उण्णअपओहरं पेक्खिअउण (अ) जह वससि ता वससु ॥५८॥

अत्र पशुपभोगक्षमोऽसि तदा आस्वेति व्यज्यते ।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।

यत्र प्रसीदसि पुनः स भ्रातृदारोऽनुदारश्च ॥५९॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुस्त इति ध्वन्यते ।

(५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥३६॥

पन्थिअ ण एत्थेति—

पथिक मात्र सस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।

उन्नतपयोधर प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥ इति संस्मृतम् ।

निवासाधिनि पथिक प्रति स्वयं द्रष्टुं उत्किरियम् । सस्तरं शयनीयकोटम् मनाम् भज्यमपि तस्मास्ति । प्रस्तर एव ध्वं स्वपिम इति दर्शयति प्रस्तरस्थल इति । पयोधर मैघम् । शयनीयोपकरणादिक निवासोपकरण नास्त्येव मैघप्रतिरुद्धगतिकृतया यदि वस्तुमिच्छसि तद्वस्तेवापाततोऽभिप्रायः । शब्दशक्तिमूलमत्र गूढ व्यङ्ग्यमाह— अत्रेति । इदञ्च परदारगमननिषेधकशास्त्रार्थकस्य प्राकृतशिरसस्तथरपदस्य, स्तनार्थकसंस्कृतम्लिष्टपयोधरपदस्य, प्रस्तरस्थ स्त्रीजनं पुमान् लाति सम्भोगार्थमत्र गृह्यतीत्येवमर्थकप्रस्तरस्थलपदस्य च सामान्यालुङ्ग्यम् ।

शब्दशक्त्या साक्षाद्व्यङ्ग्यं वस्तुदाहृत्य तद्व्यङ्ग्यालङ्कारद्वारा व्यङ्ग्यं वस्तुदाहरति— शनिरशनिश्चेति । हे नरेन्द्र त्वं यस्मै कुप्यसि शनिर्ग्रहं भ्रान्तिर्ब्रजश्च तम् उच्चैर्निहन्ति, यत्र जने पुनः प्रसीदसि स उदार अनुगतदारश्च भ्राति । अत्र पुष्पाद्धं भ्रान्तिशब्दस्य शक्त्या शनिविरुद्धे व्यञ्जने तद्वारा व्यङ्ग्यं वस्तु दर्शयति—अत्रेति । परार्द्धे च विरोधालङ्कारमात्रं न तु तद्वद्वाच्यं वर्णितवस्तुव्यञ्जनम् तत्रैककार्य्यकरणाप्रतीतिः ।

अर्थशक्त्युद्भवमाह—अर्थशक्त्युद्भवोऽपीति । अर्थशक्त्युद्भवोऽप्युच्यत इति शेषः । तत्र अर्थो व्यञ्जक इत्यर्थः । अर्थशक्त्युद्भवेऽपीति क्वचित् पाठः सुगम एव । व्यञ्जकः

(A) अत्र “पेक्खिअ उण” इति पाठे “प्रेक्ष्य पुनः” इति संस्कृतं बोध्यम् ।

प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोन्मितस्य वा ।

वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति पङ्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥

वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

स्वतः सम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यो  
चित्येन संभाव्यमानः, कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि

सोऽर्पस्त्रिभिः इत्याह—सम्भवीति । स च वाच्या व्यङ्ग्या<sup>१</sup>\* वेत्यप्रियम् इति  
शेषम् । प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वेत्यत्र 'प्रौढोक्ति' कवे तेन कविना उन्मितस्य  
निबद्धस्य जनस्य वा इत्याह—कवेस्तेनोन्मितस्य वेति\* । मात्रपदान्  
स्वतः सम्भवित्यप्यर्थे<sup>२</sup> इति । तथाच पङ्क्त्यैविष्याद् द्विविध इत्यर्थः । स्वतः  
सम्भविना सह तु त्रिविध इति । प्रौढोक्तिश्च (A)अनीकारार्थकत्वेऽपि प्रतिभामात्रा  
धीनार्थिका उक्तिः । स्वतःसम्भवित्यर्थं व्याचष्टे—अत्रेति । अपिचित्यर्थं याव-  
दिति । बहिरपीति 'तादृशप्रशङ्का बहिः, प्रमाणेनापीत्यर्थः'<sup>३</sup> । 'ओचित्येनेति  
भवेनेदमुक्तं निर्दिष्टविशेषणविशेष्यत्वयोः स्वसर्गम्यादौक्यत्वेऽपि तत्सङ्ग-  
विशेष्यान्तरे तादृशविशेषणसंसर्गं दृष्टे सत्यपि निर्दिष्टपक्षयोऽपि तथात्यन्तौचित्येन  
सम्भावयनया स्वतःसम्भवित्यमिति निर्दिष्टव्यक्तिमदृशेऽपि तद्विशेषणादर्शने तु प्रौढोक्त्यैव  
कृत्स्नमिति । परञ्च अपरो भ्रान्तकमलमिति रूपकं स्वतःसम्भविनया वक्ष्यमाण  
मुपपत्त्यते 'शोणत्वसाधर्म्येण भ्रान्तस्तत्रो कमलदल एव भ्रान्तकमलदलाभेदर्श-  
नात्'<sup>४</sup> । तथा घम्मिह<sup>५</sup> श्यामलाङ्गं स्मर इति प्रौढोक्तिसिद्धतया वक्ष्यमाण रूपक

(A) अत्र भलीकानां हानामन्मयेन तद्विषयकतद्प्रयोगोऽपि न सम्भवतीति भाऽज्ञा-  
नीयम्, "अत्यन्तासत्यसि द्वयं ज्ञान शब्द करोवि हि" इति व्यापनं तथा सांभ्रान्तमन्मयाद्य ।

निर्मितः, कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः ।  
वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः, तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो  
वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

अलससिरोमणि धुत्तारं अगिमो पुत्ति घनसमिद्धिमओ ।

इअ भणिण्ण णअङ्गी पफुल्लविलोअणा जाआ ॥६०॥

श्लोपपत्त्यने, बहुदीपकतया धम्मिल्लुमट्टो उदीपकान्तरे 'भ्यामलङ्कारभेदादृशनेन' प्रौढोक्त्यैव तत्सिद्धे 'भ्यामलङ्कारस्यैवाप्रसिद्धे । परन्तु सादृश्याधीनविशेष्य-  
विशेषणभावपरकस्थले 'एव सदृश विशेषान्तर ग्राह्यम्, अन्यत्र तु निर्दिष्टव्यक्तयो-  
रेव स्वतः सम्भवित्वासम्भवित्वे ग्राह्ये इति मन्तव्यम्' (A) । एवमुक्तत्रिविधार्थस्य  
वस्तुलङ्कारभेदेन पञ्चविधस्य कारिकांक्त व्याचष्टे— वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसा-  
विति । पञ्चविधानां तेषां व्यङ्ग्या अपि वस्तुलङ्कारभेदेन द्वावृशधिया इति कारि-  
कांक्त व्याचष्टे—तस्य वस्तु वेति । द्वादशभेद इति द्वादशव्यङ्ग्यवस्त्वेन काव्य-  
स्यापि द्वादशत्वम् । एतच्च स्वतः सम्भविनोर्वस्तुलङ्कारयोगैकस्य वस्तुल-  
ङ्कारो द्वौ द्वौ व्यङ्ग्याविति स्वतः सम्भविव्यङ्ग्याश्चत्वार एवमपरद्वयव्यङ्ग्या अपि  
चत्वारश्चत्वार इति द्वादशत्वम् (1) बोध्यम् । क्रमेणेति स्वतः सम्भविव्यङ्ग्यवस्तुलङ्कार-  
चतुर्कादिक्रमेणेत्यर्थः ।

तत्र स्वतः सम्भविवस्तुव्यङ्ग्य वस्त्याह—अलसेति—

अलससिरोमणिधुत्तारं अगिमो पुत्ति घनसमिद्धिमय ।

इति भणिनेन वताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ इति सरसत्वम् ।

(A) अत्र पर "सादृश्यवदितत्वाभावे तत्सादृश्यस्याननुमन्धेयत्वात् भग्न्या प्रौढोक्ति-  
सिद्धतया तत्प्रमाणानां सर्वत्रागमेव एवम् सम्भवित्वापत्ते प्रमेयत्वविषयं तन्महत्तरे अपि  
तद्विशेषणमसम्भविनात्" इत्यधिकं पाठः क-चिद्विदितपुस्तके दृश्यते, स च टिप्पणीति प्रतिभाति ।

(1) अत्र विभागाभ्यां वैचित्र्याधीनतया कविनिबद्धोक्तौ अत्र द्वादशविकल्पान्यापेक्षया अधिक-  
धर्मत्कारित्वस्य सत्त्वानुमन्तिद्वत्वेन कविनिबद्धत्वमिति कवेरेवेति तत्तत्र मूलोक्तस्य

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि

विश्रब्धवाद्दुकशतानि रतान्तरेषु ।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि<sup>(A)</sup> ॥६१॥

पतिरराया धाया प्ररोचनोतिरियम् । अत्रापमिति प्रकरणमप्यो प्रियेण । अत्र अलसशिरोमणिवेनप्रशामित्व धूर्त्ताग्निमत्वेन रतिचानुष्यं धनसमृद्धिमयत्वेन अद्विष्ट स्वश्च व्यङ्ग्य वस्तु स्वतःसम्भवि, तद्व्यङ्ग्यश्च कुमारीबोधरूप वस्तु सामाजिक बोध्यमाद—अत्र ममैवोपभोग्य इति, पतितियगिशिषा वरो मयैवान्विष्यते मान्ययेन्येकार्थ । वस्त्विति कुमारीबाधरूप वस्त्वित्यर्थ । कुमारीहर्षोऽपि परार्द्धव्यङ्ग्या बाध्य, तद्व्यो व्यभिचारिभाष्यभक्तित्वमेवेति बाध्यम् ।

(२) स्वतः सम्भविस्तु व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—धन्यासीति । यत्रिवृत्तान्तालपिनीनां

विभागस्य ध्यायत इत्यादिश्रुत्या नाकम् । न वस्तु स्वहो मधुरस्यापि ललितस्य निद्राय मध्यन्दिनोपानयननिमित्तम् उपकरणस्य वा शयनाशनताम्बूलादे प्रयमीकरकमलरचनादिभिरुक्तं विनय न कश्चिदनुवैति । उचं हि कविना— द्विचतुर्गेषु स्वहो स्तुतिर्वा तन्मिषता नेष्टुत्वे प्रमेया इति । बाधिकादीनां साधारणीकरणव्यापारके काव्येऽपि समानोऽयं न्यायः । अत्र एव साहित्यरूपेणोऽपि 'न सतु कवे कविनिबद्धमेव रागाद्याविहता अतः कविनिबद्धमनृप्रौढोक्ति कविप्रौढात्तराधिक महद्व्यक्तमनुकारिणीति' इति । अतः कवि-सदुम्भितमनृप्रौढोक्तिनिमित्तस्यो रथयान पृथग्भावेन गणनोचिता उन्मिषतोम्भितान्तराणि भेदन्तरप्रबोधकतायुक्त इति एव गङ्गाशरकातेनमपि निमित्त तत्कृतवैचित्र्यप्रियेण्य केवाप्यननुभवादिति स्पष्टमेतत् प्रदीपोद्घोने ।

(A) धन्यासीति । रसकथापराध मरीण मये रतिकालीन स्वमिषालापं कथितवतीं काश्चित् प्रथमन्त्या कन्याश्चिदुक्तिरियम् । हे मखि वा त्व रतान्तरेषु रतमप्यनु प्रियेण सङ्गमेऽपि सतयागपि विश्रब्ध विन्यासयुक्तं नि ङ्गमिति यावत् वादुष्टानां प्रियवाक्यानां शतानि कथयसि सा त्व धायाऽमीति सोऽष्टवम् । हे सख्य प्रियेण नीवीं वक्ष्यन्धि प्रति करं प्रणिहितं नीज्या करोम्यपित्य इति प्रणिधानस्य मङ्गलस्य विषयीकृतं सति न त्यजिते अवाचकतापत् यदि किञ्चित्पि स्मरामि तदा शपामि शप्य करोमीत्यन्वयः । यत्रापि शपथे शप इत्यनुशासना दामनेष्वनुवितं तथाप्यङ्गुलीकृतकमिष्यात्वनिरासस्य मुञ्चशपथस्याश्राविवक्षितं चात्र शेषः । प्रियमङ्गमेवालापान्तिषु सराणि रतमप्येषु न पुनरादावन्ते वा इति वा अथ । यदि किञ्चिदपि

अत्र त्वमघन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः ।

दर्पान्ध<sup>(A)</sup>गन्धगजकुम्भकपाटकूट-

संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।

सखीनां मध्ये रतिकाले बाह्यकथालापिनीं काञ्चित् सखीमुपहसन्त्या भताद्व्या सख्या  
अकिरियम् । किञ्च 'विन्यास' निगृह्यत्वं तेन रत्नजुपयुक्तवाटुकशतानि या त्वं  
रतान्तरेषु रतिमध्यकालेष्वपि कथयसि सा त्वं धन्याऽसीत्यर्थः । रतान्तरेष्विति  
बहुवचनात् प्रतिदिनमेवं भावः सूचितः । मन्तरं मध्यम् । एतेनोपहासाधिक्यम्,  
हृद्देशकालेऽप्यन्तरतायेऽस्यैवौचित्यात् । स्थोत्रकर्म सूचयति—नीशीमिति । तत्सूचने  
च बहूनामयधानाय सख्य इति बहुवचनम् । शयामि शपथ करोमि । अत्र पूर्वा-  
परार्द्धवान्यार्थद्वयव्यङ्ग्यं धन्तु उपहसनीयनायिकायाः सामाजिकानाञ्च बोध्यमाह—  
अञ्जेति । व्यतिरेक उपमानाभूतामुपहसनीयनायिकामपेक्ष्य उपमेयीभूताया धन्या  
आधिक्यरूपः । अत्र चण्डीदासः—उत्कालाफेनोपहसनीयनायिकाया 'मधन्यत्वे  
तानुपपन्नप्रहात्' १० मधन्यत्ववाधात्तदधन्यत्वं लक्षणागम्यमेव, अतः अहन्तु धन्येत्यम्बो  
व्यतिरेकैकदेश एव व्यङ्ग्य इत्याह, तत्र, शपेताधन्यत्वस्य ग्रहे अहर्ष्यस्य पश्चात्  
तदुपग्रे त्वनाहर्ष्यस्य धन्यत्वबोधस्य सम्भवात् तेनाधन्यत्वस्य व्यञ्जनेऽनुपपत्त्यभावात् ।

(३) स्यत सम्मथलङ्कारव्यङ्ग्यं परुषाह—दर्पान्धेति । यस्य राजः करे कृपाण

स्तरानीति वाक्यमध्ये सख्य शयामीत्यन्य प्रवेशाद् गर्भित्वं प्रकृते गुण एव विवक्षितार्थस्य  
सत्त्वत्वप्रत्यापनार्थत्वात् । सोऽनुपपन्नोपहसना एव सौभाग्यवर्धिताया सम्मोष्यत्वाद  
धन्यानीत्येकवचनम् । स्थोत्रकर्मसूचने तु बहूनां तथात्वात् सख्य इति बहुवचनमिति  
भासङ्गनि । अत्र च रतिकालेऽपि विषयान्तरवेदनेन शपथस्य कुत्रिभूतानावेदयता चाटुकयनेन  
स्वमधन्येति ध्वन्यते । अन्तर्ताऽविशब्दाभ्यामन्यन्तानौचित्यप्रकाशकद्वारा सदसिताय । एवञ्च  
बहुवचनस्य प्रति रतिमय सभाभावसूचनद्वारा तद्वाङ्मयम् । एवं शतानीति प्रातिपदिक-  
वचनयोश्चेति । तथा उत्तरार्द्धे स्मरणभावेन प्रियकरस्पर्शमात्रेण सम्मोहानन्दमन्थरतया  
अहृन्मिरागातिशयं सूचयता अह धन्येति ध्वन्यते । इत्यञ्च उक्तस्तम्बलेन व्यतिरेकालङ्कार-  
लाभ इति बोध्यम् । अतः स्वतः सम्मविना धन्तुना अलङ्कारत्वमिति ॥ इत्युदाहरणचन्द्रिका ।  
उद्गोतेऽप्येवम् ।

(A) “कस्य गन्धं समाप्राप्य न तिष्ठन्ति प्रविक्ष्वा ।

स गन्धहन्तिर्विद्याभूतेर्विजयावहम् ॥” इति

वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः

कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥६२॥

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात् करिष्यते इति वस्तु ।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासकटादरिचयूजनस्य यः ।

ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशनं युधि रुपा निजाधरम् ॥६३॥

अत्र(A) विरोधालङ्कारेणाऽधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापा-

वीरे कालीकटाक्ष इव व्यलोकि । कृपाणः कीदृशः ? दर्पान्धस्य गन्धगजस्य स्वीयमङ्ग-  
गन्धेन अग्न्यग्नत्रासकगजस्य कुम्भ एव स्फुरत्त्वेन कषाट तस्य वृद्धे भ्रमभागे  
सक्रान्त्या पतनेन निजैः सम्बद्धैः धनशोणितैः शोणकान्तिः । कालीकटाक्ष कीदृशः ?  
कोपेन कषाया शोणा कान्तिर्यस्य तादृशः । अत्रेति, शोणत्वस्थाधर्म्येण उपमितस्य  
खड्गस्य उपमानकटाक्षगतं धर्मान्तरं व्यञ्जनागम्यमित्याह—सकलेति ।

(४) स्वतः सम्मथलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—गाढकान्तेति । यो राजा युधि  
निजाधर निर्दशनं अरिचयूजनस्य ओष्ठरूपाणि विद्रुमस्य प्रसलस्य दलानि पत्राणि  
गाढस्य कान्तदशनक्षतस्य व्यथारूपात् सङ्घातं भूमावयत्, कोपेन स्वाधर निर्दम्य  
निहते शत्रौ तद्वधूनां रतिकालीनं कान्तकर्तृकंऽधरदशो निवृत्त इत्यर्थः । अत्रेति  
भधरदशकत्वाधरदशमोचकत्वयोरुपात्ततो भ्रमेन विरोधेनेत्यर्थः । इम्यमानमोच्यमान-  
मेक्षान् न विरोधः । समकालमेवेति निर्दशनमिति वर्तमाननिर्देशात् तत्कालीनमोचनेन

“स्नेहं मूत्रं पुरीषञ्च भ्रमा वैव मत्तज्ज्ञा ।

यस्याऽऽघ्राय विमाद्यन्ति तं विषादं बन्धवस्तिनम् ॥”

इति वा गन्धगतलक्षणम् ।

(A) “अत्र निर्दशनमिति वर्तमाननिर्देशादधरदशनमोचनयोः कार्यकारणयोः पौर्वापर्य-  
विपर्ययरूपा अतिशयोक्तिः । इयमेव वृत्तौ विरोधपदेभ्योऽपि । तन्मूलत्वात् स्वतः सम्मथिनाऽ-  
लङ्कारेण दशनव्यापादनयोर्वैगम्यवस्त्वममुचयालङ्कारत्वनिः । तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या  
वृत्तावपि समुचय एवोक्त इति ध्येयम्” इत्युदाहरणवन्दिताकारेण विरोधतुल्ययोगितापदयो-  
रपान्तरं प्रदर्शितम् । प्रदीपकारस्मादि “अत्र निजाधरदशनवैरिचयूजवोष्ठदशनव्यथामोचनयोः  
पौर्वापर्याभावलक्षणया अतिशयोक्तया अलङ्कारेण दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति  
“समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो सुगन्धः वा गुणकिया” इत्युल्लेखेन समुचयालङ्कारो द्योत्यते । एष  
एव च तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या तुल्ययोगितेति कैश्चिदुच्यते” इत्युच्यतेऽप्येवानिप्रायः ।  
तथाच तुल्ययोगिताशब्दस्यापान्तरलक्षणा टीकाकृतैव कृतेति न मन्तव्यम् ।

स्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तो-  
त्यपह्नुतिश्च ।

गाढालिङ्गणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।

माणंस्तिगीण माणो पीलणभीअ व्य हिअमाहिं ॥६६॥

अत्रोत्प्रेक्षया मत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

जा<sup>(१)</sup> ठेरं थ हसन्ती कइवअणंभुख्खवद्वविणिवेसा

दावेइ भुअणमण्डलमण्णं चिअ जअइ सा चाणी ॥ ६७ ॥

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् 'अजलजाञ्जा-

पलायनस्य । चकारः अत्र बाऽर्थे समुच्चयस्य उक्तपुरुषा बाधात् ।

(७) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं यस्याह—गाढालिङ्गणेति ।

गाढालिङ्गणरहसोद्यते वयिते लघु समपसरति ।

मनस्विनीनां मानं पीडनमियेव हृदयात् ॥ इति संस्कृतम् ।

रहसोद्यते बलादुद्यते । अत्रेति, मानस्य भयामावात् उत्प्रेक्षायाः प्रौढोक्त्यैव  
सिद्धिः । अत्र यद्यपि मानापसरणस्यैवेदं व्यङ्ग्यं तथाऽपि तत्सहकृताया उत्-  
प्रेक्षाया अपि इदं व्यङ्ग्यमित्यभिप्रायः ।

(८) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—जा ठेरमिति ।

या वृद्धमित्र हसन्ती कथिवदनाम्बुखद्वविनिवेशः ।

दर्शयति भुवनमण्डलमव्यविष जयति सा चाणी ॥ इति संस्कृतम् ।

ठेरं वृद्धे वेत्री । वृद्धम् अत्र भयात् ब्रह्माणम् । तर्हीप्रभुवनान्यत्यप्रदर्शनेन  
तस्यैवोपहसनीयत्वोचित्यात् । "ब्रह्मणोऽपि पद्मासनत्वाद् अत्र कथिवदने अम्बुख-  
रूपणम्, तद्वै तस्यापहसनयोग्यतासम्भवात्" १ । चाणी यान्ति कथित्वरूपेण तस्या यस्य  
कथिवदनस्थितं, अतस्तत्कृतं कोपहासोत्प्रेक्षाया भुवनान्यत्यदर्शनोत्प्रेक्षायाश्च कवि-  
प्रौढोक्त्यैव सिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—अत्रेति । नवमिवेत्यन्तं भुवनान्यत्योत्प्रेक्षाया

मूलकृता स्वयं तस्यैव लङ्काराच्च । "एकत्रैव सर्वान् विज्ञापयन्नात् सम्भारस्य पलाय्य गुहाद  
तिष्ठन्तीति काव्यलिङ्गम्" इत्युक्तवत् प्रदीपकारस्वाप्त्यवेषाभिप्राय इत्यवयवत्वमप्यम् ।

(A) "ठेर" इति "स्थविर"शब्दस्यापभ्रंशः ।

१ 'यगञ्जायन्ता' इति पाठान्तरम् । २ 'नोपहसनीयत्वनामात्' क । ३ 'कथिवदननाम्बुखद्व-  
तदवेष पद्मासनस्य ब्रह्मण उपहासावन्' क ।



सनस्या निर्मिमीते इति व्यतिरेकः । एषु कवियौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यङ्ग्यः ।

जे लङ्गागिरि(१)मेखलामिखलिआ संमोगखिण्णोरहं-  
फारुण्णुल्लङ्गणावलीकवलणे पत्ता दरिदत्तणम् ।

ते एण् हिं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो  
जादा भत्ति सिसुत्तणे वि वल्ला तारुण्णपुण्णा थिआ(२) ॥६८॥

अथ निःश्वसैः प्रासैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्यन्तीति  
वस्तुना वस्तु व्यङ्ग्यते ।

अत्र लङ्गागिरिमेखलासंमोगखिण्णोरहं पदं प्रथमम् । अत्रान्न यदत्र मुद्रात्मकं पदं  
तद्वामनस्येत्यर्थः । 'व्यतिरेक' धाव्या उपमेयाया उपमन्त्रस्यापनया आधिक्यकरः ।

(१) करिनिबद्धरक्तप्रौढाविति ब्रह्मवस्तुल्लङ्कारव्यङ्ग्यचतुष्कं उदाहरणं तादृश  
वस्तुव्यङ्ग्यं यस्याह—जे लङ्गेति ।

ये लङ्गागिरिमेखलामिखलिआ संमोगखिण्णोरणी  
स्फारोणुल्लङ्गणावलीकवलणे प्राप्ता इदित्वम् ।  
ते इदानीं मलआनिला विरहिणीनिश्यासमस्यर्किणा  
जाता भदिति शिशुन्वेऽपि बह्वशास्तरुण्यपूणा इव ॥ इति सम्प्रतम् ।

करिनिबद्धाया विरहिण्या उक्तिरियम् । अत्र याता इति शिरोष्य पूरणीयम्,  
मलआनिला इति तु शिरोष्यपदमेव न शिरोष्यपदं तेषां लङ्गागिरिमेखलाता  
ऽभिस्खलनामाशान् । तथाहि—ये याता लङ्गागिरि सुखेनैव मेखलात भूमि  
स्खलिताः, मलआगमने सति मलआनिला, संमोगखिण्णानामुरणीया स्फारामिखलुल्ल  
ङ्गणावलीमि करलने सति इदित्वं क्षीणस्य प्राप्ता, ते इदानीं विरहिणीना निश्यास  
सम्यर्किण सन्त शिशुन्वेऽपि बह्वनिविडा सन्त तारुण्येन पूणा इव जाता इत्यर्थः ।  
सुखेनैव मलआगमने ममुद्राङ्गनात् ज्ञेयम्, मलआनिश्वसेनैव चन्दनमोरमम्, क्षीणस्य  
प्राप्त्या मान्य वायोरत्र बोध्यम् । (०) आहारा दिगुण स्त्रीणामित्यता मक्षणादिस्य  
लाभाय उरगीत्योपादानम्, संमोगखिण्णवेन तत्र आधिक्यम् । अत्रेति अस्यार्थस्य

(A) 'लङ्गागिरिमखलाह करिआ' इति पाठे 'लङ्गागिरिमखलाह स्खलिआ' इति सम्प्रतम् ।

(B) जे लङ्गेति । कर्पूरमञ्जरीसङ्के देया विभ्रममेवाया निदृशान विवक्षणादाय्या सन्त्या

॥ वमन्तवर्णनमिदमिति बालवोभित्वासुखम् ।

(C) "आहारा दिगुण क्षीण्य सुखिन्त्यामा चतुर्गुणा । चतुर्गुणोऽथवाप्यत्र कामआद्युण  
स्य ॥" इति सम्पूर्णं श्लोकः ।

सहि विरइज्ज माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।

पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरियम् ॥६९॥

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना, प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा ।

ओल्लोल्लकरअरअणक्खण्हिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं ।

रत्तांसुअं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥ ७० ॥

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण

भलीकल्पेन वक्तृणाः प्रौढोक्तयैव सिद्धिः, तद्वच्चुचमाह—निःश्वासैरिति । 'प्रेम्बर्ण्य' बलम् । अत्र च तारुण्यपूर्णत्वोत्प्रेक्षाया अपौरुषेयङ्गत्वं शोध्यम् ।

(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—सहीति ।

सहि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाम्वासम् ।

प्रियदर्शनविष्टङ्गनत्तणे सहसेति तेनापवृत्तम् ॥ इति संस्कृतम् ।

सख्या सख्या स्वमानप्रशकथनमिदम् । मानस्य स्थाने विष्टङ्गलः व्याकुलः, स्वव्याकुलत्वस्य त्तणेऽप्ययमारोपः । तेन धीरत्वेव । अपवृत्तं पलापितम् । सहसे-तीत्यत्र 'इति'शब्दस्य अपवृत्तमिति इत्येव योजना । तथाच—वास्यसमासावेव अत्र इतिशब्दः "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमासिषु" इति कौपलम् । अत्रेति, 'वस्तुना' मानाभ्यासनपूर्वकद्वैत्यपलायनरूपेण, कविनिबद्धाया वक्तृणा प्रौढोक्तयैव सिद्धेन । विभावनेति प्रसादकारणस्य प्रार्थनस्याभावात् । उत्प्रेक्षाऽत्र स्पष्टैव । 'प्रिय-दर्शनस्य' धैर्यविरोधिना 'सौभाग्यबलमवस्थानविरोधिः' ।

(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तुमाह—ओल्लोल्लेति ।

आर्द्रार्द्रकरज्जरदनत्तैस्त्व लोचनयोर्मम दत्त (A) ।

रक्तांशुकं प्रसादं कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥ इति संस्कृतम् ।

आर्द्रार्द्रकरज्जरदनत्तै अभ्यान् परनायिकाकृते मम लोचनयो रक्तांशुकं प्रसादो दत्तं कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इत्यर्थः । अत्रेति । वहसीत्यन्तः प्रश्नाकारः, तदाक्षेपकमुत्तर-रहोक्त्यर्थः उत्तरालङ्काररूपः । स च चतुर्दशरक्तांशुकद्रानालीकत्वेन कवि-

(A) अत्र टीकाहारां 'दत्त' इत्यनुवाद् प्राकृते 'दिण्णो' इति पाठाभिप्रायेणेति प्रतिभाति ।

सत्समाभिस्तु बहुमुद्रितपुस्तकम्यादी 'दिण्ण' इति पाठो गृहीतः, तस्य सम्स्कृतं 'दत्तम्' इति ।

न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

महिलासहस्रभरिण<sup>(A)</sup> तुह हिजए सुहज सा अमाअन्तो ।

अणुदिणमणणकम्मा अहं तणुअं वि तणुएह ॥७१॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण 'तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते' इति विशेषोक्तिः । एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः । एवं द्वादश भेदाः ।

निबद्धाया नायिकाया प्रौढोक्तयैव सिद्धः, तद्वचनमाह—न केवलमिति, 'न गोपायसि' मम दुःखजननार्थं दर्शयसीत्यर्थः । न केवलं तन्, अपि तु मम दुःखजननार्थं दर्शितानां तेषां प्रसादपात्रमहमेव जाता मम दुःखन्तु तैर्न जनितमिति भावः । अत्र लोचनयोः प्रसादज्ञानस्य घाच्यत्वेऽपि स्नेहनवत्त्वा प्रसादपात्रत्वं व्यङ्ग्यमेवेति नानुपपत्तिः ।

(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढाचिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—महिलेति ।

महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।

अनुदिनमनन्यक्रमां अहं तन्वपि तनयति ॥ इति ससृष्टम् ।

नायकस्यानेकनायिकाभावनादुत्थेन कृपाया नायिकाया भगवत्या तस्मिन्नावेद्यवत्त्वा दूत्वा उत्किरियम् । अमान्ती अत्रकागमलभमाना । दिवस व्याप्य<sup>(B)</sup> । तनयति तनूकराति, तनुसन्दात् करोत्यर्थं नामकारितान्तमिदम् । अन्नेति, बहुनायिकाकान्तहृदये स्थानाप्राप्तिरङ्गतनूकरणे हेतुर्हेत्वलङ्कार<sup>(C)</sup>, स च श्लोकाद्याहत्या प्रौढोक्तयैव सिद्धः । तदव्यङ्ग्यमाह—तनोऽगिति । 'न वर्तते' इति तनयतीति वर्तमानविशेषासाहाय्यादेव हेत्वलङ्कारव्यङ्ग्यमिदं बोध्यम् । विशेषोक्तिरिति तनोस्तनूकरण कारण तनुसत्वेऽपि दृढव्यासरूपफलाभावान् ।

(A) 'भरिण' इत्यस्य 'भरिते' इत्यनुवादः, सर्वेषु मुञ्जितपुम्पुत्वेऽपि दृष्टोऽपि विन्त्य । तत्र 'भा संज्ञातोऽप्ये'त्यर्थे इतच् ।

(B) "अनुदिनम्" इत्यस्य व्याख्यातमिदम् ।

(C) अत्र हेत्वलङ्कारः काव्यलिङ्गमेव, तथा व्याख्याते बीज 'केचेषु वलात्कारेणेत्य' श्लोकेन । "हेत्वलङ्कारः" इत्यत्रैकवचनमविश्रितं महिलासहस्रमणस्य स्थानालाभे तस्य च तनोस्तनूकरणे हेतुत्वोक्ते पक्षार्थहेतुस्य काव्यलिङ्गालङ्कारत्वस्य सम्भवादिति प्रदीपकाराणा-मभिप्रायः ।

## (५५) शब्दार्थोभयभूरेकः—

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुदीपितमन्मथा ।

तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

शब्दार्थोभयेति, कुत्रचिद्विशेषणांशे स्यात्तन्त्रयेण शब्दशक्त्या कचिद्विशेषणांशे तु स्यात्तन्त्रयेणार्थशक्त्या एकस्यैव व्यङ्ग्यव्यवसायसमावृत्तिद्वयमुपयज्यङ्ग्यमिति स्वार्थः । अतः शब्दशक्त्युद्भवस्यार्थशक्त्युद्भवस्य च प्रपञ्चेनैवास्य प्रपञ्चो यतस्मां इत्यभिप्रायेणाह— एक इति । अत्रयत्ती तु उपमालङ्कारक्य एवाय सम्भवतीत्येत उक्तम् एक इतीत्याह, तत्र, व्यङ्ग्यकार्पस्य स्वतःसम्भवित्यादिभेदेन भेदप्रसक्तोर्ध्वारत्वात् । अतन्त्रेति । प्राकरणिकाऽत्र श्यामा रात्रिं कं जन साबन्धं न करोति । कीदृशी ? भनलसचन्द्राभरणा (A) तारकातरला यस्यां तारुणी, मन्मथोदीपिका च । अत्रोभयशक्तिः व्यङ्ग्याया नायिकाया उपमा उभयशक्त्युत्पा । तथाहि समुदीपितमन्मथेत्यत्र भयंशक्त्यैव नायिका व्यङ्ग्या नायिकाया एव मन्मथोदीपने प्राधान्यात्, तथा नायिकाविशेषवाचक(B) श्यामापदशक्त्या अन्तरकर्पूरतमरजेत्येवमर्पकातन्द्रचन्द्रपदशक्त्या तारकावत् तरलो हारमध्यगो (मणि) यस्यास्तादृशीत्येवमर्पकतारकातरलापदशक्त्या च स्वातन्त्र्येऽपि नायिका व्यङ्ग्या, तत्प्रतीतौ च नायिकेय रात्रिरिति नायिकोपमाऽपि प्रतीयते इति । निरुपादानेत्यादौ तु चित्रपदकलापवसादायं विना निरुपादान इत्यादेरर्थस्य न चित्रकरत्वं प्रकृत्यमिति तत्र शब्दशक्तिमात्रोद्भवत्वम् ।

(A) अत्र रात्रिपदे तारकान्तरला भास्वरा इत्यर्थं स्मृतीचीनतया प्रतिभाति 'तारल चक्षुषे विद्मं भास्वरेऽपि त्रिलोकम् । हारमध्यमणौ धृतिं दधामुत्तरयो क्षियाम् ॥' इति मेदिनीकोषात् । उदाहरणचन्द्रिकोक्तीत्या बहुव्रीहौ तु तस्य विशेषणबोधकतया पूर्वनिपातापत्तेः । हारमध्यगतमणिबोधकता च रात्रिपदे न युक्ता अव्यवधानोपस्थापनस्य प्रकृत्येवेति तत्वात् स्वकेणोपमाया बाधप्रसङ्गाच्चेति ज्ञेयम् ।

(B) "श्यामा यौवनतज्यस्या" इति "श्रुतिं लक्षोप्यतर्वाङ्गी प्रीत्ये च उच्यतीति । ततः काञ्चनवर्णा च सा क्री श्यामेति कथ्यते ॥" इति च श्यामालङ्कारम् ।

(५६) — भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति ध्वनेः ।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(५७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथाहि—नव रसाः, तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—  
सम्भोगो विप्रलम्भश्च, सम्भोगस्यापि परस्परवलोकनाऽऽलिङ्गन-  
परिशुष्यनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-मूर्यास्नमय चन्द्रोदय-पट्टतुवर्ण-  
नादयो बहवो भेदाः; विप्रलम्भस्याभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि  
विभावानुभाव-व्यभिचारिवैचित्र्यम्, तत्रापि नायकयोरुत्तम-  
मध्यमाऽधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देश-काला-ऽवस्थादिभेदा इत्ये-  
कस्यैव रसस्यानन्त्यम् । का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमत्वं  
तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

(५८) वाक्ये द्वयत्थः—

द्वयत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

अष्टादशेति । लक्ष्णामूलौ द्वौ, असंलक्ष्यक्रमद्वय एक, शब्दगतयुद्धौ द्वौ  
अर्थगतयुद्धौ द्वौ, उभयगतयुद्धयश्चैक इत्यष्टादश(५) ।

धनुभावभेदादपि रसादीनां भेदसम्भारमाह—परस्परेति । उद्दीपनविभावभेदादपि  
भेदसम्भारमाह—कुसुमोच्चयेति । वर्णनादय इति, 'स्तुपद्मादिवह वन्द्यादिना  
तद्वर्णनस्याप्युद्दीपकत्वमित्यभिप्रायः'\*

वाक्ये इति । वाक्यव्यङ्ग्य एवेत्यर्थः 'व्यङ्ग्यकशब्देन सह व्यङ्ग्यकार्यवाचक-  
शब्दस्य वाक्यत्वप्राप्तिर्भाव्यात् द्वयत्थस्य पदव्यङ्ग्यत्वासम्भवात्'\*

(A) लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्वृषं स वचःक्रमः ।

तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥ ७५ ॥

अत्र तदादिपदैस्तु भवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते । यथा वा—

(३) मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते

मानं धत्स्व धृतिं वधान ऋजुतां दूरं कुरु प्रेषसि ।

इति धातुवार्थं धीराणां महत्त्वं व्यङ्ग्यं तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य उपनायकविषयभूतार-  
रसाभासस्य प्रकर्षकम्, धीरं तस्मिन् महत्त्वेन रत्यसिगयात् । उपकृतं बहु तत्रेत्यादौ  
॥ लाक्षणिकरूपदानामेक्याभ्यस्त्वेवैव व्यञ्जकत्वं बोध्यम् । विमुह्यन्तीत्यत्र अपुपसर्गेण  
समाप्ताभावेऽपि पदत्वमुपपादितमेव प्राक् । (२)

भसलक्ष्यक्रम पदप्रकाश्यमाह—लावण्यं तदिति । अत्रेति, प्रकाश्यन्ते शतयैवेति  
शेषः तदादीनां तथैव शक्ते, तद्व्यङ्ग्यश्चात्र महावाक्यव्यङ्ग्यविमलम्बनिष्ठ  
प्रकर्ष एव पूर्वानुभूतसुख<sup>१</sup>हेतुस्मरणे विमलम्बप्रकारात्<sup>२</sup> तस्य तत्प्रकर्षकारव्यञ्ज  
उपपादितमेव प्राक् तदादीनाञ्चात्र प्रत्येकैकवाक्यस्थत्वात् पदत्वमेव । न च तदा  
सुधास्पदमभूदित्यत्रैव सर्वेषामन्वयात् वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वमिति वाच्यं तद्वाच्य-  
मित्यनेनैव पूर्वानुभूतज्ञाने विमलम्बप्रकारोदयेन तादृशपदेन तद्व्यञ्जने सुधास्पद-  
मित्यग्रान्वयस्यानपेक्षणीयत्वात् । अत्र च अनुभवैकेत्यादिना व्यङ्ग्यप्रदर्शनमेव  
कृतं घटत्वादिनैव तदादीनां शक्तेरिति केचिदुभयाचक्षते तत्र, अनुभवैकगोचरत्वस्य  
यस्त्वरूपत्वेन तदुदयज्जनायां भसलक्ष्यक्रमव्यञ्जकत्वोदाहरणानुपपत्तेः । स इत्युक्ते  
बोद्धुरतनुभूतार्थस्य अनुभूतलुप्तसंस्कारसर्वार्थस्य या<sup>३</sup> घटत्वादिना बोधाभावाच्च ।  
विमलम्बे उदाहृत्य सम्मोहेऽप्युदाहरति—यथा वा मुग्धे इति । पत्यव-

(A) मुक्ताफलेषु वज्रावायास्तरुत्वमिदन्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तद्वाच्यमिद्वोच्यते ॥  
इति लावण्यलक्षणम् ।

१ यत् '३' इति ख-न-पुस्तकयोर्नास्ति । २ अथ 'विमलम्ब' इति वा पर 'प्रकर्षरीत्यात् स च  
महावाक्यव्यङ्ग्यविमलम्बस्य प्रकर्षकः । न च प्रकर्षं कथं प्रकर्षेति इति वाच्यं प्रकृत्यनेन सातजगत्करीर  
प्रकर्षकतात् प्रकर्षकं च विमलम्बस्य व्याख्यायां तथात्वात्' इति ख-न-पुस्तकयोरेविव' पाठः । न-पुस्तके  
यत् परमपि 'इदं च विमलम्ब' इति व्याख्यायादिषु पुस्तकसौचित्यव्याख्यादिष्वेववाचारा तद्विषयी भाव-  
कर्षो व्यङ्गीजं नु साक्षादिति' इति पाठोऽस्ति । ३ अथवा ख-न-पुस्तकयोर्नास्ति ।

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना

नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥

अत्र भीताननेति । अनेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते । भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदा-  
ह्रियते ।

(४) रुधिरविसरप्रसाधितकरबालकरालरुधिरभुजपरिघः (A) ।

सदिति ध्रुकुटिषिटङ्कितललाटपटो विभाति नृप भीमः ॥७७॥

षकभावां सखीं षकभावावरणयोद्वेजयन्त्या सख्या उक्ति प्रगर्हं मुग्धे  
मुग्धतयेत्यादिषु । सख्या एव प्रतिबोधिता नायिका भीतानना सती तां सखीं  
नीचैरित्यादिषु प्रतिवच प्रत्युत्तरमाहेत्यन्वयः । यद्वा मान धनस्वेत्यादि षच  
प्रतिवच, नीचैः शमेत्याहेत्यर्थः । प्रतिबोधनीयमर्थमाह—मुग्धे इत्यादि । मुग्धे उप-  
देशाग्राहिणि मुग्धतया यथोचिताचरणमूढतया नेतुमित्यादि । तर्हि किं करोमीत्यन्नाह—  
मानमित्यादि । धर्मस्य गृहाण । वग्राम बन्दीदुरु, प्रियवर्ति प्रत्यधीरा मा भुरि-  
त्यर्थः । अमृतान् अवज्रताम् । अत्रेति, नायिकाया सम्भोगशृङ्गारोऽल महावाक्य  
व्यङ्ग्य । भीताननेत्यनेन तत्प्रकार्या व्यज्यते तदप्रतिज्ञकवास्येन मयासदनुपगा-  
त्मिकाया रते प्रकर्षलाभात्, अन्यथा नीचैः शंसनाभिधानस्य प्रतारणरूपताया अपि  
सम्भवात् । तदेगाह—अनेन हीति । 'युक्तता' अनुरागाधीनत्वेन अप्रतारण  
रूपता । शून्यं घासगृहमित्यादौ नु नेदृश किमपि पदमित्यतो वाक्यमेव तत्र व्यञ्ज-  
कम् । भावादीनामिति भावादीनां प्रकर्षस्येत्यर्थः भावादीनां महावाक्यव्यङ्ग्यत्वेन  
पदप्रकाश्यत्वाभावात् । 'नाधिक' न इतोऽधिकम् । तथाच एतदुदाहरणेनैव तद्  
गतार्थमिति भावः । वक्रजर्त्ती तु—अमृततुल्यस्य रसस्य कणाऽप्यास्याद्या मधुतुल्यस्य  
भावादेस्तु कणा नाऽऽस्थाद्या, अतो रसकणायामिव भावादिकणायाम् नाधिक वैचित्र्यमिति  
व्याचष्टे, तत्र, रसादिप्रकर्षस्येव प्रकाश्यत्वात् व्यञ्जकान्यत्वेन व्यङ्ग्यात्पत्वाभावेन (०)  
रसादे कणस्यैवासम्भवाच्च, न हि महाप्रदीपाल्यप्रदीपाभ्या व्यङ्ग्यत्वेन  
घटादेर्महत्वात्पत्वे । (३)

शब्दशक्तिमूलमलङ्कार पदप्रकाश्यमाह—रुधिरेति । हे नृप भीम' मीषणीय

(A) "परिव" आर्ग, जयभीनिरोधकत्वादिनुराहाणषन्निर्वायं स्पष्टम् ।

(B) व्यङ्ग्यत्वात्पत्वा व्यङ्ग्यत्वात्पत्वाविति नियमाभावेनेत्यर्थः ।

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

(५) (A) भुक्ति-मुक्तिवृत्तेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नाऽऽनन्दनिस्पन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥

भवान्(B) विभातीत्यन्वयः । “विसर” सरणम्, “प्रसाधित” मण्डित, “कराल” भीषण, “कराल” खड्ग, “परिष” मुहर, “विट्कृतम्” उच्चनीचीकृतम्, “पट्ट” स्फारदेण । अत्र अनेकार्थकमीमपदसामर्थ्यात् राशि भीमसेनोपमा व्यङ्ग्या वीरत्वं व्यञ्जयन्त्या तथा च म्हावाक्यव्यङ्ग्यस्य राजविषयमायस्य प्रकर्षो व्यङ्ग्य धरि भाषातिशयात् । उक्तस्य कालेत्यादौ ॥ एकवासरस्थानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । (४)

शब्दगुक्तिमूल पदप्रकाशं यस्याह—भुक्तिमुक्तीति । ज्ञानान्तरस्तत्रियादुप-  
नायके उपस्थिते पुराणाद्यागमप्रशस्तान्याजेन तदगममनाधीन इत्थं व्यञ्जयन्त्या नायिकाया  
उक्तिरियम् । सदागमः सञ्चाल्य पुराणादिकं कस्य जनस्य आनन्दनिस्पन्दं न  
विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्तयो स्वर्गोपवर्गयो कर्ता, एकान्तसमादेशन तत्त्वोप-  
देशः तत्परः तत्कारी । व्यङ्ग्यार्थस्तु सदागमः सत्पुरुषस्वागमनं कस्य मन्त्रिध-  
जनस्य आनन्दनिस्पन्दं न विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्तयो सुरतोपभोगगृहकर्मा-  
त्यागयो कर्ता, एकान्तसमादेशनं रहस्यलीलोपदेशः तत्परः । एवविधन्त्यर्थो-  
ऽनेकार्थकसदागमपदप्रकाशः, तदभावे एकार्थकभुक्तादिपदेभ्य ईदृशार्थबोधानुदयात्,  
स च उपनायकप्रशस्तारूपत्वात् महावाक्यव्यङ्ग्यतद्विषयसामासमकर्षक प्रशस्ते रत्या-  
धिक्यात् । पण्यभ ज एत्येत्यादौ तु एकवाक्यस्थितानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जक-  
त्वम् । न च व्यञ्जकपदानामेकवाक्यस्थितत्वेऽपि एकैकम्यङ्गव्यञ्जकत्वं विवक्षितम्,

(A) “भुक्ति” सम्भोग, “मुक्ति” विहासिदु अत्याग ।

(B) अत्र उदाहरणस्योक्ते “विभासि नृप सीम” इति काव्यप्रदीपादिसम्मतं पठ्यते, स तु  
ज्यायान्, “नृप” इति सम्बोधनानन्तरं भवत्सदप्रयोगव्य तदनुसारिविज्ञापदप्रयोगस्य वा असर्प-  
न्त्येवम् ।

१. 'न च तत्र अन्वयः इति चेत् तेषामेकवचनकालानां पदलेनेन व्यञ्जकत्वमिति वाच्यम्, तत्र विहितं  
मन्त्रयद्वासाः । ननु सीमोऽर्थो विहासश्च व्यञ्जकत्वान्' इति ।



(६) सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं  
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विश्रव्यमत्रागतिः ।  
आश्चर्यं तव सोकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना  
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुना-  
पदयोत्पन्नं व्यज्यते ।

अन्यथा वक्ष्यमाणे तद्व्याप्तिमहादुखेत्यादौ एकवाक्यस्ययोरपि श्रौतव्यपरदोष्यङ्ग-  
द्वयबोधकत्वात् एतत्त्वेन व्यञ्जकतोदाहरणमनुपपन्नं स्यात्, तथाच 'पण्डितं न दत्ते'-  
त्यत्र शास्त्रादिरिभिन्नव्यङ्ग्यव्यञ्जकानां सन्ध्यादिपदानां कथं वाक्यत्वेन व्यञ्जकत्व-  
मिति वाच्यम्, प्रत्येकतत्तद्व्यञ्जनद्वारा यदुपमांग इत्याद्येकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेन वाक्य-  
त्वात् । \*अत्रेति उद्देश्यनिर्वाहकत्वेन व्यञ्जनाया एवात्र मुख्यत्वमुक्तम् । <sup>१</sup>अमुख्य-  
येति पाठस्तु वचिन् सुपम एव\* । (४)

स्यतमम्भविस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु एवप्रकाशयमाह—सायमिति । उपनायकेन पथ्युप-  
मुक्ता क्लान्ताऽऽगता मल्लीमुपहसन्त्या सन्ध्या उत्तिरिपम् । तत्र सौकुमार्यमधुना  
आश्चर्यम्, येन सौकुमार्येण अभित सर्वाङ्गे क्लान्ताऽसि । इमत्रापकमाह—नेत्रद्वन्द्व-  
मिति । यतस्तत्र नेत्रद्वन्द्वं मीलनस्य व्यतिकरं समूहं विना नासितुं स्यात् न शक्नोति ।  
सौकुमार्यातिरिक्तस्य ईदृशहमहेतुस्तु नास्त्येवेत्याह—सायमिति । अनेन इमहेतु-  
रातया नास्ति प्रयुक्तमनिवृत्तिहेतुं स्नानमन्यत्राङ्गलेपावेन स्त इति दर्शितम् ।  
अत्र च सायमप्यस्य त्रिमुक्तान्मकसायादपरस्ये तत्रातपमम्भावना निरस्यति—  
याताऽस्नेति । विश्रव्यं स्वैरम् । अत्रागति इहागमनम् । एतेन भयाद् ग्रौत्याङ्गा  
हमा नास्ताति दर्शितम् । विश्रव्यमन्देति वचिन् पाठः । अत्रेति 'वस्तुना'  
वाक्यार्थेन स्वतमम्भविना । अधुनापदेति । ईदृशकमस्य सौकुमार्यप्रयुक्तत्वे  
दिनान्तरेऽप्येव स्यादतोऽधुनापदाधुनिकहमहेतुर्नाम इति भावः । अत्र च महा-  
वाक्यव्यङ्ग्य उपहाम व्यङ्ग्यमिदञ्च तत्पर्यक परपुरुषमम्बन्धेनाधिकोपहासमिदं ।  
अलमशिरोमणीत्यादौ तु एकविशेषकपत्रयस्य वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । (६)

(७) तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।

तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यवया तथा ॥ ८० ॥

चिन्तयन्ती जगत्सुखिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।

निरुच्छासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका<sup>(१)</sup> ॥ ८१ ॥

अथ जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोग-  
दुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानित्युक्तम् । एवं च अशेष-चयपद-  
द्योत्ये अतिशयोक्ती ।

स्वतःसम्भविषस्तु व्यङ्ग्यमलङ्कार पदप्रकाश्यामाह—तदप्राप्तीति । जगत्सुखिं  
जगज्जनकम् । परः सर्वोत्कृष्टम्, ब्रह्मस्वरूपिणम् चिन्तयन्ती पूर्वोक्तनायिकातो-  
ऽन्या गोपकन्यका निरुच्छासतया निरुद्धप्राणवायुतया मुक्तिं गता कृष्णवियोगा-  
न्मृता मुक्तैत्यर्थः । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिरित्यत्र माह—तदप्राप्तीति । भोगेन  
हि पापपुण्यक्षयः, अतस्तदप्राप्तिर्जन्यमहादुःखेन समस्तपापस्य तच्चिन्ताजन्यविपुल-  
सुखभोगेन समस्तपुण्यस्य च क्षयवतीत्यर्थः । पापपुण्ययोः सामन्त्यलाभाद्य अशेष-  
चयपदान्ध्याम् । अत्रेति । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिप्राप्तिरूपं स्वतःसम्भवि-  
षस्तु प्रकृतवाक्यार्थः तद्वच्छब्दो च अतिशयोक्त्यलङ्कारादित्यर्थः । तथा हि मुक्ते-  
रपयोगितया प्रकृतानां समस्तपापफलानां पापविशेषरूपेण तदप्राप्तिदुःखेनाप्राकृतेन  
मुक्त्युपयोगितया प्रकृतानां समस्तपुण्यफलानाञ्च पुण्यविशेषरूपेण तच्चिन्ताविपुल-  
सुखेनाप्राकृतेन स्वभेदेन निर्देशात्मकनिगारणरूपावेतौ अलङ्कारौ,

“विगीर्षाद्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यन्”

इति तद्वृत्तान्तात् । निगर्ण हि प्रकृतस्य स्वशब्देनानुक्तया उक्ताप्रकृताभेदेन व्यञ्जनया  
प्रतीतिः, कमलमकममसीत्यत्र अप्रकृतेन कमलेन प्रकृतस्यानुक्तस्य मुखम्येष । तौ  
चालङ्कारौ पापपुण्यसामान्यताप्राप्त्यामशेषव्ययशब्दां द्योत्येते कारणस्तामस्त्येन तत्-  
फलसामान्यतातन्नाम् । तदाह—अशेषचयपदेति । धन्याऽसि या कथयसीत्यादौ तु

(१) अत्र अन्या गोपकन्यका मुक्तिं गतेत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—तदप्राप्तीति तच्चिन्तेति  
च, प्राप्तिप्रवर्णनां भोगादेव ह्येव इति सिद्धान्तादिति भावः । “चिन्तयन्ती” इत्यनेन साक्षात्-  
कारहेतुनिदिष्ट्यामनमुक्तम् । निरुच्छासतयेत्यस्य नास्ति उक्त्याम प्राणोन्मूलनं यस्या मा,  
तत्तत्प्रेत्यर्थः ‘न तस्य प्राणा उक्तामस्ति इवैव समवलीयन्ते’ इति श्रुतिप्रार्थे प्रमाणम् ।  
परब्रह्म निर्गुणं ब्रह्म, परापरभेदेन ब्रह्मणो द्वैविध्यं शास्त्रे प्रसिद्धम् । छान्दोग्यम् । विष्णुपुराणम्-  
मेतत् पण्डितम् ।

(८) क्षणदाऽसावक्षणादा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।

यत वीर तव द्विपतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ ८२ ॥

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन 'विधिरपि त्वामनु वर्तते' इति सर्वपदयोक्त्यं वस्तु ।

(९) तुफ बल्लहस्स गोसम्मि जामि अहरो मिलाणक्कमलदलो<sup>(१)</sup> ।

द्विजपदामाशान्महापात्र्यमेव व्यञ्जकम् । तौ चालङ्कारौ गार्गीश्वरप्रभञ्जिकाया मुक्ति  
रुपादकस्य समस्तपुण्यस्यैवोपादकत्वेन महाशयपद्मचवोपी 'श्वरप्रभञ्जक  
पदौ श्वरप्रभञ्जकमुक्तपुपादनद्वारात्' \* । न च श्वरप्रभञ्जकपदार्थव्यञ्जकपदार्थ  
वाच्यत्वेन कय पदत्वमिति वाच्यम्, श्वरप्रभञ्जकपदार्थव्यञ्जकपदार्थव्यञ्जकत्वेन पदत्वान्,  
एकव्यञ्जकपदार्थव्यञ्जकत्वे सन्त्येव तद्व्यञ्जकपदार्थव्यञ्जकत्वात् । ( ७ )

स्वतःसम्भज्यलङ्कारव्यङ्ग्यं यस्तु पदधात्यमाह—क्षणदाऽसागिति ।  
अक्षणदा अनुत्तरदा । अत्र रसकम्, यनस्य पलायनस्थानं यात्, नन्द्यादित्वात्  
कतारि यु । अस्मिन् घृतादिकौतुकम् । अन्यसन्तम् अरिस्तीर्णम्, यद्वा अविभि-  
न्ने अस्मिन् शिरःप्रहारेण क्षेपणम्, तादृशं व्यसनम् आपत्, त्यक्तादिर्मेवै शिरसा  
प्रहृत्य त्यक्ता निःसार्यन्ते इत्यर्थः । तत्र च अक्षणदादिशब्दापम्याय गङ्गाशक्ति-  
सूत्रं क्षणदादे क्षणदात्यादिपराङ्मुखत्वरूपा विराधः आपातता भासते । एषाया  
न्तरन्यासेन समर्थते पराङ्मुखे त्यगीति, त्वयि पराङ्मुखं सति तान् प्रति न  
केवलं क्षणदादयः स्वस्वघ्नमत्यग्रेण पराङ्मुख्यमपि तु सर्वेषामेव पराङ्मुखत्व  
मित्यर्थः । स चार्थान्तरन्यासो हृदयवत्त्वात् स्वतःसम्भजति तद्व्यङ्ग्यमाह—  
अत्रेति । 'विराडाङ्गुलं' विराट्निर्मातेन । विधिरप्येत्यादः सर्वपदधान्यता ।  
सर्वत्वेन विधेरपि स्त्रमात् शब्दो प्रति पराङ्मुखत्वस्यैव वाच्यत्वेन तदनुवर्तनस्य  
व्यङ्ग्यत्वम् । तत्र महानास्यव्यङ्ग्यस्य राज्ञिण्यमात्रस्य प्रकर्षकमेव विधिनाऽप्यनुवर्त-  
नीयं भाव्यकर्तव्यात् । दृष्टान्ते यादौ तु ईदृशपदाभावाद्धातुमेव व्यञ्जकम् । (८)

स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कार पदग्रन्थमाह तत्र चन्द्रहस्सेति ।

(A) “गोसमि” इति वद “प्रभते” इत्यर्थे देवी । अन्य सम्भृत ‘प्रात’ इति काव्य प्रदीपटीकाकार । अत्र “कमलद्वो” इति पुस्त्व प्राकृत लिङ्गानिवसादिनि व्यक्तमुदाहृतौ ।

१ 'विद्वन्मया प्रवर्धयन्तौ विद्वत्प्राचीनमुक्तं तुभूतयो समस्तपुण्यवत्कर्मभोग्योत्तमः सिद्धौ त  
तद्विद्यामुखाभ्यासमिन्द्रान्ध्यासानात् वाहस्यु खसातिशयमिन्द्राभेन विद्वन्मया विद्वत्प्राचीनमुक्तं  
अपस विद्वन्मया दृष्टविद्वत्प्राचीनमुक्तं वाहस्यु ।

इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महीसंमुहं ॥ ८३ ॥

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन  
म्लानत्वमिति मिलाणादिपदयोत्पं काव्यलिङ्गम् । एषु स्वतः-  
सम्भवी व्यञ्जकः ।

(१०) राईसु चंदघवलासु ललिममप्फालिअण जो चावं ।

एकच्छत्तं 'विअ कुणइ भुअणारअ' विजम्भन्तो ॥ ८४ ॥

तत्र यद्भवस्य गोशे आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।

इति नववधु धृत्वा करोति वधन महीसमुक्षम् ॥ इति संस्कृतम् ।

रात्राद्यन्तचुम्बितपन्थरां नवयौवनां यधू प्रति कस्याञ्चिदुक्तिरियम् । गौ. शैते-  
ऽस्मिन्निति गोशं प्रभातम् । नववधुः नवयौवना यधु । अधरस्य म्लानकमलदल-  
त्वेन रूपणाद् म्लानिहेतुपत्यधरात्यन्तचुम्बनप्रकाशनाद् मुस्मनमनम् । अत्र च रूपरूप-  
कयोरेभेदसर्गास्यालीकत्वेऽपि रूपकहेतुना शोणत्वरूपसाधर्म्येण अधरस्तद्गो-  
कमलदल एव म्लानकमलदलाभेददर्शनाद् अधरेऽप्यौचित्येन सम्भाषितस्य म्लानकमल-  
दलाभेदात्मनो रूपकालङ्कारस्य स्वतःसम्भविन्वमिति प्रागेव वर्णितम्<sup>१</sup> । तद्वप-  
द्गुचञ्च अधरस्मानिहेतुरत्यन्तचुम्बनमित्येवरूपो हेत्वलङ्कारः । स च रूपकबोधक-  
म्लानकमलदलप्रकाश इत्याह—अग्रेति । अद्गुचञ्च म्लानिहेतुधूमन परार्द्ररूपमहा-  
वाक्यवपद्गुचधूलज्जत्या 'प्रकर्षक स्वकर्तृकात्यन्तपत्यधरचुम्बनप्रकाशालङ्काराधिक्याद् ।  
गाढकामोत्पादो तु ईदृशपदाभावाद् वाग्यमेव व्यञ्जकम् । (१)

कविप्रौढोक्तिरिदं वस्तुवद्गुण वस्तु एव प्रकाशमाह—राईसु इति

रात्रिषु चन्द्रघवलासु ललितमास्फलय यश्चापम् ।

एकच्छत्रमेव करोति भुवनराज्य विजृम्भमाण ॥ इति संस्कृतम् ।

अत्र य इत्यस्य प्रकरणलभ्य कामो विशेष्यः । भुवनराज्य भुवनराजत्वम् । अत्र  
अनङ्गस्य व्यापास्फालनपूर्वकभुवनाधिकारकरणस्यालीकत्वेन तद्वपं वस्तु कवि-

१ 'विद' इति कविन् पाठः । २ 'अभेदरूपधरास्यालीकत्वेन रूपस्य म्लानकमलदलस्य प्रतिज्ञा सत-  
सम्भविता रूपरूपक विहरणौचित्येन सम्भाव्यमान इत्याह व्याख्यातमेव' ख. न । ३. 'प्रकर्षणप्रकाश' ख. न ।

अत्र वस्तुना येषां कामिनाममौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चि-  
दपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्विरूपभोगपरैरेव तैर्निशाऽति-  
वाह्यते इति भुजणरज्जपदयोत्यं वस्तु प्रकाशयते ।

(११) निशितशरधिषाऽर्पयत्पनङ्गो

दृशि सुदृशः स्वयलं वयस्यराले ।

दिशि निपतति यत्र सा च तत्र

व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥ ८५ ॥

प्रौढोत्तयैव सिद्धम्, तद्वद्वृत्तमाह—अत्र येषामिति । तेषां इत्यत्राऽप्याये पञ्चमी,  
तेभ्योऽपेतो बहिर्भूत इत्यर्थः, निर्दोषणे तु पञ्चम्यनुपपत्तेः (A) । पराङ्मुख इत्यन्तं  
जाग्रद्विरूपित्वादेहेतुप्रकर्षनरूपम्, ईदृशञ्च व्यङ्ग्यं प्रज्ञातां सामान्यप्रापकमुत्तराग्य-  
पक्षादेव प्रकाशत इत्याह—भुवनेति । तत्र महाबाह्व्यङ्ग्यस्य ममस्तजनशृङ्गावस्य  
प्रकर्षकं जाग्रद्विरूपित्वादिना तन्प्रकर्षस्य स्पष्टत्वात् । कैलासस्येत्यादौ तु ईदृशपदा-  
भावान्न धाक्यमेव व्यङ्ग्यम् । एकच्छत्रं विभ इत्यत्र एकच्छत्रमिवेति सस्पृष्टमाह  
चक्रवर्ती, तत्र, तदा उत्प्रेक्षया एव व्यङ्ग्यकलापनेन तु वस्तुनः (B) । (१०)

कमिप्रौढोक्तिमिद्वयस्तु व्यङ्ग्यमलङ्कारः पदप्रकाशमाह—निशितेति । अत्राले  
युगत्या धकभावेहेतुभ्येन कुटिलं धयमि यौवने मति सुदृशो दृशि अनङ्गो निशित-  
स्वशरधिषा म्यबलमर्पयति, सा चार्पितवत्या इग् यत्र दिशि निपतति तत्र दिशि भरस्या  
अथाह धूनां रिपुहन्तालीना कमिभ्यो दृश दृशा व्यतिकरं मिलनम् एव समुन्मिषन्ति  
जायन्ते । दृशायस्याश्च—

नद्वेप्यमौष्ठय ताप पाण्डुता कृशताऽरुचि ।

'अवृत्तिध्याप्यनालम्बस्तम्भयोन्मादमुन्मत्तता ।

मृतिश्चेति क्रमाद् ज्ञेया दृश स्मरदृश इह ॥

इति धाक्यस्यायनं । तासाञ्च कमिरूपाणां युगपदुन्मोहरूपं वस्तु धाक्यार्थं म्यतोऽ-

(A) गोपद्वयानुपायिनन्तु "निर्दोषोऽपि केन क्रियान्तं कल्याणनोश्च ते च" इति सूत्रेण  
निर्दोशेऽपि पञ्चमी सम्भवतीति प्राहुः ।

(B) "न तु वस्तुनः" इति व्यङ्ग्यकृत्वं सम्भवतीति शेषः । पूर्वत्र व्यङ्ग्यकलापत्तेरित्यत्र  
व्यङ्ग्यकलापचिरिति प्रथमान्तपाठः समीचीनः ।

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविच्छेदा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदयोस्तयो विरोधः ।

(१२) चारिज्जंतो वि पुणो संदावकदत्तिपण हिअएण ।

धणहरवअस्मएण विमुद्वजाई ण चलइ से हारो ॥ ८६ ॥

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारांऽनवरतं कम्पमानं गवास्ते इति 'ण चलइ'पदयोस्त्यं वस्तु ।

सम्भवात् कविप्रौढोक्तयेयं सिद्धं, तद्वच्चङ्गमात्रं कमिकाणां युगपदुन्मेषं विच्छेद इत्येव हारो विरोधात्लङ्कारः, स च युगपत्तावोपकृत्यतिकरपदप्रकाश्य इत्याह—अत्रेति । परस्पर-विरोधोऽत्र कालिक, तदलीकत्वाद्द्विरपेक्ष । स च विरोधो महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकादृष्टयुवजनशृङ्गारस्य प्रकर्यकं युगपद्विच्छेदसंवाचस्योदयेन तेषां शृङ्गारधिस्य-लाभात् । 'केसेषु वलामोदिभ' इत्यादौ तु ईदृशपदभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (११)

कमिप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाश्यमाह—चारिज्जंतो धीति—

चार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकश्चिन्तेन हृदयेन ।

स्तनमग्नयस्वतया विशुद्धजातिर्न चलति(A) तस्या हारो ॥

इति संस्कृतम् ।

सन्तापकश्चिन्तेन हृदयेन पुनः पुनरायमाणोऽपि तस्या हारो विशुद्धमुक्ताजातीयप्रति-  
स एव च श्लेशद् विशुद्धमालाण्यदिजातीयत्वेन अभ्यामिह ; स्तनभरस्य वयस्यतया न चलन्ति बाणगच्छति विशुद्धजातीयस्य वयस्यत्यागाभावादित्यर्थः । पुनरित्यत्र पुनः पुनरित्यर्थः । एतच्च विशुद्धजातिचमनपणमे हेतुरिति हेत्वलङ्कारो वाक्यार्थं कवि प्रौढोक्तयेयं सिद्धं, तस्यानपगमहेतुत्वस्यारोप्यत्वेनावास्तवत्वात् । तद्वच्चङ्गं वस्त्वाह—  
हारोऽनवरतमिति, चार्यमाणस्यानपगमे कम्पनीयत्वात्, अत एव न चलतीति पदयोस्त्यं तत्, नत्रयस्य कारकत्वाभावात् तन्वयेन व्यञ्जकस्यापि न चलतीत्यस्य असमासेऽपि पदत्वमेवेति प्राप् दर्शितम् । व्यङ्गेन हारकपेन च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकाविप्रलम्भस्य प्रकरं हारकम्पकतापेन(B) विप्रलम्भातिगपलाभात् । गादा-  
लिङ्गनेत्यादौ तु ईदृशपदभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१२)

(A) 'ते' इत्यस्य 'अस्या' इत्यनुवादं बालवोचिन्यां दृश्यते ।

(B) तापनदमत्र तापन्यदीर्घेनि भासादिकसमिति बोध्यम् ।

(१३) सो मुद्रसामलंगो घम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।

तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसंगरे जअइ ॥ ८७ ॥

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धपोः प्राप्तः  
यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति खंधपद  
द्योत्या विभावना । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

कविप्रौढाक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कार पदप्रकाश्यामाह—सो मुद्रेति ।

स शुद्धम्यामलाङ्गो घम्मिल्ल कलितललितनिजदेह ।

तस्या स्कन्धादल गृहीत्वा स्मरं सुगतमङ्गरे जयति ॥

इति सस्कृतम् ।

इत्युत्तर नायिकास्कन्धपतितल्लघवन्धकेशपशनात् पुनरहीतमदनस्य नायकस्य पुनः  
सुरतरणं तमिवम् । घम्मिल्ल सयत् केशपाशः । शुद्धम्यामलाङ्गं स एव, शुद्ध-  
म्यामलाङ्गं स्मरं तस्या नायिकाया स्कन्धद्वयं बलं गृहीत्वा सुरतमङ्गरे जयति  
पुनः सुरतपुच्छपर्यन्तं कथादुत्कर्षवानित्यर्थः । मुघेति पाठे मुग्धम्यामलाङ्ग इति  
संस्कृतम् । कौटशः ? कलितघम्मिल्लात्मकललितनिजदेहः । अन्नेति, 'म्यामलाङ्गः'  
स्मरस्य प्रमिद्वत्यमत्रारायैवोक्तम्, स्मरस्य तथात्वाभावात् । तथाच तदभेदस्य  
घम्मिल्ले रूपकघटकादीपकत्वधर्मेण तत्सद्व्यो उद्दीपकात्तरे स्मरे वाऽवर्गनादु रूपकमिदं  
कविप्रौढोक्तयेव सिद्धम्, \* तद्ध्रस्वमलङ्कारमाह—रतिविरतावपीति । अभिलाष  
हेतो रत्यनुत्तरकालस्याभावेऽपि अभिलाषरूपरत्नव्यक्तकारिमया विभावनेत्यर्थः,

‘क्रियाया प्रतिराधेऽपि फलव्यक्तिर्भाषणा’ ।

इति तल्लघवे त्रियापदस्य कारणमात्रपरत्वेन इत्यनुत्तरकालस्यापि क्रियापदार्गत्वात् ।  
तस्या स्कन्धपदद्यातयतामुपपादयति—मुहुराकर्षणेनेति, आकर्षणात् स्कन्ध  
प्राप्ते प्रापशा इत्युत्तरं सम्भवान् इत्यनुत्तरकालभावप्रापक स्कन्धपदं तद्व्योतकम् ।  
तत्फललीनाभिलाषात्मिकया च विभाजनया महावाक्ययङ्ग्यपदद्वाररसोत्कर्षं स्फुटं  
पठ । ना ठेर च ह्रस्वोत्पत्त्यादौ तु ईदृशपदाभावाद वाक्यमत्र व्यञ्जकम् । (१३)

१ आनसाङ्गकारकमिदं कथमाचक्षते । इत्युत्तरकालेन तद्व्योक्तयेन कविप्रौढोक्तेः विहितं  
प्रापेर द्रष्टव्यं सन् ।

(१४) णवपुण्णिमामिअंकस्स सुद्धअ को तं सि भणमु मह सचं ।

का सोद्धग्गसमग्गा पओसरअणि च्च तुह अज्ज ॥ ८८ ॥

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तत्वं (A) न तन इति णवेत्यादि-पओसेत्यादिपदयोत्यं वस्तु व्यज्यते ।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमिद्वन्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदयोत्यमाह- णवपुण्णिमेति ।

नवपुण्णिमाष्टमाहस्य सुभग कन्यमसि भण मम सत्यम् ।

का (B) सौभाग्यममया प्रदोषरजनीव ताराध (C) ॥ इति संस्पृष्टम् ।

उपनायिकागृहे तिगामिषुं स्वनायकमुपहृमन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । हे सुभग नरीन-  
पुर्णिमाचन्द्रस्य कन्यमसि किमम्बन्धसि पुत्रो भ्रात्रादियां, तन्मम स्थाने सन्यं भणे-  
त्यर्थः, तादृजामम्बन्धिन्य ण्य तद्धर्मतणिकानुरागिण्यस्य त्वय्युपपत्तेरिति भावः ।  
तथा सप्त सौभाग्यं ममयां यस्यां तादृजी का मया चन्द्रस्य प्रदोषरजनीव, चन्द्रस्यापि  
प्रदोषरजनीयां तणिकगमात् । अत्र साधर्म्योपलम्भात् पुत्रवध्नानृत्यादिवेध  
सम्बन्धः पञ्चम्यं प्रशविष्य । न च भवेतनम्य चन्द्रविषयस्य पुत्राद्यभावावलीक  
इति तद्विषयमश्रोऽप्यलीकः कविनिबद्धाया नायिकाया प्रौढोक्तयेव मिदः, यथं  
प्रदोषरजनीयां सौभाग्यस्यालीकत्वेन तदुपमिताया सौभाग्यश्रोऽप्यलीकः । तत्र  
प्रथमपदव्यङ्ग्यं पर्यायः—मयीत्रेति । चन्द्रस्य नवत्वेन तदीयरक्तिमार्गके रक्तपदै  
स्मारिते ग्लिष्टस्य तन्वार्थयो रक्तिमनुरागयोगेकत्वाध्यायान् ( ध्ययमायान् ? )  
प्रथममनुरक्तस्यमिन्त्यन्तं वस्तु व्यङ्ग्यं तद्य णवेत्यादिपदप्रकाशयम्, न तन

(A) न तन इत्यादि । सप्त तदनन्तरं प्रथमानुरागकण्ठाभावावन्तरमित्यर्थः, न तस्या-  
मनुगत इति शेषः । अथ पदयोत्यकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमिद्वन्तुव्यङ्ग्यमाहणत्वम्,  
“अत्र पदे रजनी वेत्तुपमनैरेण्येण कथं व्यङ्ग्यमिति विन्त्यम्” इति वचना प्रदीपकारणा-  
क्षितम् । सत्र “इह पदानुपादानेऽपि प्रदोषरजनी तव का इत्येतावताऽपि व्यङ्ग्यमिति  
सम्भवती”ति यत् कैमिन् परिदिश्यते तदपि न मनोरमम्, श्लोके सप्त ‘इह’पदव्यानुपादानकल्पना-  
भौतित्यान् अनुपादानकल्पस्य तु उदाहरणान्तरत्वात् प्रदोषरजनी तव का इत्युच्चावतिसंयोकि-  
सापेक्षस्यैव व्यङ्ग्यवशापातेन तदोपताद्वयस्यास्य तावताऽपि शृङ्गिकानुरागनायकानुरागिण्या  
सौभाग्यप्रभवद्वयस्योपहासस्यालम्भान् । वस्तुतः टीकाकट्टकप्रथमप्रख्यङ्गवाभिप्रायेणास्य वस्तु-  
व्यङ्ग्यमाहणत्वमममेवे द्वितीयार्द्धे अलङ्कारस्य व्यङ्ग्यवत्त्वेऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् ।

(B) सौभाग्येन समया सम्पूर्णा ईदृशनायककलायेन वा आत्मानं पूर्णमीनार्य मन्यते  
तादृशीत्यर्थः ।

(C) अत्र उच्यते — “तणिकगमां वृद्धपावञ्चकं स्वामिन् प्रतीयमुक्तिः । ”. प्रथमोदित-



(१५) सहि णवणिहुषणसमरम्मि अंक्वालीसहीए णिविडाए ।

हारो 'णिवारिओ च्छिन्नित्तं' \* 'उच्छेरन्तो तदो क्हं रमित्तं' ॥ ८९ ॥

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथप  
कीदृशगति व्यतिरेकः कल्पदगम्यः ।

इति तु प्रदोषरजन्मुपमितोपनायिकासौमन्यप्रश्रयार्द्धं तत्र महावाक्यव्यङ्ग्यसं-  
हासस्य प्रकरक क्षणिकानुरागित्वेन उपहामाधिन्यलाभात् । जे लङ्कागिरीत्यादौ  
तु ईदृशपदाभावात् वाक्यमेव व्यङ्ग्यम् । (१४)

कविनिबद्धयकृपौढांतिमिद्वस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कार पदयोत्यमाह—सहि णवणिहु-  
षणेति ।

सखि नयनिधुनममरेऽङ्गुपालीसख्या निगिडया ।

हारो निवारितद्विज्या उच्छ्रीयमाणस्तव कथ रमितम् ॥

इति संस्कृतम् ।

स्योद्देश्यनिधुनप्रतिपक्षहारनिवारकत्वेन अङ्गुपाली (A) अलिङ्गनमेव सखी  
अन्यन्तप्रत्यासन्नत्वेन निगिडया तथा द्वित्या 'उच्छ्रीयमाण गलितद्विभ्रिमौक्तिको हारो  
निवारित' ततः कथ रमितमिन्यर्थः । रमितमिति कारितान्त परस्परं परस्पर-  
रति' कथ कारितेन्यर्थः । अत्रालिङ्गनरूपाया सख्या हस्ताद्यभावाद् विवक्षित-  
स्तादृशो हारच्छेदोऽलीकः, तथाच तज्जन्यरतौ प्रभोऽप्यलीकृत्यात् कविनिबद्धाया  
सख्या प्रौढांतयैव सिद्धः, तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—अत्रेति । "वस्तुना" उक्तप्रश्नार्थ-

पूर्णिमापम्बन्धी क्षणाद्भ्रमन् तस्य त्वं क सखा भ्राता वाऽपि सत् सत्यं नन तत्पम्बन्धित्वं  
विना क्षणिकानुरागित्वमप्य तत्पम्बन्धस्य त्वव्यनुपपत्तेः, तथा चन्द्रस्य प्रदोषरजनीव तव का  
नायिका सौभाग्य नायकानुरागादि समग्र सम्पूर्णं यस्यां तथाभूता । प्रदोष रजनीमुखम् ।  
प्रदोष एव यथा रत्न्यां चन्द्रानुरागासामग्र्यं तथा तव तस्यामित्यर्थः । नवत्वेन चाक्षर्यं  
क्षणानुरागित्वम् । पूर्णिमाचन्द्रः प्रदोषे रज्यतेऽनन्तान्तु विरज्यते एवं पूर्णिमाक्षणाद्वत्वेन  
नायिकान्तानुरागित्वं कट्टद्वित्वम् । प्रदोषपदेन प्रकटदोषवस्त्वम् । यत्तु (ये ८ ?) नवः  
प्रतिपदुदित इति व्यापक्षते तेना पूर्णिमापदासङ्गति स्पष्टैव" इति ।

(A) 'अङ्गुपाली पतीरुमे कोटिआत्रिकयोत्ति' इति कोषः ।

१ 'निवारिओ विच' इति पशोपादिसंज्ञक पाठः । २ 'उच्छेरन्तो' इगुदाहरचन्द्रिकाधृतपाठाभारम् ।

३ 'रागित्वस्य तादृशभावाय नायिकासौभाग्यत्वा' अ न । ४ 'उच्छ्रीयमाण' अ न । ५ 'खलोकार्यत्वात्' अ न ।

(१६) पविमन्ती घरचारं विवलिअवअणा चिलोइअण पहं ।

लंघे घेतूण घटं हा हा णट्ठोत्ति कअसि सहि किं ति ॥९०॥

अत्र हेत्वलंकारेण संकेतनिवेदनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तु-  
मिच्छसि तदा अपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंपद-  
योत्यम् । यथा वा—

(१७) चिहलंखलं तुमं सहि दट्टुण घट्ठेणं तरलतरदिट्ठिं ।

वारणंसमिसेण अण्णा गुरुओत्ति पाडिअ विट्ठिणो ॥९१॥

रूपेण । 'व्यतिक्र' उपमानात् रत्यन्तराद् घटतत्पयस्या । कर्तृपदेति, व्यक्ती-  
भूतप्रशयाचकत्वात् कथं पदं (A) व्यञ्जकम्, व्यञ्ज्यञ्च रतिवैलक्षण्यं महावाक्यव्यङ्ग्य-  
तदुभयवद्भाष्यकर्तृरूपेण । सहि विच्छेदण इत्यादौ तु ईदृशपदभागाद् वाक्यमैव  
व्यञ्जकम् । (१२)

करिनिबद्धयत्प्रौढानिमिदालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदयोत्यमाह—पविसन्ती  
इति ।

प्रविशन्ती गृहचारं विवलिअवअणा चिलोइअ पन्थानम् ।

स्वल्पे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिणि सति किमिति ॥

इति संस्कृतम् ।

नष्ट इत्यत्र घट इति शेष । किमिति रोदिणि, बुद्धिपूर्वकघटभङ्गे रोदनवैयर्थ्यादिति  
भाष्यः । अत्रेति, नायिकया बुद्धिपूर्वकः कृतो घटभङ्गः रोदनहेतुत्वेन वर्णितः, यत्र  
(अतः ?) हेत्वलङ्कारः, स एव वस्तुतो हेतुत्वाभावात् करिनिबद्धसखीप्रौढावयव  
सिद्धः । तद्व्यङ्ग्यं यस्याह—सङ्केतेति । तत्र महावाक्यव्यङ्ग्यचरय सखीविषय-  
यत्प्रभावस्योपकारकं समीहितसाधनानुमत्या मत्सीविषयस्येह भाराधिप्यलामात् ।  
तस्य किमिति पदयोत्यता घ रोदनवैयर्थ्यबोधनेन तेन समीहितसाधनानुमतिलामात् ।  
ओलोलेत्यादौ तु ईदृशपदभागाद् वाक्यमैव व्यञ्जकम् । ननु घटभङ्गस्य रोदनहेतुत्व-  
मोजित्येन सम्भाव्यत एवेत्यतः स्वतःसम्भव्येयं हेत्वलङ्कार इत्यत आह—यथा  
वेति । (१६)

(A) अत्रोदाहरणश्लोके अविनिवृत्तममर इति रूपकमन्त्येऽपि सप्रैरेत्येव पदस्य व्यङ्ग्य-  
व्यङ्ग्यत्वं सम्भवतीति पदयोत्यवस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारोदाहरणसङ्घट्टिविरिति बोध्यम् ।

अथ नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चा-  
दागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया  
त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिपि,  
तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनि कटे सर्वं समर्पयिष्ये इति  
द्वारस्पर्शनव्याजेन<sup>(A)</sup> त्यपहृत्या वस्तु ।

(१८) जोह्लाह महुरसेण अ विहण्णतारुण्णउत्तसुअमणा सा ।

बुद्ध्वा वि णवोढब्बिअ परवधुआ अरह हरह

तुह रिअअं ॥ ९९ ॥

विभ्रङ्गला त्या सखि इत्थं घटं सरत्तरदृष्टिम् ।

द्वारस्पर्शमिणेण आत्मा शुक्ल इति पातयित्वा विमिश्र ॥

इति सस्कृतम् ।

विभ्रङ्गला व्याकुला त्यां इत्थं घटेन आत्मा शुक्ल इत्येता द्वारस्पर्शव्याजेन  
विमिश्र मेदितः, अन्तर्भूतकारितार्थत्वात् । पतनहेतौ शुक्तये स्थनागेनापि  
परापकारित्वरूप शुक्त्यमव्यासितम् (अप्यसितम्) श्लेयात् । अन्नेति,  
नायिकाया कारितस्य द्वारस्पर्शस्य भेदहेतुत्वापहवेन स्वस्मिन्नेव तत्तेतुत्थारापरूपया  
अपहृत्येत्ययम् । घटस्याचेतनस्य तदसम्भवात् कविनिबद्धसखीप्रौढात्तयैव तत्सिद्धिः ।  
तद्वचनं वस्तुवाह—किमितीति । नदीगमनायेत्यादिकन्तु अपहृतिबीजप्रदर्शन  
न त्यपहृतिशरीरम् । चिन्तितमित्यन्तं तु अपहृतिविषयस्वप्नानकथनम् । तत् किमि  
तीत्यादे सखीपदप्रापत्ता च सखीकृत्यत्वादेवेदशापदेशस्य । तादृशापदेशरूप  
व्यङ्ग्यञ्च महावाक्यव्यङ्ग्यसखीविषयवक्रीभावस्य प्रकर्षक स्पष्टमेव । (१७)

कविनिबद्धयत्प्रौढाक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमरद्वार पदवाच्यमाह—जोह्लाह इति ।

ज्यात्तज्जाया महुरसेन अ वितीर्णतारुण्यस्तुक्तमना सा ।

बुद्धापि नवोढेव परवधूपहह हरति तव हृदयम् ॥ इति सस्कृतम् ।

गलितयौवनोपनायिकाप्रसक्त स्थनायकमुपहसन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् ।

बुद्धापि सा नायिका ज्यात्तज्जामहुरसाभ्या दत्तेन तारुण्येन उत्तुक्तमना यत परवधूः,

(A) अत्र प्रकृतार्थनोपनयनम् अपहृतिः, न तु तत्रोपमानोपमेयभारो ज्यावाचक  
इत्यभिप्रायः, नायिकाया इच्छाकृतघटमात्रे घटकचूकस्वस्फोटनकृत् कल्पमत्रोत्प्रेष्यमिति  
प्रतीयमानोत्प्रेषकद्वारोऽत्र व्यङ्ग्य इति तु विभावनीयम् ।

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलपसीति  
त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः ।

(A) एषु कथिनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये  
तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न  
भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

(६०) .. प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥

पथा—गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।

कङ्कालपहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ९३ ॥

मतस्तत्र चित्तहरति, न तु सौकुमार्येण तारुण्येन च । अत्रेति, 'काम्यलिङ्ग'  
हेत्वलङ्कार' चित्तहरणहेतुपरवधूत्वरूप, स च नायिकाया प्रौढात्तथैव सिद्धः, विरूपया  
परवध्या चित्तहरणभावेन परवधूत्वे चित्तहरणस्य हेतुत्वात्तास्तवत्वात् । 'आक्षेप'  
आक्षेपनामा अलङ्कारः,

निर्गन्धो घनमुमिष्टस्य यो विशेषविधिन्तया ।

पश्यमाणोक्तयिष्य स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

इति तल्लक्षणात्, वृक्षामित्यादिकन्तु तादृशनिर्गन्धसम्भावकतयैवेति मिति बोध्यम्;  
परवध्वभिलाषादेव आक्षेपोपपत्ते तस्य परवधूपदप्रकाश्यता, तस्य च महावाक्य-  
व्यङ्ग्यपत्युपहासोपकारकत्वम् अप्रुक्तकारित्वेन अनिर्वचनीयचरितस्य उपहास्यत्वान् ।  
महिलासदृशे त्यादौ तु ईदृशपदाभावात् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१८)

पञ्चत्रिंशदिति दुचयौ वाक्यप्रकाश्यत्वेनैकविध एव, अन्ये तु सप्तदश पद-  
वाक्यप्रकाश्यत्वेन द्विगुणशतमुखिप्रदिति पञ्चत्रिंशदित्यर्थः ।

प्रबन्धेऽपीति, द्वादशविधोऽर्थशक्तिभू स वैकल्पमहावाक्यात्मक (मनेक-  
महावाक्यशतक ?) प्रबन्धव्यङ्ग्योऽपीत्यर्थः । तथाच पदवाक्याभ्यामिव प्रबन्धेना-  
प्यर्थशक्त्युद्भवा द्वादश व्यङ्ग्या इत्यर्थः । यद्यपि तदप्रतिमहादुःखेत्यादिपद्यव्या-  
त्मकमहावाक्यमपि प्रबन्ध एव, तथाऽपि तत्र अशेषव्यपदेश्योऽर्थञ्जकत्वात् पदप्रका-  
श्यता तादृशपदाभावे एव प्रबन्धप्रकाश्यता । तत्र स्वतःसम्भवित्वस्तु व्यङ्ग्यं च यस्तु  
प्रबन्धप्रकाश्यमाह—अलमित्यादिपद्यद्वयेन । श्मशाने मृतबालकं त्यजतस्तद्वन्धून्

न चेह जीविनः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥९४॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ;

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम् ।

बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ ९५ ॥

अमुं कनकवर्णाभं बालम्प्राप्तयौवनम् ।

गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ ९६ ॥

इति निशि (A) विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं (B)

च वचनमिति प्रपञ्च एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तर-  
भयान्नोदाहृताः, स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात् पद-  
वाक्ययोः ।

प्रति गृध्रस्य वाक्यमिदम् । 'कालधर्म' मरणम् । 'दिवा प्रभवत' दिवा भक्षण-  
प्रभो । 'पुरुषविसर्जन' पुरुषाणां स्मशानत्यजनम् । तथाच दूर्यं स्मशानादप-  
गच्छनेत्येव वस्तु स्वतःसामयिनं प्रबन्धार्थरूपरस्तुन प्रबन्धस्य च व्यङ्ग्यमित्यर्थः ।  
गामापूर्तिरूपप्रबन्धस्यापि तादृशमेव व्यङ्ग्यमाह—आदित्योऽयमिति । आदित्य-  
सत्त्वाद् द्युष्माक रात्रिश्चरतांऽपि भीतिनांस्तीति दर्शितम् । स्नेहकरण स्थितिरथ,  
तत्सम्बन्धमाह—जीवेदपीति । बहुविघ्न इत्यनेन विघ्नरहितमुत्तमान्तरे जीवनसम्भा-  
षना दर्शिता । तत्सम्भाषनायां हेतुमाह—अमुमिति । कनकवर्णाभत्वेन रूपविप-  
र्ययाभावात् जीवनसम्भाषना । बालत्वेन मृत्युकालाप्राप्त्या मृत्युहेतुयौवना-  
धीनापवाराभावेन च जीवनसम्भाषना । मूढा इत्यत्र बाला इति पाठान्तरम्,  
शिथिलबुद्धय इत्यर्थः । 'विजृम्भमाणस्य' भक्षणार्थं वर्त्तमानस्य । व्यावर्त्तनं स्मशान-  
त्यागतं परावर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्पर्याप्तिकम् । अत्रापि अनव्यावर्त्तनरूप  
वस्तु तादृशरस्तुव्यङ्ग्यम् । अन्ये त्वेकादशेति स्वतःसमयिरस्तुव्यङ्ग्यबालङ्कारा-  
त्प इत्यर्थः (C) । अपिशब्दादिति प्रबन्धेऽपीत्यपिशब्दात् उक्तसमुच्चयपरमित्यर्थः ।

(A) भक्षणे प्रकृतशक्तिकस्येत्यर्थः ।

(B) व्यावर्त्तनं निवर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्परमित्यर्थः ।

(C) प्रबन्धगता इति शेषः ।

(६१) (५) पदैकदेश-रचना-वर्णञ्चपि रसादयः ।

तत्र प्रकृत्या यथा—

रङ्केलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।

रुदस्स तइअणअणं पव्वई परिचुम्बिअं जअइ ॥ ९७ ॥

अथ जयतीति न तु शोभते इत्यादि समानेऽपि हि स्थगन-

पदैकेति । रसादय इत्यनेन अमलदण्डमा उक्ता, ते च प्रवृत्तिप्रत्ययो-  
संग्रहे पदैकदेशे, शीर्षगमास्पादिरूपाभी रचनाभिर्गणेशोपेन्द्र(६) व्यज्यन्ते इत्यर्थः ।  
प्रकृत्या इति धातुप्रवृत्तेरित्यर्थः । रङ्केलि इति

रतिरेलिहृतनिश्मनाकरकिन्सलयरुद्धनयनयुगलस्थः ।

एदस्य तृतीयनयन पार्वतीपरिचुम्बित जयति ॥ इति ससृजतम् ।

रतिनक्षोऽतया पार्वत्या कच्छयेन हृदस्य नयनद्वये पिहिते शुम्भनपिहितनचृतीयनयन-  
वर्णनमिदम् । रतिकेलौ हृतनिश्मना अर्थात् पार्वती तस्या करकिसलयेत्यर्थः,  
प्रावृत्ते समाने निश्मनैत्यर्थः ॥ (७) । यद्वा हृतम् अर्थान् पार्वत्या निश्मन येन  
त चानौ 'रकिसलयरुद्धनयनयुगलयेति कर्मधारयः तादृशस्येत्यर्थः । 'कच्छ' अर्थान्  
पार्वत्या । 'जयति' उपरुद्धम्, कच्छयपिहितनयनद्वयापेक्षया शृङ्गारागुमा-  
शुम्भनपिहितत्वेन शृङ्गारानुकार्यव्रजक्यात्, यत् शृङ्गारानुकारो जिघातुरूपमृदु-  
भ्यङ्ग्य इत्याह—अत्रेति(८) । न त्विति, नयनोत्कर्षसाधको जिघातुरेव शृङ्गारानुकार्य-

(१) "अत्र पदैकदेशेत्युपलक्षणम्, पुनरव्यत्ययवर्षनिशातल्योऽपि प्रदीप्त्या इति सा-  
धोयिनोक्ता । पुनरव्यत्ययवर्षनिशातादयः पदैकदेशमर्थात् पदैकदेश एव गायन्ते इति  
प्रदीपप्रभयो स्पष्टम् । प्रवृत्तिरपि धातुरूपं नामरूपा चेति द्विविधा, उक्तार्थाणां स्वातन्त्र्येनार्था-  
प्रत्यायकत्वान् पदैकदेशत्वं बोध्यमित्युच्यते ॥" इति बालबोधिनी ।

(२) लघु'र'अ'प्रवृत्तिभिः ।

(३) प्रावृत्ते समाने ह्रस्वानुद्धारे 'रतिकेलिहृतनिश्मनाकरे'त्यादि संवृत्तमभिप्रेत्य  
व्याख्येयं यद्वेति ।

(४) एवमेव व्याख्यानं प्रदीपे 'अत्र रतिज्वली' 'जिघातुरूपप्रवृत्ते प्राधान्यम् । यत्  
स्थगनव्यापारसाम्येऽपि अन्येऽन्यो वराभ्या विज्ञानमप्य तु शोकोत्तरेण क्रमेणेति तदेतौतृष्टं  
धन्यवीरिणमिति स्तुत्युत्कर्षप्रयोजकमनया व्यज्यते । अत एव जयतीत्युक्तम् न तु शोभते  
इत्यादि' इति ।

व्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोक्तृष्टम् ।

यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया

द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावत् यात्युन्मनाः ।

तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगल्ग्रीवीनिबन्धं धृतो

धावित्वेव कृतप्रणामकमलो प्रेम्णो विचित्रा गतिः<sup>(A)</sup> ॥ ९८ ॥

व्यञ्जने समर्थं न तु तत्कान्तिरायकं शुभशतुरित्यर्थः, अतः शृङ्गारात्कर्ण-यञ्जकं शुम्भनपिहितत्वात्<sup>(B)</sup> तृतीयनयनमेव उन्मनामित्याह—समानेऽपि हीति, नयनद्वय-  
पिधाने समानेऽपि एतत्पर्यं । लोकोत्तरेणेति लासुस्मिन्ननेत्यर्थः, 'शृङ्गारागु-  
भायकत्वाद्युन्मनस्य । तदेवेति तृतीयनयनमेत्यर्थः । चतुर्त्ती तु—तृतीयनयन-  
पिधानमेत्यर्थः इत्याह, तत्र, वाच्यस्योत्कर्षस्य तत्रानन्तरित्वादेव व्यङ्ग्यस्य तु  
लोकोत्तरपदेनैव व्याख्यातत्वात्, अतः पिधानोत्कर्षस्यान्यानमसदेव । नामप्रवृत्ते-  
रपि व्यङ्ग्यमुदाहरति—यथा वा प्रेयानिति । पादानतः सोऽयं प्रेयान् कान्तया  
सशपथमपाकृतः सन् उन्मनाश्च सन् वासभवनाद् यावत् द्वित्राण्येव पदानि न याति

(B) अत्र “पिहितत्वात्” इत्याह परम् आदर्शगुण्येषु इत्यमरः “तदेव” इत्यमर-  
निषिद्धप्रमादकत इत्युच्यते वृत्तिस्थान्य “तदेव” इत्यस्य उद्भूतं व्याख्यातत्वादिनि-  
विन्तनीयम् ।

(A) अत्र प्रतीतिरिति—सशपथमित्युभयान्वयि । सोऽयमिति प्रियतत्त्वेन प्रसिद्ध-  
प्रेयान् शपथेन सहितः यथा स्वातन्त्र्य पादयोरानतः कान्तया च सशपथं निरवृत्तः सन् उन्मना  
उन्मना वासभवनाद् श्रीङ्गागृहाद् द्वित्राण्येव नाधिकानि पदानि न द्वारणि यावत् याति न तु  
यात तावत् कृतप्रणामकं यथा स्वातन्त्र्य धावित्वेव एतत् स्थापितम् । अत्र अन्वयाने, अस्मादन्त-  
र्भाषिण्यर्थान् कर्मणि च । अत्र यातीत्युक्तं न तु यात इत्युक्तम्, तेन परमशानुद्धृत्यापार-  
दशायामेव स्यात्ताव इति ध्वन्यते । धावित्वेनेत्यनेन धावनाविशेषेऽपि तथाभावकरणशरीर-  
संस्थानिशयो ध्वन्यते । पाणिमप्युक्ते प्रणम्यार्थं कृपाप्राप्तौ कन्तु नीवीबन्धो यस्या क्रियाया तद्  
यथा भवति तथेति धारणक्रियाविशेषणम् । रामोत्कृष्टात् स्तब्धो नीवीबन्धो प्रणामाङ्गुलि-  
नैवाल्मवनात् तदेवोपायकाम्यधीर्षं कृतमिति भावः इति केचित् । त्वराप्रतिपक्षोक्त्याय धावन-  
क्रियाविशेषणमित्यन्वयः । एवं हि कृतप्रणामकस्यापारणमधुना प्रणामपूर्वकं धारणमिति

अत्र पदानीति न तु द्वाराणीति ।

तिङ्सुपोर्यथा—

पथि पथि शुक्चञ्चूचाम्राभाऽदुराणां

दिशि दिशि पवमानो वीरुषां लासकश्च ।

नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा

पुरि पुरि चिनिवृत्ता भानिनीमानचर्चा ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति किरणस्य<sup>(४)</sup> साध्यमानत्वम् । निवृत्तेति निवर्त्तनस्य

तापद् धावित्वैव कृतप्रणामक यथा स्यात् तथा प्रत्युत कान्तया धृतः । प्रत्युतेत्यपाकरणवैपरीत्ये । पाणिसम्पुटेत्यादिक धारणक्रियाविशेषणम् । गलदिति पाठे गलद्रोवीबन्धस्य पाणिसम्पुटवृत्तिरूपमर्थः, न तु पाणिसम्पुटे गलनं गलत एव पाणिसम्पुटधृतत्वात् । अत्रादिति पाठे तु नीवीबन्धस्य गलत्वमूहम् । 'अहो' इति तादृशगतिरैचित्र्यविषयविसमये । प्रेम्णां गति' स्वभावः । कान्ताया औत्सुक्य-रूपव्यभिचारिभारव्यतिरिक्तम् । पथु स्यत्पदगमने सति धरणे तदुत्कर्षधीरतो बहुवचन निना पदरूपप्रकृतिभाग एव तस्य व्यञ्जक इत्याह—पदानीति । द्वाराणीत्येतेषां पदानीत्यस्यैव औत्सुक्यव्यञ्जकत्वमित्याह—न त्विति ।

प्रत्ययस्य व्यञ्जन्यमुदाहरति—तिङ्सुपोरिति । पथि पथि अदुराणांमाभा शुक्चञ्चूनामिव चारु<sup>(१)</sup> । अत्र शुक्चञ्चुत्वन्यात् पत्राङ्गु एव अङ्गुपदार्थो 'त एव च उद्दीपका' । 'वीरुषां' अत्राना 'लासक' वर्त्तक । नरि नरीति नृशब्दस्य सप्तम्यां रूपम् । द्राक् कदिति । घर्षां प्रसङ्गः । किरणस्येति, न च कृ विज्ञेपे इत्यस्य

वैपरीत्य प्रत्युतपदगम्यम् । एवमिवीति पाठे गलनमर्थिकम् । अर्थान्तरं न्यस्यति—अहो प्रेम्णा इति । गति स्वभावः । प्रेमान् कान्तयेत्यान्या पास्वा विरहासमत्वं ध्वस्यते" इति ।

(४) अत्र प्रदीपोद्योत —'किरणस्येति शेषणस्येत्यर्थः । औणादिक'शु'प्रत्ययान्तः । किरति तमासीति व्युत्पत्त्याऽस्य अयूष एव शब्दत्वात् चिन्त्यः । किरणपदप्रयोगः । विकिरणस्येति वष्पं युज्यते' इति ।

(१) अत्र "शुक्चञ्चूनामिव चारु" इत्यनेन 'अदुराणांमाभा शुक्चञ्चूनामाभेव चारु' इत्यर्थस्य प्रदर्शनमेव नृत्तम्, श्लोकमध्यममासस्य व्यासवाचकन्तु शुक्चञ्चूवत् चारुरिति 'उपमानस्य सामान्यवाचिता' इत्यनेन कर्मधारयः ।



सिद्धत्वं तिडा सुपा(A) च, तत्रापि कप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते ।

युटि करणमित्येव रूपं सम्प्रति उणादौ साधितं किरणपदान्तु रश्मिवाचकमेव न निक्षेपवाचकमिति वाच्यम्, करण कीरिति भावविविक्तस्य नामकारितान्तत्वे युटि किरणरूपमिदं । तिडा सुपा चेति किरतीत्यत्र किरणस्य साध्यमानत्वं निवृत्तेन्यत्र निवृत्ते सिद्धत्वं तिडसुवर्गमिच्छिभ्यम्, एवमतीतत्वं च कप्रत्ययत्वम् । एवञ्च द्यात्यते इत्यत्र उच्यते इत्येवार्थः, एवमर्थानां

(1) अत्र प्रश्नेष 'अत्र किरतीति तिडा किरणस्य साध्यता, निडयोगे साध्यतयैव घात्वयौष लिखते । निवृत्तिरुत्पत्त्येव निवृत्तं सिद्धता, सुप्रयोगे तयैव प्रत्ययप्रतीते, तत्रापि च प्रत्ययनातीतता प्रकाशयत इति विग्रहनिवृत्त्यो कारणकार्यभूतयो पौर्वापर्यविपर्ययरूपाति शयोकिप्रकाशो रसोत्कषेः पर्यवस्यति । यत्तु उपा साध्यत्व कप्रत्ययन भूतत्वमिति व्याख्यातम् तत्पुनरुक्तम्, सुप्तिरुप्या सिद्धत्वसाध्यत्वमभिराष्ट 'नत्रापि कप्रत्ययेनातीतत्वम्' इति वृत्तिव्याख्यानं विरोधान् इति । व्याख्यातञ्च उद्घोतकारैः 'अत्रापि भाव—तिड क्रियागत षष्ठमानत्वद्योतनद्वारा तदगतात्प्रत्ययान्तरत्वाभावेनान्वयव्युत्पत्तयम् । एवं निवृत्तपर्यं निवृत्तिकार्यकम्, तदनुवादकं तदुत्तररूपा स्वप्रकृत्यविगणननिवृत्त्यो सिद्धत्वं व्यज्यते इतराममभिव्याहृतयो निवृत्तिरित्यादी तद्वृत्तान्वय इत्येव निवृत्तिभविष्यति निवृत्त रूपादित्यादी तपाश्रयीतराममभिव्याहृतेति । विकरणनिवृत्त्योरिति कारणकार्यभूतयो रित्यर्थः । अतिशय किप्रकाश इति अयं व्यङ्ग्य एव । रसोत्कष इति निवृत्त शीघ्रत्वबोधन द्वारा समान्योदीपकत्वातिशयाभिप्रेत्यमिति भावः इति ।

उपशान्तकारस्तु "अत्र किरतीति निडा किरणस्य साध्यत्वं निडयोगव्युत्पत्त्या साध्यतयैव घात्वयौष लिखते । निवृत्तिरुत्पत्त्येव निवृत्तं सिद्धत्वं सुप्रयोगे तयैव प्रकृत्यर्थं प्रतीते । उत्तञ्च यथाकारणभूतणे—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपविबन्धना ।

सिद्धभावेनान्वयस्य स घमादिनिबन्धन ॥ इति ।

तत्राच क्रियान्तरानुशाकनावच्छेदकरूपवत्त्वं कारकान्वयिनावच्छेदकरूपवत्त्वं वा साध्यत्वम् । एतेष्वेव च भवत्वभूतत्वम् । क्रियान्तरो शाकनावच्छेदकरूपवत्त्वं कारकान्वयिनावच्छेदकरूपवत्त्वं वा सिद्धत्वम् । एतेष्वेव च सत्त्वभूतत्वम् । अत एव—

"असत्त्वभूतो भावश्च तिर्यग्दर्शभिधीयत"

इति वयाकारणत्वम् । सत्त्वं सिद्धत्वेऽपि कप्रत्ययनातीतत्वं व्यज्यते इति किरणनिवृत्त्यो पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्घनाप्रकाशो रसोत्कष पर्यवस्यति' इत्याह । विभ्रतस्तु तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो

निराहाराः सख्यः सनतमुदितोच्छ्वन्ननयनाः ।

परित्यक्तं सर्वं हसिन्पठितं पञ्जरशुकै-

स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना<sup>(A)</sup> ॥ १०० ॥

तत्तद्वाच्यत्वात्, तथाच<sup>१</sup>कारणे सायककिरणे साध्यत्व कार्याया माननिवृत्तौ च सिद्धत्वं बाधितमयाहायै बोधयन्तस्तिष्ठन्द्वा<sup>२</sup> माननिवृत्ते शीघ्रोत्पन्नत्यमभिव्यज्य तद्गारा गृह्णातोत्कर्षं व्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

प्रदञ्चयति—यथा वा लिखन्निति । बहुदिनयापकमानवर्ती प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे कठिने, तव प्राणतुल्यो दयित अवनत सन् भूमिं लिखन् बहिरास्ते, यथं तव मन्थ्यश्च निराहारा सनतमुदितो उच्छ्वन्ननयनाश्च, तव चेयमवस्था ह्यगतेत्यर्थः, बहुदिन यापकाममानात् कार्प्यम्, तस्मादधुना मानं विसृज । अत्र सकलक्रियाकारकस्थितिद्वत्तुपां<sup>(B)</sup> नायकस्य मोहरूपव्यभिचारि-

(A) व्याख्यातमिदमुदोते—“बहुदिनव्यापिमामवर्ती प्रति सख्या इयमुक्तिः । प्रायाना दयित प्राणदयित, तेन इवितदु सेव स्वन्प्राणा अपि तु विहा भविष्यन्तीति भावः । यद्वा तव प्राणा इव सोऽश्माक दयित इत्यर्थः, तथाच स्वन्प्राणा इव सोऽश्माक रक्षणीय इति भावः । ईदृशोऽपि भूमिं न नु भूमी, तेनाकादक्षित्व्य कर्मणोऽनुदेष्टव्यं ध्वन्यते । लिखन् न तु लिखतीति, तेन निम्नन्यासुद्विपूर्वकत्वरूपमप्राधान्यं ध्वन्यते । बहिर्न तु गृहमध्ये, तेन नायकत्वात्पुद्गे । आस्ते न तु भामीत्, तेनैवमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्तता ध्वन्यते । तथा सख्य सर्वा वयस्या निर्गत आहारो यामा तथाभूता सख्य सतत निरन्तर यत् शक्ति तेनोच्छ्वन्ने जलसोपे नयने वसुषी यामा तथाभूता, सन्धीति शेषः । तथा पञ्जरशुकै हसित पठित-मन्थ्यश्च सर्वं परित्यक्तम्, अज्ञानमपीदृश्यवस्था किं पुनरस्माकमिति भावः । वज्रतोत्पन्नेन अग्न्या गमनामामर्थम् । शुकैरेत्येकवचनस्तु न कृतम्, एकस्य शिवादिनाऽपि तमा ज्ञान-सम्भवात् । सर्वमित्यस्य शरीरधारणोपयोगि भोजनानिश्चमपीत्यर्थः । अत एव कठिने । ‘इयम्’ उच्यते चर्यङ्गमानमवशीरज्जनिना । ‘अधुना’ वयन्तवन्निष्ठादिभिराशमे मन्मथ-विलम्बेन सतीत्यर्थः । मानं विसृज नि शेषेण त्यजेत्यर्थः” इति ।

(B) सकलक्रियेति लिखनासनक्रिये इत्यर्थः । नारवेति भूमिमिति कर्मकारनेत्यर्थः ।

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति, तथा आस्ते इति (A) न तु आस्ति इति, अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति; भूमिमिति (B) न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्शुचिभक्तोनां व्यङ्ग्यम् ।

भाव एव व्यङ्ग्य इत्याह—अत्रेति (C) । ‘लिखन्’ इत्यत्र शनतुङ्कलिखन-कृते कृन्त्यन्तस्साकाङ्क्षतया विधेयत्वाप्रतीत्या उपेक्षात्मकज्ञानाधीनत्वमेव प्रतीयते भूतोऽत्र भनुपेक्षात्मकज्ञानस्य विरोधी मोह सुबन्तश्चतुष्कम्भ (D) प्रतीयते । लिखतीति करणे तु भाव्यातां कृतेर्निराकाङ्क्षत्वेन विधेयत्वैव प्रतीत्या तद्विधानमनुपेक्षात्मकज्ञानमपि प्रतीयते न तु मोह इत्याह—न तु लिखतीति । मुग्धावस्थयैवाधुनाऽपि स्थितिर्वर्तमानालभ्येत्याह—अपि स्थितिः । एवञ्च आस्ते इत्यत्र तिङ्ग व्यङ्ग्य इतिऽपि ‘तथा आस्ते इती’ति यत् कचित् पुनर्लिखनं तत् ‘न त्वासित’ इति वक्ष्यितुमनुवाद एव कृत इति बोध्यम् । आस्ति इति निर्देशे तु मोहानुवृत्तिर्न प्रतीयते इति भावः । भूमिमिति । भूमिमिति करणे उन्मीलितबहु साध्य भूमिविषयज्ञानमेव प्रतीयते न तु मननसाध्य लेख्यविषयज्ञानम् भूतो लेख्यविषयो वाह एव प्रतीयते, भूमाविति करणे तु सकर्मकलिखिता कर्माभूतलेख्यविषयज्ञानमपि प्रतीयते न तु लेख्यविषयः । मोह इत्याह—न तु भूमाविति । तथाच लेख्यविषयो मोह प्रतीयत एवेत्याह—न हि बुद्धिपूर्वकमिति ।

(A) वर्तमानत्वस्य प्रत्ययवाच्यत्वमतेऽपि व्याकृत्याह “न त्वासित” इति । एवञ्च स्थित्यतीतत्वव्यवच्छेदे व्यङ्ग्य इत्युच्यते ।

(B) भूमिमित्यत्र द्वितीयाया व्यङ्ग्यमुक्तं प्रदीपे—“न तु भूमाविति, तेन बुद्धिपूर्वकं भूमौ न किञ्चिल्लिखत इति लक्ष्यविषयस्य व्यङ्ग्यते” इति । तद्व्याख्यायञ्च “भूमावित्युक्ते भावाश्चित्तस्य कर्मण उद्देश्यत्वं प्रतीयते, न चात्र तथेति भावः” इत्युच्यते ।

(C) अत्र लिखन्निति ‘शत्रा लिखनस्याप्राधान्यमनुबुद्धिपूर्वकत्वस्य’ व्यङ्ग्येन इत्युक्तं प्रदीपे । तस्य च व्याख्यायञ्च ‘शत्रेति, आख्यातान्तकियाविशेषणत्वे शत्रा इतरक्रियेष्टतापनत्वज्ञानाधीनकृतिमाध्यत्वपर्यवसितनान्तरीयककृतिमाध्यत्वरूपप्राधान्यं त्वग्रहत्वपर्यवस्य बोध्यते । अत एव शत्रुश्रित्युक्ते किं करोतीति प्रधानकियाग्रहः सङ्गच्छत इति बोध्यम्’ इत्युच्यते ।

(D) यद्यपि शत्रुप्रत्यय छत्र प्रकृतिरेव तथाऽपि तिङादेशिलक्ष्यविहिततया तिङ्स्थेनोदाहृत इति बोध्यम् । प्रदीपेऽप्येवम् ।

सम्बन्धस्य यथा—

(A) ग्रामाहम्भि ग्रामे वसामि नगरद्विं न जानामि ।

नागरिआणं पदो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ १०१ ॥

अत्र नागरिकाणामिति पष्ठथाः ।

‘रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्’ इति कालस्य ।

एषा हि भग्नमहेश्वरकामुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य  
भार्गवस्योक्तिः ।

वचनस्य यथा—

ताणं गुणगहणाणं ताणुकूठाणं तस्स पेम्मस्स ।

ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअं जाअमवसाणं ॥ १०२ ॥

सम्बन्धस्येति सम्बन्धार्थकविभक्त्यर्थः, तस्मा एव पदिकदेशत्वात् ।

ग्रामाहम्भीति—

ग्रामाहाम्भि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं(B) न जानामि ।

नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥

इति संस्कृतम् ।

कलौ नागरिकस्य प्रति ग्राम्यस्त्रिया उक्तिरियम् । ग्रामरहा ग्रामभग्नः । नागरिकाणा-  
मित्यनादरे पठ्यते । ‘तस्या अनादर’ सम्बन्धार्थः\*० । तथा च नागरिका अनादृत्य  
तासां पतीन् हरामीत्यर्थः । अनादरश्च पतिकर्तृकोऽपि परम्परया तद्वन्नीकर्तृको  
बोध्यस्तन्मूलकत्वात्तदनादरस्य । अत्रेति, अनादरबोधनद्वारा वक्तृया गव्यरूपमभि-  
चारिभावो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । चक्रवर्ती तु—अनादरमेव व्यङ्ग्य व्याचष्टे, तन्न, अनु-  
शासनानुशिष्टस्वार्थस्य मान्यत्वादेव अनादरस्य वस्तुरूपत्वेन तद्व्यञ्जनया रसादि-  
व्यञ्जकबोधाहरणत्वानुपपत्तेश्च । रमणीय इति । ‘आसीदिति सम्प्रति त्वमप्यकथ-  
लितं क्षणात् भविष्यतीति भावः\*० । कालस्येति कालार्थकविभक्त्यर्थः ।  
मत्रापि गर्वो व्यङ्ग्यः ।

वचनस्येति एकद्वयादिवचनस्येत्यर्थः ।

(A) ‘ग्रामारि अहं’ इति प्रदीपहर्तृ पाठान्तरं तस्य संस्कृतं ‘ग्रामीणाम्भि’ इति  
प्रभावम् ।

(B) नगरस्य स्थितिं वैदग्ध्यरूपां गर्वादामित्यर्थः ।

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णाच्चैकत्वं द्योत्यते ।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

(५) रे रे चञ्चललोचनाञ्जितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-

प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।

किं मन्ये विहरिष्यसे वन हतां मुञ्चान्तराशामिमा-

मेया कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधो ॥१०३॥

ताणं इति—

तेषां गुणग्रहणानां तास्मानुत्कृष्टानां तस्य प्रेम्ण ।

तेषां भणितानां सुन्दर ईदृश ज्ञातमवसानम् ॥ इति ससृष्टम् ।

वृत्तावन्न नायक प्रति तत्पत्न्या प्रीतिमत्सममिवम् । अत्रेति, बहुवचनीगुणादि-  
बाहुल्यम्, एकवचनेन च 'अन्तराऽविच्छेदेन प्रेमैकत्व द्योत्यते उच्यते इत्यर्थः । तद्वारा  
नायिकाविप्रलम्भोत्कर्षो व्यङ्ग्यं पुरानुभूततत्तत्स्मरणानु दुःखाधिसम्पत् ।

पुरुषव्यत्ययस्येति व्यत्ययितमध्यमेतत्तत्पुरुषपरित्यर्थः । रे रे इति ।  
रे रे इति ज्ञान्तपुङ्गव इति प्रति साक्षेपसमोदधनम् । चञ्चललोचनायाम् भञ्जिता  
गमिता रुचिर्येन, रे रे तादृश चेतः, एणनयनां हरिणाक्षीमालोक्य किं नृत्यसि नर्तक्यम्  
लोल भवसि । महिमानं वीर्यावरूपम् । नृत्यहेतु तद्महिमानं पृच्छति किं मन्ये किं  
मन्यसे इत्यर्थः । विहरिष्यसे विहरिष्यामि । विहारार्थं नृत्याभ्युपगमे ततो निरुत्त-  
यति—वत हतामिति, हतां निन्द्याम् इमाम् अन्तराशां मुञ्च । अयोचने क्षयमाह—एवेति,

(५) अत्र एणनयनामालोक्य स्थिर प्रेम यत्र तादृश महिमानं माहात्म्यं विश्वानामन्यादिनां  
लघुमुत्कर्षं प्रमुच्य त्वत्ता किं कस्मान् नृत्यसि नर्तकवदर्थान् लोलं भवसि । किं मन्ये मन्यसे  
इत्यर्थः । एवं विहरिष्यसे इत्यस्मानि विहरिष्यामीत्यर्थः । अन्तराशाम् भन्तविद्यमानानामाशां  
विहरणविषयिणीमित्यर्थः । चञ्चललोचनाञ्जितरुचे इत्यस्य चञ्चललोचनायामभञ्जिता गमिता  
रुचिरभिलाषो येन तस्य, चञ्चलाभ्यां लोचनाभ्यामभञ्जिता प्रकटीकृता अर्थात्रायिकया रुचिरभिलाषो  
यत्र तत् इति वा अर्थः । अत्र एषीमिति विहाय एणति पुल्लिङ्गेन यथा त्वयि नयनन्यायापादि  
कोति एवमन्यमानि पुष्पे यथा वा त्वं नयनयोर्न्यायामन्या करोष्येवमन्येऽपि पुष्पात् इति  
नास्त्या साधारण्यमनुशात उचित इति सूचयतीति उद्गोते स्पष्टम् । अन्यत्र उग्रमम् । अत्र  
“प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमं एकवचनं” (पाणिनीये १।१।१०६ सू.) इति सूत्रेण  
मन्यतेरुत्तमपुरस्तरुत्तममिच्छाहन्निर्बुद्धरुतेर्मध्यमपुण्य इति बोध्यम् ।

अत्र प्रहासः । पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दोर्बलमेव दुर्यलतया ते सम्मतास्तैरपि

प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वोश्वरैः ।

ये क्षमाशक ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-

स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

यत खेदे, एषा भाषा । अयैवाशया कण्ठबद्धशिलारूपया संसारान्धौ मर्द्ध्यसी-  
त्यर्थः । अत्र प्रहासो व्यत्ययितपुरुषद्वयैव्यङ्ग्य एव पुरुषद्वयान्तपदपांश्वपरवर्तनियमेन  
तत्र शक्त्यभावादिति केचित् । उत्तमपुरुषस्यैव प्रहासे शक्तिर्मध्यमपुरुषस्तु  
तदुप्रादक एवेत्यन्ये (A) । 'तदुप्राद' च शान्तरसोत्कर्षो व्यङ्ग्यः ।

पूर्वनिपातस्येति पूर्वनिपातितपदरूपसमासैकदेशस्येत्यर्थः । येषामिति ।  
दोर्बलमेव न तु नीतिबलम्, सम्मतां ज्ञाता, नीतिबलमात्रमपि न बलमित्याह—  
तैरपीति । तैः (B) बुद्धिस्थै किं कार्यं किमपि कर्तुं न शक्यमित्यर्थः । हे क्षमाशक हे  
पृथिवीन्द्र ये पुनरित्यन्वयः । नय नीतिः । कान्तक्रमा क्षमनीयव्यवसायाः । ते  
भवादृशाः पर केवलम् । पवित्रा त्रिजगति द्वित्रा नैव स्यु एकस्तु कदाचिद् यदि

(A) अत्र उद्गोतकारा—प्रहासे च मोक्षमपुत्रत्वञ्च शक्तिः, तत्तन्त्रप्रतीतिं सम्प्राप्तुं  
व्यङ्ग्यकानुशासनमेव तद् (प्रहासे च इत्यदिभ्यम्) इति भावः । तेन च शान्तरसः  
प्रकृत्यते । अत एव प्राक् पदैकदेशादीनामसलस्यध्यङ्ग्यत्वमेवोक्तं सङ्गच्छते इति । एव सपा-  
सागैरपि—ननु 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्योत्कर्षम एकवच' इति सूत्रेण पुराण्यत्ययविधानात्  
प्रहासो बाध्य एवेति चेत्—उच्यते, अभिधा हि वदन्निरिनि निर्विवादम्, तत्र प्रहासे तावन्नो-  
क्तमपुत्रत्वमभिगच्छत इत्यप्रतीतिः, न चोत्तमपुरुषमात्रं फलं न वा नैयायिकरीत्या प्रहासो  
वाक्यार्थ इति शङ्क्यं पदार्थसमारांरूपताविहात् । किन्तु प्रहासे विषयिणे अनुशिक्षेन पुर-  
व्यत्ययेन स प्रतीयते इति दिक् इति ।

(B) अत्रोदाहरणपक्षेण तैरिति पदेन पूर्वोक्तयत्प्राप्तौ न पराश्रयन्ते दोर्बलमेवेत्येव-  
कारेण तेषां नीतिबलशून्यत्वात्प्राप्तौ तैरित्येवमोपस्थापितानाञ्च केवलनीतिबलशक्तिश-  
अप्राप्तत्वादीर्तनस्यावश्यकत्वादित्यत आह बुद्धिस्थैरिति । बाहुबलशून्यास्तु बुद्धिस्थाः ।

अत्र पराक्रमस्य (A) प्राधान्यमवगम्यते ।

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि 'वीर धनुर्ध्वनिमृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।

दिवसेन तु नरप । भवानयुद्ध (1) विधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥१०६॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गानृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटनं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।

स्यादित्यर्थः । अत्रेति द्वन्द्वे पूर्वनिपातितपदार्थोऽर्चितत्वरूपप्राधान्यावगमात् (C) । तेषां पराक्रमिराजनिपभाषोऽत्र चतुर्थः ।

विभक्तिविशेषस्येति, अपवर्गे विहितायास्तृतीयाया इत्यर्थः । प्रधनेति, हे वीर दृष्टारूपधनुर्ध्वनिमृति युद्धपथे तत्र विधुरं गरुभि दिवस व्याप्य अयोधि, हे नरप, भवान्नु युद्धविधिसिद्धसाधुवादपदं यथा स्यात् तथा दिवसेन अयुद्ध साधुवादपदयुद्धफलसिद्धौ दिवसमृत्तियुद्धममतिमतिनित्यर्थः । अत्रेति, फलसिद्धौ क्रियायां समासिगपदं इत्यपवर्गलक्षणम्, तस्मिन्नर्थे च 'अपवर्गे नृतीया' (२।३।६) इति पाणिनिमूत्रेण विहिता तृतीया युद्धसमातिपूर्वभूता फलप्राप्तिं द्योतयति धत्तन्त्यर्थं अनुशासनानुशिष्टमार्थस्य धातृत्वान्, राजनिपभाषातिशयश्च तद्वच्चतुर्थ इत्यर्थः ।

(A) पूर्वनिपातस्य परिकेदशपदं त्वेव तद्वाङ्मयं परिकेदस्य त्वेव इति द्वयम् ।

(B) विधिसिद्धयोरीश्वरसिद्धयो साधुवाङ्मयं विधिसिद्धस्यावादाव्यस्य वा साधुवादस्य परं स्थानं यथा तथेत्यर्थः । सममन्यम् ।

(C) अयमर्थः — अत्र नपराक्रमसम्बन्धोर्द्वन्द्वे अल्पावतरतया नयसम्बन्धस्य पूर्वनिपाते प्रसक्तेश्चि "अभ्यर्हितश्च" इति वार्तिकसूत्रस्य "अल्पावतरम्" इति पाणिनि-(२।३।६) सूत्रा पक्ष्या बहुवचसाभ्युपगमेन उदाहरणपक्षे कृत पराक्रमसम्बन्धस्य पूर्वनिपाते पराक्रमपदार्थस्य प्रधानता तातामवगमयति । अत एव "वाग्देवानां नाम्ना बुन्" इति निर्देशेनैव ज्ञाप्यते इति चतुर्थं भाष्यम् । 'अल्पावतरम्' 'प्रतापदम्' इति सूत्रस्यामर्जुनस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते तमकुर्वन् ज्ञापयति सर्वतोऽभ्यर्हित पूर्वमितीति सत्त्वबोधिनीकृता । तथाचात्र प्राधान्यस्य पदसाम्यतया पूर्वनिपातस्य तद्वच्चतुर्थमेव । तेन चतुर्थस्तुता च राजविशेषविषयभावोत्कर्ष एवेति न परिकेदस्य समलक्ष्यस्य चतुर्थक्यनानुपपत्तिरिति ।

साक्षात्कामं नवमिव रतिमालती माधवं यद्  
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥

अत्रानुकम्पावृत्तेः 'क'रूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते<sup>(१)</sup> ॥१०७॥

भूयो भूय इति । मालतीमाधवनटके<sup>(६)</sup> "लयङ्गिकया इति निवेदितम्" इति चूर्णकेनान्वयः । भयनयत्नभी भवनोपरि भवनम् । 'तुद्गुल्लस्तभ्यनम् उच्चगवाक्ष' । तत्रस्था मालती तत्रिकटस्थया नगरोत्पद्यया राजमार्गेण पर्यटन्तं माधवं भूयो भूयो दृष्ट्वा दृष्ट्वा तुलितलुलितैः ध्वन्यन्तकोमलैः अङ्गकैस्ताम्यतीत्यर्थः । अङ्गकैरिति सान्ति-  
ह्लापकत्वे विशेषणे वा तृतीया । साक्षादित्यन्वयम्, कामरत्योर्द्वयोरपि विशेषणम् । नवं नवयौवनम् । अङ्गेति, अनुकरणादर्थक "क"रूपतद्धितेन मालत्या विप्रलम्भातिशयो-  
क्त्ययते इत्यर्थः, विप्रलम्भातिशयादेव अनुकम्परीपत्वस्याप्रप्ते । कप्रत्ययस्य सद्धितत्वाच्च पाणिनिमते बोध्यम् ।

उपसर्गस्यापि स्तुत प्रयोगाभावात् पदेकदेशत्वम्, अतस्तद्व्यङ्ग्यमाह—परिच्छेदे-  
ति । मकरन्द प्रति 'माधवश्शोक्तिरियम् । मम कोऽपि विकारः अन्तर्मानसं जडयति तत्र  
तापञ्च कुरुते इत्यर्थः । परिच्छेदेत्यादीनि विकारस्मोदणानि । परिच्छेद इत्यज्ञानम् ।

(४) व्याख्यातमिदमुद्योते—परिच्छेदेति । तत्रैव (मालतीमाधवे) मकरन्द प्रति  
माधवस्य स्वाध्यायकथनमेतत् । परिच्छेद इत्यवगतिमन्दरहित इत्यर्थः । सकलानां सामान्य-  
विशेषशक्त्याभिगच्छ्यज्जनिक्कानां वचनागमविषयः, तैर्बिम्बकुमसस्य इति भावः । पुनरन्यदा  
कालान्तरे अस्मिन् जन्मनि अनुभवपथं तद्विषयात् यो न प्राप्त इत्यर्थः । विवेकप्रध्वसादिति  
विवेको दोषगुणविभागः, 'प्रशब्देन मण्डोन्मूलनकक्ष्म प्रकर्षन्तेन मोहप्रकर्षन्तेन च  
रागातिशयन्तेन च विप्रलम्भातिशयो बद्धः । तद्धेतुसमुपचितं वृद्धिं प्रप्तो यो महामोहः  
सकलविषयाणामज्ञानं विपरीतज्ञानं वा यत्र तादृशप्राप्तौ गहनत्र, दुर्लभ इत्यर्थः । ईदृश  
कोऽप्यनिर्वचनीयो विकारः अन्तः अन्तःकरणं जडयति विषयादिवृत्तिविषये स्तब्धं करोतीत्यर्थः'  
इति ।

(६) नाटकप्रसंगेन रूपकपर मालतीमाधवस्य प्रकटणस्यादिति बोध्यम् ।



अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य ।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया

किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विपः ।

तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्

न पावदायात्युदयाद्विमौलिताम् ॥ १०८ ॥

अत्र तुल्ययोगिताद्योक्तस्य 'च' इति निपातस्य ।

(A) रामोऽसौ मुचनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-

मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदिपरं देवो न जानाति तम् ।

पुनश्चोऽत्र त्वर्थे । अस्मिन् जन्मनि त्वनुभवस्य यो न गतरात्, जन्मान्तरे तु त्वनुभवोऽस्तु मा वेत्यर्थः । केचित् आहुतिरोधकमेव शब्दोऽत्र व्याचक्षते, तच्च, तदा पुनर्जन्मनोति वा पुनरनुभवमिति वा भवत्य स्यात्, तदुभयमपि न सम्भरति प्रागुक्तप्रागनुभवशोरावृत्तिरूपत्वाभावात्, चरमस्यैवावृत्तिरूपत्वात् । 'विवेकस्य इतरमेव विचारस्य प्रवृत्त्यात् निशेषाभावात् उपचितेन महामांसेन विवेकविपरीतं ज्ञानेन' \* गहनं व्याप्तं । अत्रेति, निशेषतारूप्यसम्प्रकर्षबोधनाद् द्विपलम्भातिशयो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । कृतञ्चेति । रूपं प्रति मन्त्रिवाक्यमिदम् । गर्वोऽत्र क्रोधकलका बोधः । किमन्यद्भक्त्यभिमित्यर्थः । एष सन्त्येव न अस्माकं द्विपं निहता भ्रमांशु-क्रोधत्वादिति भावः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारमाह—तमांसि ति । मौलिता मौलिस्थनाम् । अत्रेति । 'तुल्ययोगिता' तुल्यमेककालं योगिता समुच्चयालङ्कार इत्यर्थः । प्राकरणिकत्वेनाप्राकरणीकत्वेन वा निपातना क्रियागुणाद्यं कथमन्यथरूपायास्तुल्ययोगिताया मनासम्भवात् । योक्तृता चात्र बाधकतया, लकारद्वयस्यैककालराधकत्वात् 'तद्वारा ह' \* रात्रविषयमाश्रयार्थो व्यङ्ग्यः । लकारयो एवैकदेशत्वञ्च पदान्तरात्तरास्ति-त्वं-निपातात्, 'अत एव निपातन्त्यमपि । बाधकता वानथो परस्परपेक्षमन्धानादेव' \* ।

एकत्रैव कृतानां एवैकदेशानां व्यञ्जकत्वमाह—रामोऽस्माविति । राधेयं प्रति

(A) रामोऽस्माविति । राधेयान्मन्त्रादेव गत्वमुत्तियं कुम्भकर्णोन्त्योनिर्विमिश्रितुदाहृत्य-चन्द्रिकाकारः । उद्गोउद्गोस्तु 'शक्यमुत्ति' च विभीषणोक्ति' तिलुक्का व्याख्यातमिदम्—

१ 'विवेक इत्यनेन ज्ञानविशेषेण तस्य एतदो भवति निशेषत्वं किञ्चिद किमिदं इति विवेकल-मोहं तेन' कथं । 'च' च विहितपुत्रकस्य पञ्चो यद्वैत, अविहितपुत्रकं तु एव भावो नास्ति ।

२ 'वैषम्यानिश्चै इतिविषयम्, यथाच' अतः ३ 'यथाच' अ-पुत्रकं नास्ति ।

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकवाणाहति-

श्रेणीभूतविशालतालचिवरोद्गीर्णैः स्वैरः सप्तभिः ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति मुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनाम-प्रातिपदिक-

मन्त्रिवाक्यमिदम् । भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तप्रसिद्धिमपि तं देव-भगवान् यदि पुनर्न जानाति, तदा अस्मद्भाष्यविपर्ययादेव तदित्यर्थः । प्रसिद्धिप्राप्तिं दर्शयति—वन्दी वेति । वन्दौ स्तुतिपाठकः । एकवापस्याहतिर्यत्र तादृशा ये श्रेणीभूतविशाल-तालान् तेषां विवरणं वाणवृत्तानि तदुद्गीर्णैः सप्तभिः निपाद्वर्गभगान्धापदिभिः (A) स्वैर्यस्य यशांसि मरुद् गायति, 'सप्तविचरोत्थितसप्तशब्देषु निपाद्वर्गमादिस्त-स्वरत्वाभ्यासादिबहुवचनम्' । अत्र पदैकदेशानां स्वस्वार्थबोधनद्वारा रावणवासकूप-मयिचारिभावव्यञ्जकत्वं दर्शयति—अन्नेति । असामित्यत्र 'प्रकृतिमात्रेण पुर-प्रायस्त्व-

'राम सञ्जलमुचनजननमोत्सव', एतेन सर्वे उद्धितकारिण इति व्यन्यते । असौ वरदूषणादि-हन्तृत्वेनातिप्रसिद्धः विष्णुर्गणपैर्वागन्मीर्यसाधो न भावनायाः प्रत्यक्षायमाणः । विक्रम-गुणैरिति केषल प्रसिद्धिं प्राप्त इत्युद्गीर्णैः सप्तगुणैरपि प्रसिद्धिसम्भवः यथा सम्बोध्यरावणस्य, तद्विरुद्धं गुणैरिति । न केषलं गुणैरपि तु विक्रमजैः । एतेन सीतादानस्यावश्यकत्वं व्यन्यते । सागपि न ग्रामे न नगरे नापि भुवने किन्तु भुवनेषु, तेष्वपि न वृक्षात् किन्तु पराम्, तेनाज्ञातत्वनिरासः । यद्वा विक्रमगुणैः प्रकृतौ सिद्धिं जयलक्ष्मणां भुवनेषु प्राप्त इत्यर्थः । एतेन सर्वथाऽपि बुद्धेऽजेयत्वं व्यन्यते । तमपि शरेणो न ज्ञानानि सन्मन्त्राग्यविपर्ययादेव न तु स्वभावाद्यविपर्ययात् क्रौञ्चक्यनामतादृशमहापुराणमन्त्रेण मरणेऽपि मोक्षलक्ष्मीविलासकामेन तस्यापि भावकत्वत्वात् । अस्माकं पुनश्चिरकालजीविनां स्वादराग्रमुषिपदसंन्यात् तद्विषयोवाच-निरस्तदु-ल्लाधानलज्जामात्राणां परं भाव्यविपर्यय इति भावः । यदिपरमिति निपात-समुदायोऽवधारणार्थः । देवो दिव्यज्ञानवानतीत्यर्थः । अत्र भाव्यविपर्ययादिस्तुर्लभं न तु भगवाद्यादिति, तेन स्वादराग्रमुल्लाभात् सावर्दिकातिशयलज्जामनेनारागविरोद्भुमितेऽपि भाव्याग्येव विपरीतशब्दद्वयेन परिणतानीति छविः । अस्मद्भाष्येत्यनेन समस्तास्त कुल्यस्यैव सधार्थं प्रतीयते । प्रसिद्धिहेतुमूर्तं विक्रमगुणोदाहरणमाह—वन्दीति । वन्दी वंतालिकः । एकवाणाहत्या ज्ञातानि यानि श्रेणीभूतविशालतालानां विवरणं तदुद्गीर्णैरित्यर्थः । एक-वाणाहतेति पाठः स्पष्टः । रामेन किञ्च छपीवप्रत्ययाय सप्त तालवृत्ता एकवाणेन निपा-इति प्रसिद्धिः इति ।

(A) 'निपाद्वर्गभगान्धापदिभिः' अत्रान्वयमेव । यत्रान्वयमी सप्त सन्नीकगोत्थिता-स्वरा' इत्यमरः ।

वचनानां न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः,  
भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन (१) न त्वभावमुखेनाभिधानस्य ।  
तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्ध्रुवोः पठत्यग्रे ।

अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अत्र इमनिजन्मयीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य, तरुणत्वे इति

व्यञ्जनात् सर्वनाम्न, भुजनेष्वित्यत्र भुजनपदेन विलास्यवाधनात् गुणैरित्यत्र  
गुणपदेन (B) दायव्यावृत्तिवाधनाच्च प्रातिपदिकयात्मयन्त्रेण बहुवचनेन तदनेकत्वबोधनात्  
वचनस्य च प्राप्त्यवस्यमित्याह—सर्वनामेति । बहुवचनसमासनियता  
स्मृत्पदस्यापि प्राप्त्यव्यञ्जकत्वमित्याह—न त्वदित्येति । एकवचनसमास एव त्वन्मदी  
नियते, (C) तथा अहत्या कृतस्य सवगाच्छात्रेपकस्य अस्मदिति निर्देशस्येत्यर्थः ।  
रिपर्ययपदस्यापि तद्व्यञ्जकत्वमाह—भाग्येति । अथवा सम्पत्तिं दुर्भाग्य-  
त्वेन निष्यति । न त्वभावेति भाग्याभावात् सत्फलमात्र एव न त्वसत्फलम्,  
दुर्भाग्यत्वे त्वसत्फलमिति भावः ।

विदग्धप्रशस्यस्वरूपशिशोरूपपदैकदेशस्यापि व्यञ्जकत्वमाह—तरुणिमनीति ।  
तरुणिमनि तादृशे कलं चातुरीं कलयति प्रकाशयति सति तथा ध्रुवाग्ने कर्त्तरि  
अनुमदनधनु मदनधनुय समीपे स्वयमेव कला पठति सति सकलललनामौलिमियं  
मधिरसति सकलनारीमूढन्या भवतीत्यर्थः । अत्रेति । तरुणिमनीत्यत्र इमनिच्,  
अनुमदनेत्यत्राव्ययीभाज, मौलिमधिरसतीत्यत्र कर्मभूताधारस्य मौले

(A) न त्वभावेति । तथोक्तं हि भाग्यस्य सार्वत्रिकाभावप्रतीती सम्पत्तेरपि तथाभाव  
प्रतीयेत इति भाव इत्युद्घोते । अन्य तु अभावमुखेनोक्तौ अभावावस्थित्येव वक्तव्यम्, तथा च  
भाग्यात्यन्ताभावात् सम्पत्त्यभाव एव प्रतीयेत न तु भाग्यध्वज इति तात्पर्यमाहुः ।

(B) अत्र गुणैरित्यत्र प्रकृतिप्रत्ययोर्द्रव्येण व्यञ्जकत्वेऽपि व्यङ्ग्यभेदसत्त्वाच्च पदैकदेश  
व्यङ्ग्योदाहृतत्वासङ्गतिरिति ध्येयम् ।

(C) तथा अहुत्वेति । एकवचनसमासपरिहारेण कृतस्य अस्मदिति बहुवचनसमासस्येति  
कलितार्थः 'सर्वगोष्ठ्यान्नेपकस्य' समस्तस्य कृत्वाभिधान इत्यर्थः ।

धनुषः समीपे इति मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे  
अस्ति कश्चित् स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं  
प्राप्नोति ।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम् । वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूप-  
निरूपणे उदाहरिष्यते । अपि-शब्दात् प्रयन्धेषु नाटकादिषु । एवं  
रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह पङ्क्तिभेदाः ।

(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्<sup>(१)</sup>—

व्याख्याताः ।

तद्विभक्त्यन्वयेत्यर्थः । येषां स्वरूपस्येत्यर्थः । येषां स्वरूपस्य विदग्धविशेषप्रयोज्य-  
गाढसंस्कृतरूपत्वात् तदपि एतात्कुर्याद्व्यञ्जकमित्यर्थः । अत्र च अभ्यपीभाषस्य  
रचनारूपस्यमन्यद्वयस्य पदैकदेशत्वम्, तत्समानार्थकमगाढसंस्कृतस्वरूपान्तु न  
तद्व्यञ्जकमित्याह—तद्व्यञ्जकत्व इतीति । 'त्वादिभि' त्वप्रत्ययादिभि । अस्ति  
कश्चिदिति अनुभवेरुक्तं न निश्चित्य वक्तुं शक्य इत्यर्थः । चक्रयस्ती तु—अत्र  
क्रीमिलक्षणस्वरूपमेव स्वरूपविशेष इति व्याचष्टे, तत्र । तदा वर्णानामेव व्यञ्जकतापत्तेः,  
तस्य बालुपदमेव बध्यमाणत्वात् । अपि-शब्दादिति वर्णव्यपीत्यपि-शब्दादित्यर्थः ।  
कुलकरूपमहाविन्यासमन्त्रप्रबन्धव्यावर्तनाय—नाटकादिष्विति । आदिशब्दात् नाटिका-  
परिग्रहः । 'नाटकादिषु' अन्तरा रसान्तरसम्भवेऽपि<sup>२</sup> प्रबन्धव्यङ्ग्य एको रसः ।  
एवं रसादीनामिति असलक्ष्यकमत्वेन पराविधतया गणितानामित्यर्थः । पूर्व-  
गणितेति पदवाक्यप्रकाशस्यतया पञ्चविंशत्ये गणिताभ्यामित्यर्थः । पङ्क्ति  
पदैकदेशत्वनाड्यप्रबन्धव्यङ्ग्यतया गणितत्वसुर्भेदमिलनेन पङ्क्तित्वार्थः । एवञ्च  
पदवाक्यप्रकाशौ द्वौ पूर्वगणितौ विहायात्र गणिता पदैकदेशादिव्यङ्ग्याभत्वार एव  
इति सिध्यति । तथा च पूर्वगणिताः पञ्चविंशत्, कुलकरूपप्रबन्धव्यङ्ग्या अपरशतपु-  
ञ्जया द्वादश पदैकदेशादिव्यङ्ग्याभत्वार इत्येकपञ्चाशत् घनयो भवन्तीत्याह—  
भेदास्तदेकेति ।

१ 'मुच्येते' इति अत्रि ७८ । २ 'नाटकादावन्तरा रसान्तरं वतापि' ख ।



(A) पदगतादिनि । अयमभिप्रायः—प्रथमं तावद् ध्वनेर्लक्षणाऽभिधामूलकत्वेन अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्यवाच्यश्चेति द्वौ भेदौ । तत्रापि अविवक्षितवाच्यस्य अर्थान्तरासकमितवाच्यत्वेन अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन च द्विविधस्य पदवाच्यगतत्वेन पुनरपि द्वैविध्ये चातुर्विध्यम् । ते च नामानि —

- (१) पदगतार्थान्तरसकमितवाच्यविवक्षितवाच्यध्वनि
- (२) वाक्यगतार्थान्तरसकमिनाविवक्षितवाच्यध्वनि
- (३) पदगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनि
- (४) वाक्यगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनि

इति ।

एष विवक्षितान्यपरवाच्यस्य प्रथमतः लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन च द्वौ भेदौ । तत्रापि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलतया अर्थशक्तिमूलतया शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया च त्रैविध्यम् । तत्रापि शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वस्तुलक्षतया अलङ्काररूपतया च द्विविधस्य पदवाच्यगतत्वेन चातुर्विध्यम् ।

तेषां नामानि च—

- (५) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि
- (६) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि
- (७) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनि
- (८) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनि

इति ।

एवमर्थशक्तिमूले लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्येऽपि अर्थस्य स्वतः सम्भवितया कविप्रौढोक्तिसिद्धतया कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धतया च प्रथमं त्रैविध्यम्, ततश्चिविवक्ष्यापि वस्तुलक्ष्यत्वालङ्काररूपत्वेन च प्रत्येकं द्वैविध्ये पद्विधत्तम् । पुनः पद्विधस्यापि व्यङ्ग्यतया व्यङ्ग्यकृतया च द्वैविध्ये द्वादशविधत्तम् । सत्यापि द्वादशविधस्य पदगतत्वेन वाक्यगतत्वेन प्रबन्धगतत्वेन च प्रत्येकं त्रैविध्ये पदप्रिज्ञाप्रकारोऽर्थशक्तिमूलोऽनुरागरूपो लक्ष्यक्रमध्वनिः । तेषां नामानि च—

- (९) पदगत स्वतः सिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
- (१०) वाक्यगत स्वतः सिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
- (११) प्रबन्धगत स्वतः सिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
- (१२) पदगत स्वतः सिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
- (१३) वाक्यगत स्वतः सिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
- (१४) प्रबन्धगत स्वतः सिद्धार्यशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
- (१५) पदगत स्वतः सिद्धार्यशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि

- [illegible]

॥

शब्दार्थोभयपक्षिभूयो ह्यस्यमव्यक्तत्वात् वाक्यमात्रात्तत्वेन एकविध भव । स च

(६३) — तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्रभेदै-  
रेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राह्यतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन  
चेति त्रिविधेन संकरेण परस्परनिरपेक्षरूपैकप्रकारया संसृष्ट्या  
चेति चतुर्भिर्गुणैः—

इत्य शुद्धानेकपञ्चाशदुभयानुचया एतेषामन्योन्ययोजनमाह—तेषाञ्चान्यो-  
न्येति । योजनस्यैव प्रकारमाह—सङ्करेणेति । व्याचष्टे—न केवलमिति । अपि तु  
इत्यर्थं यावदिति । त्रिरूपं मन्दुं व्याचष्टे—संशयास्पदत्वेनेति । अयं ध्वनिरयं  
ध्वनिर्वेति सशयत्रियस्य सत्वम्, प्रकृत्यमाणत्वप्रकर्षकत्वम् अनुग्राह्यानुग्राह्यमात्रं,  
एकेन व्यञ्जकेन उभयव्यञ्जनम् एकव्यञ्जकानुप्रवेशः, इति त्रिविधेन । सङ्करेण  
एतन्निर्दिष्टमिति रूपया परस्परनिरपेक्षत्वात्मिकया एकप्रकारया मत्सृष्ट्या  
चेत्यर्थः ।

(४५) सत्यप्येकव्यञ्जकानि ध्वनिः ।

इति व्यपदिशते । एकव्यञ्जकानि ध्वनिमेव विवक्षितान्वरसध्वनेषु व्यपदिशते ।  
विवक्षितान्वरसध्वनेषु द्वितीयो भेदः सत्यप्येकव्यञ्जकानि ध्वनिः पञ्चम-वर्ण-रचना-वद-वाक्य-प्रवचनानुचयेन  
पदविधेयः । ते च—

(४६) पञ्चकदेवतालव्यञ्जकस्य रमादिध्वनिः ।

(४७) वर्णागमालव्यञ्जकस्य रमादिध्वनिः ।

(४८) रववागमालव्यञ्जकस्य रमादिध्वनिः ।

(४९) पदगमालव्यञ्जकस्य रमादिध्वनिः ।

(५०) वाक्यगमालव्यञ्जकस्य रमादिध्वनिः ।

(५१) प्रबन्धगमालव्यञ्जकस्य रमादिध्वनिः ।

इति ज्ञातव्याः । एषमेते मिलिता एकपञ्चाशद् भवन्तीति ।



## (६४) वेदखाण्डिवियञ्चन्द्राः<sup>(१)</sup> (१०४०४)

वेदखाण्डावे । अङ्गानां धामत मम इति नियमेन वेदाध्याचार (४) तद्वमे ए श्रु व (०४) तद्वामे मन्त्ररश्मत्वार (४०४) तद्वामे विष्णु श्रुव (०४०४) तद्वामे चन्द्र पक्ष (१०४०४) इत्यङ्का । पर चतुरधिकचतु-  
शताक्षरमेकमयुत धनय इत्युक्तम् । ननु पक्षरश्मिस्तश्चतुर्गुणने चतुरधिक-  
त्रिंशतमेर भरति, तन् कथं चतुर्वेत्त्याद्यङ्का इति चेन्न, प्रथमस्य स्वप्नातीयेनकेन

(A) यद्यपि तेषामित्यादिना 'चन्द्रा' इत्यन्तेन वाक्यस्य निराकाङ्क्षासम्पादनार्थम् एकमेव सूत्रं गगयिनुचितम्, तथापि सुदृढवङ्गुस्तत्कर्मचार्यस्तुतश्चमेण सूत्र्यस्या गृहीता । व्याख्यातमिदं प्रदीप—“रक्षायाङ्गाङ्गिभावेनैकमयुक्तानुप्रसङ्गं चेति त्रिविधं सूत्रं, उक्तप्रकारेण विहा मयोग सहति । एवमेकपञ्चाशो भेदानामेकपञ्चाशो भेदयोगेनमिति तावता साक्षरगुणेन सहस्रयम् एकात्रिका पञ्चाशी च, सयोगश्च सङ्ख्यादिचतुर्भाररिति तावता चतुर्भिर्गुणेन सहस्रताणि चतुरधिकानि ऋद्धारि शतानि च सम्पद्यन्ते । च च अनुपाद्यानुपादक-  
भावेन सङ्ख्यायैऽनुपादकस्याङ्कतया गुणीभाव इति च स्वनिवृत्तत्वमिति वाच्यम्, तत्र हि स्वतन्त्रमङ्कारिण एव नम्य किञ्चिन्शोपकारिणामात्रम्, न तु शेषशेषिभाव इति ।

मन्त्रस्य एकपञ्चाशदेकचतुराणां पञ्चासन्तं योजनम्, स्वस्य तु स्तेन कथं याजनमिति च न, एकभिर्भेदाशयं विनातीत्यत्र नवानीयनापि सङ्ख्यादिमन्त्रवादिनि सूत्ररुचुरास्य । अत्रार्वाचीना 'गगनेयमयुता, अग्निमाग्निभेदस्य योजने एकैकभेदाभ्याम् । तथाहि—अर्धन्तरासन्नितिशब्दस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्येन योजने यो भेद स एव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्यान्तरासन्नितिशब्दस्य योजनार्थम्, एवमन्यत्रापि । तस्मात्

एको ताशिर्द्विधा स्यात् एकमेकाधिकं इति ।

समावेर्वासमो गुण्य एतत् सङ्ख्येन एव ॥

इत्युक्तदिना द्विपञ्चासद्भेदेन परविस्तार्य एकपञ्चासत्तं गुणयेत् । तथाच 'स्मृत्याग्निमित्या' (१३१६) इति त्रयोदशशतानि पञ्चविंशत्यधिकानि जायन्ते । योगश्चतुर्प्रकारक इति तेषु चतुर्भिर्गुणितेषु 'त्रैविश्रुतेष्व' (१३०४) इति पञ्चसङ्ख्याणि चतुरधिक शतस्य सङ्कीर्णभेदा इत्येव ज्ञाय इति चदन्ति ।

अत्र नूनम् —अनुभवमिदं तावत् पुण्ड्रकाणी गुरोस्तेष्विधेयवित्तस्य हि तन्त्रानिर्वाहानितार्थम् । तथा च अर्धन्तरासन्नितिशब्दस्य यत्रातिशयस्तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्येन तन् योजनम् । यत्र तु तद्वैरीत्यं तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्यतरणं याजनमिति व्यवहृतम् । एवमन्यत्राप्यत्रम् । एतदेव प्राधान्यमाशयं गणना सौत्री । नन्वेवं यत्रोभयोस्तुत्यमेव बाह्यत्वम्, तत्र भेदान्तरं स्यादिति, मैवम् ; अपकर्षार्थमावस्यातिशयपदेन विवक्षितत्वात् तत्रोभयभेदसङ्ख्येयकार्त्तम् । एतादृशे

स्वविज्ञातीये पञ्चाशता च 'सह चतुर्गुणे एकस्यैव चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वम्, एवञ्च  
ए पञ्चाशतस्तावद्वेन (A) पूरणे भवन्त्येव वेदद्येत्यादयोऽङ्काः' १ । परन्तु धौतसर्गिकी  
रीति इष्टा ग्रन्थकृता 'अग्निधानादिदं लिखितम् । अग्निधानतस्त्विदं श्रुयमेव ।  
तथाहि—अथमस्यैकपञ्चाशता सह चातुर्विधे गणिते द्वितीयस्य प्रथमेन सह चातुर्विधं  
'पूर्वगणनायामैव गणितमिति द्वितीयस्य पञ्चाशतैव सह चातुर्विधं गणनीयम्, एव  
ततोपादेरपि पूर्वपूर्वेण सह चातुर्विधस्य पूर्वगणितत्वात् तद्वत्पह्येव गणनीयत्वे  
अरमस्य सज्जतीयेनैव सह चातुर्विधं गणनीयमेव रीत्या एकशताधिकपञ्चसहस्रह्रासे  
चतुरधिकत्रिंशतोत्तरपञ्चसहस्राण्येव भवन्ति' २ । दर्शिता खेवं रीतिर्विरोधात्कूटारे ।  
तत्र हि—

आतिष्ठतुर्मिर्जात्यापीर्विकृता स्याद् गुणस्त्रिमि ।

किं वा ह्यस्या 'मय द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥ ( १०म उल्लास )

इति घटता ज्ञात्यादिचतुर्णां ज्ञात्यादिचतुर्भिः सह विरोधे षोडशत्यप्रसक्तौ पूर्वपूर्वेण  
सह परस्परस्य विरोध पूर्वगणनाप्रविष्टमण्डयैव दशविधत्वमुक्तमिति । किञ्च

वास्याने पञ्चालम्बनमात्रमेव मह्यं षोडशमिति सहस्रपञ्चमास्थावालोचनीय'मिति । तत्रैव  
विन्यसे—एव रीत्या मूलोक्तसरूपाया कथयिदुपपत्तेरपि किञ्चेत्यादिना टीकाद्वयस्य  
केषाञ्चिद् ध्वनीनामेकम्यङ्गकातुपनेशासम्भवेन संकपाद्वासम्ब दुष्परिहरतया 'वेदसाग्न्याविवचन्दा'  
इत्यस्यानुपपत्तिरेवेति ।

(A) तावद्वेनेति चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वेनेत्यर्थः ।

१ 'सह श्लोक चातुर्विधे एकस्यैव चतुरधिक त्रिंशत्तत्त्वम्, एव रीत्या एकपञ्चाशतामेव ( दश एव ? )  
श्लोक तावद्वेनान्नं भवन्त्येव वेदद्येत्यादयो, तथाहि (१) चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्व एकपञ्चाशदगुणे तावदाह-  
विदं । ( तथाहि ? ) वाक्यत्रयाग्योत्तरमकनितराच्यनिरूपकात्मकं च ग्रन्थोत्तरमकनितराच्यनिर-  
ूपकात्मकेन सप्तपञ्चादम्, एवमज्ञातितरुतवाच्यनिरूपकात्मकत्वात्तावदादिनि पञ्चाशता सह  
श्लोक सप्तपञ्चादमेकया एकपञ्चाशत् तद्वत्पह्यदम् । एव तदेव व्याख्या तावद्वेनान्नं तावदादिनि सह  
श्लोकमनुपाद्यानुपादकमात्रापरमितापरमिकपञ्चाशता, उपरपि तावद्वेनान्नं तावदादिनि श्लोकमेकपञ्चा-  
शतानितराच्यमेकपञ्चाशता, तथाच तावद्वेनान्नं तावदादिनि श्लोक सप्तपञ्चादत्वाद्विदितपरादिश्लोक  
एवमप्यदिक्परा कृच्छ्रात्म्यत्वेनैकपञ्चाशता, श्लोकसौवर्णाचरसकनितराच्यनिरूपकात्वात् चतुरधिक-  
त्रिंशत्तत्त्वम् । एवमज्ञातितरुतवाच्यनिरूपकात्तावदादीनामपि पञ्चाशत श्लोक चतुरधिकत्रिंशत्तत्त्वमिति  
मवेदेव वेदसाग्न्याविवचन्दा निष्पत्तिरिति च । २ 'अग्निधानादिषोडशम्' च । ३ 'पूर्वगणनायां अग्नि-  
धानादिसहस्रपञ्चादः पञ्चाशता सह चातुर्विधं गणनीयमिति रीत्या तद्वेनसोनपञ्चाशता चतुर्विधत्वात्तावदा  
इत्येव रीत्या चरमस्य खेवं सह चातुर्विधं गणनीयमिति तावदादि बहुपरिकल्पनाधिकपञ्चसहस्रादि  
पञ्चसहस्रादिगणनाधिकपञ्चसहस्रादौ दर्शिता वेदेत्यादयो' च । ४ 'अपि' यदि मुद्रितपुस्तकादः ।

शुद्धभेदैः सह—,

(६५) — शंखयुगलेन्दवः (१०४५५) ॥ ४४ ॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाहिष्यते—

<sup>1</sup>रणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।

रुजइ पडोहरवलहीयरम्मि अणुणिज्जउ वराई<sup>(१)</sup> ॥ १११ ॥

‘पदैकदेश-पञ्च वाक्य महाभाष्यानामेकवृत्तस्यान्यतरेणाध्यक्षनात् कथं तंगामैकवृत्तका-  
मुपदेश (b) इत्येतावताऽपि (c) बहुतरङ्गामे वैद्विष्यतीत्याद्यन्तमविचारसुतामैर’<sup>१०</sup> ।

वेदवेत्तयादौ 'शुद्धमेदानपि प्रोक्तं गणने सख्याधिक्यमाह—शुद्धमेदैरिति । शरा पञ्च, इत्यन पञ्च, युगानि चत्वारि, एत शून्यम्, इन्दुरेक, यन्म् १०४५५ । तत्र सशरा-  
स्यदत्त्यरूपं सङ्कृतमुदाहरति—खणपाह्णिजा इति—

क्षणमाघुणिका देवर जायया सुमग किमाप ते भणित्ता ।

रादिति पद्मादुषलभीगृहे अनुनीयता पराकी ॥ इति संस्तुतम् ।

[illegible]

(१) इत्येतावन्नापीति । इदमुपलक्षणम्—साम्प्रदायिकमतानुसृत्य साम्प्रदायिकमतानुसृत्य व्यवहारानि एकाग्रयानप्रदेशात्मन्त्रोऽपि दृश्य ।

(१) बहुतद्वास इति । इदमत्र चिन्तनीयम्—लक्षगामूलवृक्षवत् स्थित्वानामुत्पन्नम्

[illegible]

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणो<sup>(A)</sup>ऽर्थान्तरे संक्रमितः <sup>(B)</sup>किमनु-  
रणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

देवर प्रति प्रसक्तानुसवे तद्गुहागतां तत्पत्न्या निर्मत्सिता<sup>(C)</sup> मनुनेतु ज्येष्ठभ्रातृ-  
पत्न्या उक्तिरियम् । तत्र ज्वसव, तत्र प्राधुनिका अभ्यागता । पटोहर पश्चादर्थं  
देशी, घराको दुःखिता । अत्रेति । 'अनुनयः' प्रीतिजननम्, प्रीतिविशेषजनन-  
स्वभोग', तत्त्वेन सक्रमित्वाच्योऽनुनय इत्यर्थः, तथाच सादृश्यलक्षणया उपमुन्यता-  
मित्यर्थः । तद्वचनञ्च दुःखापनयनम् । किमनुरणनन्यायेनेति । अनुनयो वाच्यो  
विशित्त एव किमुपभोगस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जक इत्यर्थः । न च किमुपभोगस्य लक्षणीयत्व-  
व्यङ्ग्यत्वसंशय एवमनेन दर्शितो न तु व्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य संशयास्पदत्वं दर्शितमिति वाच्यं

सम्भवत्वादि 'उभ जिहत्' इत्यादौ प्रदर्शितत्वेन तद्वचनान्प्रयुचिता । एवं शब्दार्थोभय-  
शान्त्युत्पन्नं चत्स्वनद्वाररूपनया द्विविध्यं सम्भवतीति टीकाद्विचारीत्या हासवत् किञ्चिदाधिक्यमपि  
भवितुमर्हति । सर्वथा तु वेदोक्त्यापुनस्तद्गति स्थितैव । एतेन 'वेदस्तमिशरा' (५३०४)  
इति साहित्यदर्पणकारोक्तिरपि प्रत्युच्यते ।

(A) अर्थान्तरे संक्रमित इति । अयं भावः — कोपमानादिबिभक्षिकारनिवर्तकव्यापार-  
विशेषोऽनुनयः पादपतनादिरूपः, स च कान्ताशनुपभोगप्रत्योऽपीति अनुनयस्य सामान्यविशेष-  
भावसम्भवेन उपभोगजन्यतादृशान्वयापारोक्ष्यं अनुपूर्व'वी'यातुना सत्यते, लक्षणाबीजम्  
समोत्पादिवत्प्रतीयमानतात्पर्यानुपपत्तिरेव, प्रयोजनञ्च लक्ष्यार्थगतातिशय इति सन्देहस्य  
प्रथमकोटी लक्षगामूलत्वेन, एतच्च द्वितीयाकोटी उपभोगस्यैव व्यङ्ग्यतया व्यङ्ग्यभेदोऽपि  
सन्देहमद्वारे आवश्यकतया टीकाङ्गन्ममस्य उपपत्तये इति बोध्यम् । अत्र अत्यन्ततिरम्भ-  
वाच्यलक्षणया अनुनीयतामित्यस्य उपमुन्यतामित्यर्थं न कापि दृष्ट । प्रभाकराणाम्  
'कोपाभावाद्वाज्जलरूपयोच्यमानोऽनुनयो लक्षणया उपभोगप्रतिपादक उपभोगातसामञ्जस्यं  
व्यङ्ग्यम्, अथवा बाधाभावाद्वाच्य एवोपभोगव्यञ्जक इत्यर्थः । उभयस्याप्युपभोग एव सात्पर्य-  
पर्यवसानान् सन्देहस्यातोषत्वम्' इति वदता सन्देहमद्वारध्वनी एकव्यङ्गाविषय एव संशय-  
आवश्यक इति मतमिति प्रतिपादि । अत्र कलत्रोषिनीकारस्य 'सन्देह इति, तथा पात्र  
अङ्गमसन्देहमैतन्मूलकं पृथग्विधितवाच्यत्वनिविहितान्वयपरवाच्यत्वन्योरपि सन्देहस्य  
सद्वारालङ्कार' इत्युक्तिं वस्तुव्यङ्ग्यत्वेनिसन्देहस्यालङ्कारलक्षणाजान्तरत्वात् चित्वा ।

(B) 'किम्' पदात् पर पश्चान्तरव्यञ्जको वाकार अर्थो बोध्यः ।

(C) मनुनेतुमिति अनुनामयितुमित्यर्थः, समानकर्तृकत्वे तुयो विधानात् उक्तिवर्त-  
भूताया ज्येष्ठभ्रातृपत्न्या अनुनयकर्तृत्वमाधान् देवस्यैव तथात्वादिति बोध्यम् ।

स्निग्धस्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेद्धदलाका घना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।

कामं सन्तु हृदं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरः भव ॥ ११२ ॥

व्यङ्ग्यं योऽत्र स्थापनयनोपमागयास्तत्सशयाधानसत्तयत्रिगुणान् । तथाच उपमागन  
बुद्धमपनीयतामिति वा उपभुज्यतामिति वा अनयात्तमिति सामानिकमगयासवत्त्व  
लक्षणं सूत्रयङ्गं ह्यतः सम्मग्निरस्तुभङ्गचरस्तुनारिति सग्यास्पन्नं प्रम् ।

धनुर्माहातुप्राहकतासद्वृत्त्यः एक्यत्रकानुप्रागस्तद्वृत्त्यः ससृष्टेः शब्दमुदाहरण  
माह—स्निग्धेति । रामस्यैवमुक्तिः । यना स्निग्धस्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेद्धद-  
लाका

(A) स्निग्धेति । 'स्निग्धा स्निग्धा इयमग्या या कान्तिमया निम्न निविष्टमप्यहं  
विषयकां वे, वपुः या बह्वृत्तिश्च बहुतराणां च (सामाना १) सविज्ञास  
सलन्तयो वा बलकाः (वडाका १) पक्षिविषयाणां पक्ष्या यपु तथाभूता घना मेना एव  
घना निविष्टा (१) काम यथै सन्तु । तत्र शीकरिणोऽभ्युक्तमालिन, तत्र शैत्यसाग्रे,  
तादृशा वाता अपि सन्तु । एवं यथाहो मयः छद्मं केकावरकाहारावनकतया मित्रं यथा तेषा  
मरुपदमालिण्यान् मयूताया कला अज्यन्तमुरा आनन्त्या वाप्य मन्तु, आनन्दन  
कण्ठाज्यव्यवृत्ता । यद्वा यथादस्य छद्मं तदुदयाहामिनामित्यर्थः । ततः पयानन्दकेका  
पयोदोष्ठान सन्तुहृदामानन्दकेचित्त्वान् । यपः प्राग्वन् । काम सन्तु तावता न मे क्षतिरिति  
भावः तदवाह—हृदमनिप्रापनं कठोरहृदयोऽहं राम सल्लदु सपात्रवनं प्रमिद्धोऽस्मि,  
अत एव सवमुनादीपकान्तिरापन्ननिष्ठतः सह । उत्तमपुष्पस्ववनमेतत् । अत्रैतादृश  
॥ सजनकममानऽग्निं प्रागवदणत्तादमन्त्रकारा व्यङ्ग्यः । वैदेही विदेहराजपुत्री तु राजापत्यत्वात्  
स्त्रीत्वाच्च छद्ममारतया दुःखाश्रमा विद्वन्व्य कामस्याश्रया (आश्रयः) च कथं भविष्यति  
कथं जीविष्यति । तस्मिन् न सम्भाव्यत इत्यर्थः । हहाइति समुदायं वदतिशये,  
भावनोपनीता सीता सम्बोध्य हहा हा देवि धीरः भव । इत्येवमर्थोचित्यम् । अत्र  
रामपदेन दुःखसन्नातलक्ष्मण्या व्ययमानस्य राज्यत्यागश्चावच्छेदमारण्यविशोकाद्यगिगत-  
दुःखमनातिशयश्रवणमे व्यपन्नयाश्रयनै शोकाश्रयैवनिवृत्तादिभिः परिपुष्टो विप्रलम्भ  
प्रकाशयत इति बोध्यम्" इत्युद्देश्येन्याश्रयशेषः । "यत्तु—सीतायाः सम्भाव्यं धृष्टीं  
प्रत्याह—हे सर्वसहै वडं देवि, धीरः भव दुहितृशोकेन त्वं मा विदीर्षां मू' इत्यर्थो मरीच  
इत्युक्ता पूर्वोक्तसंज्ञानवृत्तामिधानं कस्यचित्, तत्र काव्यद्वन्द्वानमिश्रतया जल्पितमिति  
छद्मपरिरोध्यम्' इत्युदाहरणान्निद्राया विषयः । अत्र हृदमिति कठं कुञ्जरीवने' इति मोरन्  
प्रत्ययान्तकृपातुल्याप्येभ्यो भविष्यतया किशकिशेण्ये द्वितीया, सव्य कारकवातिदेसाच्च

अत्र लिखेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः  
संसृष्टिः । ताभ्यां सह (४) रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यानु-

वलाकाश्च, तथा पयोदसुहृदां मयूराणाम् भानन्दजन्या केका कला गभीरा ;  
यते उदीपका कां कामं यथेष्टं सन्तु, मम किञ्चिदुक्तुं न क्षमा इति भावः । यत एवम्  
अतिशय कठोरहृदय रामोऽस्मि दुःखसहिष्णुस्मि, अतः सर्वमेव धृदु सह्ये । हहा खेदे ।  
वैदेशी त्वमीदृशी कथं भविष्यति कथं सत्तावती स्यात्, तस्मात् हा देवि धीरा भवेत्यर्थः ।  
अत्रेति (४) । द्रवद्रव्यस्य व्यापनमेव लेपः कान्तेस्तु द्रवद्रव्यत्वाभावेन तद्वाचात् तत्तपद्

'लकुट बलवान्तरुर्गर्भकुचैरनिहुवान् निजवामिराजताम्' इतिवत् सागैररुणैःपि समासो न  
लोपायः । अथवा एव सहे इत्यन्वयः ।

(४) रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमेति । ननु कठोरहृदय इत्यत्र हृदयार्थं मन-  
परम्, 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वात्मं हन्मनामय मन' इत्यभिधानात्, तथाच अपार्थिवे तस्मिन् कठोर-  
पदार्थस्य प्रत्यक्षरदितापादानकारिण्यस्य वाच्येन कठोरपदमेव तु समहिष्णुता लक्षणिकम्, एवञ्च  
रामपदस्य तु समहिष्णुतामे लक्षणाकथनमनुचितमिति चेन्न कठोरहृदय इत्यस्य कठिनपक्षस्यच  
इत्यर्थेऽभिप्रायात् । यद्यप्यलम्ब कादिन्येन च बहुतादु लेभेपि अविदीर्णत्वमार्त्तं व्यपयते ।  
विरहादिना हृदयविदारणञ्च कविममयेऽपि क्वातम् 'यूनामङ्गेषु हारा लकुटति च हृदय विप्रयोगस्य  
तर्प' इत्युक्ते । वर्णितञ्च तथा कविभिः —

"मिता हृदि हारमवाप्य मैत्र मे हुनासभि प्राणयम सम यम" (मैत्रवचरितं १म सर्गं)

"ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि विग्राहि विवर्त्ते यदि" (मैत्रवचरितं १म सर्गं)

"हा हा देवि लकुटति हृदये सपते देहबन्ध" इत्यादिभिः । (वत्सलरामचरितम् १५ धातु)

अतोऽत्र कठोरहृदयपदेन कथञ्चिदपि तु समहिष्णुत्वाप्रतीत्युत्पत्तय एव रामपदे लक्षणेति  
छरीमिर्विनाशनीयम् ।

(४) अत्रेति । अत्र चरित्रपट्टा उदादिन प्रदीपकारैः — अत्र मुख्यार्थवाचालिसद्व  
सम्बन्धं लक्षयद्विधाय व्यनक्ति । पयोदे वाच्येन सौहृदाभावात् लक्ष्मणस्युपकारित्व  
लक्षयत्तद्विषय प्रतिषदयति, पयोदानां मयूरनिष्ठकेकायुपकासौहृदात् । रामपदञ्च  
सर्वसहत्वानुरयुक्ततत्पर्यतया सकलदुःखमात्रस्य हृदयत्वं भीता विनाऽपि जीविष्यामीति  
व्यवृत्त्येव विप्रलम्भ व्यनक्ति । तत्र लिखेति पयोदसुहृदामित्यनयोत्पन्नततिरस्कृत-  
वाच्ययोः संसृष्टिः । ताभ्यां सह राय इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य अनुपादानुपादकभावेन  
सह्य, सगोरीपकत्वात् । रामपदेन चैक्यसुक्तानुपलेशे वा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य सत्यस्यो  
सह्य रामोऽस्मीत्यनेनैव लक्षणासूच्य विप्रलम्भस्य च व्यवृत्तादु विप्रलम्भे वाच्यव्यङ्ग्यस्य  
प्राधान्यात् इति ।

व्याख्यातमिदमुद्योतकारैः — 'मुल्लेखेति, द्रवद्रव्यस्य सत्तावतावच्छेदेन संयोगो लेपनम् ।

प्राधान्यमाहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तर-  
संक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः । एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

इति कव्यप्रकाशे च्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थ उद्घाटनम् ।

अप्यत्र अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, विरहोदीपकत्वं तद्वचनम् । तथा  
पयोदसुहृदमित्यत्र अवतनस्य पयोदस्य हृदयामवेन पयोदसुहृदस्य पयोददर्शन-  
नसितत्वेन रूपेण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, तत्केकानां विरहोदीपकत्वञ्च  
तद्वचनम्, भवयोर्वचनशेककप्रिविधसङ्कुराभावेन ससृष्टिमात्रम् । ताभ्यां  
सहेति ताभ्यां विरहोदीपकत्वाभ्यां सहेत्यर्थः । रामोऽस्मीत्यर्थान्तर-  
संक्रमितेति, दुःखसहिष्णुत्वरूपेण रामस्यैव उपन्यासनादर्थान्तरसंक्रमितवाच्य  
लक्षणा, तद्वचनस्येत्यर्थः । तच्च प्रियाविरहेऽप्यप्रियमाणत्वेन स्वावधोरणम् ।  
अनुप्राह्येति रामस्य स्वावधोरणम् अनुप्राह्य विरहोदीपकत्वद्वयञ्च तदनुप्राहकम्,  
घनकेकयाविरहोदीपकत्वज्ञानात् तदानीमप्रियमाणत्वेन स्वावधोरणादिति ।  
रामपदलक्षणेति, रामपदेन (१) स्वावधोरणस्येव सन्तारण्यविप्रलम्भस्यापि व्यञ्ज-  
नात् । 'अन्यदप्युदाहार्यम्' इति ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारमहाचार्यकृत नाट्यप्रकाशादर्श

च्वनिनिर्णयस्य चतुर्थ प्रतिविम्बः ।

सम्पत्तौ इदमन्यदप्युदाहार्यम् । पयोदे चेति सौहृद विरहवृत्तिविशेषः । पयोदा सुहृदो योगमिति  
बहुमीदृशिति भावः । तदप्यन्यदप्युदाहार्यम्—पयोदायोगमिति । अत्यन्ततिरस्कृतेति, अपनच्छ्रुत्वायौ सर्वथा  
अवधारितेति भावः । ससृष्टिरिति प्रियसङ्कुराभावादिति भावः । अर्थात्तरति दुःखसहिष्णुत्वेन  
रामस्य वाच्यस्यैवान्वयविवेकमिति भावः । सङ्कर इति पूर्वोक्तात् ततिरस्कृतवाच्यम्या सहेत्यर्थः ।  
तयोदीपकत्वादिति तद्वचनम् (तद्वचने १) विप्रलम्भ इति भावः । रामोऽस्मीत्यनेनेवेति, रामपदलक्षणे  
विप्रलम्भव्यञ्जनापि रामपदस्य सङ्कारित्वादिति भावः । सोता विना न जीविष्यामीति  
सङ्कारितामूलकमुपन्यास वाच्यः । प्राधान्यमैव ध्वनित्वप्रयोजकत्वं बोध्यम् इति ।

(१) स्वावधोरणं निषेधः । स च व्यभिचारिभावः । तथाच वृत्तौ रसपदम् भास्वात्तत्वं  
रूपेण व्यभिचारिभावस्य विप्रलम्भस्य महावाक्यवद्वाच्यस्य केवलरसपदवद्वाच्यत्वाभावात्  
रामपदस्य वाच्यवैक्यत्वेन व्यञ्जकत्वमस्तीति न ह्येति । सत्त्वदुःखसहिष्णुरामोऽप्यन्यदप्यु-  
दाहार्यं विप्रलम्भव्यञ्जनाया प्राधान्यात् प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन रामपदस्यैव  
वाच्यत्वोपगमे तु रसपदं मुख्यमपि सम्भवतीति ध्येयम् ।

## पञ्चम उच्छासः

एवं ध्वनौ निगन्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(६६) (A) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम् ।

सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काव्याक्षितमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥

व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

कामिनीकुचकलसवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया  
वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढमित्यादि । सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यञ्चेति द्वयम् । व्यङ्ग्य-  
मेवमिति । इत्यष्टविधं व्यङ्ग्यम्, एव सति तत्सम्बन्धाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यचक्रावस्थायापि  
भिदा भेदा अष्टौ इत्यर्थः । तत्र अगूढस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यमुपपादयति—कामिनीति ।  
'गूढ' विद्वद्भिरुच्यम् ।

(A) अगूढमिति । व्यङ्ग्यमिति द्वितीयलोकस्य प्रथमपदं प्रथमलोकस्थप्रथमान्तं  
सम्बन्धते । तथाच अगूढं व्यङ्ग्यम्, अगूढं व्यङ्ग्यमित्यसिद्धयं । 'व्यङ्ग्य' अगूढत्वादिना प्रकाशेन  
गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं ज्ञातौ भेदा इति समुदाचार्यः । प्रत्येकं पदानि तु व्याख्यातानि प्रदीपे—अगूढम्  
असङ्गपर्यैव वैचम्, चादृश वाच्यायमानतया न तथा चमत्करोति यथा कामिनीकुचकलसवद्  
गूढम् । 'अपरस्य' रसादे स्ववैरपेक्षेण सङ्घसिद्धेः, 'गूढम्' उपकारकम् । वाच्यसिद्धयङ्गं वाच्यव्य-  
सिद्धिरेव यदपीना सत् । अस्तुतः सहृदयानामपि तु सम्बन्धम् । सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये  
इति सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यञ्चेति द्वयम् । काव्याक्षितं यथा काव्या विना वाक्यार्थ एव  
जातमानं लभते तथा प्रकाशयन्, काव्या ह्येनोपनिबन्धमिति वा । अगूढं वाच्यापेक्षया अवाह ।  
वाच्यापेक्षया अचमत्करककारित्वेन व्यङ्ग्यस्य गुणीभावः, तत्र स्वतः स्वाह्वयत्वेन अगूढत्वादि-  
विशेषणसप्तकेन वा इति ।



अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-

सूचीव्यव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।

काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेव सोऽस्मि

जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि<sup>(A)</sup> ॥११३॥

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमिनवान्वयस्य ।

(१) यस्यासुहृदिति शत्रुनेत्या जीवता रूपस्य स्वाभ्युदयवैशेष्यं केनाप्यु द्विजमानस्य त प्रत्युत्तिरियम् । असुहृदा कृता तिरस्कृति तिरस्कार, सा यस्य मम कथयित्व तन्मूचोनामित्र व्यव्यतिकरेण युनक्ति असुहृन्मृततिरस्कार'यान्ता अपि यस्य मम कर्णदुस्तहा आसीदित्यर्थं, एव सोऽह काञ्चीगुणग्रथनभाजनम् अस्मि भालादिप्रत्यकोऽस्मीत्यर्थः । अत्र सम्प्रति जायन् न भवामि किं स्वाभ्युदयवैशेष्य-मारहामि कर्णौमित्यर्थः । चक्रवर्ती तु—मया कृततिरस्कृति असुहृन् यस्य मम शरणा गत सन् तप्तसूचीवा व्यव्यतिकरेण स्वकर्णौ युनक्ति शरणागताना पाञ्चास्याना-मोदशरणाद्वारादिति व्याख्येते तत्र, तादृशान्यरुहारास्य अदृश्यान् तादृशयतिकरस्य सुतरामभाराद्य । अत्रेति, अत्रोक्त उक्त्यसम्भवात् जीवन्निति एव प्रवृत्तौतिपर मित्यर्थः । अर्पन्तिवेति, नम्राहास्यान् मृनपायन्यरूपस्य तद्वच्चक्षुष्यागुह धमिति शेषः, जायन् न भवामीत्युक्ते मृनपायन्यस्य सज्जनवैयत्यात् ।

(A) यन्वेति । कीचककृतपरामत्र निवेदन्तीं शीपनीं प्रति वृद्धबलास्पत्यार्जुनम्वोक्ति-रित्यमिति उगमापसकारा । अर्जुनस्य वृद्धबलादशाया स्वाभ्युदयाय किमिति न चेहते इति केनापि पूज्य वाक्यमिति त्वुदोतकारा । यन्म मम अगूढं शत्रु कृत्तिरस्कृति सहज-शत्रुत्वादेव कृतमद्विषयकृत्वाक्यप्रयोगं सन् कृत्य पाप्मरया धृतराजवरणस्य मम समीपमागत्य कर्णौ स्वीयश्रवणे तप्तसूचीव्यव्यतिकरेण युनक्ति स्वहस्तेनैव तप्तसूचीभिर्भिनत्तीत्यर्थः, कर्णवीजश्रवणे कर्णवीजनिश्रावभोग्यण्डस्वैव युगस्वादिति भावः । एतन्न वक्तुं साधराद्य एव स्वविषयकत्वं सम्मुखमागतस्य स्वहस्तेन दण्डादृगात् प्रमात्रातिशयस्य गम्यते । ॥ एषोऽहं शत्रुणा काञ्चीगुणग्रथनभाजनमस्मि, एतेन कर्णकर्णान्तमनितस्काराऽपि प्रतीयते । प्रयत्नपदं प्रत्युत्तिरियं इति च द्वयोर्मिच्छा पञ्जिताद् ग्रथनानार्थिन्यत्र । अन्यत् उगमम् । व्याख्यान्तरमुद्रोनादौ ग्रन्थम् ।

(1) शर्णी दुर्गभावापि' ख ।

का'पद—२८

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा  
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।  
एतच्चकास्ति च रवेर्नवयन्धुजीव-  
पुष्पच्छदाममुदपाचलचुम्बि यिम्बम् ॥ ११४ ॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रासीत् रुणिपाशचन्दनविधिः शक्त्या भवद्देवरं

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।

दिध्यैरिन्द्रजिदघ्न लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापिनः

केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठादवी(४) ॥११५॥

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । “तस्याप्यत्र” इति  
युक्तः पाठः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणाधिक्यद्वयस्यापि भगूढत्वमाह—उन्निद्रैति । प्रातर्मानिनी  
प्रति उदीपकप्रदर्शनमिदम् । कोकनदमत्र रक्तपत्रम् । एतद् रवेर्बिम्बं चकास्तीत्यन्वयः ।  
अत्रेति, वक्रसंयोगात्मकचुम्बनस्य रविबिम्बे बाधात् स्पर्शमात्रे चुम्बिभ्यदस्य अत्यन्त-  
तिरस्कृतवाच्यलक्षणा । चुम्बनयदुदीपकत्वं तद्वच्चङ्ग्यं सर्वजनवेद्यम् । अत्यन्तैति,  
एतद्वच्चङ्ग्यस्येत्यर्थः, भगूढत्वमिति तच्छेपः । अर्थशक्त्युद्भवस्याप्यगूढत्वमाह—  
अत्रासीदिति । पुष्पकेण गमने सौतां रणस्थलं दर्शयतो रामस्योक्ति-  
रियम् । विधिपर्यन्तानुधावनं बन्धनमोतस्यापि सूचनार्थम् । भवद्देवर इति  
सम्बन्धप्रदर्शनमनुरागोन्पादनाय । द्रोणाद्रिं गन्धमाध्वन । दिध्यैर्लक्ष्मणशरैः इन्द्र-  
जिदघ्नं लोकान्तरं प्रापित इत्यन्वयः । शयणां कर्तृताप्रदर्शनं लक्ष्मणस्य सत्रं  
भवद्देवासुवनार्थम् । राक्षसपते रावणस्य । अत्रेति, अनुरणनरूपस्य मयेत्यस्य  
भगूढत्वमिति शेषः । केनापीत्यनेन कर्तृप्रदर्शने कृते कर्तृन्तरवायेन मयेत्यस्य  
सर्वजनवेद्यत्वात्, कर्तृप्रदर्शनाभावे तु भवत्येव मयेत्यस्य गूढत्वमित्यभिप्रायेणाह—  
तस्याप्यत्रेति । युक्त एतद्वेत्तया प्रशस्त इत्यर्थः । तद्वगूढत्व एव ध्वनिर्वं  
नायकस्य धीरोदात्तत्वात्तत्तिष्ठेति भावः ।

(४) छोवेऽस्मिन् प्रतिवाक्यम् अत्रेति पद्मोपादानं प्रत्येकमेवाद्वैतत्वं न्यननीति प्रदीपे स्पष्टम् ।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थोभूतस्य अङ्गं (A) रसादि  
अनुरणनरूपं वा ।

यथा—

अयं स रसनोत्कर्षो पीनस्तनविभर्दनः ।

नाभ्युज्जघनस्पर्शो नीवीचित्रंसनः करः ॥ ११६ ॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

(२) अपरस्याङ्गमिति व्याख्ये—अपरस्येति । रसादेर्द्वं रसादि वाक्यार्थो-  
भूतस्याङ्गान्तु अनुरणनरूपमिति ययासदृश्यं बोध्यम् । वाक्यस्येत्युक्तौ ध्वार्थस्यैवा-  
द्वित्य स्यादत उभयसंघातण्यार्थं वाक्यार्थोति । उदाहरिष्यति च ययासद्व्यामि-  
प्रायेणैव । चक्रवर्ती तु—प्राप्त्यार्थोभूतस्याप्यङ्ग रसादिकम् । अन्यथा—

तद्विदमरण्यं यत्र दशरथवचनानुपालनम्यसनी ।

निचरन् बाहुमहायन्त्रकार रत्न क्षय राम ॥

इत्युदात्तालङ्कारोदाहरणतया दशमाह्लासे यद्व्यपद्ये तत्र 'न बाध धीरा रस' इत्याशङ्क्य—  
'तस्येह भङ्गस्या'दिति समाधानेन वाक्यार्थोभूतस्यारण्यविवरणस्याङ्गत्वेन धीररस-  
प्रदर्शनं प्रत्यहताऽनुपपन्न स्यादिति व्याख्ये । तत्र, तस्य भङ्गत्वाप्रदर्शनेन तदङ्गघटित-  
स्योदात्तालङ्कारस्यैव प्रत्यहता दर्शितत्वात् न त्वपराङ्मुखस्य, 'महताञ्जोपलक्षण'मिति  
तद्वृत्तये हि 'उपलक्षणम् भङ्गभाज' इति व्याख्यास्यति, भङ्गभाजश्च तत्र परस्परया  
धीररसोत्कर्षमादेन रामस्य प्रकर्षो रामसम्बन्धाधारण्यमहत्वमिति, अपराङ्गत्वात् साक्षा-  
दङ्गत्वेवेति । अयं स इति । भूरिध्वस्त समरपतित हस्तमालोभ्य तत्पल्लवा  
रोदनोक्तिरियम् । अत्रेति, 'शृङ्गार करुणस्य' भङ्गमित्यर्थः । रसनोत्कर्षणादि-  
भङ्गश्च शृङ्गारो ह्यत्र धमन्कारी करुणस्य प्रकर्षक तन्मावे करुणपुष्ट्यभावात्, पूर्वानु-  
भूतमुखसमिधरतिस्मरणेन पतिमरणे करुण'प्रकर्षान् । अङ्गनिर्वाहकाङ्गस्य न  
भङ्गवपेक्षया धमन्काराधिक्याभावात् नापराङ्गत्वम् यथा 'ज्ञाने कोपपटाद्मुखी'-  
त्यादौ भङ्गानिर्वाहकाङ्गस्य शृङ्गारस्य । न चात्र शृङ्गारोऽपि निराकाङ्क्षयाप्यव्यङ्ग्य

(A) अत्र 'निष्पन्नस्य रसस्यापराङ्गत्वाभावाद् रसपदेनात्र स्थायिभावो द्रव्य' इति  
प्रदीपः ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक-  
 व्यक्तिः पादनखद्युतिगिरिमुखः सा वः सदा त्रायताम् ।  
 स्पर्धाबन्ध'समिद्धयेव सुदृढं रुढा यया नेत्रयोः  
 कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥ ११७ ॥

अत्र भावस्य रसः ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्नथाऽभोधय-  
 स्तानेतानपि चिन्ननी किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।

एवेति कथं तस्य कठणाद्वृत्त्यमिति वाच्यम्, कृतालम्बनरुत्वेन तस्य तदानीं (A) रसत्वा-  
 प्राप्त्या कठणाद्वृत्त्यादेव ।

इदानीं भावमाङ्गिन कृत्या रसादीनां सर्वेषां तद्वृत्त्व प्रदर्शयितुम् भावाङ्गं रसमाह—  
 कैलासेति । मानिष्या पार्वत्या महेशेन पादप्रणामे कृते कोपपगमात् तत्रेता-  
 दण्यनाशुषर्षामिति । कैलासालयां महेश प्रणामकाले तद्वृत्तलोचनस्य आग्नेयस्य  
 उज्योतिर्मयत्वेन अरुणस्य रुचा निर्वर्त्तिता निष्पादिता 'अलक्तकस्य व्यक्तिः' प्रकाशां  
 यस्यां ताडणी गिरिमुख पार्वत्या सा पादनखद्युति वां गुप्ताद् शायताम् । सा  
 का इत्याह—स्पष्टंति, यया पादनखद्युत्या पार्वत्या नेत्रयो रुढा जातर शोण-  
 त्वात् कोकनदानुकारेण रक्तान्पलसादभ्येन सरसा कान्ति सद्यः समुत्सार्यते  
 पादपतनेन कोपाधीनस्य नेत्रादण्यस्य नाशात् । अवेत्प्रेक्ष्यते स्पष्टंति, पादनखद्युति-  
 रहमरुणा कथमन्याऽपि द्युति अरुण्य भास्वामित्येव स्पर्धाबन्धेन समिद्धया दीप्त-  
 येय । अत्रेति, त्रायतामिति विरुकाद्वृत्त्याभ्येन व्यङ्ग्यस्यापि न पार्वतीविय-  
 भावस्येत्यर्थः । 'रस' महेश्वरद्वार अङ्गमित्यर्थः । स व निर्वर्त्तितालक्तकव्यक्ति-  
 रित्यन्तसाकाङ्क्षावाक्यलभ्येन पादपतनेन व्यङ्ग्यम् ।

भावस्याङ्ग भावमाह—अत्युच्चा इति । अभ्योधय इत्यत्रापि परितः स्फुरन्ती-  
 त्यन्वयः । न क्लान्ताऽसीत्यत्र हे पृथिवीति सम्बोधनमूढम् । स्तुतिमित्यत्र च

(A) अत्र रसत्वाप्राप्तैस्त्वेषावनेव पादो युक्ततया प्रतिमाति 'कथं तस्य कठणाद्वृत्त्व'मिति  
 प्रश्ने 'रसत्वाप्राप्त्या कठणाद्वृत्त्यादेव' इत्युत्तरत्वासोबन्तत्वाविति ध्येयम् ।

आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-  
स्तावद्विभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ११८ ॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

वन्दीकृत्य रूप द्विपां मृगदशस्ताः पश्यतां प्रेयसां  
मिथ्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।  
अस्माकं मुहुर्नैर्दशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारां निषे  
विध्वस्ता विषदोऽखिलास्तदिनि तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूपसे ॥ ११९ ॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धयोस्त्यौ ।

सनमस्कारामिष्यम्, तदेव 'स्तुतिमिति' इति शारेण 'नम' इत्यन्तस्य परामर्श-  
सम्भवात्\*१। प्रस्तौमि करोमि। तावदिमां भुवं विभ्रन् तत्र भुज स्मृत, ततो  
वाचो मुद्रिता इत्यन्वयः । विभ्रदित्यत्र श्लेषगान् 'पालने धारणाभ्यासाविद्युक्तम् ।  
अत्रेति उभयत्र 'रतिभावस्य कथनं स्वल्पकथनमात्रम्, भागान्तरसप्ततयभावेन  
अप्यारसं कृत्वात् ।

भासस्याद्दे रसाभासभावाभासावह—वन्दीकृत्येति । हे मृग, तव द्विपां  
मृगदश पक्षी वन्दीकृत्य ते तत्र सैनिका तां पश्यतस्तन्प्रेयसां मनादृत्य  
तां निदधन्तीत्यादि । अत्रादरे पक्षी । लान्ति शुक्लन्ति । ते प्रत्यर्थिभिस्तु  
त्य स्तूपसे । स्तुत्याकारमाह—अस्माकमिति । 'मुहुर्नैर्दशेऽपि भवाद्यैर्परोत्पेन  
मुहुर्नैरित्यादिस्तुति' १० । आपन्निरसकत्वेन सम्बोधयति—भौक्षियेति । तन् तस्मात्  
अखिला विपदा निध्वस्ता । अत्रेति 'परोत्तामिष्यत्वाद् रसाभास, शत्रुविषय' बाह्य  
भावाभास । अनयोराख्यातान्तविराकादुक्त्या न्यव्यङ्ग्यत्वेऽपि रात्रस्तुतिपदस्य सापकारत्वेन  
अस्वात्म्यादङ्गत्वेन ।

१ 'तु' नम इत्याका (का १) नमस्कारम्वेरीकृत्येति स्तुतिमिति शारेण इतिपदेन स्तुतिपरामर्शकत्वादि  
नमस्कारपरामर्शसम्भवात्' छ । २ 'चोच' क । ३ 'रतिभावमेव कथन' क । ४ 'मुहुर्नैरित्यादिप्रतिपत्तेनायोक्तम्'  
छ । ५ 'परोत्तामपुत्रविधौ विध्वस्तात्' छ ।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

ददशे तव वैरिणां मदः स गतः कापि तवेक्षणे क्षणात्<sup>(A)</sup> ॥ १२० ॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदशा मधुपानलीलां

कतुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।

अन्याभिधायि तव नाम विमो गृहीतं

केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥ १२१ ॥

अत्र त्रासोदयः ।

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः

क्षथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।

प्रमोदं वो दिश्यात् कपटबटुवेपापनयने

त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥

भाषाङ्ग भावप्रशममाह—अविरलेति । वर्यो भस्माभिः, तवेक्षणे त्वन्कर्मक-  
वर्शने सति न मदः क्षणात् कापि गत नष्ट इत्यर्थः । अत्रेति, अविरलेत्यादिशब्दस्य  
राजवैरिविषयकभावस्य नाशः, तन्मदनाशव्यङ्ग्यराजविषयवक्तृभावस्याङ्गमिरर्थः ।  
चक्रवर्ती तु—शत्रूणां मदनूपव्यभिचारिभावस्य नाशः यवाङ्गमित्याह तत्र ।  
मदस्य गमनाभावेन तन्नाशस्य कापि गत इत्यनेन लक्षणदेव गम्यत्वात् न तु प्रयत्नया  
न्यङ्गस्यैव ॥ शुणीभूतत्वेनोदाहर्च्यत्वात् ।

भाषाङ्ग भावोदयमाह—साकमिति । हे विमो, कुरङ्गकदशा सुहृद्भिरपि साकं  
सह तव वैरिणि मधुपानलीलां कतुं प्रवृत्ते सति, अन्यार्थकं तव नाम केनापि गृहीतं  
सत् तेषामेवस्या विषमां व्याकुलमेव विषयंस्ताम् अकरोदित्यर्थः । अत्रेति,  
पूर्वार्द्धे त्रासाप्रतीत्या तदनुवृत्त्यभावात् परार्द्धे 'तन्प्रतीत्या तदुदयः' \* । ॥ चात्र  
निष्कादत्तत्वात्प्राप्त्यङ्ग्याऽपि राजस्तुतित्वात् तद्विषयभावस्यैव पर्यवसायकः, तेन  
तद्विषयभावस्य भङ्गम् ।

भाषाङ्ग भावसन्धिमाह—असोढेति । तपस्यन्तीं पार्वतीं जटिलविप्ररूपेण

(A) अविरलेति । अन्ध एवम् द्वितीयादिषादयं छन्दोवृत्तेन निबद्धम्, प्रथमपादस्य  
वृत्तान्तरेणेति वचनातिवृत्तिमिदम् । 'अविशै करवालकम्पनै' इति पाठेऽपि छन्दोवृत्तमेवेति बोध्यम् ।

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

पदयेत् कथिचल चपल रे का त्वराद्धं कुमारी

हस्तालम्बं चितर ह ह हा व्युत्क्रमः कासि यासि(१) ।

कृत्यतो महेशस्य वर्णनमिदम् । कपटदृशेणापनयने युगपत् पक्ष्वा त्वराशीयित्वाभ्या-  
मभियुक्त स्मरहर य प्रमेदं दिश्यान् , तत्र त्वराहेतु प्रथमचरणार्थं , तत्काले  
उल्लसन् उद्गुह्यमान भ्रमहभाशो दु संहत्य अन्य तादृगन्ध तपस भ्रमांदा मोहमस्मर्य ,  
तत्र कृष्टमेव स्वरूपमदर्शयित्वा स्यानुपसंगमर्यान् । शैथिल्यहेतुर्हिनीयचरणार्थं ।  
विधम्नो विध्यास ।

भाराद् भग्नसकलत्वमाह—पदयेदिति । हे पृथ्वीपतिवृद्ध पृथ्वीप्रभो भरण्य-  
वृत्ते भराद्विद्धि कस्या (१)भक्त्याथे वन्यफलकिसलयान्यादाता अर्थान् आकर्षकामं

(१) पदयेदिति । अत्र पदयेत् कथिचलित्वास्तत्त्वात्पै प्रतिपाद्युत्पन्नं भूमिप्राय-  
व्यङ्ग्यं चेष्टाविशेषा उद्गीया तदनुमोनेव कुमारी उत्तरोत्तरवाक्यानि सङ्गच्छन्ते । तथाहि—  
पदयेत् कथिचलित्वा धूर्तोरैकान्तवाक्यानेऽनौचित्यमस्माच्चरया काङ्क्षा । शङ्कामचरणम्य प्रवृत्ते  
तस्मिन्नाह 'चल चपल रे' इति । चपल स्वच्छम्नाचरणाच्चङ्केत्यर्थं । अनेन शाश्वतविद्या  
शमूपा । चपल्येन सम्बोधनाद् बहुानुरागेन तेन प्रणयमाने व्यञ्जिते आह—का त्वरेति,  
अत्र मनोरपसिद्धेष्टदयम्भाविनया छति । अहेतुकविह्वलतासिद्धिपुनरा पुन प्रवृत्ते तस्मिन्नाह  
अह कुमारीनि , अत्र कुमारी मम मेव स्वातन्त्र्यमुचितमिति स्थिति । पूर्ववाक्येण तस्य  
प्रत्यदुसुखप्रणयानोद्यममालोक्याह—हस्तालम्बं चितरेति । ईदृशप्रार्थना आत्मजनन्यैरेति  
अत्र भ्रम । हस्तालम्बनेऽपि कृत विशेष दृष्टा पुनराह 'ह ह हा व्युत्क्रमः' इति । तत्र प्रथमे  
दैव्य रूपम् , द्वितीये तु विद्यादात परमेव ईदृशम्बालम्बनस्य धुनतया प्रागेव सतकरणे क्रमोद्धृतम-  
मिति विशेष । अर्नौचित्याह्वयता हन्तं परित्यज्यैवापमरणि तस्मिन्नाह कासि यासीति ।  
अत्रौत्सुक्यं स्पष्टम् । कुमारीणामोदरतो भावस्त्वन्नमवता कान्तिमनेनापि वर्जित । तथाच  
शङ्कच्छन्ते—

अन्योन्येकमे महनि दधितप्रार्थनासु प्रतीया

कादृशन्दयोऽपि व्यतिकरसुत कातरा स्वाह्वाने ।

आशाम्भन्ते न सन्तु मदनेनैव लब्धान्तरत्वा-

टाकधन्ते मनमित्रमपि शिषकाला कुमारी ॥ इति । उपार्द्धमत्य उगमम् ।

(२) भक्त्याथेति भक्त्याथेति । निम्नलपानां चरने उद्योग इति बोध्यम् ।

इत्थं पृथ्वीपरिवृद्धं भवद्विदिपोऽप्यवृत्तेः

कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिषत्ते ॥ १२३ ॥

अत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैव्य-(A)विबोधौस्तु कन्यानां सवलता ।

एते च रसवदाचलङ्काराः । यद्यपि भावोदय-भावसन्धि-भाव-सवलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् द्रूयादित्येव-मुक्तम् ।

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्नमेदादिभिः सह सङ्गरः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती'ति कचित्त्वेनचिद् व्यवहारः ।

कश्चिदित्यम् अभिषत्ते, कन्या च तत्रैव जातमाया बोध्या । किमभिषत्ते इत्याह—  
पप्येदिति । तत्र पप्येदित्यत्र शङ्क्य व्यङ्ग्या, चल वपल रे इत्यत्र असूया, का त्वरा इत्यत्र धृति, भद्र कुमारीत्यत्र कौमार्यस्मरणरूपा स्मृति, हस्तालम्बमित्यत्र धर्म, ह ह हा इत्यत्र दैव्यम्, व्युत्क्रम इत्यत्र पतादगोक्तिर्ममानुविता इत्येयरूपा मतिरेवात्र विबोध । कासि यासीत्यत्र औत्सुक्यं व्यङ्ग्यम् । तत्र च भ्रमापेक्षया दैव्यं विहाय सर्वमुत्तरोत्तरं बलवत् । त्वमित्यर्थे असीति भ्रम्यम् । 'एषां सवलता च राज'-प्रयोजनत्वाद् राजप्रियमाश्रयप्रकार्यकाङ्क्षम् । एते चेति, ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्त इति धत् (पृ १४) प्रागुक्तम् तद्विदं दर्शितम् ।

ननु सर्वत्रैव अपराद्गेऽङ्गिण रसादिकमादाय कथं न ध्वनिव्यवहार इत्यत आह—यद्यपीति । प्राप्य स नास्तीत्यर्थः, शुद्धध्वनौ सङ्कृतसङ्घट्टमायात् । 'स्वप्नमेदादिमि'रित्यादिपदान् स्वप्नमेदव्यस्येव ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यरूपपरममेदयो-रपि सङ्करो बोध्यः । समाधत्ते—तथाऽपीति । 'प्रधानेन' 'वमन्काराधिक्यरूपः' प्राधान्यवता, न तु निराकाङ्क्षत्वावयवङ्गधत्तया प्रधानेनेत्यर्थः, तदा अपराद्गेऽपि अङ्गिणस्तथात्वात् ध्वनिव्यवहारपत्तेः । एवञ्च द्वयोस्तुल्यव्यवहारित्वे निराकाङ्क्ष-

(A) विबोध इति । अत्र विबोध 'धीतिमार्गातुल्यत्वादेरर्पनिर्वाण मतिरित्युल्लङ्घन-मतिरूप, 'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः' इत्युल्लङ्घनविबोधस्तु अनिद्रिताया कन्याया न सम्भवतीति विभावनीयम् ।

१ 'प्राधान्येन' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः । २. 'एषां व्याख्यां यत्ने व्यापितप्रयुक्तराज' च ।  
३ 'वमन्कारकलापोन' क ।



जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्वितधिया  
धचो वैदेहीति प्रतिपदमुदञ्च प्रलपितम् ।

कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीपुष्टना

मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुना न त्वधिगता (A) ॥ १२४ ॥

वास्यव्यङ्ग्यत्वे वा भङ्गाद्भिभासत्वे तत्सम्बन्धस्तवसत्त्वे सस्पष्टि, भङ्गिभासस्य चम्पु-  
कारित्वे तु शुद्धयनि, <sup>१</sup> भङ्गिभासस्य चम्पुकारित्वे तु अपराङ्गमिति विषयविभाग ।

इत्थ रसाद् रसाविरमुदाहृत्य वाक्यार्थस्याङ्गेऽनुरणनरूपे उदाहर्तव्ये वाच्यालङ्कार  
स्याद् शब्दशक्तिमूलमनुरणनरूपमलङ्कारमाह—जनस्थान इति । वदित्त्योक्तिरियम् ।  
तुल्यशब्दवाच्यतारूपसाधर्म्यान् मया रामस्य प्राप्त राम इवाह ज्ञात इत्यर्थ । तुल्यशब्द-  
वाच्यत्वरूप साधर्म्यमाह—जनस्थान इति । कनकमयमृगतृष्णया प्राप्तीच्छया  
अन्वितधिया रामेण जनस्थाननाम्नि दण्डकारण्यैकदेशे भ्रान्त मया तु जनाना स्थाने  
कनकरूपया मृगमृगया मरीचिकया अन्वितधिया भ्रान्तम्, (B) कनके मृगमृगारूपणञ्च

(A) जनेति । व्याख्यातमिदमुपघोतकारै—कस्यचिद् राजसेवानिर्विण्णस्य कवेरुक्ति । मया  
रामत्वं रामधर्मं, तन् प्राप्तम्, कुशल परिणामसंसप्तम् उद्देगदितसन्निवृण वा बहु धर्म यस्य तद्वाच  
कुशलवचना सैव कुशलवो छौ यस्या इति व्युत्पत्त्या सीता सा तु बाधियता । रामत्वं कथं प्राप्त  
तदाह—कनकमय मृगो मार्गणं प्रार्थना वा तत्र या मृग्या कनके वा वा मृगमृग्या निष्कलाऽऽशा सैव  
कनकमृगो मारीचे मृग्या तया अन्विता धीर्यस्य साहच्येन सवेत्यर्थ । यद्वा अन्वितधिया करण-  
(भूत)या जनानां स्थाने ग्रामग्रामादौ भ्रमणमेव दण्डकारण्ये भ्रमणम्, तन् कृतम् । चै निश्चयेन  
वैदेहीति वचनमेव वैदेहीति सीतामन्त्रोपनयनम्, तन् प्रतिपदं प्रतिन्यासम् उद्देगनभ्रुपत्र तद्  
पथा भवति तया प्रलपितम् । भर्तुं अरण्यस्तुर्धनिकस्य परिपाटीषु सेवारचनाद्य भ्रमत्यर्थ का  
ष्टना न कृता वद । अथवा कामर्तुं कुलमितभर्तुं वदनपरिपाटीषु मिथ्याभाषणप्रकोषु  
ष्टना उपरति, वदनपरिपाटीषु मुन्निविज्जनादिषु तदासयाद्युत्तयनाथं वदना उदायो वा, स एव  
कृतामर्तुं रावणस्य वदनपरिपाट्या (मुप)वदनस्याभियुष्टना अलमत्यर्थं कृतेति रत्नोप-  
स्थापितानामभेदोपाद रामत्वोपपत्तिरिति ।

(B) रामतर्कवशीशस्तु—‘नेवितु’इत्यनेन कनकइत्यादिमाधर्म्यादित्यन्तं ग्रन्थमुदृत्य तत्र  
‘तत्र, स्वरूपमत कनकस्य बुद्धिीकरणासम्भवात् तन्प्राप्तीच्छया लक्षणाऽवश्यमङ्गीकार्या,

१ यत् पर ऋषिपतेः/‘भङ्गस्य तु तत् तद्भङ्गिभासिवावकल्पना वक्ष्ये’कनकावन्’ इत्यादिशेषो ह्यनेन ।

अत्र 'शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

दुष्पाप<sup>१</sup>जलार्थिनो मृगतृष्णायामिव दुष्पापे कनकेऽपि प्रवृत्तेऽप्यष्टाप्रवृत्तिविरयत्वं साधय्यान्<sup>२</sup> । रामेण प्रतिपदं पदे पदे<sup>३</sup> उदय्यु यथा स्यात् तथा वेदेहीति यव<sup>४</sup> प्रलपितम्, मया तु वे इत्यनेन सम्बोध्य कातर्यादुदय्यु यथा स्यात् तथा देहीति यव<sup>४</sup> प्रतिपदं प्रतिस्थाने प्रलपितम् । रामेण लङ्घनमर्तुं रावणस्य यदनानां मुक्तानां परिपाद्यां पदनीं परिपादननिमित्तं वा इषुघटना<sup>(A)</sup> कृता, मया तु मर्तुं प्रमो परिपाद्रीषु परिचर्यानिमित्तं का घटना अलम् अन्यर्थं न कृता तदु यव<sup>४</sup>; कुजालं वारिघ्यापनायक<sup>॥</sup> धन यस्य तथाता मया तु नाधिगता, रामेण तु कुजाल्यौ सुनी यस्या मा सीता प्राप्तेव इति तु शब्दलभ्योऽर्थः । अत्रेति । 'उपमानोपमेयभाव' उपमा, रामत्व-प्राप्तिव्यवस्था, 'वाच्याङ्गता' 'वाच्यस्य व्यतिरेकालङ्कारस्य'<sup>५</sup> (B) अङ्गतां प्रकर्षकताम् कविना नीत इत्यर्थः । व्यतिरेकालङ्कारोऽत्र भ्यासकुजाल्यमुनाकस्य उपमेयस्य दृष्टिस्य प्राप्तकुजाल्यमुनाकान् रामादुपमानाद्वाधिषयरूपो नञ् वाच्य, आधिक्यञ्च प्रतिपाद्यस्य विषादस्याधिक्यात्<sup>(C)</sup> । उपमानोपमेयभाव इत्युपलक्षणम्, रामरूपकमपि

पृथक् तत्र निरुक्तमाधर्मासम्भवादु कनकासङ्गते<sup>६</sup> इति दूषणमाह । अत्र सत्यम्मत व्याख्यानन्तु— 'कनकस्य मृगतृष्णात्म्यामन्वेकप्राप्तीच्छाभ्यामन्यतपिरे<sup>७</sup> इति ।

(A) लङ्घनमर्तुं रावणस्य यदवपरिप्राप्तिनी कण्ठच्छेदिनी इषुघटना इति कर्मधारयोऽपि सम्भवतीति बोध्यम् ।

(B) अत्र दर्पणकता — 'अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यववनेऽपि शब्दशक्तिरेव रामत्वमवगम्यते, वरनेन तु सादृश्येनोक्ततादात्म्यारोपणमाविष्कृतं लदगोपनमपाकृतम्; तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतया अङ्गतां नीत' इति वदन्ति ।

प्रदीपकारास्तु—वाच्याङ्गत्वात् शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमस्य गुणीभावे श्लोकमिममुदाहृत्य 'अत्र पात्रत्रयप्रोत्थाऽपि रामेण सहोपमा 'मयाऽऽप्त रामत्वमित्यनेन वाच्यतां नीता, तदङ्गं च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो द्वितीयोऽर्थः' इत्युपपादयन्ति ।

(C) विषादस्याधिक्यादिनि । 'उपमानाच्च नताज्यवे<sup>८</sup>त्युक्तता दर्पणकतां मते तु तत्र उपमेयस्य दृष्टिस्य प्राप्तकुजाल्यमुनाकाद्वा रामादुपमानादुपमेयस्य नञोपवा द्वितीयो व्यतिरेकभेद सातु सङ्गच्छते इति बोध्यम् ।

१ 'शब्दशक्तिमूलोऽङ्ग' इति पाठान्तरम् । २ 'विंश कनके च दुष्पापकलमनविपय-  
कपपादय्यान्' इति । ३ 'न पर च-पुष्पे' इत्यनेन स्थाने 'व्यापिके' इत्यनेन । ४ 'वाच्यस्य कुजाल्यमुनाकादाया  
प्राप्ततां रामादितिरेकवचनं च न दारय' इति ।

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्टुलाङ्गी-  
मम्मोजिनीं कचिदपि क्षपितत्रियामः ।

एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते

तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः<sup>(A)</sup> ॥ १२५ ॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरवि-  
कमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

सादृश बाध्यम् । यद्यपि उपमानोपमेयमात्रा न्यतिरेकात्पदद्वारादरीरनिर्वाहक एव  
तथाऽपि बहुश्लेषनिर्वाहक सति यैचित्र्याधिकात् प्रकृत्याऽपीत्यवधेयम् ।

<sup>1</sup> अर्थगतुष्यत्यमनुरणनरूपमलङ्कारमपि वाच्याङ्गमाह<sup>1</sup>—आगत्येति । प्रातः-  
मोनिनीं प्रति नायकस्थाचिरियम् । इतन्वङ्गि, सहस्ररश्मिं सूर्य सम्प्रति आगत्य  
एतामम्मोजिनीं पादेन रश्मिना पतनेन प्रभाते शनैः प्रसादयति एतत् पश्य ।  
कीदृश ? कचिदपि द्वीपान्तो क्षपितराविक । मम्मोजिनीं कीदृशीम् ? सूर्य  
त्रियागन विसंष्टुलाङ्गीं व्याकुलाङ्गीम्, अङ्गमत्र पुष्पमेव । (B) अत्रेति, नायकव्यञ्ज  
परश्लेष नायिकानायकवृत्तान्त इत्यर्थः । स च कचिदपि नायिकागृहे क्षपितराविका  
नायक प्रातरागत्य त्रियागविसंष्टुलाङ्गीं नायिका पादपतनेन शनैः प्रसादयतीत्यत्र  
रूप । वस्तुरूप इति । <sup>2</sup> समासाच्चिरूपस्याप्यस्य वस्तुत्वानपादाक्षिप्युत्तम् ।

(A) आगत्येति । अत्रोक्त बाधश्लेषेन्याम्—‘विनैवानुनयमपगतप्राना नायिका मज्ज्या  
उपाहन्वत । तथाहि—सहस्ररश्मिरित्यनेन बहुनायिकावस्त्व ध्वन्यत । अम्मोजिनीमित्यनेन  
वर्णनाया परिणीतत्वम्, कचिदपि इत्यनेन उपनायिकागृह एवनि निब्रजामात्र, तत्रापि वामत्रयमेव  
न त्वधिकमिति । एवञ्च ईदृशोऽपि ईदृशीं स्वयमवागत्य पादपतनेनानुनयति, ईदृशो हि कामिनो  
व्यवहारः, पुनर्वदुत्तरकालं परनायिकासने धृत विनैवानुनयं मार्गं त्यक्त्वा प्रमत्ताऽनीत्यु-  
पाहन्म । एवञ्च नायकनायिकावृत्तान्तकथनमेवाक्षिप्यतम् । स च वृत्तान्तो ज्येष्ठमनो  
वाच्य इविकमलिनीवृत्तान्तोऽभिन्नतया चारोप्यमाणस्तस्य प्रकृत्यार्थता सम्पादयन् तदुत्कर्षमाधत्त  
इत्यङ्गनयेवास्त । अयमेव समासोक्त्यलङ्कार इत्युद्गोतात्रो स्पष्टम् इति ।

(B) अत्र प्रदीपकाराणांमुक्तान्वप्रकारस्तु—‘अत्रार्थशक्तिमूले नायकनायिकावृत्तान्ता

१ अत्रशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्यमप्रस्तुतमलङ्कारद्वारा वाक्यार्थोभूतवृत्तान्तोऽङ्गमाह च । २ अत्र  
वस्तुत्वद्वारादीर्भदक्षनानुपयोगादलङ्कारश्लेषे वस्तुत्वानपादान् समासोक्त्यालङ्काररूप इत्याद्य अत्रतदक्षरमेव  
प्रज्ञानस्य व्यङ्ग्यस्य समासोक्तिनात् च ।

वाच्यसिद्धयङ्गं यथा—

अग्निमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।

मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसन्नं कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२६॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

अवस्तुरूप इत्येवम् अकारप्रत्यये वा<sup>१</sup> । निरपेक्षेति नायकवृत्तान्तरूपव्यङ्ग्यनिरपेक्षे-  
त्यर्थः । तदन्वयं विनैव वाच्य-रविक्रमलिनीवृत्तान्तप्रतीतिः । मनेन व्यङ्ग्यप्रतीतिसापेक्ष-  
वाच्यप्रतीतिर्वक्ष्यमाणवाच्यसिद्धयङ्गाद्वच्यत्वेन । इति । अध्यारोपेणेति रवि-  
कमलिनीवृत्तान्त एव नायक इत्येवमप्यारोपेण स्थित इत्यर्थः । रविक्रमलिनीवृत्ता-  
न्तस्य मानिन्यां प्रदर्शनानुपयोगेन नायकवृत्तान्तारोपेणैव तदुपयुक्तारूपं प्रकृतं  
इत्यतोऽङ्गमित्यर्थः । अगूढे वाच्यतुल्यचमत्कारित्वेन अपराङ्गे तु स्वचमत्कारस्य  
परार्थतया वाच्यादनविशयो बोध्यः ।

(३) वाच्यसिद्धयङ्गमाह—वाच्यसिद्धीति । 'अपगत' प्रतीतस्य वाच्यार्थस्य  
प्रतिसन्धीपमानानुपपत्तिनिरासकं व्यङ्ग्यं वाच्यसिद्धयङ्गम्<sup>१</sup> । अग्निमिति । अ-  
कारकत्वेन म्यामत्वेन च जलदं यद्य भुजग, तज्जन्यं प्राकरणिकं जलमत्र विषम्,  
'विषमप्लुतं च' इत्यमरकोषात् । तच्च जलं वियोगिनीनां म्रम्याद्यष्टकं करोतीत्यर्थः  
धुष्टिजलस्य वियोगादीपकत्वात् । प्रलयं नष्टचेष्टात् । तमं चक्षुषि तिमिरम् ।  
अन्धेति (A), अनेकार्थस्य विषयान्तरस्य प्रकरणेन जले वाचकत्वे विषयमनात् हालाहलं

वाच्यरविक्रमलिनीवृत्तान्तारोपेण तदङ्गतयैव स्थितः, समासेर्वा 'उपोदरागेण विलोभ'  
इत्यादौ सर्वत्र प्रतीयमानायापेक्षकृतवाच्यन्यैव प्राधान्यात् । अयं च पादपरत्वेनेति छिद्राव-  
सङ्गावेषां न 'शब्दशक्तिमूलत्वेन व्यपदेश्य किन्त्वर्थशक्तिमूलत्वेन, प्राधान्येन व्यपदेश्य इति  
व्यापारः । तद्व्यतिरेकेणापि नायकभाविकावृत्तान्तमप्यसम्भवाच्च । न चोपनाऽत्र व्यङ्ग्या  
'इहास्यं काकः' इत्यादिवरं कृतमाभावात् । अथ वाच्यसिद्धयङ्गत्वम्, रविक्रमलिनीवृत्तान्तस्यै-  
व निरपेक्षत्वेनैव सिद्धे' इति ।

(A) अत्र प्रदीपकाराणां वाच्यसिद्धयङ्गत्वोपपादनप्रकारस्तु—अत्र हालाहलरूपो विषयाद्रायो  
व्यङ्ग्यः, जलेऽभिधानियमनात्, स च जलदभुजगोति रूपकस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोति, अन्वयो-  
पमानान्द्वैतसम्भवात् इति । तथा चन्द्रिकाकारा अपि—अत्र अपङ्कटत्वेन व्यङ्ग्यं हालाहलं जलद-  
भुजगोति रूपकस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्, अन्वया जलदस्य भुजगत्वाद्योगेन भुजग इव जलदं

१. 'अथ न निवाच्यवचोपलब्धं नास्मत्त्वं पञ्चादनुपपन्नत्वादे वादशानुपपत्तिनिरासकं अत्रत्येव म्यात्र  
तद वाच्यविद्वांसम्, वादमन्त्रज्ञानं वाच्यमपि तत्रास्मत्त्वं च ।

**यथा वा—**

गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिस्त्यजते  
किं त्वेवं विजनस्थपोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।

व्यङ्ग्यमेव, तच्च आपातत प्रतीयमानस्यापि जलदे भुजगरूपणस्य वाच्यस्य प्रति-  
सन्धीयमानानुपपत्तिनिरासहत् । तथाहि 'प्रकरणिकतया त्रिशब्दाव्यङ्ग्ये  
भुजगज-प्रत्यवाधेन भुजगरूपणस्य वाच्यस्य प्रतिसन्धीयमानानुपपत्ति', जले हलाहल-  
रूपणेन व्यङ्ग्येन तु तदनुपपत्तिनिरासनात् तत्सिद्धि (६), हलाहलस्य भुजगजन्य-  
त्वेनानुपपत्त्यभावात् । न च 'विद्वन्मानसइवे'त्यत्र यथा मनसि मानसतरोवररूपं  
राशि हनरूपणसिद्धिरुत्त्वेन परम्परितरूपक तद्वदत्रापि जले हलाहलरूपणस्य भुजा-  
रूपणसिद्धिकारित्वेन परम्परितरूपकत्वं स्यादिति वाच्य तथोपायभूतरूपकस्यापि  
प्रकरणिकत्वेन वाच्यत्वम्, अत्र तु व्याकरणिकत्वात् व्यङ्ग्यत्वमिति मेदात्\* ।

उशहरणान्तरप्रदर्शनबीजं स्वयमेव प्रदर्शयिष्यन्नाह—यथा वेति । गच्छामीति ।

इति पूर्वपदार्थप्रधानोपमितसमासाप्रवर्णेनोपमालङ्कारपक्षे , व्यङ्ग्याभिप्रेतत्वेनाध्यवसिते तु अलङ्कारोपपत्तेरुक्तपदार्थप्रधानत्वमल्पकसिद्धिः ' इति वदन्ति ।

(A) तत्सिद्धिरिति वाच्यसिद्धयुक्तत्वसिद्धिस्त्यर्थः ।

[illegible]

इत्यामन्त्रणमङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्

आश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु यः ॥ १२७ ॥

अत्राऽच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य । एतच्चैकत्र  
एकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः ।

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता

नादृष्टेन न दृष्टेन (१. भवता लभ्यते सुखम् ॥ १२८ ॥

इत्यामन्त्रणशक्तस्य पूर्वार्द्धस्य मङ्गिषा व्यङ्ग्यार्थेन सूचितो यो वृथाऽवस्थान-  
खेद तेन भलमां गोपीमाश्लिष्यन् अत एव पुलकोत्कराञ्चिततनु हरिः यः पातु ।  
पूर्वार्द्धस्य वाच्यार्थस्तु हे भव्युतनामक भट्ट गच्छामि, भवतो दर्शनेन किं कृतिरुत्पद्यते ?  
नैव, अपि तु स्वगार्हस्थ्यावित्तोऽर्थैव, प्रत्युत रिज्जनस्वयंराधया अन्यथैव हतजनो  
दुर्गन्त सम्भावपतीत्येव रूपः । अत्र च यावद् व्यङ्ग्यार्थो न प्रतिसन्धीयते तावत्  
इत्यामन्त्रणेत्यादिवान्शार्थं प्रतीयमानोऽपि प्रतिसन्धानम् अनुपपन्नमानतयैव भासते,  
व्यङ्ग्यार्थरूपा भङ्गिस्तु प्रतीता तदनुपपत्तिनिरासहत् । न च व्यङ्ग्यार्थो यथा—हे  
भव्युत मद्विधनायिकादर्शनेऽपि धैर्यच्युतिरहित, भवतो दर्शनेन किं कृतिरुत्पद्यते ?  
नैव, अपि तु उपभोगेनैव ; उपभोगे सति तु दुर्जन्तनामन्यथा सम्भावनाऽपि न  
दुःखाय, विदग्धजनस्य सम्भावना तु सुखायेत्येवं रूपः । उदाहरणान्तर्ग्रहणबीज-  
माह—एतच्चेति । 'एकत्र' भ्रमिमरतिमित्यत्र, तत्र हि वाच्यव्यङ्ग्ययोरैकं करिर्वक्ता,  
'तदुक्तत्वेन' तत्सम्बन्धित्वेन, 'अदृष्ट' गच्छामीत्यत्र, तत्र हि वाच्यार्थस्य वक्ता  
कविः, व्यङ्ग्यार्थस्य तु वक्ता गोपीति 'वाच्यमिदं दृष्टे' वाच्यसाधकत्वेन परार्थतया  
वाच्यादनतिशयो बोध्यः<sup>१</sup> ।

(४) अस्फुटमिति विदग्धैरपि क्लेशगम्यत्वं तत्त्वम् । अदृष्ट इति । अत्र भवता  
सुखमेव न लभ्यते इत्येव व्यङ्ग्यमक्लेशगम्यम्, दर्शनेन तु विरहितं व्यङ्ग्यं विदग्धैरपि  
क्लेशगम्यमेव । दृष्टं निरुद्धमिति पुस्तकभेदेन पाठविकल्पः, क्लेशगम्यमित्येव न सर्व-

(A) भवता इति हेनौ तृतीयेति उदाहरणवन्दिशकारादयः ।

१ 'वाच्यविदाश्च वाच्यार्थं विद्वज्जनैः भाववशाभावात्, परमुक्तनिराचकत्वेन वाचादनतिशयिल  
बीजम्' इति ।

अत्राऽदृष्टो यथा न भवसि वियोगमयं च यथा नोत्पद्यते तथा  
कुर्या इति ह्रिष्टम् ।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तघैर्षश्चन्द्रोदपारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुते विम्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१२९॥

अत्र परिवृम्पितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचन-  
व्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

स्यार्थः । 'विवर्तकव्यस्यास्फुटारवगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च अस्फुटव्यङ्ग्यत्वाविशेषेऽपि  
चित्रे स्फुटालङ्कारवत्तम्, अस्फुटे तु गुणीभूतव्यङ्ग्ये न तथेति भेदः । न च तर्हि  
चित्रं कथं गुणीभूतरूपादितोऽधमं प्रागुक्तं सङ्गच्छते इति वाच्यम्, अप्रास्फुटस्यापि  
व्यङ्ग्यस्य घमम्काराधिक्यम्, चित्रे तु स्फुटालङ्कारवशादेव व्यङ्ग्यस्य घमम्कारतिरो-  
धानादधमत्यमिन्यभिप्रायात्' \* ह्येवमप्यत्वादेवात्र वाच्याद्वनतिशयो बोध्यः ।

(४) सन्दिग्धेति । प्राधान्यमत्र रसादिव्यङ्ग्यत्वेन । तथाच प्रतीतस्य रसादेर्भङ्गक-  
त्वं किं वाच्यं व्यङ्ग्यं वेति औत्तरकालिकसन्देहविषयस्य तत्त्वम् । हरस्त्विति । कुमार-  
सम्भवे आकालिके घसन्ते जाते सर्वपापेश कामभारोदुगमे हरम्यापि किञ्चित् 'तथाव-  
धर्षणमिवम् । चन्द्रोदयस्य आरम्भे उत्पत्तिदशायां । अत्रेति, महेश्वरद्वार-  
व्यङ्ग्यत्वात् प्रधानम् । न च द्वयमेव तद्व्यङ्ग्यत्वात् प्रधानमित्यतस्तन्व्यप्राधान्यमेव  
अस्तित्वेति वाच्यम्, घैर्षपरिवृत्ते किञ्चित्त्वेन युग्मेच्छापयन्तायास्तस्या निश्चेतु-  
मशक्यत्वात्, दर्शनादेव विरतिमग्भावात्' \* । तथाच व्यङ्ग्यमशयाधीन एव तत्-  
प्राधान्यसंगत इति बोध्यम् । अत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोर्द्वयोरपि प्राधान्यस्य संशयित्वाद्  
व्याप्यत्वव्यतिरेकः १ ।

१. 'स्फुटव्यङ्ग्यस्य चित्रे तु स्फुटालङ्कारवत्तदिति भेदः । तर्हि कथमित्येवमिति चेत् तत्र  
तथेति न चित्रेन घमम्कारवत्तत्वं तु न, अस्फुटव्यङ्ग्यमिति रोचितत्वादेवोक्तमिति चेत् । २. अथमत्र च पुच्छे  
नस्ति । न पुच्छस्तु च न सन्दिग्धम् । ३. अत्र पर क-पुच्छे 'प्राधान्यं निश्चितेऽपि तत्प्राधान्यस्य  
संशयित्वादेव' इत्यादिपक्षो दृश्यते ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये

'जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्त्रियाणामिव रक्षसां क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

काकाक्षिप्तं यथा—

ममामि कौरवशतं समरे न कौपाद्

दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।

(६) तुल्यप्राधान्यमिति । अत्रापि रसादिव्यङ्ग्यतयैव प्राधान्यम् । ब्राह्मणोऽप्यादि । द्विविधये परशुरामं जिगीषुं शवणं प्रति तस्मात्सज्जनकं मन्त्रिवाक्यमित्रम् (A) । भवतामेव भूतये, न तु स्वार्थं प्रवीचीत्यर्थः । तथेति ब्राह्मण इत्यर्थः । मित्रञ्चेति बाधोऽत्र बोध्यः । व्यङ्ग्येति प्रतिक्रम इत्यर्थः । दुर्मनायते इति भविष्यत्सामीप्ये वर्तमाना । अत्रेति, "वाच्यस्य" मित्रब्राह्मण्यदोर्मनस्यस्य । समं प्राधान्यमिति द्वयोःपि असंशयितत्वेन त्वात्सरूपमिवादिमाद्यभ्यङ्गने द्वयोः साम्यात्, शपपापोत्पादकत्वेन हि वाच्यात् त्वात्, दर्शितव्यद्वयानु साक्षात् त्वात् ; "स च व्यङ्ग्यनया सामाजिक-बोध्यः"० । अत्र प्राधान्यसाम्यादेव वाच्याव्यतिशयः ।

(७) काकोति । आक्षिप्तत्वं 'सहसा बोधत्वम् । तथाच शब्दबोधतः प्रागेव पदार्थविधया 'उपस्थितिः । मथ्नामीति । सहदेव प्रति सन्धिकरणासहिष्णो-

(A) ब्राह्मणेति । महावीर्यवति द्वितीयेऽङ्गे शवणमुद्दिश्य परशुरामप्रेषितपत्रम्व्यतया पत्रमिदमुपलभ्यते, अतो द्विविधस्य इत्यादिकं टीकाकृद्वाक्यं साहित्यदर्पणीकापामप्येतत्प्रमाणार्थकं रामचरणार्कवागीशवाक्यञ्च सन्दिग्धप्रामाण्यकमिति मन्तव्यम् । अत्र श्लोके 'भवतामेव न तु ब्राह्मणानाम्, जामदग्नो जीवति तेषामनिष्टस्यासम्भवादिति भावः । भवतामेवेति बहुवचनेन सङ्गतस्यमाऽऽद्येव । अन्यथा ब्राह्मणातिग्रस्तत्वात्प्रागे तथा सादृशं जन्मच प्रवृत्ति सकलरहस्य-वेदीत्यर्थः (एतेन सत्यामपकारेच्छायां तत्समाधने प्रयासापेक्षं मान्सीति सूच्यते) इत्युदाहरण-चन्द्रिकायां विशेषः । 'दुर्मनायते इति गम्भीरोक्ता चमत्कारित्वात् विषयवत् सन्धेरपि विवक्षितत्वाच्च' इति प्रदीपः ।

१. 'जामदग्न्यस्य बो' इति पठ्यत्वम् । २. 'आद्यं जनकित्याऽकार्यतो निषण्णनीयमिति हि नौति, साहचर्यकसेवेवात्र चमत्कारः, चासङ्गुल्यङ्गमेव मित्रब्राह्मणातिक्रम्येवापीति प्राधान्यपरदृष्ट्या' च । ३. चयमयः स-पुच्छे भाषि । ४. 'सह बोधत्वम्' ख । ५. 'उपस्थान्यर्थविशेषः' ख ।



संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु

सन्धिं करोतु भवतां वृषतिः पणेन ॥ १३१ ॥

अत्र मध्नाभ्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडंगुडीणसउणिकोलाहल सुणतीए ।

परक्कम्मवावहाए यहुए सीअन्ति अंगाई ॥ १३२ ॥

अत्र दत्तसद्देतः कश्चिद्विज्ञानागहनं मविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ।

भीमस्योक्तिरियम् । मध्नामीत्यादौ सर्वत्र भविष्यन्सामीप्ये वर्त्तमाना, मधिष्यामीत्यादयोऽपि । उरस्त इत्यात् । सुयोधन इति दुर्बोधनस्य भवर नाम । भवतां वृषतिरित्यनेन स्वानभीष्टसन्धिकरणान् स्वल्पतित्वाभावमुक्तम् । अत्र कृतकौरव शतवधार्द्रितिवृत्तस्य भीमस्य न मधिष्यामीत्युक्तिर्बाधितार्था, अतोऽत्र शिरश्चालन सहकृता काकु प्रतीयते, तथा च 'न न मधिष्यामीत्यादिरीत्या अपरनमर्थं व्यञ्जितम् । तथाच नमर्थद्वयेन एवकारार्थं धर्मवस्यतीत्याह—अत्रेति । मध्नाभ्येवेत्यादीति मध्नाभ्येवेत्यादौकेदेश एकनमर्थं एव व्यङ्ग्यो वाच्य', एकनमर्थस्य वाच्यत्वेन नमर्थवार्थात्मकत्वं एवकारार्थस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात् । अत्र 'व्यङ्ग्यस्यापि नमर्थस्य वाच्यनमर्थसहभावेनैव उपस्थित्या' \* शाब्दबोधजननाद् वाच्यतुल्यत्वेन वाच्याद्वनतिशयो बोध्य ।

(=) असुन्दरमिति । इत्यादिबोधजनने 'वाच्यसाधेन' यद्वाच्यं तत्तम् । अत एवास्य वाच्यमुपनिषेधकत्वेन वाच्याद्वनतिशयो बोध्य । एतदुदाहरणं प्राप्तत्वेन मित्याद्येव वर्तितम् । सौलभ्यात् तत्तुल्यमन्वदाह—वाणीरेति ।

वाणीरकुडङ्गुडीणसउणिकोलाहलं शृण्वन्त्या ।

गुडकमयापृताया बध्वा सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति सस्मृतम् ।

अत्रेति । इति व्यङ्ग्यादित्यत्र इत्यादिव्यङ्ग्यादित्यर्थः । तथाच 'बधूश्च तत्र न गता' इत्येतत्पर्यन्ताद् व्यङ्ग्यादित्यर्थः । अयं भावः—बध्वा अगमनमात्रं न

१. 'वाच्येन नमर्थेन च वाच्यमङ्गानपर्वणापि शाब्दबोधेन शाब्दबोधितेन' म । \* वाच्यं वाच्यवाच्येन च

(६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

यथायोगमिति—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽऽलङ्कृतयस्तदा ।

ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्<sup>(A)</sup> ॥

( ध्वन्यालोक, उद्योत २, श्लोक ३०, )

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणोभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

तदीयस्मिन्मध्यञ्जकम् अगमनस्य तस्या अकार्यन्यायेन गृहकर्मसमापनानन्तरं जिगमिषयाऽपि वा सम्भवात्, किन्तु शत्रुनिकोलाहलशरणेन सीद्दश्रया श्रया अगमनमेव तद्व्यञ्जकमिति वाच्याद्भावसादमहकारेणैव रमयञ्जने वाच्यमुखनिरिरीक्षकत्वात् अस्मात्तत्वेन वाच्यन्यूनचमत्कारीनि । वाच्य उक्तहेतुकोऽङ्गानसावन्तु उक्तव्यङ्ग्यनिरपेक्ष एव रमयञ्जक इति सोऽधिकचमत्कारी, गङ्गानिकोलाहलस्योद्दीपकत्वेन तदर्पिताद्भावसादस्यैव व्यङ्ग्यनिरपेक्षस्य यथोक्तव्यङ्ग्य विहाऽपि स्मिन्मध्यञ्जकत्वात् ।

एवमिति उक्ताष्टविधव्यङ्ग्यज्ञानमित्यर्थः । 'मेता' प्रमेता । पूर्ववदिति, ध्वन्यर्थेण लक्षणादिमूलकत्वादिभेदेन एकपञ्चागादिध्वन्यम्, तथा एवमपि प्रत्येकमैकपञ्चागादिध्वनेन अष्टाधिकयन्तु गतव्यन्यवमिरत्यर्थः । तत्रैव कश्चिद् भेदो गुणोभूतो न सम्भवतीत्याह—यथायोगमिति, यथासम्भवंमित्यर्थः । असांभवत्फलं दर्शयति—व्यज्यन्ते इति । 'व्यङ्ग्यङ्गता' काव्यस्य ध्वनित्वनिर्वाहकता । 'काव्यवृत्ते' तादृशकाव्यवृत्ते । 'तत्रध्वन्यात्' ध्वनित्वाश्रयणात् । ननु किमत्र बीजमिति चेत् काव्यस्य चमत्कारस्तावन् व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यत्वेन अलङ्कृतित्वेन च, तत्र व्यङ्ग्यत्वेन चमत्कारस्य अगूढत्वादिसा गुणीभावेऽपि अलङ्कृतित्वेन चमत्कारस्य अगुणीभाव एवेति बीजम्<sup>(B)</sup> । न चैव गङ्गाजला अलङ्कारेण वा

(A) 'काव्यस्य कविज्वापास्य वृत्तिस्वभावाया अलङ्कारप्रवणा' इत्यमित्रगुप्ताचार्याः ।

(B) अत्र प्रदीपकता—ननु यत्तदलङ्कारपेक्षया वस्तुमात्रस्य चातिशयनिधमस्तदा कथमलङ्कारेण वस्तुमात्रव्यङ्ग्ये ध्वनित्वमिति चेदुच्यते—स एवार्थो वाच्य सन् न तथा चमत्कारोति यथा व्यङ्ग्यतामापन्न इत्यनुभवमिदम्, अतो वाच्यता अपकर्षहेतुर्व्यङ्ग्यता चोत्कर्षायेति स्थितम् । एवमलङ्कारेण वस्तुमात्रं व्यङ्ग्यं तत्रालङ्कारस्य वाच्यत्वेन विधिद्वयकाराद् वस्तुमात्रस्य च व्यङ्ग्यत्वेन विधिवत्कर्षाद् व्यङ्ग्यत्वं एव ध्वनित्वम्, यत्र तु वस्तुनालङ्कारो व्यङ्ग्यते वस्तु-

(६८) (A) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्कारैः ।

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः । तदुक्तं ध्वनिकृता—

स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।

सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्घोतते बहुधा ॥ इति

( ध्वन्यालोक उद्घात ३ श्लोक ४४ )

व्यङ्ग्यस्यलङ्कारस्यापि तथात्वेन वस्तुमात्रेणेति भावपदेन कथं 'व्यङ्ग्यका लङ्कारव्यवच्छेद इति' वाच्यं तत्र व्यङ्ग्येन शब्दलोभालङ्कारणं वाच्यायां लङ्कारेण च काव्यस्य समन्वितत्वात् 'व्यङ्ग्यलङ्कारस्य वाच्यतुल्यवस्तुत्वमिति प्रयोजकत्वेन 'वाच्याइति शयाद् गुणीभावात्' ।

सालङ्कारैरिति 'तैः' 'गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदैः, 'सालङ्कार' धकारात् निरलङ्कारैश्च 'ध्वने' मङ्कुटादिबहुविधे 'पात' इत्यर्थः । तेषां सालङ्कारणां प्रभेदवृद्धिप्रदर्शनाय सालङ्कारैरित्युक्तम् । सालङ्कारता च स्फुटालङ्कारवत्ता, तेन निरलङ्कारताऽस्फुटालङ्कारवत्तय, अलङ्कारमात्रभावे सालङ्कारत्यधदितकाश्च लक्षणावुपपत्तेः । स्फुटालङ्कारवत्त्वमपि अस्फुटप्रत्यय ( गद्य ? ) प्रभेदविहायैव बोध्यम् तस्य स्फुटालङ्कारवत्त्वे विवक्षावत्त्वापत्तेः । अयमेव हि चित्रास्फुटयोर्मैव प्राग् दर्शितः\* । अलङ्कारयुक्तैरिति, इयं 'सालङ्कार' इत्यस्य व्याख्या । अलङ्कारैरिति तु अर्थवशमप्यव्याख्यातम्, अपराङ्गस्य रसनदायकत्वात्, स गुणीति । स ध्वनि स्वैः प्रभेदैः गुणीभूतव्यङ्ग्यैश्च सह-अर्थः ।

लङ्कारयोर्वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वाभ्यामभिप्रायेणैवोक्तकर्त्तव्यमिति कुला गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वावकाशः । इदं चित्पदं, एवं चाहत्वाभावेनित्यत्र गुणीभूतत्वं वा भूत्, अगूढत्वादिति वचनं तु तस्मिन् को वाविति ।

(A) अन्य प्रदीपकारकृतं व्याख्यानं तु 'सालङ्कारैरिति विभिन्नार्थैरुपनानाशब्दैश्च यथा एकत्रालङ्कारपदस्य भावप्रधानत्वात् । (अयमभावे एकत्रैवे अलङ्कारपदस्य लङ्कारवत्त्वमिति अलङ्कार एवेति सालङ्कारपदमेव अलङ्कारं बाधयति इत्येकत्र, अन्यत्र सालङ्कारपदं अलङ्कारसहितार्थमिति सारूप्याभ्यामिति सूत्रेण एकत्रैव इति ) तथाच तैरेवालङ्कारैरलङ्कार

1 'वस्तुमात्रेणेति' च 'वस्तुमात्रेण' इति च । 2 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्यशब्देन । 3 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्यशब्देन । 4 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्यशब्देन । 5 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्यशब्देन । 6 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्यशब्देन ।

(६६) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्याऽतिभूयसी ॥४७॥

एवम् अनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम् ।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात् । तथा हि—किञ्चिद्वाच्यतासहं किञ्चित्त्वन्वया,<sup>(A)</sup> तत्र वाच्यतासह-मविचित्रं विचित्रं चेति । अविचित्रं वस्तुमात्रं विचित्रं त्वलङ्काररूपम् । यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथाऽपि ब्राह्मण-श्रमणन्यायेन तथोच्यते । रसादिलक्षणस्त्वर्थः त्वन्नेऽपि न वाच्यः । स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेत । न चाभिधीयते, तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे<sup>(B)</sup> तस्याप्रतिपत्तेः, तद-प्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्पन्वप्यतिरेकाभ्यां

सङ्कलनेन पुनरिति । गुणीभूतव्यङ्ग्यमपि न प्रथक्, किन्तु व्यङ्ग्यवत्काव्यमेव ध्वनिरिति सङ्कलनम् । त्रिरूपत्वादिति वाच्यतासहस्य वस्त्यलङ्काररूपत्वादु द्वैविध्यं वाच्यताऽसहस्त्वैकमिति त्रिरूपत्वम् । वाच्यतासहमिति, व्यङ्ग्यार्थोर्वस्त्वल-ङ्कारार्थोर्वाचकेन शब्देनापि तत्रैव काव्ये वक्तुं शक्यत्वात् । किञ्चित् अन्ययेति रसादिलक्षणस्यार्थस्य तत्काव्यस्थशब्देनाक्तौ तु रसादित्वमेव न तस्य सम्भरतीति स्वयमेव व्याख्यास्पति । यद्यपीत्यादेर्यं प्रागेव व्याख्यात । स हीति, 'रसादि-शब्देनेत्यत्र तत्काव्यस्थेनेति शेषः । 'तत्प्रयोगे' तत्काव्यमग्रे तत्प्रयोगे ।

सहितैश्च तैरित्यर्थः । तेन ध्वनिना गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यालङ्कारेण च ध्वनेर्योग इति पूर्वापराभ्या-मुक्तं भवति' इति ।

(A) अन्ययेति वाच्यतासहमित्यर्थः ।

(B) सत्याप्रतिपत्तेरिति । रसादिप्रयोगे त्वशब्दवाच्यतादोषोऽप्युद्घोषकारैरक्ष । तथाहि "भाषिणोऽन्यं च साहस्रे विषये दोषता वक्ष्यनीत्यपि बोध्यम् । एवं विभावादिनि-र्व्याङ्ग्यान् रसस्य क्वचित् त्मादिपदनानुवादे तु न दोषः ; यथा—शृङ्गारस्थोपनयनमुना राज्यमेकातपत्रमित्यादौ । यद्यपि वस्त्यलङ्कारयोरेव वस्त्यलङ्कारपदाभ्यामभिधानेऽपि न

विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयन् इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव, (१) मुख्यार्थवाधाद्यभावात् पुनर्लक्षणीयः ।

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणेन न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् । शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादे-  
रलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ।

तेनासौ व्यङ्ग्य एवेति, अनेन वाच्यतामात्रनिरासः साक्षात्कार्यत्वानु सिद्धान्तितमेवेति बोध्यम् । नन्वेवं रसाद्रिपविषयनियन्त्रितस्य व्यञ्जनावृत्तिरस्तु नान्य-  
विषयेत्यत आह—अर्थान्तरेति । प्राक् प्रतिपादितमिति, यस्य प्रतीतिमाधातु-  
मिन्पादिना अभिधा समयाभावादित्यादिना एवमप्यनरस्य स्वादित्यादिना चेत्यर्थः ।  
ननु तदाऽपि शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना नाद्रियतामित्यत आह—शब्दशक्तिमूले  
त्विति । अनभिधेयस्येति अभिधामात्रेण प्रतिपादयितुमशक्यस्येत्यर्थः, केवलाया  
अभिधाया प्रकरणादि<sup>१</sup> कुण्ठितत्वमिति भावः । व्यञ्जनासहकारेण अभिधायास्तु  
तदोद्वेगस्त्वमस्येति बोध्यम् । तेन सहेत्युपमाभ्यां बोध्यम्<sup>२</sup> । निर्विवादमिति  
<sup>३</sup> शक्तिमात्रज्ञ-परोधादस्य बोधस्य विलक्षणानुभवेन निर्विवादमित्यर्थः<sup>३</sup> । ननु

धमत्कारस्तथाऽपि पदमन्वयवहेन प्रतीतवन् धमत्कारस्त्वमस्येव । रसादीनां तु नैवह,  
विभावादिमुवेन प्रतीतानामेव धमत्कारित्वादिति भावः इति ।

(८) मुख्यार्थवाधाद्यभावादिति । अर्थमर्थ —आलोपसमाधानान्यमुपपादित उद्योतकारैः ।  
तथाहि “ननु यदी प्रवेशदेत्वादाविव तात्पर्यविषयानुपपत्त्या लक्षणाऽन्वितास्त्यत आह—आसीति ।  
अतानूपपत्तिपन्थापि समान् प्रत्ययात्, रसस्य स्वप्रकाशानन्दबन्धविशिष्टान्तरूपत्वेन तन्मिन्  
लक्षणे प्रयोक्तान्तरान्मन्त्रात्, विभावादिवाचकेषु पदेषु लक्षणादिपदवा प्रसिद्धभावेन लक्ष-  
सम्भवेन च न लभ्येति भावः । प्रयोगादिकं विना तु न लक्षणा, तस्या हेतुत्रयसापेक्षत्वं-  
नियमात् । तदन्तरेण भवन्ती वृत्तिस्तु व्यञ्जनैव, मात्वमर्थमात्रानु लक्षणेत्सुच्यते इति  
दिक्” इति ।

१ 'प्रतिशब्दादिति' छ । २, यद्यपि छ-पुस्तके नास्ति, य पुस्तकानु सन सप्तित् । ३ 'यद्यपि  
प्रत्ययार्थोपसौतेजकत्वसौकारो विधीयते' छ व्यङ्ग्यं निश्चित्यतरो विनादोऽप्येव, तथापि प्रतिशोधरोध-  
जनकस्य प्रतिशब्दाविषयकस्य वा समसौपेजकतासम्भवेन निष्पन्नप्रतिजनकारमिधमात्रजनकरोधादस्य  
वैलक्षण्यानुभवेन विनयकत्वात्साध्या विनयककारणजन्यत्वेन च व्यञ्जनावृत्तारण्यसिद्धिरिति मातृकानुसारेण  
निति भावः' छ ।

अर्थशक्तिमूले 'तु विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्य-  
रूपाणां पदार्थानामाकांक्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् परस्परसंसर्गो  
यत्रापदार्थोऽपि विशेषवपुर्वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे (A)का  
वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् । येऽप्याहुः—

तथाऽपि अर्थशक्तिमूला व्यङ्ग्यता नाद्रियता तदन्तिकमेव रन्तुमित्यादिबोधस्तु  
शक्त्यैवास्ताम्, न तु मानसस्तद्बोध आश्रान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन शाब्द-  
त्वान्, नापि लक्षणया तद्बोध, मुख्यार्थबोधाद्यभावात् । 'न च ध्रुतराष्ट्रस्य  
तत्र शक्तिग्रहकाभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, अगृहीतयेव शक्त्या  
तद्बोधस्य स्वीकार्यत्वात्' । न च तद्धि तत्र सादृश्यादस्य शक्तौ किं प्रमाणमिति  
वाच्यम्, लक्षणया अत्रन्य आश्रद्बोध शक्तिजन्य एवेति ध्यातरेव तत्र प्रमाणत्वावित्यत-  
स्तस्या ध्यातेर्गमिचारमात्रौ नैयायिकमते दर्शयति—अर्थशक्तिमूले स्थिति ।  
ननु शक्तिग्रहकालदृष्ट्यशक्तिविशेष एव शक्तिग्रह, तथाच शाब्दबोधविषये तद्विघ्नव्यत-  
न्तर एव अभिधारो दर्शयताम्, किं ससर्गं व्यभिचारप्रदर्शनेनैवेत्यतस्तत्रापि शक्ति-  
गृह्यत एवेत्यतो न व्यभिचार, किन्तु तदीयमसर्ग एव व्यभिचार इति दर्शयति—  
'विशेषे सङ्केत इति । 'विशेषे' शक्तिग्रहकालदृष्टमात्रशक्तिविशेषे । न युज्यते  
इति आनन्दव्यभिचारभ्रामिमिति भावः । 'सामान्यरूपाणां' सामान्यधर्मावच्छिन्ना-  
नाम्, तथाच सामान्यलक्षणयैव समस्तशक्तियु शक्तिग्रह इत्यभिप्रायः । "परस्पर-  
संसर्गो" इत्यत्र भाममानतया सैरभ्युपगत इति शेषः\* । 'यत्र' नैयायिकमते, 'अप-  
दार्थः" पदशक्त्य, 'विशेषवपु' ससर्गरूप, 'बान्धवाधे' बान्धवेनैव प्रतिपाद्य । तथाच  
अशक्त्ये तत्रैव तद्व्याप्तेर्गमिचारोऽनेन दर्शितः । 'का वार्त्ता' क प्रसङ्गः ।

(A) का वार्त्ता । विस्तारिताऽयमर्थः प्रदीपकारैः । तथाहि "अर्थशक्तिमूलेऽप्येवमङ्गी-  
कर्तव्यम्, यत् परेभ्यः प्रथम पदार्थमप्युच्यते, अथ पदार्थविशेषाणामन्वयविशेषरूपस्य वाक्यार्थस्य  
प्रत्ययः, ततो व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति गृहीतव्यतया कुतोऽभिधाय प्रसरणम्, द्वितीयवक्ष्यामेष  
तदनपेक्षया । अतोऽभिहितान्वयवादेऽस्य दृष्टान्तर आकाङ्क्षाविषयेन प्रतीयते, शब्दबुद्धि-  
कर्मणश्चिरम्य व्यापारमात्र इति च सर्वमिदम्" इति । व्याख्यात धीतुद्वयोते—"विशेषरूपस्य

(१) शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥ (A)

इत्थं नैयायिकमते तद्व्याप्तेर्यभिचार दर्शयित्वा ससृग्पदार्थशक्तिधादिनां मीमां-

सवान्वितकर्मत्वादिह्यस्य । तद्वत्पेक्षयादिति वाक्यार्थस्यापदार्थस्यैव रूपस्य अपूर्वत्वन  
अवधिरेतरे कथं व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमिति भाव । तदेवेतिपाठयति—इतोऽभिहितेति । एवं च  
अपूर्वत्वाद्वाक्यार्थ इव व्यङ्ग्यैरेव सद्रूपपक्षे न सम्भवतीति भाव । परमार्थस्तु “अर्थ  
भाव—यस्मिन् वाक्यार्थबोधविश्वीकृतवपि समर्थं वाक्योपस्थापनपरिशीलनशक्तिरभिधा नाच  
मासयतीति तदर्थं तावत्संबन्धितिरवलम्ब्यते, तन्मते वाक्यार्थबोरोत्तरकालिकाया व्यङ्ग्यरापत्त्येव  
नैवाभिधाप्रभाव इति किमु वक्तव्यम्’ इति बालघोषिन्याम् ।

(A) शब्दवृद्धति । कारिकाद्वयस्य आकरो ज्ञानाप्रयुक्तश्च, ह्यगम्यार्थं व्याख्यान्तराणि  
सुद्विष्यन्त । तत्र ‘अत्र कारिकाद्वये प्रतिवाच्यं वाच’ इत्यव्याहृत्यः । प्रत्यक्षपदमत्र कारण  
परम् । तथाच बाल ‘शब्दवृद्धाभिधेयाश्च शब्द रूपमात्रं देवदत्त सामानस्य’ इत्यान्विष्टास्य  
रूप, वृद्धौ प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धौ अभिधेयोऽर्थं गवाक्षयवाकिस्य, एतान् ‘प्रत्यक्षेण’ प्रत्यक्ष-  
हेतुना श्रोत्रादिना ‘अत्र’ व्युत्पत्तिकाले ‘पश्यति’ नास्तीति कथयतीत्यर्थः । तत्र श्रोत्रेण शब्दं  
चक्षुरा च वृद्धाभिधेयान् साध्यान् करोतीति भाव । एतत् प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धप्रयुज्यमान  
शब्दगवाक्षयवाकिसिद्धिवाणः प्रत्यक्षविषयवस्तुत्वम् । श्रोतुमिति, चकार प्रतिपन्नत्वमित्यनन्तरं  
योरपि । अनुमानपदमत्र कारणव्युत्पत्तम् । श्रोतु’ प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नत्व वाक्याभाभि  
ज्ञाप्य च (कर्म) अनुमानेन अनुमितिजन्यभूतया ‘वक्ष्या गवानवगमनिष्ठान्पदं हेतुना  
पश्यतीति सम्भवः । ‘पश्यति’ जानाति अनुमिनातीत्यर्थः । ‘इयम् एतच्छब्दोऽन्यैतदर्थं  
गोचरज्ञानवान् एतच्छब्दप्रवणानन्तरमेतदप्यगोचरवद्वान्त्वान् इत्यनुमानाकारः । चण्डेत्यत्रापि  
श्रोतुरित्यव्यान्वयो बोध्यः । अन्वयाऽनुपपत्तिरिति अन्वयाऽनुपपत्त्या अर्थापत्त्या इत्यभेदान्वयः ।  
अनन्तरं ‘इयातिमकः वाक्यत्वं वाच्यत्वं चति द्विविधः शक्ति मद्रूतापानात्मक वाक्यवाक्यात्मका  
सम्भवम् अन्वयाऽनुपपत्त्या ‘सामान्येन्यान्विवाक्ष्यप्रवणान् गवानवगमनिष्ठान्पदं एतद्वाक्यं  
नै इत्यर्थं वाक्यवाक्यकमावयवार्थं विना अनुपपन्नम् इत्यनुपपत्तिरपि (इत्यनुपपत्तिरपि)  
अर्थापत्त्या अर्थापत्त्यात्म्यप्रमाणेन (हेतुना) बोधनं जानीयान्त्वित् । अन्ये तु— इयातिमकाम्  
भाषा मूलस्य वाक्यस्य वाचकत्वम् विषयभूतवाक्यत्वं वाच्यत्वमत्र इयम् आत्मा स्वरूप स्यात्  
स्वगन्तुमिति पश्यवाचकत्वं इयम् आत्मा आत्मीय प्रतिपन्नानुमानावापत्तिरप्यप्रमाणत्रयाधिगतं  
च व्याप्यते । अनन्तरं च शिष्टमात्रम् उक्तरीत्या प्रत्यक्षानुमानावापत्तिरप्यप्रमाणत्रयाधिगतं  
‘सम्भवः’ सद्रूपेण अवरोधेन (आवापोद्वापाख्या वाशब्दस्य गौरवान् अथ विभक्ते कस्यत्वमिति  
रीत्या निरोधेन पदपदार्थनिष्ठत्वा) पदवाच्येति कारिकाद्वयार्थ इति बालवाचिनीकाराः ।

(२) अन्यथाऽनुपपत्त्या तु 'योधेच्छक्तिं दयात्मिकाम् ।

अर्थापत्त्याऽवबुध्यन्ते संयन्त्रं त्रिप्रमाणकम् ॥

सकलानामपि मते तद्व्याप्तेर्यमिचारं दर्शयितुं (A) शक्तिप्रत्यक्षप्रदर्शिकां परकीय-

शब्दवृत्तिं । प्रत्यक्षं कर्णपरम् । तत्र श्रोत्रेण शब्दं पश्यति साक्षात्-  
करोतीत्यर्थः । तथा चक्षुषा वृद्धैरभिनेयान् गतान्पनार्थं साक्षात्करोतीत्यर्थः । श्रोतु-  
प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नं कार्यनाशानवच्छेदं चेष्टाङ्कितरूपेणानुमानेन अवबुध्यतेत्यपेक्षेनान्वयः ।  
अन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं विना कार्यानुपपत्त्या, दयात्मिकां कार्यकारणवदृष्ट्या शक्तिं बोधेन  
ज्ञानीवादिष्यं । अर्थापत्त्या तदर्थसंयन्त्रं विना वाक्यस्य सङ्गानवगच्छवानुपपत्त्या सम्बन्ध-  
वाच्यवाचकभावस्वरूपम् अवबुध्यतेत्यर्थः सम्बन्धमात्रं हि तद्व्याप्तेर्यमिचारं बोध-  
स्यादित्यतिप्रसङ्ग इति भावः । त्रिप्रमाणकमिति, प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयमूलक-  
मित्यर्थः" इति प्रसङ्गः ।

"प्रतिपन्नं प्रतिपत्तिर्जनमिति वाच्यम् । अवबुध्यतेत्यभिनेयान्वयः । 'अनुमानेन चेष्टे'ति  
चेष्टारूपानुमितित्रयकज्ञानविषयेऽनुनेत्यर्थः । 'अन्यथाऽनुपपत्त्या' कारणं विना कार्यानु-  
पपत्त्येवमर्थः । 'बोधे' बोधनिष्ठव्याप्यनिरूपिणाम्, 'दयात्मिका' इयं कार्यं कारणं च आत्मा  
प्रतियोगी यस्यान्ता कारणस्वरूपां शक्तिं बुध्यतेत्यभिनेयान्वयः । बोधेदिति पठे ज्ञान-  
निरूपितमिति बोधो बोध्यः । 'संयन्त्रं' वाक्यवाचकभावस्वरूपम् । एवं शक्तिप्रत्यक्षप्रमाणक-  
माहुर्इत्यर्थः । अनुपपत्तिर्थापत्तिरेव" इत्युक्तम् ।

"शब्दं गान्धन्य इत्यादि पाठ्यं, वृद्धौ प्रयोज्यप्रयोजकौ, अभिनेयवाचकभावान्निरूप-  
संसारं । प्रत्यक्षेण तद्वैतुना चक्षुषा ग्रहणेन च । अत्र व्युत्पत्तिकारः । पश्यति जानति ।  
श्रोतुं प्रतिपन्नं ज्ञानवत्त्वम् । चेष्टया अङ्गक्रियया अनुमानेन अनुमितिरूपेण चेष्टया  
( चेष्टया १ ) हेतोरित्यर्थः । अथ पृथक्पृथक्चेष्टावर्तमानान्वयान् पृथक्पृथक्प्रवृत्तानामन्त-  
मेतत्प्रयोज्यचेष्टावर्तमानान्वयान् । एवम् प्रतिपन्नमित्यवच्छेदं योग्यः । श्रोतु-  
प्रतिपन्नमपि जानातीत्यर्थः । अन्यदेत्यादि, इयो वाक्यवाच्यार्थो आत्मा स्वरूपं यस्या  
( इति ) शक्तिविशेषम् आश्रयत्वेन शब्देषु निष्यत्वेन च शब्देषु कृते । अनुपपत्तिश्च शब्दार्थ-  
ज्ञानं वृत्तिं विना अनुपपन्नम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । सा च शक्तिः स्वाभाविकमप्यवबुध्य-  
( इत्यादि ) आत्मा । अर्थापत्त्या आत्मावच्छेदप्रदर्शनमहङ्गना, सा च आत्मवाच्यचित्ते गतिं गोप-  
शक्तिस्तद्विराप्रतिपत्तिरेव सति प्रतिपत्तिरूपम् । त्रिप्रमाणकं प्रत्यक्षमनुमानमर्थापत्तिरेव  
प्रमाणत्रयम्, अनुपपत्तिरपि अर्थापत्तिरेव । निश्चयानुमानानुपपत्तिरेव । तदनुपपत्तिरत-  
समर्थं च अप्रकृतवाच्योद्भासितमिति चक्षुर्वती । बालशोधिनीम् उद्धृतमिदम् ।

(A) अत्र एव क-पात्तरे 'प्रतिपत्तिरनुपपत्तिरेव संयन्त्रं सति शक्ति-



इति प्रतिपादितदिशा—

‘देवदत्त गामानय’ इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद् देशादेशान्तरं सास्त्रादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति ‘अनेनास्माद् वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः’ इति तच्चेष्टयाऽनुभाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापस्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्यन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते ।

कारिकासाह—येऽप्याहुः शब्दवृद्धेति (A) । येषु अन्यताभिधानयादिन भावुरिति वृत्ते भव्यः । शब्दवृद्धेति । गामानय इत्यादि शब्दः, गमाधानेता न्युत्पद्यो वृद्धः । गमाधानपनकपोऽर्थोऽस्मिन्नेयः, ‘प्रत्यक्षेण’ इन्द्रियेण, ‘पश्यति’ जानाति, शब्दस्यावाप्नुयत्वात् । चेष्टया अनुमानेन इत्यन्यथ, ज्ञायमानलिङ्गकरणत्वस्य तत्सिद्धान्तत्वात् । अन्ययेति, अस्मान् शब्दाहु अस्मिन्नर्थे अस्य प्रतिपन्नत्वम् अतयोरर्थशब्दयोः सम्बन्धं विना अनुपपन्नमित्येतरूपा अर्थापत्तिरस्य अन्यथाऽनुपपत्तिः । द्वयात्मिका मिति विरयतासम्बन्धेन द्वयोरर्थशब्दयोः आत्मा स्वरूप यस्य इति निग्रहेण तदुभयविषयमित्यर्थः, ईश्वरच्छान्मिक्रया अतिरिक्ताया वा शक्तिरुभयविषयत्वात् । अनेन अखण्डवाक्यतदर्थयोः प्रथमं शक्तिग्रहं दर्शयित्वा पश्चात् पदपदार्थयोः शक्तिग्रहं दर्शयति—अर्थापत्त्येति । अर्थापत्तिरत्र आज्ञापादापरूपा । बोधेन्द्रियत्र बालक कर्ताः बुद्धिर्भौतदिक । अत्रुद्यन्ते इत्यत्र बालका कर्तारः, बुद्धिर्वैयादिक आत्मानेपदी । ईश्वरव्याख्यानुसारिणी वृत्तिर्वोप्या । ‘अखण्डवाक्यवाक्यार्थयोः शक्तिग्रहनन्तरं पदपदार्थयोगः (B) शक्तिग्रहं आज्ञापादापेनेति कारिकात व्याचष्टे’\*

प्रहो न सख्यन्त्यन्तरे इति तन्मतेऽपि व्यक्त्यन्तरे तदीयममर्तो य तद्वासेर्वाभिचार इति दर्शयित्वा इत्यस्य, तथा—

(A) अत्र पर स्त पुस्तके ‘एतन्प्रदर्शनेन शक्तिग्रहकात्रे इष्टव्यविशिष्टेऽप्यत्र शक्तिप्रहो न तु व्यक्त्यन्तरे, तथाच तत्तद्व्यक्तिषु तदीयममर्तो य व्यभिचार इति दर्शयितुमेवान् प्रथमकः’ इत्यसौ दृश्यमानोऽपि ‘मीमांसकानामपि तद्व्यासेर्वाभिचार दर्शयितुम्’ इति टीकाभाषाया व्याख्यानरूपा केवचिन् हन्ता टिप्पणी तेलकयमादेन टीकायाप्रस्ताभाविनेति बुद्ध्या परित्यक्तः ।

(B) एवकार शक्तिग्रहानन्तरमित्यनन्तरं योजनीयः ।

१ ‘य एववाक्याभावे बोधेनाऽऽवापोदाहृतः प्रतिपन्न इति व्याचष्टे’ यः ।

(A) परतः 'चैत्र गामानय देवदत्त अश्वमानय देवदत्त गां नय'  
इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीति  
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति  
वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो  
गृह्यते<sup>१)</sup> इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थाः, न तु पदार्थानां  
वैशिष्ट्यम् ।

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन  
तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः

परत इति, (C) अथ तत्तत्पदपरिवृत्तिरूप आवापोद्वाप । 'अन्विनै' परस्परान्विते ।  
'अन्वितानां' 'तादृशप्रत्ये सम्बन्धानाम्'<sup>२)</sup>, आसत्तिमतां वा पदानाम् । 'वाक्यार्थ'  
वाक्यप्रतिपाद्य । 'न तु' इत्यनेन नैयायिकमतनिषेधः । इत्थं श्रीमांसकमतं दर्शयित्वा  
तत्रैव (D) अनुपपत्तिद्वयमुद्घात्य तत्रैकानुपपत्तेः शक्यपरिहारत्वेऽपि 'अन्यानुपपत्ति-  
रक्षयपरिहारित्याह—यद्यपीत्यादिना गोचर इत्यन्तेन । 'गृहीतजक्तिपदान् वाक्या-  
वभिन्नमेव (E) तादृशवाक्यान्तरमन्यत प्रथमानुपपत्त्युद्धार । निश्चीयन्ते इत्य-  
नन्तर (अतः) वाक्यभेदनिवन्धनो न दोष इति पुरणीकम् । द्वितीयानुपपत्तिमुद्घा-  
यति—पदार्थान्तरमात्रेणेति शक्तिग्रहकालहृष्टगत्यादिनैवेत्यर्थः, तथाच 'गगान्तरा-

(A) पाठ इत्यादिमन्मूर्धन्यव्याप्यं प्रदीपे स्फुटतरूपेण प्रतिपादितं, तदप्रामाण्यं  
विन्दुतिमया नोद्दिश्यते ।

(B) गृह्यत इति । गृहादृशानां पदानां लोकसंकाशवादिरूपेणार्थेन सह सङ्केतरूप सम्बन्धो  
गृह्यते इति निर्गलितार्थः ।

(C) अपमिति, चैत्र गामानयेत्यादिवाक्यसमुदाय आवापोद्वापप्रदर्शनाभ्यन्तरेण ।  
आवापे संशयः । उद्वापे व्यतिरेकः ।

(D) अत्र शक्तिप्रकालीनवाक्यप्रकृत्यावादिस्तुत्याद् वाक्यान्तरप्रकृत्यावादिपदार्थो-  
न्मियनुपपत्तिः प्रथमा, गृहीतशक्तिकवादिन्यक्तिभिन्नवाक्यपुम्यित्यनुपपत्तिर्द्वितीयेति अनुपपत्तिद्वय  
बोध्यम् ।

(E) वाक्यान्तरमिति स्वरचितेषामिष्टायेन, पदानीति मूलोक्तदेव यथाप्रतं सम्बन्धः,  
वाक्यभेदेऽपि पदाभेदस्योक्तोक्तैव तद्वैरोदरस्यावश्यकत्वात् ।

१ 'तादृशार्थ सम्बन्धानां' अ, 'तादृशार्थ सम्बन्धानां' न । २ 'द्वितीयानुप' एव न । ३ 'गृहीत  
शक्तिपदकान्' न । ४ 'गगान्तरावापदानयानुपपत्तिरिति' क ।

सङ्केतगोचरः, तथाऽपि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिपक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वाद् इत्यन्विताभिधान-  
वादिनः, तेषामपि मते 'सामान्यविशेषः पदार्थः सङ्केतविषय  
इत्यतिविशेषभूतो 'वाक्यान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव(१) ।  
(६) यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषव्युत्पत्त्यादौ  
विध्यादेश्चर्चा ।

न्यवधारानुपपत्तिरिति दर्शितम् । समाधत्ते—तथाऽपीति । विशेषन्यकावपि  
सामान्येन रूपेण शक्तिग्रहः । तथाच सामान्यव्यतिपक्तव्यव्यन्तराणामप्यन्यवधार  
इत्याह—सामान्यावच्छादित इति । अस्मादिति शक्तिग्रहकालोपलब्धशक्ति-  
रित्यर्थः । 'व्यतिपक्तानां' सामान्यावच्छिन्नप्रत्यक्षान्तराणाम् । 'तथाभूतत्वान्' शब्द  
बोधविषयत्वात् । अत्र विशेष इति साध्य पुरणोदयम् । इत्थं मीमांसकमतं दर्शयित्वा  
तन्मतेऽपि ध्यातेर्ग्यभिचारः दर्शयति—तेषामपीति । सामान्यविशेषः (८) शक्तिग्रह-  
कालदृष्टगतादिव्यक्तिरूपः । 'अतिविशेषः' द्वितीयावगता गवादि । अतिविशेष इति  
कचित् सम्मतेषु पाठः । वाक्यान्तर्गत इति वाक्यान्तरान्तर्गत इत्यर्थः ।  
वाक्यार्थान्तर्गता वाक्यार्थान्तरान्तर्गता वाक्यान्तरगत इति तु (या १) कचित् सम्मतेषु  
पाठः । 'यत्र' मते 'अर्थान्तरभूतस्य' प्रथमप्रतिपक्षव्यक्तिता मिश्रस्व, 'विध्यादे'

(१) भवाच्य पृथेति । तथाच उक्तनियमग्यभिचार इति भाष्यः ।

(६) ननु उक्तनियमः साक्षात्प्रवृत्तितो वाच्यः, तथाच वाक्यान्तरप्रतिपाद्य कालान्तर्वा-  
शाब्दबोधान्तरविषयो गवादि सङ्केतग्रहाविषयाऽपि सङ्केतग्रहविषयगवादिऽसंज्ञातीय एव, अतो न  
व्यभिचार इत्यत आह—यत्रति । अत्र पदार्थ इति सावधारणम्, अर्थान्तरभूतस्य वाच्यार्थो  
द्विपरीतस्यत्यर्थः, तथाच सङ्केतग्रहविषयस्य गवादिस्तत्संज्ञातीयतया च गवादिव्यव्यन्तरस्य शाब्द  
बोधविषयतया व्यभिचारसम्भवेऽपि निःशेषव्युत्पत्त्यादौ व्युत्पत्तिस्तदन्तिक्रमने वाच्यस्य शक्तिग्रहान्न  
निषेधस्य साक्षात्प्राभावेन व्यभिचारो दुर्वार इति भावः ।

(८) शक्तिग्रहेति, अत्र सामान्यत्व गोत्यादिना, विशेषत्व च तत्कालदृष्टत्वादिवेत्य-  
मिप्रायो बोध्यः ।

१ 'सामान्यविशेषः' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः । २ वाक्यार्थान्तरगत इति मुद्रितपुस्तके पाठः ।

३ 'प्रवृत्तितो' च ।

(A) अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये, पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विता-  
मिधाने, अन्विताविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव  
वाक्यार्थः ।

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते'

निवेद्यप्रतियोगिनस्तदन्तिकममवधिष्यादे । उभयमतेऽपि (B)'द्वितीयप्रतिपक्षव्यक्ति-  
संसारं एव'० व्यभिचारं दर्शयति—अनन्वित इति ।

बोधकत्वेन शब्दो निमित्तम्, नैमित्तिकन्तु ज्ञानम्, सङ्घिष्यतया भर्षोऽपि नैमि-  
त्तिकः । ईदृशनिमित्तनैमित्तिकभावादेव निमित्तस्य शब्दस्य नैमित्तिकत्वद्वयार्थवाचकत्व-  
सिद्धिरिति ऋगुदुद्धीनां मतमाह—यदपीति । 'निमित्तानि' शब्दा इत्यर्थः ।

(A) उपसंहरति—अनन्वित इत्यादि । अभिहितान्वयवादिमतं अनन्वितो गवादि 'अर्थ'  
गवादिनृप्रतिपाद्यः, अन्वितामिधानवादिनते पदार्थान्तरमात्रेण क्रियात्वादिमामात्ररूपेण  
उपन्यितेरावयवादिभिः अन्विता सम्बन्धत्वादिना सामान्यरूपेण उपन्यितकर्मत्वादिविशिष्ट-  
गवादि, अर्थ इति सम्बन्धते । अन्विताविशेषस्त्विति, अन्विता सम्बन्धयुक्त, एतद्व्याभिप्रायेण  
अभिहितान्वयमतेऽवाच्यत्वम्, विशेषं तत्तद्गवादिभ्यः, पूर्वसामिप्रायेण अन्वितामिधानमते-  
ऽवाच्यत्वम्, सामान्यरूपेण सद्भूतपदस्य सन्निर्वाह्यत्वात् । सम्बन्धविधेयमहिषव्यक्ति-  
विशेष इत्यर्थकत्वे तु अन्विताविशेषानुमरणपेक्षाऽपि नास्तीति बोध्यम्, अवाच्यं सद्भूतपदविषय  
इत्यर्थः । तथाच कर्मत्वाभिहितं सद्भूतपदकलादयो गवादि उभयमते नान्विधाया विषय  
इति हेतोः वाक्यार्थः, वाक्यप्रतिपाद्योऽन्वितागवादि अपदार्थं पदप्रतिपाद्य एवेति लक्षणा-  
प्रयोग्या शाब्दबोधविषयता अभिप्राययोर्गोचरेति नियमे व्यभिचारः स्फुट इति भावः ।

(B) द्वितीयेति, शक्तिप्रहात् एव आसत्सुखकालवर्तिताद्वयोप विषयीभूतगवादि-  
व्यत्यस्तरे तत्त्वसमौ चेत्यर्थः । तथाच तादृशबोधे शक्तिजन्यत्वस्य सामर्थ्यं नास्ति लक्षणाऽत्रत्यशाब्द-  
बोधस्वरूपेहेतुमु वर्तत इति व्यभिचार इति भावः । तसादिविषय अभिप्राययोर्गोचरविषयताप्रत्य  
लक्षणाऽप्रयोग्याशाब्दबोधीविषयतावत्त्वादिति प्रयोगेन तु गवादिजन्यत्वान्तरे तत्त्वसमौ वा अभिधा-  
प्रयोग्यविषयतास्य सामर्थ्यं नास्ति उक्तहेतुमु वर्तत इति यथाश्रुतमेव सम्यगिति बोध्यम् ।

(१) इति, तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ! शब्दस्य प्रकाशकत्वात् कारकत्वम्, ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथम् ? ज्ञातत्वं च सर्वेतेनैव

प्रकाशकत्वादिति, न च स्वजन्यत्वस्य अवके प्रकाशके व शून्य इति शब्दे व्यभिचारः,  
प्रकाशकभावत्वादिति करणे तु मन्त्रपदेन कर्मकत्वव्यवच्छेदे साध्यादिरेव इति वाच्यम्,  
प्रकाशकत्वमन्त्रप्राप्तकृत्वव्यवस्थितिरुक्तत्वादित्यादिति तदर्थम् । अज्ञानत्वेति, न च  
वातस्यैव शब्दस्य विनित्यत्वे तेषाम्पुन्यत इति तत्र कथमिदमुक्तमिति वाच्यम्, 'शक्ति  
रूपसमन्वयेन तदर्थं सम्बन्धितया प्रातस्तेष्वप्यर्थम्' । सुतेतेनैवेति शक्तिप्राप्त

(A) विमिश्रानि कल्पन्ते इति । यद्येवं प्रदेयं सृजते—“यपि वैमिश्रयते यन्म-  
श्वगवन्दा वचान्धं प्रदीयते तत्र सर्वत्रापि सन् एव विमिश्रं, यतो वैमिश्रितसुरोर्देव-  
विमिश्रानि कल्पन्ते इति, तद्वत्पुण्यं, शब्दस्य द्वयं विमिश्रत्वं कलकलं शक्यत्वं वा ।  
न प्रयत्नं, सादृश्यं यादृशं वा । यत्र पुनरुपपन्नं, यत् तु सत्त्वं तत्रैव शक्यं  
सत्त्वं स्वस्वमात्रं शाक्यं वा शक्यत्वेऽपि न भूतम् । न चान्यविधेयं संकितम् । अन्तु  
विधेयं एव संकितम् इति चेत् कष्टप्रश्लिष्टं यथादृशितत्वात् न चान्तराभावेन सादृश्ये-  
त्यतिशङ्का । तत्र च तत्र संकितम् सत्त्वं सत्त्वं सत्त्वं, शब्दाव सत्त्वं सत्त्वं  
इत्यन्यथा वा । तन्मात्रं विमिश्रानुरोधेन विमिश्रानि कल्पन्त इत्यविचारितमिति वा ।  
अतएव तस्मिन्नेव “उभयान्तराभावेनेति, इत्यत्रैव सत्त्वं सत्त्वं सत्त्वं सत्त्वं सत्त्वं सत्त्वं  
नवकलकलं कल्पन्त इत्येव कल्पनातिवृत्तौ कल्पन्त इत्यर्थः । अन्तु सत्त्वं स्वस्व-  
स्या एव सत्त्वं वैमिश्रितं न भूतम्, यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं  
यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं यत्तद्वत्पुण्यं” इति ।

[illegible]

I. 'इत्था इत्येकमन्विता इत्यस्यार्थः' इति । अत्र एव सप्तम्यन्विते 'अनु देव (अनुदेव) इति 'अनुदेव' इत्यनेन वाच्येन इत्येव बोधोक्तिरिति इत्यत्र वाच्य—वाच्य इति वाच्यत्वमर्थे न बोधनिदानात् प्रत्यक्षेणैव । इत्येवमिति ।

स चान्वितमात्रे, एवं च 'निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं'४ यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते इत्यविचारिताभिधानम् (५) ।

ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः

'कारादिनेवेत्यर्थः'। स चेति 'स' (B)सङ्केतग्राहकः। 'मन्विठमात्रे', प्रथमप्रतीता-  
न्विठमात्रे, न तु द्वितीयप्रतीते तदन्तिकभेद एतुमित्यादिके। एवञ्चेति। नियत-  
निमित्तान्दम्, शक्तिरूपमन्वयेन नियतार्थं प्रति यथातन्निमित्तत्वमित्यर्थः।

अथ श्रुत्वा योऽपि श्रमिवेक्यं बोधिका ममिषामेव व्यापारं दृष्टान्तेन साग्रयतां मरमाह—  
ये त्विति । अत्र मते एकदृष्टमेवार्थं प्रतिनहिते पुद्गेना यथा तद्वत्स्यं मित्वा  
छद्धान्तरमेवार्थमप्रतिसहितोऽपि मन् शीघ्रतरीभूय छद्धान्तरमपि मिनाति तथा  
एकैव ममिषा ज्ञाता सती वाच्यार्थं बोधयित्वा श्रुत्वायं प्रति ध्वजातीं  
शीघ्रतरीभूता तमर्थं बोधयन्त्यतो न शक्तिग्राहककोलाघपेक्षेयतो न पूर्वोक्त-  
बोधावकाश इति 'सोऽपि निवारित्य शीघ्रशीघ्रतरो व्यापारः' इत्यन्तस्यार्थः ।

रसादिप्रतीक्षां तद्वत्स्वप्नं तु मानुमन्वते, सन् भविष्यत्पुरुषोच्चेत्यवमन्कारापायकत्वस्य तु-  
 बहुवचनेन कार्यवैपरीत्येन विरुद्धाकारणञ्च स्वप्नवाद्यां स्वोकार्थस्यैवमाशङ्कितं युक्तमप्युच्यते ।

(१) पञ्चदशस्य निर्गलितोऽर्थो विवाहकारेण.—‘अथान्तर्यामिन्निर्वाणान्तर्यामिन्, व्यहृषो-  
पस्थितौ शब्दस्य व्यापकत्वं निर्मितत्वात्माकमपि सम्मतम् । यत्र नान्यथा विवादः । परं  
■ व्यहृषाया भस्वीकारे तत्र सम्भवति ; शब्दस्यापि निर्मितत्वं हि व्यापारसापेक्षमेव नियतम् ।  
यथा बाष्पायल्लवायोरनिवाहस्यो व्यापारौ, तथा इहापि कोऽपि व्यापारोऽवश्यमस्ती-  
त्यर्थः, अन्यथा हि शब्दस्य निर्मितत्वाविशेषेन नैमित्तिको व्यहृषार्थ इत्येव भवन्निमित्तोऽपि  
न सिध्यति, यदि तु व्यापार विवाहस्य शब्दस्य निर्मितत्वं स्यात्, तदा अनिवाहस्यो भवि-  
तत्तद्वलाङ्गुली स्थातमित्यन्त्यामिहच्यते, इत्यभिप्रायमनुदासीनानयविपारित्रिभ्यमेव’ इति ।

(B) अज्ञातस्य अर्थान् अन्वृतस्य ज्ञातस्यापि बोधदं यदि शक्यमित्यादिभिरेण तत्तदर्थ-  
शक्तिमत्तया अज्ञातस्य गरादित्यस्य साधारणमवधिज्ञानस्योपापकृत्यम् अतिप्रसङ्गात् सम्भवति,  
नत तत्तदर्थशक्तिमत्तया ज्ञातस्यैव शब्दस्य ज्ञापकत्वं वाच्यम्, शब्दस्य शक्तिमत्त्वज्ञानान्न न

1. 'निमिषस्य निवृत्तल' इति कविन् पुनश्च पाठः । 2 'दोषैर्दोषैस्तोमिषाभ्यासात्' इति शाब्दिकदोषं विनोदः । 3 'कोषादिनापारेषैर्' क, 'कोषापादिनापारेष' ध ।

इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेवात्र वाच्य (A) इति,

अनु व्यङ्ग्यस्य तादृशमभिधावाच्यत्वे किं प्रमाणमित्यत आह यत्पर इति ।  
'यत्पर' यत्तात्पर्यक शब्दः, स तच्छब्दस्य वाच्यार्थ एव इत्येवमर्थकम् इदमभियुक्त-  
वाक्यमेव प्रमाणमित्यता निजोप इत्यादौ तदन्तिगमनविधौ तात्पर्यात् साध्या वाच्य

प्रत्यङ्गस्य शब्देरतीन्द्रियत्वादेव सङ्केतस्य तत्र हेतुत्व नास्तीत्यतः सङ्गतमेवेति शून्येकं तद-  
वाहकपदवाच्यत्वे—सङ्केतवाहक इति, व्यवहार इति त्वर्थकञ्छम् । तदुक्तम्—“शब्दियह  
व्याकरणोपमानकोषाववाक्यादु व्यङ्ग्यमवतः । वाक्यस्य शेषादिवृत्तेर्वदन्ति सात्रिभ्यः सिद्धपदस्य  
वृद्धा ॥” इति ।

(A) भट्टमतेषोपजीविनां भट्टमोक्त्यादीनामभिमतोऽर्थ एव । तेषामभिप्रायः प्रदीपे  
स्तुत्तरः । तथा हि—अथ सोऽप्यभियोतिष गीर्ण-गीर्णयो व्यापार इति यत्पर शब्दः स शब्दार्थ  
इति च 'निर्णय' इत्यादौ विजिगेव वाच्य, इति भट्टमतेषोपजीविनः । अन्वयार्थं—यथा वञ्चता  
प्रेरित इत्युत्प्रेनेनैव वेनाक्येव व्यापारेण कर्मज्ज्ञेयम् उतोभर्तुं प्रापद्वयं च त्रिगोपिषधे, तपैक  
एव शब्दः एवैवैवाभिवक्तव्यव्यापारेण पदार्थमूर्तिं वाक्यार्थानुभव अव्युत्पत्तीनि च विनये । अतो  
व्यङ्ग्यव्याभिमतमन्वयार्थस्य वाच्यत्वमेव । किञ्च यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थ इति 'दि-वेव'  
इत्यादौ तात्पर्यविवक्षया विधिर्वाच्य मृति । तं तात्पर्यवाच्योक्तमन्वयार्थमन्वयान्तरं पठत ।  
तद्वाच्यवचिर्नोपपत्तिरपि न पुन दि तात्पर्यमुच्यत न प्रतीकमात्र । तथा हि—भूतमन्वयमुच्यते  
भूत मन्वायोपदिश्यत इति सिद्धान्तः ।

अन्वयार्थं—भूत मिदम् । अथ साध्यम् । तयो सममित्याहार भूत सिद्धं मन्वाय  
साध्यायोपदिश्यत इति । कात्कपदायां क्रियाफलार्थेनान्वीयमाणा सिद्धा अपि प्रधानक्रियातु-  
कृत्या साज्जीव्यत्वा स्वक्रियया योगात् साध्यायमानताम्यानुबन्धि स्वरूपेण सिद्धा अपि  
साध्यक्रियावितित्तत्वा साध्या इव भवन्ति । तत्र यथा दहनेदाहव्यग्रह दग्धते न तु दग्ध-  
मपि तथा पादवेवाग्रह तादृशेव शब्देन विधीयते न तु प्राप्तमपि । यत्र कतिक्प्रवरणेभ्यस्त  
प्राप्ते 'छोदितोष्णीषा क्रतुवत् प्रहरन्ति' इत्यनेन श्वेदितोष्णीषत्वमात्र विधीयते, न तु  
क्रतुवत्प्रवरणम्, उष्णीषमपि प्रक्षौ तु छौदित्यभाक्त्वं, इवमन्यन्यतः सिद्धौ च  
'दग्धा शृङ्गाणि' इत्यनेन दग्ध करणत्वं न तु दग्धि इवैव वा । अथ 'रक्तं पृष्ठं च' इत्यादौ  
रक्तत्वपृष्ठत्वमात्रा भ्यः पृष्ठत्वं दूषोक्तवाणा वाग्मिद्वारेकविधि-द्विविधि-त्रिविधिभिः । तत्र  
वाच्येव विधेः तावदेव तात्पर्यम् । विधेः च अन्वयोपपत्तेवेति सूत्रं 'शब्दोपाच एव  
तात्पर्यम्' इति । यदि च प्रतीकमात्रे तात्पर्यं तत्र 'पूर्वो भवति' इत्यादौ एवाग्निमान-  
सन्निवृत्तिपदवा प्रतीतेःप्राप्त्यर्थे कदाचित् तात्पर्यं स्यात् । अनु यदास्ववर्तिपदो-  
पस्थापित एव तात्पर्यमिति न व्याप्तिः । विष मुह्यत मा वात्य गृहे मुह्यत इत्यत्र विष  
मुह्यतेति वाक्यस्य मा चेत्यादि वाक्यार्थे तात्पर्यादिति । यैवम् । यत्र एतदेकमेव वाक्यम् ।

‘तेन तात्पर्यज्ञाः’ (A) तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः । तथा हि (B) मृत-

यदेत्यर्थः । ते न तात्पर्यज्ञा इति समीचीन एव पाठः । तद्वत्तात्पर्यज्ञा इति क्वचित्  
पाठे तु तदित्यन्वयं, ते इत्यर्थश्च । ‘तात्पर्यवाच’ यत्पर इत्यादिवाक्यस्य  
वा युक्तिः विषयविभागः, तद्विषयतात्पर्यस्थानमिहा इत्यर्थः, ‘देवानांप्रियाः’ (C) पश्य ।  
एवयंकंमिदम् (D) मनुष्यसमस्त पदम् । यत्पर इत्यादिवाक्यस्य ‘मन्य एव विषय-  
विभाग इति’ इत्येव—तथा हीति । (E) ग्रामानयेति वाक्ये प्रमाणान्तप्राप्तो यौ-

षकात्पर्यज्ञास्यतात्पर्यवादः, मन्यवा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न वाऽऽज्यतवाच्यक्रियायाः  
साक्षादन्वयः सम्भवति, ‘युनावां च पराशंवाङ्मन्त्रं समस्तां स्यात्’ इति व्यापात् ।  
छात्रात्वं चैतन्, अतो मन्त्रित्वमप्यन्वयेन । अतो विषयज्ञातृत्वमप्युद्बोधजनमपि हेतुत्वं  
सर्वथा वाच्य गृहेभ्यस्त्वा (माभ्य गृहे भुक्त्वा ! ) इति वाच्यार्थः । तथा च छात्रात्वं परोप-  
स्थापित एव तात्पर्यमिति सिद्धम् । अत्राह ‘यत्पर’ शब्दः । इत्यादि कसुचं तत् तात्पर्यज्ञाभात् ।

यद्वि ‘सोऽभ्यमिचोरिह’ इति तद्व्युत्पद्यते । यत् सम्बन्धवचनमर्थं वाच्यार्थं प्रतीयते  
तादृशे सर्वत्र यदि सम्बन्धमिवैव स्यात् तदा ‘चैत्र पुत्रस्ते आबः कुमारी ते गर्भिणी’ इत्यादि-  
वाक्यान्तरं हर्षविषययोः प्रतीतेस्ततोपि तद्व्युत्पत्तिरिति स्यात् । अथ सम्बन्धप्रतिपाद्ये  
सर्वत्रामिना, इषां दुष्यन्तु न तद्व्युत्पत्त्या इत्युच्यते तर्हि छत्रणीवेत्यमिवैव स्यादिति छत्रमो-  
क्षेत् । किमिति च ‘भुति-तिष्ठ-वाच्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यायां समवाये पादौर्बन्धपर्य-  
विप्रकर्षात्’ इति सूत्रेण अत्राह ‘अभिनि भुत्यादितु पूर्वकीयत्वं प्रतिपादयन्मूष । सर्वत्रैवा-  
मिवाप्रमदु वचस्य दीर्घस्य बीजमाभात्’ इति ।

(A) तात्पर्येति, तात्पर्यवचिचिन्मि वा वाचोयुक्तिः युक्तिर्यां वागित्यर्थः । तस्यास्तात्-  
पर्यवचिचिन्मि इत्यर्थः । वाचोयुक्तिरित्यत्र समस्तपदे ‘वागदिकृतपतो युक्तिरुद्धारः, इत्यनेन  
वक्ष्यते अतुल्यम् ।

(B) मृतमथ्येति । मृतमथ्यो छिद्रसाज्योः समुदात्ते समन्विताहारे मृतं सिद्धं  
यस्तु मृताय मावप्रवाचनिर्देशात् साम्प्रतान् उपदिश्यते ज्ञाप्यते, साध्यवर्हि हि विवेकाद्ये परिमि  
प्राचीने प्रयुक्तम्, तथाच सिद्धमेव साम्प्रतं बोध्यमिति भावः ।

(C) पश्य इति । तथाच त्रिकाण्डशेषे “कर्मस्तु कर्मकर्तृप्राप्तो यस्तु तिष्ठामिय ।  
अल्पायुर्लब्धवाच्य मेनाद पर्ममोदकः ॥ परिक्रमसहो कुडो देवावाप्रिय इत्यपि ॥” इति तथा  
तत्रैव “स्मारेवानांप्रिय” शेषे इत्यो बन्धुदत्तवत्” इति ।

(D) अतुलमिति, ‘कविश्चर्यापि’ इति मनुस्मृतम् । ‘देवानांप्रिय इति च मूलं’ इति  
वाचिकस्मृतम् ।

(E) मृतमथ्येत्वादिकमुदाहरणमुभेव व्याकृते—ग्रामानयेति ।

१. ‘तेन तात्पर्यज्ञाः’ इति मुद्रितपुस्तके पाठः । २. ‘यत्पर’ इत्यत्रो वक्ष्यते ‘अभिनिचिन्मि’ इति  
न तत् वक्ष्यते इति च ।



भयसमुद्धारणे भूतं भव्यापोपदिश्यते' इति कारकपदार्थः क्रिया-  
पदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात्  
साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । ततश्चाऽदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं  
तावद्विधीयते, यथा—ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे  
'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीपत्वमात्रं  
विधेयम्, ह्यनस्यान्यतः सिद्धेः 'दग्धा जुहोति' इत्यादौ वृत्त्यादेः  
करणत्वमात्रं विधेयम् । कचिदुभयविधिः ।

कचित् त्रिविधिरपि, यथा—'रक्तं पटं वय' इत्यादौ  
(A) एकविधिद्विविधित्रिविधिर्वा; ततश्च 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्'

'भूत' सिद्ध, तदीयमानयन्तु भ्रातृत्वेन 'भय' साध्यम्, तदर्थं भूतं गो 'उपदिश्यते'  
उद्धार्यते इत्यर्थः । नन्वेव कथं गोपि साध्यतः अनुभव इत्यत आह—कारकैति ।  
'प्रधानक्रिया' भानयनम्, तन्निष्पादिका 'स्वक्रिया' गोक्षलनम्, तत्सम्बन्धादित्यर्थः ।  
ततश्चेति, तृणमिश्रिते भस्मराशावस्त्रिंशोऽदग्ध तृणमेव दहति न भस्म, तथा सिद्धांश-  
मपहाय नसिद्धांश एव वाक्येन विधीयते इत्यर्थः । तथाच विधेयांश एव शब्दस्य  
'प्रामाण्यनिवामकोऽर्थ इत्येवमेव यत्पर इत्यादेरर्थः<sup>१</sup>, न तु व्यङ्ग्यत्वाऽर्थः शब्दस्य  
वाच्यार्थ इति तदर्थ इति भावः । यावदप्राप्तमिति सामान्यनिर्देशात् क्वचित्  
क्रिया प्राप्ता कारकमप्राप्तं तदेव विधीयते इत्युक्तम् । तदेव च उदाहरति—यथा  
ऋत्विगिति यज्ञे ऋत्विजं प्रचरणं यापयान्तरात् प्राप्तम्, यज्ञविशेषे तु  
ऋत्विना लोहितोष्णीपत्व विधीयते इत्याह—लोहितेति । उष्णीष शिरोवेष्टनम्,  
लोहितसङ्कतमत्र कर्तृकारकविशेषण विधेयम् । क्वचित् करणकारकस्यापि विधे-  
यत्वमाह—ह्यनस्येति । द्विविधेच्छाहरणम्—एव आत भाजयेत्पूजाम् ।

त्रिविधिमाह—रक्तं पटमिति । अत्र 'रक्तत्वपटवयनानां प्रयाणामपि विधिः ।  
उक्तमेवापसद्व्याह—एकेति । प्रकृते यत्पर इत्यत्र तदेव याजयति—ततश्चेति ।  
'तात्पर्यं' (I) गच्छप्रामाण्यप्रयोजकमिति शेषः, न त्वनेन व्यङ्ग्यार्थं तात्पर्याभावो दर्शितः ।

(A) एकविधिरिति । अत्र विधिविकल्पानामुदाहरणं रक्त पट वय इत्येव, तत्र एकपटप्राप्ते  
वयनमात्रे पटमात्रप्राप्ते रक्तत्ववयनयोः पटस्याप्यप्राप्ते रक्तत्वपटवयनेषु त्रिष्वपि विधिरिति भावः ।

(B) शब्दप्रामाण्यमिति । अत्रोक्तरीत्या विधेयांश एव शब्दानां तात्पर्यमिदं 'न विधौ

१. प्रामाण्यनिवामकोऽर्थ इत्यत्र बोधितं यत्पर इत्यादिवाक्यम् । २. 'एकलपटवयनानां' न ।

३. यद्यप्यत्र न एकैव भवति ।

इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्, न तु प्रतीतमात्रे, एवं हि 'पूर्वो  
धावति' इत्यादावपराधर्थेऽपि कचित्तात्पर्यं स्यात् ।

यत्तु 'विषं भक्षणं मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यत्र 'एतद्गृहे न  
भोक्तव्यम्' इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते, तत्र  
चकार एकवाक्यतासूचनार्थः, न चाऽऽख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गि-  
भाव इति विषयभक्षणवाक्यस्य सुहृदाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति

उपात्तस्यैवेति उपात्तस्य शब्दस्यार्थं पक्षेऽन्यथ, अर्थश्च गृहीतशक्तिक एव 'बोध्य' ।  
तात्पर्यमित्यत्र च शब्दप्रामाण्यनियामकं बोध्यम् । तादृश<sup>१</sup>\* तात्पर्यं व्यङ्ग्यार्थं  
नास्तीत्याह—न त्विति । एवमिति पूर्वत्वमतोनेरवधित्वेन<sup>२</sup> अपरत्वविषयकत्वात् ।  
अत्रापि 'तान्पर्यं' शब्दप्रामाण्यनियामकम् बोध्यम् ।

अन्वेतावता उपात्तशब्दस्य गृहीतशक्तिक एवार्थः\* प्रामाण्यनियामकं तात्पर्यं  
नाऽगृहीतशक्तिक इत्युक्तम्, 'तत्र व्यभिचारि, कविदुपात्तशब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे  
तादृशतात्पर्यदर्शनान्'<sup>३</sup> इत्याशङ्कते—यत्तु विषमिति, अत्र वरमित्यपि बोध्यम् ।  
तथाच चर विषम् भुङ्क्थ मा चास्य गृहे भुङ्क्था इति 'वाक्ये विषमज्ञानेन गृहीत-  
शक्तिकम्, तत्र च न तादृश तान्पर्यम्, किन्त्वगृहीततच्छब्दशक्तिके यतदुहभोजनाभाव  
पक्षेत्याह—एतद्गृह इत्यादि । समाधत्ते—तत्रेति । अङ्गता कल्पनीयेति,  
भुङ्क्थ इत्यत्र भुङ्क्था इत्यत्र च भावस्यातद्वयार्थत्यागेनेति भावः । तथाच वाक्यार्थ

एव शब्दार्थः' इति न्यायेन तत्रानिर्घेह स्वीकार्या । एतेन विधेयांश्च लक्षणास्वीकारेण तत्र लक्षण-  
रहितान्तात्पर्यानुपपत्तिमुत्प्रायवापादिनास्वीति प्रतिपादितम् । ईदृशत्वे च शक्तिप्रमात्वमन्य  
शब्दशोधप्रमात्वप्रयोजकस्यान्युपपत्तेः प्रमात्वकशाब्दबोधकतया तत्रैव प्रामाण्यं निर्वोधम् । एवञ्च  
सर्वत्रैव तान्पर्यविषयस्याभिप्रेयत्वमेवेति पूर्वपक्षिणामाशये सति 'अपराधर्थेऽपि क्वचित् तात्पर्यं  
स्यादिति कृत्स्नान्तेन तात्पर्यनियतस्याभिप्रेयत्वमन्य फलत आशक्तिरुत्तरशक्तिभिः कृता बोध्या, तथाच  
न प्रकृतानुपयोगित्वमिति विभावनीयम् ।

१. अपरत्र ख-पुष्पके न दृश्यते । २. 'अपराधप्रतापयोनित्वात्' इति । ३. 'तत्र न निदित कविदुपात्त-  
शब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तादृशतात्पर्यदर्शनान्' इत्याशङ्कते—यतदुहभोजनाभाव पक्षेत्याह—एतद्गृह इत्यादि ।  
तथाच चर विषम् भुङ्क्थ मा चास्य गृहे भुङ्क्था इति 'वाक्ये विषमज्ञानेन गृहीत-  
शक्तिकम्, तत्र च न तादृश तान्पर्यम्, किन्त्वगृहीततच्छब्दशक्तिके यतदुहभोजनाभाव पक्षेत्याह—एतद्गृह इत्यादि ।  
समाधत्ते—तत्रेति । अङ्गता कल्पनीयेति, भुङ्क्थ इत्यत्र भुङ्क्था इत्यत्र च भावस्यातद्वयार्थत्यागेनेति भावः ।  
तथाच वाक्यार्थ

‘विषमक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा भाऽस्य गृहे भुङ्क्ताः’ इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम् ।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधेय व्यापारः, ततः कथं ‘ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी’ इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्; कस्माच्च लक्षणा? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः, किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान समाख्यानां पूर्वपूर्ववलीयस्त्वम्

‘रचयति—विषमक्षणादपीति । आख्यातद्वयार्थत्यागेन विषमक्षणमेतद्गृहभाजनञ्च धात्वर्थः, अन्यर्थश्च नास्ति ‘घर’शब्दलभ्य पञ्चम्यर्थस्तु ससर्गः, दुष्टमिति तु ‘मा’ शब्दार्थः, तथाच ईदृशप्रत्ययार्थं यत्तत्पर्यं तद् गृहीततच्छब्दशक्तिकेऽर्थ एवेति शोक्त-  
दोन इति भावः । तादृशार्थलभ्य पर्याप्तमर्थमाह—सर्वथेति । इत्युपात्त-  
शब्दार्थ एवेति, उपात्तो यो विष भुङ्क्तेति शब्दस्तस्यार्थं गृहीतशक्तिके विषकर्मक-  
भक्षणरूप एव प्रामाण्यमिवामक तात्पर्यम्, न त्वगृहीततच्छब्दशक्तिक इत्यतः मानियम  
इति भावः । यद्यपि विषमक्षण दुष्टावधित्वेनोपात्तमुद्देश्यमेव न तु विधेयम्\* ।  
तथाऽपि साध्यान्वयित्वेन साध्यायमान्त्वञ्च तत्रापि तादृशप्रत्ययविषयकत्वमप्युप-  
गम्योक्तम् व्यङ्ग्यार्थं तादृशतात्पर्याभावस्यैव प्रतिपादीयत्वान् ।

नन्वेवरीत्या व्यङ्ग्यार्थोऽपि तादृशतात्पर्यविषयोऽस्तु यत् गृहीततच्छब्दशक्तिकञ्च न  
प्रवेक्ष्यताम्, तथाच तस्यापि यत्पर इत्यादिशोक्त शब्दवाक्यन्यमेवेत्यत आह—यदि चेति ।  
‘कन्या ते’ इत्यत्र कन्या भ्रष्टा यद्वा कुलकर्त्री कन्या अर्शभिणीति नञ्प्रत्यये\* ।  
वाच्यत्वमिति, यत्तद्व्याप्त्यो हि सम्बोध्यग्राह्यमेव तत्प्रतिहिततुल्यान्तेनापि  
श्रुतः, ततश्च तेन पुरुषेण तदीयहर्षशोकयोः प्रतीतत्वात् कथं न वाच्यत्वमित्यर्थः ।  
ननु यावानर्थः ‘(A)श्रुतराज्यात् प्रतीयते इति विपत्तिरूपः, अथ ॥ उदासीनभ्रमेन  
तदीयहर्षशोकानुभाषकलिङ्गाभ्यामेव तावन्निमित्तावित्यत आह—कस्माच्चेति । नःघञ्  
इष्टापत्तिरेवेत्याह—किमिति चेति ।

(A) श्रुतराज्यात् प्रतीयते इत्यन्व साध्यबोधविषयीक्रियते इत्यर्थः, तेनोत्तरं अनुमितयो-  
शोभार्थयोर्न वाच्यत्वावतिरिति भोज्यम् ।

१ ‘दमयति’ अ । २ ‘ओपाय विह एव’ अ । ३ ‘नयनं छ-मुञ्जे नास्ति । ४ ‘नुनेति  
च-न पुनश्चयोर्नास्ति ।

इत्यन्विताभिवानवादेऽपि विधेरपि (A) सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् ।

(B) ध्रुतिलिङ्गान्तराश्रयकरणस्थानसमाख्यानां सम्भावे पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्<sup>१</sup> इति । ( जैमिनिसूत्रम् अ० ३, पा० ३, सू० १४ )

तत्र च—

ध्रुतिर्द्वितीया त्तमता च लिङ्ग वाच्य पदान्येव तु सहतानि ।

सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा स्थान क्रमो योग्यकल समाख्या ॥

इति ध्रुत्वाद्विपक्षार्थविवरणम् । अत्र च द्वितीया द्वितीयान्त पदम् । सूत्रे सम्भावे इत्यत्र विरोध इत्यर्थः, पारदौर्बल्यमित्यत्र च पर परं दुर्बलमित्यर्थः । अत्र हेतु-  
माह—अर्थविप्रकर्षादिति । पूर्वपूर्वपक्ष्या विलम्बेनार्थोपस्थापकत्वादित्यर्थः ।  
शीघ्रोपस्थापक पूर्वपूर्वमेव बलीय इत्यर्थः । (C) तदेव किमिति इत्यर्थः । तदाच  
“येन्द्रा श्रुत्वा गार्हपत्यमुपतिष्ठेते”ति ध्रुतो द्वितीयान्त गार्हपत्यपदं शक्या बह्वेक-  
स्थापकम्, येन्द्रा श्रुत्वा (D) त्तमता च गार्हपत्यपदे इन्द्रलक्षणया इन्द्रोपस्थापिकेति  
किमिन्द्रमग्निं वा उपतिष्ठेतेति विरोधे द्वितीयान्त गार्हपत्यपदं शक्या बह्वे शीघ्रोप-  
स्थापकं बलवत्, न तु लक्षणया मुख्यार्थवाधायुपस्थितिविलम्बेन इन्द्रोपस्थापिका

(A) सिद्धं व्यङ्ग्यत्वमिति । तदाच ध्रुतिलिङ्गस्याविवक्षया सोमेन पतेन हत्याविवक्ष-  
कचिद्वृत्त्याया अवश्यमग्नीकणोक्तत्वेन दीर्घदीर्घवराभिधानापास्तकल्पनस्य धुमितिचिप्रदग्नि-  
त्वकल्पनत्वात् व्यङ्ग्यार्थानां सन्नितिकल्पनादीनां स्मादीवाह अनुभवनिदाया प्रतीतेरन्यथोप-  
पादयितुमशक्यत्वाद् व्यङ्ग्यगृहीतरित्यवश्यमग्नीकार्थेति निष्कर्षः ।

(B) प्रदीपकारास्तु “सूत्रं तु प्रकृत्यार्थविच्छेदकत्वेऽपि बहुपकारकत्वाद्बुद्धत्वाच्च व्याक्रियते ।  
ध्रुतिलिङ्गादपि परिहृय विनियोजका । तत्र विरुद्धयोरेकत्रोपनिपाते समुच्चयो न सम्भवतीत्ये-  
केनापरस्य बाधो वक्तव्यः । ॥ ॥ बलवता दुर्बलस्येति स्थिते दौर्बल्यप्रतिपादकं सूत्रं ध्रुति-  
लिङ्गेत्यादि । अस्वार्थं ध्रुत्वादीनां सम्भावे एकत्रोपनिपाते तेषां मध्ये यदपेक्षया यत् परं  
तदपेक्षया तदुर्बलम् । कुत ? अर्थविप्रकर्षात् पूर्वपक्ष्या विलम्बेनार्थप्रत्यापकत्वादि<sup>२</sup>ति सूत्रं  
व्याख्याय ध्रुत्वादिविश्रान्तार्थान् तद्विरोधोदाहरणत्वादि ॥ प्रदर्शितवन्तः । बाहुल्यमभासु  
सदृश्यो नोद्दिपते अनुबन्धित्यभिप्रायैव द्रष्टव्यम् इति ।

(C) तदेवेति । इतिस्थ ‘किमिति’ इत्यर्थोऽत्र योजित इति बोध्यम् ।

(D) क्षमता लिङ्गं च इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपमिति प्रदीपे स्पष्टम् ।

१. ‘सदृश्या विलम्बेन शीघ्रोपस्थापिकाया अत्र चमता ॥ दुर्बला’ क, ‘न तु सदृश्या विलम्बो-  
पस्थापिका चमता’ न ।

किञ्च 'कुरु कविम्' इति पदयोर्वैपरित्ये काव्यान्तरैर्त्तिनि कथं  
दुष्टत्वम् ? न ह्यत्रासम्बोध्यः पदाद्यन्तरैरन्वित इत्यनभिप्रेय एवेति  
एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

यदि च चाख्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्यु-  
पेयते तदाऽऽसाधुत्वादीनां नित्यदापत्तं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्व-  
मिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नम्, सर्वस्यैव विभक्त

समता<sup>१</sup> इत्युक्तम् । तत्तथाऽनङ्गीकारे तु इन्द्रस्यापि 'अक्षयत्वादित्थम्' उपस्थित-  
भावात्<sup>२</sup> किमिति द्वितीयान्तस्य पुराणस्य बलीयस्यमित्यर्थः । विधेरपीति  
तदन्तिकगमनरिरपीत्यर्थः ।

ननु मभिधाया एव दीयन् दीयनत्वञ्चेति हेरिषम्, तथाच ग्राह्यतीभावनेन  
'ह्यस्याधोपस्थापनात्' इति एवमप्यत आह—किञ्चेति । अपरांत्यं हरिद्विषेय-  
मयाने । कथं दुष्टत्वमिति पदद्वयीयमणद्वयं चिद् शश्वत्पक्षौ तस्य ह्यानुयात-  
व्यञ्जकत्वेनेन हि दुष्टत्वम् व्यञ्जनाभावे तु कथं तद् दुष्टं स्यादित्यर्थः । ननु  
दीयन्तरीभूताभिधायं तदुपस्थापनादृष्टत्वं स्पष्टित्वत आह—न ह्यत्रति । (१) असम्य-  
चिदुपस्थाप, शश्वत्पक्ष्यायास्तडाक्यस्थपदायान्तपञ्चिन रनियमानिति भावः ।  
'अपरित्याज्य (२) दुष्टत्वं अक्षयम् ।

ननु दीयन्तरीभूताभिधायापस्थापिनायस्य 'पदायान्तरान्वित्वनियमा न धात्य-  
इत्यत आह—यदि चेति । नित्यत्वमत्र सारसस्ताधारण्यम्, अनित्यत्व रसरिरा-  
धीयत्वम् । अनुपपन्नं स्यादिति ध्रुतिकृदादीनां हि ओषागुणव्यञ्जनया मनाजस्यिनि  
भ्रष्टापक्षौ दुष्टत्वम् भावस्यिनि वीर्याने तु नदुष्टत्वम्, व्यञ्जनाभावे तदनुपपन्नं स्याद-  
ित्यर्थः । न च दीयन्तरीभूताभिधायं तदुपस्थापनादुपपत्तिरिति चाख्य निदमकृत्य

(A) असम्य इत्यत्र म-कुन्त्ये 'अक्षय' इति पाणिनीयत म च वृत्तावपि 'असम्य'  
इत्यत्र 'अक्षय' इति पाणिनीयत सूचयति । तस्य च शक्त्यानुपस्थाप्य इत्यर्थ मयमंभु-  
दीयत्वादित्थमङ्गीकारादित्थमिषाद्य । असम्य इत्यस्य च समाधायमाना, दुष्ट-  
गच्छीति इत्यर्थः । चिदुपस्थाप इति विज्ञान च असम्यार्थ इति समुपस्थाप्येति भाव्यम् ।

(B) दुष्टत्वेति इदं ओषमित्यस्यापि इत्येव अन्विष्य, तथाच दुष्टत्वेन हेयं न स्यादित्यर्थः ।

तथा प्रतिभासाद् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकता-  
श्रपणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् कचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोप-  
पद्यत एव विभागव्यवस्था ।

‘द्वयं गतं संश्रुति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः’  
इत्यादौ पिनाफ्यादिपदयैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां  
काव्यानुगुणत्वम् ?

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तुन् प्रति एकरूप एवेति  
नियमोऽसौ । न हि ‘गतोऽस्ममर्कः’ इत्यादौ वाच्योऽर्थः  
कचिदन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण वक्तृ-प्रतिपत्तादि-

भोजोगुणस्य वीरादौ प्रतीतेरनुभविक्तत्वेन भविष्यायास्तादृशोपस्थापकत्वाभावात् ।  
नन्वेव व्यञ्जनाया अपि कदा तादृशोपस्थापकत्वमित्यत आह—वाच्यवाचकेति ।  
बहुविधत्वादिति, कचिन् सभमर्क एव व्यङ्ग्यार्थ उपतिष्ठते कचिन्निर्दमक इत्येवं-  
विधाबाहुल्यपरित्यक्तम् । ननु जातिगतिनाह इव पदम्पि निर्विकल्पकोपस्थितिर्मया  
वाच्येत्यत आह—द्वयमिति ।

द्वयं गतं संश्रुति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिप्रदी कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी (A) ॥

इति पार्श्व्यां महेशनिन्दाम्रोके कपालधारित्वेन महेशविन्दा व्यञ्जने, अतस्तत्र  
कपालिपदस्यानुगुण्यम्, व्यञ्जनाभावे ॥ किमिति तस्यानुगुण्यमित्यर्थः ।

नन्यत्र दत्तमेवोत्तरम्, व्यञ्जनास्यानीकत्वादेव वीर्यतरोभूताभिधाया इत्यत आह—  
अपि चेति । तत्तत्प्रकरणवत्कृति, तथाच सर्वप्रतिपत्तृष्वेकविधार्थबोधकत्वम-  
भिधाया, व्यञ्जनायास्तु नान्यप्रतिपत्तृषु नान्यभिधार्थबोधकत्वमिति विलक्षणमेव भेदक-

(A) पद्यमिदं स-पुस्तके उद्धृतं न दृश्यते । कृत्वा सत्य एतादृश्य द्वितीयादौभोग्यया  
वीर्यप्रदता मन्वेन वा समर्पणं व्यपसीति भिद्येदुपसमयेस्त्वामिः क-म-पुस्तकादुत्सारेण  
दृषियम् ।

विशेषसहायनया नानात्वं भजते । 'तथा हि 'गतोऽस्मिर्मर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रापस्ते प्रेषानिति, कर्मकरणाग्नितर्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरूपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो एहं प्रवेश्यन्तामिति, संतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संहियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेषानित्यादिरन्वयिर्व्यङ्ग्योऽर्थः तत्र तत्र प्रतिभाति ।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना,

मात्सर्पमुत्सार्य विचार्य कार्यभार्याः समर्थादमुदाहरन्तु ।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनोनाम् ॥१३३॥

इत्यादौ संशयशान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण

मित्यर्थः । प्रकरणादिभेदानु तत्तत्प्रतिपत्तृवाच्यान् नानाविधार्थान् दर्शयति—  
तथाहीति । सपत्नं प्रतीति । 'अवस्कन्दनम्' भाग्यमणम्, अत्र कूटयोधी  
प्रतिपत्ता । अभिसरणमित्यत्र अभिसारिका, प्राप्तप्राप इत्यत्र विरोहोत्कण्ठिता,  
कर्मकरणादित्यत्र भूतका, सान्ध्य इत्यत्र ग्राहणा, दूरमित्यत्र पथिका  
सुरभय इत्यत्र गोरुत्तका सन्ताप इत्यत्रातपह्वान्ता, विक्रेयेत्यत्र विक्रेतार,  
नागत इत्यत्र प्रोषितमर्ककाश्च प्रतिपत्तार । नन्वभिधयैव गृहीतया  
बोधने सर्वप्रतिपत्तृषु एकार्षो बोध्यते तथैव अगृहीतया दीर्घतरोभूतया बोधने  
तु तत्तत्प्रकरणादिमाहाव्येन तत्र तत्र तथाविधा अर्था बोध्यन्त इत्यत  
मह—वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति । निःशेषेत्यादौ वाच्यव्यङ्ग्ययोर्निषेधविध्यात्मना  
स्वरूपस्य भेदेऽपि यत्तत्त्वमिति दूरतरेणान्वयः । तदन्तिकायमनामने निषेधविधी  
वाच्यव्यङ्ग्यौ विरोधिस्वरूपौ । मात्सर्पमित्यादि । समर्थादमित्यनेन मर्यादया  
उक्तिश्रमो नापेक्षणीय इति सूचितम् । इत्यादौ संशयेति, संशयश्च शान्तशृङ्गार्य-  
न्यतरगतनिश्चयश्चेति द्वन्द्वः, तद्व्यपेण वाच्यव्यङ्ग्ययोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । अत्र  
'किम्' पदार्थं संशयो वाच्यः, भूधरानितम्बा एव सेव्या स्त्रीनितम्बा सेव्या इति वा  
शान्तशृङ्गारिवक्तृभेदेन तदीयनिश्चयश्च व्यङ्ग्य इति पतायपि विरोधिस्वरूपौ

१. 'तथा' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः । २. अत्र एव क-पुस्तके 'विचित्रतया बोधकत्वादिनिवाच्यमणयो  
भदप्रोक्तार्थः' इत्येव पाठः ।

“कथमवनिष दर्पो यन्निशातासिधारा-  
दलनगलितमूर्ध्नि विदिषां स्वीकृता श्रीः ।

ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता

त्रिदिवमपगतार्द्धैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥ १३४ ॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः  
कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च  
आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्य-  
सहितेन तेन वाचगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्ध<sup>(A)</sup>व्यप-

भेदकौ । अत्र च संशये सरयेनेति च पाठो ग्रामादिकौ । कथमवनिषेति । हे  
अवनिष निगातेत्याद्युक्तानां विदिषां श्रीस्त्वया स्वीकृता इत्ययं कथं दर्पः ? दर्पाभावे  
हेतुमाह—नन्विति । साङ्गस्य निहतारेरपि तत्र वल्लभा कीर्तिं अपगताङ्गैरपि तैः त्रिविधं  
किं नीता न ? अपि तु नीतैव इत्यतस्तुत्यप्यनिमित्तमे कथं दर्प इत्यर्थः । निशातया  
अनिधाराया पदं दलनं छेदनं तेन गलितमूर्ध्नामिति सिद्धं । इत्यादौ  
निन्दास्तुतीति, अत्र निन्दास्तुतिपदद्वयं निन्द्यतास्तुत्यतामयोजकार्थपरम्,  
निन्दाया अत्रावाच्यत्वात्, शब्दातिशयाया 'स्तुतेरव्यङ्ग्यात्वात् । तथाच व्युत्पत्त्या-  
हर्षप्रश्नो वाच्यो निन्दाप्रयोजकः, स्वर्णपर्यन्तगामिनी ते कीर्तिरिति व्यङ्ग्यार्थश्च  
स्तुत्यतामयोजकः । एतावत्यर्थो व्यपयोग्ययोर्विच्छेदयोर्निन्दास्तुत्यो सम्बन्धा-  
द्विरुद्धौ, तयोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । पूर्वपदवादिनि पूर्वं वाच्यार्थप्रतीति  
पश्चाच्च व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरिति स्वजन्यप्रतीतेः कालस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । शब्देति,  
अनिधा शब्दमात्रवृत्ति व्यञ्जना तु शब्दतदेकदेश प्रकृत्यसद्विवृत्तिरित्याश्रयस्य  
भेदेऽपीत्यन्वयः । शब्दानुशासनेति, अभिधेयस्य शब्दानुशासनज्ञानेनावगमः,  
व्यङ्ग्यस्य ॥ प्रकरणादिसहितप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन शब्दानुशासनज्ञानेनावगम  
इति स्वजन्यप्रतीतिनिमित्तस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । शब्दानुशासनस्य व्यञ्जकत्वाच्चा-  
र्थ-

(A) व्यपयोग्ययोरित्यत्र व्यपदेशयोरिति वादे वाच्येनार्थेन प्रतिपत्तुं बोद्धा इति व्यपदेशे  
व्यवहारस्तन्मात्रं भवति व्यपदेशेन तु विदग्ध सहृदय रुसिक इति व्यपदेश इति कार्यभेद  
इत्यर्थो बोध्यः ।



देश्ययोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क  
इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,—

“कस्स व ण होइ रोसो दट्ठण पियाइ सच्चणं अहरं ।

सममरपडमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हि<sup>(A)</sup> ॥ १३५ ॥

शोधकत्वाद् व्यङ्ग्यबोधे तदपेक्षा । बोद्धृमात्रेति, अभिधया (B) सर्वबोद्धृणामेव  
प्रतीतिमात्रम्, व्यञ्जनया तु विदग्धव्यपदेश्यचमत्कृतिरप्यधिका जन्यते इति स्वकार्यस्य  
भेदेऽपीत्यन्वयः । इत्यपदेश्यत्वव्यन्तानुप्राधनम् उत्कृष्टतल्लभाय तस्यैव चमत्कृते ।  
संख्याया इति, स्वबोध्यसंख्याया इत्यर्थः । न चेद् पुनस्कमिति वाच्य प्रतिपत्-  
भेदेन विभिन्नार्थशोधकत्वस्यैव प्रागुक्तत्वात् तत्र स्वबोध्यसंख्यानभिधानात् । कस्स  
ण वेति

कस्य न वा भवति रोसो दृष्टा प्रियाया समणमथरम् ।

सममरपडमग्घाइणि (C) वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ इति सप्ततम्

(A) कस्म वेति । यद्यपि मनुवादसंज्ञेन ‘कस्स व’ इति पाठो प्रहीतमुचित-  
स्तथापि प्रामाणिकत्वशोधेन ध्वन्यालोकस्त एव गृहीतः । भस्याभिनवगुप्ताचार्यकृत  
व्याख्यानञ्च—कस्स वेति, भगीरथालोचने । सममरपडमग्घाइणि, शील हि कथञ्चिदपि  
धारयितुं न शक्यम् । सहस्वेदानीम् उपालम्भपरम्परामित्यर्थः । अत्राय भाष—काचिद्वि-  
भीता कुञ्चित् खण्डिताया तन्मविधमविधाने भर्त्तरि तमनबलोकयमाणयेव कथाचिद्विदग्धसंख्या  
तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते । सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवर्तीविषयम् । भर्त्तृविषयं  
तु भपराधो भास्वीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम् । तस्या च प्रियतमेन गाढमुपाख्यमानाया तद्गलीक-  
शङ्कितप्रतिबन्धिमल्लोकविषय वाचिव्यप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम् । तत्सप्तम्या च  
तदुपाख्यमतद्वितयप्रदृष्टाया सौभाग्यातितायख्यापनं ‘प्रियाया’ इति सप्तवलादिति सप्तमीविषयं  
व्यङ्ग्यम् । सप्तमीमध्ये इयम् खलीकृताऽस्मीति लापवभातमपि प्रहीतुं न युक्तम्, प्रत्युतार्थं  
बहुमानं, सहस्रं शोभस्वेदानीमिति सप्तमीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम् । अद्यैव तत्र  
प्रकटानुसंगिगी हृदयबलभेद्य रक्षिता पुनः प्रकटसदनदंशकविचित्रं विषेय इति तथैर्यकानु-  
विषयमशोधनं व्यङ्ग्यम् । इत्थं मनैतदपदुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तदस्यविदग्धलोकविषयं  
व्यङ्ग्यमिति ।

(B) तथाच, वृत्तौ बोद्धृमात्रेत्वेन मात्रपदं साकल्यानकम्, प्रतीतिमात्रेत्वेन तु भव-  
धारणार्थकमित्यभिप्रायः ।

(C) ‘वारिता अपि सममरपडमग्घाये निषिद्धा अपि वामा प्रसिद्धा’ इत्युदाहरण-  
चन्द्रिकाकाराः ।

व्यङ्ग्येऽज्ञात्पर्यभूतोऽप्यर्थः (A) स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवनरन्  
कस्य व्यापारस्य विषयनामवलम्ब्यतामिति ।

ननु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृत्वा प्रेम्णाः प्रिये नोचितम्'

इति (B),

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्'

इत्यादौ, (C) लक्षणीयोऽप्यर्थो नानास्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च

व्यापारस्य गम्यः स्यादित्यर्थः । 'स्वरूपे' वाच्यत्वास्वरूपे । 'विधायम्यति' तिष्ठति,  
पुनरपि वाच्य एव स्यादित्यर्थः । 'अज्ञात्पर्यभूत' शक्तिप्राप्तकपुण्यत्वात्पर्याधि-  
भूत । न च तत्र वाच्यस्यानाभिधेया पुनर्वोधः, किन्तु स्मरणमैवेति वाच्यम्, एवं सति  
वाच्यार्थस्मरणकाले अभिधायिरामे नामिधाय रमवोधिका, तथाच रसवोधनार्थं  
व्यङ्ग्यवाक्यीकारधौये इषुव्यापाददृष्टान्तेनाभिधेया दीर्घतरत्वत्वाद् पपाहत एवेति  
भावः ।

व्यङ्ग्यार्थं लक्ष्यार्थसाधर्म्यात् लक्षणीयत्वमृदुद्विपगुणे—नन्विति । 'रामो-  
ऽस्मी'त्यत्र दुःखमहिष्णुरूपो लक्ष्यार्थः, 'रामेणे'त्यत्र निःस्नेहत्वं, 'रामोऽसौ  
भुवनेष्वित्यत्र तु सत्त्वान्ना ख्यातरूपः । विशेषव्यपदेशेति, काव्यस्य गम्भ-

(A) स्वशब्दानभिधेय इति । स्वशब्दोऽप्यभिधेयपक्षस्य सत्त्वेऽपि व्यवहृत्या प्रतीति-  
पथापामेव चमत्काराशुभवात्, अनिधेया बोधने प्रत्युत वैरत्वापातेन तत्र बोध एवेति वक्ष्यमाणत्वाच्च  
अत्र स्वशब्दानभिधेयत्वमुक्तमिति बोध्यम् ।

(B) रामेणेति ।

प्रत्याख्यानरूपं हृतं समुचितं क्रूरेण ते त्वमा  
सौह तव तथा त्वया कुलजन्मो धरे ययोर्बे सिर ।  
अर्थः सम्प्रति विप्रता धनुरिदं त्वदुज्यास्व साक्षिणा  
रामेण प्रियजीवितेन तु हृतं प्रेम्णा प्रिये नोचितम् ॥

इति सम्पूर्णं श्लोकः ।

(C) अत्र रामोऽस्मि सर्वं सहे इत्यत्र सर्वदुःखयाजनत्वम्, रामेण प्रियजीवितेनेत्यत्र  
कातरत्वम्, रामोऽसौ भुवनेष्वित्यत्र चतुर्पगादिहन्तृत्वं च लक्ष्यते इति प्रदीपकाराणामातङ्का-  
प्रत्यम् ।

भवति ; तदवगमश्च शब्दार्थोपतः प्रकरणादिसम्बन्धेक्षवेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

उच्यते—यक्षगीघ्रस्थार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दामिधेय-  
वक्षिपतत्यमेव । न खलु मुख्येनार्थेन (A) अनियतसम्बन्धो लक्षयितुं  
शक्यते ; (B) प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः  
अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते ।

न च—

“अन्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोत्ति ।

मा पहिअ रत्तिअन्वअ सेज्जाणं मह णिमज्जत्तिसि (C) ॥१३६॥

शक्युत्पत्त्यर्थशक्युत्पत्त्यादिष्वपदेशहेतुर्यथा व्यङ्ग्यार्थस्तथा अर्थान्तरसंक्रमितवान्य  
लक्षणाभूलादिविशेषव्यपदेशहेतुर्लक्षणापेक्षित्यर्थः<sup>१</sup> । अनेकार्थशब्देति, तस्य यथा  
कावकारणगतिनियतत्वे तथा लक्ष्यार्थस्यापि उपस्थितशक्यार्थसम्बन्धिरूप नियतत्व  
मित्यर्थः । न खल्विति, ‘अनियतसम्बन्ध’ अनियतापस्थितशक्यसम्बन्धः ।  
प्रतीयमानस्त्विति । ‘नियतसम्बन्ध’ नियतापस्थितत्वसम्बन्धः । अनियतसम्बन्धः  
‘अनियतापस्थितशक्यसम्बन्धः । व्यङ्ग्यार्थबोधने लक्षणाहेतुर्मुक्त्यार्थबाधोऽपि

(A) अनियत इति अनियत सामीप्यसादृश्यनेपथीत्वादिप्रमिदसम्बन्धनिवृत्तता कदाचिद्व  
कल्पयितुं बुद्ध्यास्तु सम्बन्धो न्यस्य तादृशोर्ध्वं न खलु लक्षयितुं शक्यते अप्रमिदसम्बन्ध  
वति लक्षणाया नैवार्थसाधोनाभ्युपगमादिति भावः । यद्यप्युत्तरत्र नियतसम्बन्ध इत्याद्यौ सर्वत्र  
बहुव्रीहौभ्याः ।

(B) प्रतीयमान इति अर्थत्वस्वरूपकजनक, अन्वया द्योत्यते इति विधेयेनैकधा शाब्द-  
बोधोत्पत्तिरिति । यद्वा प्रतीयमानो न खल्वेवम्, तथाच सत्र इत्यप्याहारेण प्रकरणादिवशेन नियत-  
सम्बन्ध इत्यन्वयः ।

(C) अथेति । पठेऽस्मिन् ‘दिअहए’ इत्यत्र ‘दिअहए’ इति ‘मह भिमज्जत्तिसि’  
इत्यत्र च ‘महं मज्जिदिमि’ इति पाठो ज्येष्ठांशलोके नुव्रितः । अभिनवगुहाभाष्ये—

अत्राप्येते (अथवा निमज्जति) अत्राहं निमज्जं प्रकोच्य ।

मा पत्तिकं रात्र्यन्तं रात्र्यायामात्रयोर्मादृशी ॥

१ यत परं च चित्रितपुस्तके ‘सापेक्षान्तरमात्र—तदवगमयेति, लक्षणीयार्थान्तरमात्रार्थः । (अप्यपि)  
अवगमनमात्रेण, अनेकार्थस्य अत्रावगमनमात्रमात्र एतन्मते लक्षणासाधकत्वात् अर्थव्यपदेशादि प्रतिपद्य  
लक्षणाधीनत्वात् अत्रार्थस्य अर्थस्य व्यपदेशेन अत्रापि तदोपवीतिनादिति व्यापिक इत्यनेन ।

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थवाचः ; तत्कथमत्र लक्षणा ? (A) लक्षणापामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम् । (B) यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा तथा मुख्यार्थवाचादित्रय-  
नास्तीत्याह—अन्ता एत्येति ।

अथ श्रुतं निमज्जति अत्राह विवक्ष एव प्रलोक्य ।

मा पथिकं राज्यन्धकं शय्यायामावयोर्निमज्जसि ॥ इति संस्तुतम्  
राज्यन्धत्वेन कथितात्मानं कृतावासं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तित्वम् । अन्ता  
शब्दो देशी । निमज्जति शय्यानिमज्जा मृतप्राया तिष्ठतीत्यर्थः । अत्राहमिति निश्चित-  
निर्देशात् आत्मनोऽतथाभूतत्वं सूचितम् । 'अत्र निषेधस्य मुख्यार्थस्य बाधो नास्ति ।  
न च स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यान्निषेधस्य बाध एवेति वाच्यम्, उभयशय्याप्रवेशनिषेध-  
स्यैव वाच्यत्वेन तस्याबाधादेव' \* । प्रतिपादितमिति, 'यस्य प्रतीतिमाधातु' मित्या-  
दिनेत्यर्थः । लक्षणाव्यञ्जनयोरन्यदपि (C) वैधर्म्यमाह—यथा चेति । लक्षणाया शक्ति-  
रूपसमग्रविशेषसापेक्षत्वं बाधप्रतियोगितया मुख्यार्थोपस्थित्यर्थम् ।

अत्र 'तापिष्ठ' वा इत्यपठ्य, 'मईज' इति निपातोऽनेकार्थकृतिः, अत्र 'आवयो' रित्वर्थं  
न तु ममेति, एवं हि विशेषणमेष साङ्गकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काचित्  
श्रेयितपत्तिकां तरणीमवलोक्य प्रहृष्टमवनाङ्कुरं सम्पन्नं पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तप्राभ्युपगम  
इति निषेधाभावोऽत्र विधिः, न तु निमज्जन्त्योऽप्रवृत्ताप्रवर्तमानवशात् सौभाग्याभिमान-  
व्यञ्जनादप्रवृत्तात् । अत एव राज्यन्धेति, ममुपिनसमयसम्पन्नतपमानविकाराकुलितात् प्रवृत्तम्”  
इति व्यावक्षते । इतेन 'निषेधो गुमज' इति क्रमदीर्घरसुत्रानुसारेण 'गुमजिदिति' इति पदान्ते  
पठित्वा 'निषेधसि' इति 'निमज्ज' इत्यत्र 'निषेधेति' इति च मोक्षान्द्रम्यावरणानुवादी  
भोपादयः प्राचीनमतविरुद्धत्वात्, निपूर्वमसृजिना व्यङ्ग्यमर्थस्य विपूर्वसदिनाभावात् 'निमज्ज'  
इत्यत्र तात्पर्यानुसाराभावाच्च । अत्र अन्ताहं अन्ताह्नादिवद् आनुवाक्य एव इदानीन्तन-  
व्यवहारवत् प्राचीनेऽपि काले श्रुतपत्रा व्यावृत्त इति ज्ञात इत्यस्य श्रुतित्यनुवादे बीजं न  
चेति भाषातत्त्वविदा विचार्यम् ।

(A) ननु छान्दोग्ये गच्छन्तीत्याद्यनुसारेण तात्पर्यवाच्य एव मुख्यार्थवाच इत्यनेन विवक्षणीयः,  
तथाच प्रकृते स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यसत्त्वादस्यैव मुख्यार्थवाच इत्यत्र आह—लक्षणापामपीति ।

(B) व्यङ्ग्यार्थबाधे अभिधाया व्यापारत्वनिरसन्नयाय लक्षणावपक्षनिरासेऽपि योजयति  
यथा चेति ।

(C) यथाच मुख्यार्थवाचादित्रय-समग्रविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा व्यञ्जना तु नैवमिति स्पष्टं  
वैधर्म्यमिति भावः ।

1 'अत्र मुख्यार्थस्य शय्याप्रवेशनिषेधस्य न बाधः स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यसत्त्वात् निषेधवाच्योऽनुभवस्या-  
श्रवणनिषेधसाध्यादेव' च ।

समयविशेषस्यपेक्षा लक्षणा । अत एवाभिधापुञ्जभूता सेत्याहुः ।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननं तदनुगमेन तस्य दर्शनात् । (A) न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्; न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः; न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतनेनापि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधा-तात्पर्यं लक्षणात्मकस्यापात्रयानिवर्त्तो ध्वननादि पर्यायो व्यापारोऽनपह्नवीय एव ।

(B) तत्र 'अस्मा एत्थ' इत्यादौ नियतसम्यन्धः, 'कस्स ण व होइ रोसो' इत्यादौ अनियतसम्यन्धः ;

'तदनुगमेन लक्षणापभावादेन, 'उस्य ध्वननस्य । ननु हस्तपीन शीघ्रतरीभूता ध्वननमस्त्वित्यत आह—न च तदन्विति । ननु तथापि दीर्घतरीभूता अभिधैव ध्वननमस्त्वित्यत आह—न च उभयेति । ननु वर्णयन्तिपद्मभिर्देव तत्राप्यस्तीत्यत आह—न च शब्देति । 'नियतसम्यन्धः' इति यदुक्तं तद्विषयः\* दर्शयति—तत्र अस्तेति । शब्दाप्रवेशाप्रवेशयार्थङ्गचाराव्ययोर्भाषाभावरूपत्वेन प्रतियोग्यनुयोगिभावरूपसम्बन्धोपस्थितिनियमादिति भावः । कस्सु ण वेत्त्यादायिति प्रतारण व्यङ्ग्यार्थं, सन्नमत्पद्माणाञ्च वाच्यार्थं, तन्वृथनतन्वत्त्वञ्च प्रतारणे तन्वृत्तावन्धः,

(A) न चिति । न च ध्वननं तदनुगतं लक्षणातुगतमेत्यर्थं एवकारव्यवच्छेदमाह—अभिधेति । यदुक्तं भवति ध्वननाया क्वचिन्निगममूल्याया सर्वत्र शीघ्रतरीभूतलक्षणात्मकता न सम्भवति तत्र लक्षणाया अभावात् । तथाच अवङ्गमङ्गुल्यानै 'ङ्ग'काराणां केवलता मवाचकत्वमपि मस्ति गुणव्यङ्ग्यत्वम्, नात्राभिधाया लक्षणाया वा तन्वृत्तोऽपीति स्वीकार्येवातिरिक्ता व्यङ्ग्येति भावः । टीकाया व्याख्यानमन्वृत् ।

(P) यदुक्तं प्रतीयमानस्तु प्रकरणाविशेषकञ्च नियतसम्यन्धोऽनियतसम्यन्धसम्बन्धसम्बन्धप्रति सदुदाहरणमाह—तत्रेति । नियतसम्यन्धः 'अस्मा एत्थ' इत्यत्र स्पष्टः । अनियतसम्यन्धः 'कस्स ण व' इत्यत्र । तथाहि—अत्र वाच्यार्थं अघातन, पतिवोध्यं व्यङ्ग्यार्थं नेयं ध्वनिवाग्विषयैरूपं, तत्र स्वशब्दाधीनासूयाविक्रयप्रतिपादिकत्वं वाच्यार्थस्य सम्बन्धं ध्वनिवाग्विषयव्यङ्ग्यार्थप्रतिपादिकत्वं ध्वनिवागे अघातनशब्दाधीनासूयाविषयत्वमवात्, एव मा पुनरेवं दादृशी रिति निवृत्तिविषयक उक्तार्थकवोच्यो व्यङ्ग्यार्थः, तत्र च स्वशब्दप्रयोग्यप्रमोक्तसाधीनरक्षाविषयवृत्तिरङ्गोक्तस्य क्रियावधिकत्वं सप्रमत्पद्मा

विपरीतरूपं लब्धी यम्हं ददृशूण नाहिकमलदृष्टं ।

हरिणो दाहिणमणं रसाउला क्षति दक्खे ॥ १३७ ॥

तस्य च न नियमत उपस्थितिः तत्कथनजन्यत्वानुपस्थितावपीय प्रतारयतीति बोधो-  
दयात् (A) । चक्रवर्त्ती तु अनियतसम्बन्धं विभिन्नबोद्धकत्वम्, व्यङ्ग्यवाच्यबोद्धो-  
(B) कान्ताकान्दयोर्विभिन्नत्वात्; लक्ष्यार्थे तु तथास्ति 'तद्वोद्गुरेव वाच्यबोद्धत्वादिति  
व्याचष्टे, तत्र, विभिन्नबोद्धकत्वं यदि वाच्यार्थबोद्धबोध्यत्वं तदा प्रकृतेऽपि तत्रास्ति  
कान्ताया उभयबोद्धत्वात्' । 'न च वाच्यार्थबोधः शाब्दो विवक्षितः कान्तायास्तु बाधा-  
प्रतारात् न शाब्दो वाच्यार्थबोध इति वाच्य लक्ष्यार्थबोद्धरपि बाधात् शाब्दवाच्यार्थ-  
बोधामावेत तुल्यत्वात्' ३ । यदि तु स्वाबोद्धबोध्यवाच्यकत्वं 'तत्, तदा लक्ष्यार्थ-  
ऽपि तदस्ति' ४ अनवतीर्णबाधेन पुरुषेण वाच्यार्थस्यैव बुद्धत्वादित्यतस्ततो वैलक्षण्य-  
भावात्' ५ । विपरीत इति—

प्रावरूपस्य वा वाच्यार्थस्य सम्बन्धः, सप्रमरपद्याप्राप्तत्वात्नेन हि व्यभिचारशान्तिवृत्त्या  
मायिका परित्राता, सद्रवृत्तिः शब्दोत्पादकक्रिया प्रकटमणकारकईशानादि सारवधिका निवृत्तिश्च  
बारापोपविद्धा । एवं प्रतिपाद्यभेदेन अन्येऽपि प्रदर्शितेषु व्यङ्ग्यार्थेषु यथास्वं वाच्यार्थ-  
सम्बन्धा कर्तव्याः । तथा च लक्षणात्यये लक्ष्यार्थे वाच्यार्थस्य सम्बन्ध एवविध एव, सोऽपि  
प्रसिद्धः, व्यङ्ग्यान्ते च प्रतिपाद्यादिभेदेन भिन्ने व्यङ्ग्यार्थे वाच्यार्थसम्बन्धः प्रत्येक दूर-  
विभिन्न भसिपरम्परात्वेनाग्रिमिदं तथाऽपि न नेयार्थलक्षणावद् वैरन्त्यमावहति प्रत्युत सकल-  
सङ्ख्यानन्तरपरामुत्पादयतीति सम्बन्धस्य एवविधशालुस्यमेव अनियतत्वमिति तत्र अनियत-  
सम्बन्धः । एव च दुरपहृष्टं एवव्यङ्ग्योर्मियो वैलक्षण्यम् । तत्रैलक्षण्याच्च तद्बोधकयो-  
र्लक्षणाव्यवृत्तयोपि भेदो दुर्धनः । सम्बन्धसम्बन्ध इति, बहुवीहिषा सम्बन्धसम्बन्धाभ्रय  
इत्यर्थः, तथाच वाच्यस्य हरिपदार्थस्य सूर्ये व्यङ्ग्ये स्वावयवाभेदः सम्बन्धः, एवं वाच्य-  
सम्बन्धस्य सूर्यस्य स्वावर्तनजन्यत्वम् अस्तमयात्मकसन्ध्याकाले व्यङ्ग्ये सम्बन्धः, तत्काल  
वाच्यार्थसम्बन्धसम्बन्धः । ध्वंसुत्तरोच्चर योज्यम् । अविकृतसम्बन्धस्यैव व्याख्यान्तराणि  
सङ्गणानि च प्रदीपे दृष्टव्यानि ।

(A) अत्र प्रतारणरूपो व्यङ्ग्यार्थः उभयार्थकदृष्टापरतत्राधिकारबोध इति बोध्यम् ।

(B) सर्वैकप्रेषाभावश्चिन्त्यः ।

१ 'न च वाच्यार्थबोधः शाब्दो विवक्षितः कान्तायास्तु बाधा-  
प्रतारात् न शाब्दो वाच्यार्थबोध इति वाच्य लक्ष्यार्थबोद्धरपि बाधात् शाब्दवाच्यार्थ-  
बोधामावेत तुल्यत्वात्' ३ । यदि तु स्वाबोद्धबोध्यवाच्यकत्वं 'तत्, तदा लक्ष्यार्थ-  
ऽपि तदस्ति' ४ अनवतीर्णबाधेन पुरुषेण वाच्यार्थस्यैव बुद्धत्वादित्यतस्ततो वैलक्षण्य-  
भावात्' ५ । विपरीत इति—

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः । अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते, तन्निमीलनेन सूर्यास्तामया, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम्, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।

अखण्डबुद्धिनिर्गोहो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च

विपरितरते लक्ष्मीब्रह्मण इण नामिकमलस्यम् ।

हरेर्दक्षिणनयन रसाङ्गुला मृदिति दौकते ॥ इति सस्यत्तम् ।

दौकते (A) भाञ्छादयति । प्रहतरते हरेर्नुज्जत्वेन नामिकमले ब्रह्मण स्थित्यसम्भवाद् विपरितेत्युक्तम् । रसाङ्गुलत्वेन प्रोडपाऽपि न रतिरयाव इति सूचितम् । दक्षिणनयनदौकतवीजं स्वयमेव व्याचष्टे—अत्र हि हरिपदेनेति । सूर्यात्मकता च पुराणसिद्धा (१) । तन्निमीलनेनेति, अथ निमीलनजन्यत्वं सम्बन्धं, एवमुत्तरोत्तरमपि बोध्यम् ।

ननु शब्दाधीनप्रतीतिको योऽर्थः स शक्यलक्ष्यान्तर एवेति व्याप्ते 'ससर्गे व्यभिचारस्य नैयार्थिकमोमांसकसतयो सम्भवेऽपि खैवान्तिकमते तद्वत्सम्भव इत्या-  
शङ्कते' \*—अखण्डेति । अथ अथाखण्डेति इच्छिन् पाठः ग्रामादिकं यय समाधाने प्रश्नोत्तरभावाभावात् । (०) 'अखण्डबुद्धिः' 'प्रक्षानिज्ञसत्पुष्टसकलपदार्थ' विरचिका बुद्धिः ।

(A) यद्यपि सौकिर्गमनायै पठितस्तथापि भावनामनेकार्थत्वाभावादेऽपि वृत्तते । तथाच शाङ्कतरे वृत्तयेऽङ्गे 'असन्दोते उग किं करोति' इति शङ्कन्त्यलोके 'इदम्' इति शङ्कं वक्षरात् पर 'इति' व्यवसितः । शङ्क—वङ्कं दौकते' इति वङ्कदेसीयमुद्रितपुस्तकेषु दृश्यते । उद्गोतकारास्तु 'वङ्क' इत्यस्य 'स्थगयति' इत्यनुवादः वङ्कः ।

(B) 'चन्द्रमूर्पात्मके विष्णो बहुवी वायव्यदक्षिणे' इति विवरणस्तं पुराणवचनम् ।

(१) अखण्डबुद्धिरिति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह शाखास्ति किंचन' इत्यादि वाक्यममुत्या बुद्धिरखण्डबुद्धिः । तथाच—

अविशिष्टपदार्थायनेकशब्दप्रकारितम् ।

एकं वेदान्तं निष्णातास्तत्रसम्बन्धं प्रवेदिरे ॥

इति उभासागरकारादीनां व्याख्यानम् । प्रकारसंग्रहणवगाहिनी मङ्गलविषयिणी बुद्धि-

१ 'नयविश्वमीमांसकमतयो सहजं अभिचारः अथवात्रपि न वेदान्तिकम्' तस्यै ब्रह्मभिप्रायाः समुद्र पदार्थांशमवच्छास्येन मन्त्रेण बोधनात् समगंशपि प्रख्यातदिनत्र चाह कः । ॥ अत्र एतदर्थो 'नय विवे'ति न दृश्यते । ३ 'विश्वविद्या' च ।

वाचकम्<sup>(A)</sup> इति चेऽप्याहुः, तैरप्यविद्या'पदपतितैः पदपदार्थकल्पना

(A) वाक्यार्थ एवार्थ इति, 'तथाच वाक्यान्तर्गत' संसर्गोऽपि वाच्य एवेति न तत्र व्यभिचार इति भावः<sup>२०</sup> । समाधत्ते—तैरपीति, ब्रह्मद्वैतग्राहिणामेव तादृशी बुद्धिः,

सखण्डबुद्धिरिति च अग्रेऽपि भुज्झति । यद्यपि एतदनुमारेण 'ब्रह्मभिन्नसखण्डकल्पदार्थ-  
विपर्यया बुद्धि' इति टीकाकृतम् असखण्डबुद्धिपदव्याख्यानं प्रथमतो विपरीतमिव प्रतिभाति  
कथाऽपि 'एवं घटमात्रेणैवाद्यौ घटकमन्त्वादे पृथगुपस्थितस्य वैशिष्ट्यविषया बुद्धिः सखण्डा,  
भट्टपृथगुपस्थितयोरेतिष्यविषया असखण्डा बुद्धि' इत्युक्तप्रत्यक्षदर्शनेन ह्ययं प्रथममित्याद्याकारेण  
प्रपञ्चविपर्ययी बुद्धिरपि असखण्डबुद्धिपदवाच्या भवतीति नात्र दोषावन्तः । एतेन 'असखण्डबुद्धि-'  
व्याख्यापार्थं प्रथमतो ब्रह्मभिन्नेत्यादिरूपेण सखण्डबुद्धिरेव व्याख्यासा, तत्रच तद्विल्लङ्घना बुद्धिरसख-  
ण्डबुद्धिरिति टीकाकृतमभिप्रायः, टीकाया 'असखण्डबुद्धि' इति तु 'सखण्डबुद्धि' इति लिखितश्लो-  
कैरिदं प्रमादादुक्तमिति चेन्न किञ्चिन् कल्पना चिन्त्या ।

(A) असखण्डबुद्धिनिर्वाहो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च वाचकमिति । अन्योऽयं  
दुर्बोधः, टीकाऽपि क्वचिद्विपरीतेषु प्रतिभातीति मतम्वास्य ह्यसखण्डार्थं प्रमासहितं प्रतीपं  
अङ्गिरते—

'वेदाग्निनस्तु—क्रियाकारकादिपुस्तकारेण शब्दानां प्रवृत्तिर्वर्णनमभिभावमपुनरुक्तं न सम्भ-  
वति । धर्मवर्णनमात्रं प्रपञ्चगोचरो वा स्यात् न ह्यगोचरो वा । वाऽऽद्य, प्रपञ्चस्य बाधत्वाद् ।  
नास्त्य, प्रपञ्चो धर्मशून्यत्वात् । अतः पदपदार्थविभागात्मन्तरेणैव 'सत्त्वं विज्ञानम्'  
इत्यादि वाक्यमसखण्डब्रह्मवाचकमित्यानिष्ठन्ते । अतस्तत्कृतानुमारेण प्रतीयमानेऽपि वाक्यस्य  
शक्तिरेवेत्यपि न वाच्यम्, यतो व्यवहारमार्गे तैरपि पदपदार्थकल्पनाऽवश्यमङ्गीकर्तव्या ।  
व्यवहारे तेषां महत्त्वमपीकारात् । यदि च पदपदार्थकल्पनाऽविद्यात्वायामपि प्राप्तीक्रियते  
कुतश्चैहि व्युत्पन्नाव्युत्पन्नविभवा ? वाक्यार्थ एव वाक्यस्य सत्वेत्तद्विभागाभिरप्येति चेन्—न,  
वाक्यार्थत्वापूर्वत्वेनाऽऽवक्तव्याच्च तत्र सङ्केतग्रहण्यस्तकल्पत्वात्, भविष्यामागंतिकान्तरे च कथ-  
मसखण्डरोरपि वाच्यवाचकभावः पारमार्थिकभेदाभावात् । तस्मान् सन्मतेऽपि विध्यादि-  
व्यङ्ग्य एव' ।

२० वाच्यत्वमिदं प्रमादकारं—क्रियाकारकादीति, आदिना बुद्धिरोचनानां सर्वह । पुस्तकारेण  
तदोद्गारेण, प्रवृत्ति वाक्यार्थबोधकता । धर्मोति, अपुस्तकत्वं अनादत्वं । कारकाणां क्रिया-  
धर्मत्वस्य विशेषणानां गत्यादीनां च कारकविशेषणत्वस्यावश्यकत्वात् । वाच्यत्वादिति,  
स्याच्च सत्यादि वाक्यं बाधितार्थकं स्यादिति भावः । धर्मशून्यत्वादिति, भद्वितीयेन (अदि-



कर्तव्यवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विख्यादिव्यङ्ग्य एव ।

ससारितादशायां तु पदपदार्थविभागोऽस्तीति तन्मतेऽपि सस्ते व्यभिचार एवेति भावः । 'उक्तोदाहरण' निशेयेत्यादि ।

सीदत्येव ! ) सत्यत्वादियमंशून्यत्वादित्यर्थः । इयं च सन्मते वाक्यमहागुणार्थवाक्यमिति भ्रान्तस्य शङ्केति शेषम्, तैल्लक्षणाया एव स्वीकारात् । वस्तुतस्तु 'विख्यादु'रित्यादिवृत्तिपन्थो वाक्यस्फोटोद्गीकर्तृ-वैयर्थ्यकरणमताभिप्राय एव समग्रम् ।

यथाहु —माह्नगायौ यथा नास्ति कश्चिद्वाह्यकम्बले ।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्पका ॥ इति ।

अविद्यापदैत्यस्य च प्रक्रियादशापन्नैरित्यर्थः । तदप्युक्तं तैरैव—'असत्ये चार्त्तानि स्मिन्नात्मन सत्य समीकृते' इति ।

असत्यतया प्रक्रिया अविद्यापदेनोक्ता । तत्पदभ्रवणाच्च वेदान्तिमतमुक्तमित्यभिमान इति शेषम् । इति ।

अलङ्कारुदिनिर्णय इति पक्षस्य टीकाया च चिह्नितपुस्तके स्थितं पादान्तरम्—एतत्प्रभा-  
व्याख्यामत्यांशात् सादृश्यमावदतीति भ्रान्तं यथास्थितं तदुद्ध्रियते—“बन्धस्य शाक्तिव्यवृत्ताभेद-  
विचार तदुक्तकथनज्ञाने सत्येव, तदेव तु नास्ति । तथाहि वाक्यस्यैव प्रयोगयोग्यत्वेवाह्वय-  
पदार्थं पञ्चाक्षर्यवाक्यार्थं, ॥ च व्यङ्ग्यत्वाभिमितपदार्थोऽपि भवति । पदार्थस्तु स्वविज्ञास्ति ।  
तदुक्तं भर्तृहरिणा—

माह्नगायौ यथा नास्ति कश्चिद्वाह्यकम्बले ।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्पका ॥ इति ।

अस्यार्थः —माह्नगसम्बन्धिनि कम्बले प्रतीयमाने यथा माह्नगरूपोऽर्थो नास्ति तत्सम्बन्धित्व-  
विशिष्टकम्बलन्यासपक्षस्य प्रतीतिः, तथा देवदत्तो गच्छतीति वाक्ये देवदत्तसम्बन्धिगमनस्या-  
सङ्गजन्य प्रतीतिः सङ्गभूता देवदत्तादयोऽनर्थक्यास्तदर्थभिन्ना एव स्युरित्येतद्वैयर्थ्याह्वयमत-  
माशङ्कते—अलङ्करोति । समापत्ते—तैरपीति, अन्यथा घटमानयेति वाक्ये एव व्युत्पन्नस्य भ्रान्त-  
धमिति वाक्यस्तदर्थबोधो न स्यादिति भावः । एवं च पदपदार्थरूपतयावादेवापश्रयभूतस्य  
व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्याणां तु पृथक्त्वे व्यवहारापि नृथगिति भावः । एवं च पदार्थरूपतयाऽद्वैतदर्शना-  
तत्पक्षानिनां नास्ति पदपदार्थयोऽपि मलमिश्रत्वेन तैरवगतत्वादित्याह अविद्यापपत्तिरिति ।  
अविद्या द्वैत्युद्दिष्टे तु मिथ्या वासना” इति ।

(Δ) वाक्यार्थ एवार्थ इति । इदं 'वाक्यार्थ एवार्थ' इति वृत्तिपाठाभिप्रायेण । अर्थ-  
इत्यस्य वाच्यार्थ इति व्याख्या । ग पुस्तके तु 'वाक्यार्थ एवैवार्थ' इत्येव वृत्तिप्रत्यो घट ।

(A) ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् घस्य-

‘व्यङ्ग्यार्थोऽनुमितिगम्य एवेति नैयायिकमतमुत्पापयितुं वाच्यार्थं पते व्यङ्ग्यार्थस्य साथस्य बाधनिरासिकां भूमिकामाह—वाच्यादसम्बद्धमिति । ‘अप्रतिबन्धे’

अस्माभिस्तु संगतत्वा मुद्रितबहुमुक्तकालुमाती पाठो गृहीतः । क्वचित् ‘वाच्य’ इत्यत्र ‘वाच्यार्थ’ इति पाठान्तमुपलभ्यते ।

(B) परोक्षं प्रतीये स्फुटतरीकृतं तेन वृत्तिग्रन्थस्यापि क्वचित् खल्वेवता सम्भाव्यते तदर्थं हेतोरसिद्धताप्रतिपादनपर्यन्तस्तदुपन्य उद्ध्रियते । ‘अहिममहास्तु—न खल्वदमवद् एव वाक्यात् प्रतीयते, सर्वस्मात् सर्वोपलब्धिप्रसङ्गात् । सर्वस्याप्यव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकभाषो भवप्रानियताग्रप्रतीति प्रतिबद्धस्यादेव संवतीत्युपेयम् । प्रतिबद्धोऽप्यर्थो न स्वाधिकरणत्वेनाज्ञाते व्यङ्ग्ये प्रणि- पाद्यति, सर्वत्र तदप्रतीतिप्रसङ्गात् । एवं च व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकभाषोऽनुमेयानुमापकभाष एव सर्ववत्तम् । यतो व्याप्तत्वेन सकलव्यङ्ग्यनिष्ठत्वेन च सप्तशतस्य-विपश्चात्सत्य-पक्षपरत्वलक्षणरूप- प्रपञ्चतो विद्वत्सिद्धिज्ञानमेवानुमानम् । तदेतदुक्तमनुमानं यत्तद्रूप इति तेनानुमानेनानुमित्वा कथ्यते न त्वतिरिक्त्या व्यवहरेति हि मत्स्यार्थः । एवंमनुमानादेव व्यङ्ग्यप्रतीति । तथा हि—

अथ धम्मिभः ।

सङ्केतनिकेतनीमूलं गोदावरीतीरनिकुञ्जं पुष्पावचणादिहेतो कदाचित् संचरतो धार्मिकस्य तन्निवारणायाचिनयवत्त्वा इयमुक्तिः । तत्र निकुञ्जवामिसिद्धकृतया दशनिवृत्त्या गृहे भ्रमणविधि- बाध्य, त एव निकुञ्जभ्रमणयोग्यतानुमित्यै प्रभवति, यद्वयमीरभ्रमणं तत्तद्वयकारण- निवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, निकुञ्जे च सिद्धोपलब्धिरिति व्यापकविहङ्गोपलब्धौ पदंयमानाह भ्रमणस्य व्यापिका भयकारणमावोपलब्धिं प्रतीता, तद्विहङ्गं यद्वयकारणं तदुपलब्धे, यथा नात्र तुषारं स्पर्शो बह्वे । अनुमानं च—इदं गोदावरीनिकुञ्जं दशमीरभ्रमणयोग्यं सिद्धवत्त्वादिति ।

अत्रोच्यते—दशमीतीरमीर-स्वभावात्स्य भ्रमणायोग्यत्वमत्र साध्यं चीरस्वभावात्स्य वा, विशेषीदामीत्येन सत्त्वामास्यन्यैव वा ? आद्ये व्यभिचारः, प्रचोर्भूतोऽं निदेशेन प्रियानु-

कस्यचिदर्थाय प्रतीतेः प्रसङ्गात् एवञ्च (अ)सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जक-  
भावोऽप्रतियन्तेऽवश्यं न भवतीति (ब)व्याप्तत्वेन नियमवर्तिनिष्ठत्वेन  
च त्रिरूपाद्विद्वाद्विद्विज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्ववस्यति । तथा  
हि—

अम धम्मिअ 'वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।

गोलाणैकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण(७) ॥ १३८ ॥

मत्सम्बन्धे, 'अवश्य' सर्वथा । व्याप्तत्वेनेति साध्याभावाद्बुद्धित्वेनेत्यर्थः । तेन  
विपक्षावृत्तित्वमेकं रूपं दर्शितम् । अन्यत् रूपद्वयमाह—निघतेति, साध्यप्रत्ययेन  
नियतौ यौ घटिणौ पक्षसपक्षौ तन्निष्ठत्वेनेत्यर्थः । तथाच पक्षसपक्षवृत्तित्व  
विपक्षावृत्तित्वात्मकरूपप्रययतो लिङ्गादित्यर्थः । "लिङ्गिनि" पक्षे, 'मान' साध्यस्य  
'अनुमानम्' अनुमिति, 'तद्रूप' व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यन्वयः" \*० । "तदनतिरिक्त  
इत्यर्थः" \*० । तदेव उदाहरणेन दर्शयति—अम धम्मिअ इति ।

ज्ञानं निमित्ताभादिद्वया वा तादृशव्यापि सत्र अमणदर्शनात् । अत एव नान्त्योऽपि । मध्यमे  
तु चितोय, स्थापितद्वयाग्नौस्त्वेषतया वा स्वतो विध्यवोऽपि दृग्मादिकुलहेतु  
सिद्धवोऽपि वीरस्य प्रमणान् । किञ्च, पक्षे सिद्धसद्भावो न भावान्तरेणावधारितः, किन्तु पुञ्जली  
वाक्याद्वधारितः, न च तद्वचनं विशयकम्, अर्थेन सार्धं संकथानियमात्, इत्यनिश्चय  
स्थापतिदि' इति ।

(A) सम्बन्धादित्यन्तरः "अवशि"ति पूरणीकम् । तेन सम्बन्धाद् भवत् व्यङ्ग्यव्यञ्जक-  
भावः अप्रतियन्ते व्याप्तिकसम्बन्धाभावे न भवतीत्यर्थः ।

(B) व्याप्तत्वेनेति । साध्याभावाद्बुद्धित्वविनिष्टं साध्यव्याप्यत्वाधिकार्यं प्रतीति, एतेन  
हेतो विपक्षावृत्तत्वमपक्षसत्त्वयोर्लभः । निवृत्तवर्मी हेत्वधिकार्यतया ज्ञातो वर्मी, तन्निष्ठत्वेन पक्ष-  
वृत्तित्वकायः । तेन लिङ्गं क्वाव्योपपन्नं भवतीति अनुमित्युपयोग इति भावः ।

(C) भवेति ।

अम धम्मिअ विपक्षञ्च स सुणकोऽयं मारिस्तेन ।

गोदावरीन्दीवृत्तञ्च तस्यैववासिना दारिद्र्येन ॥

इत्यनूय व्याख्यातमिदमाचार्यमिनवगुणपदे —कस्यापि सङ्कल्पानं भवितव्यस्यायमानं

१. 'वीरस्य' इति पदे नियमः आलुपारः । २. 'विद्विज' वाक्यस्य ज्ञानं तदेव च अनुमानमनुमिति,  
तद्वो अत्राव्यञ्जकभाव इत्यर्थः" इति क-प्रत्यये पाठः ३. 'यत्ने' चप यत्तिदि विद्वद् अनुमायवस्य इत्यर्थः" य ।

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धे-  
रभ्रमणमनुमापयति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्व्यकारणनिवृत्त्युप-

भ्रम धार्मिकं किञ्चस्त स श्वा भयं मारितस्तेन ।

गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना हस्तसिंहेन ॥ इति ससृष्टतम् ।

अभ्रमस्याया कुलस्याया गोदावरीमश्रितिकुञ्जरूपे सङ्केतस्थाने प्रतिदिनं पुष्पाव-  
चयेन सङ्केतमङ्गं कुर्वाणं ह्यश्रितिकुञ्जरोपदेवेणाप्यनिवृत्तं धार्मिकं प्रति तस्या  
दिनान्तरे उन्किरियम् । गोदावरीतीरे यो दिनान्तरे त्वामुद्वेजयति स श्वा भयं  
सम्प्रति तेन प्रसिद्धेन गोदावरीसश्रितिकुञ्जवासिना हस्तसिंहेन मारित इत्यन्यथ ।  
(१) अभ्रमणमनुमापयतीति सिंहोपलब्धिरिति पाठे सैव कथं । सिंहोपलब्धेरिति

धार्मिकमभ्रमणान्तरावदोषात् तद्वत्तुल्यमानपञ्चकुसमाश्रितिविच्छादयिकरणाच्च परिश्रामुमिषमुक्ति ।  
तत्र स्वतः सिद्धमपि भ्रमणं (श्व)भयेनापोहितमिति श्रुतिप्रसवात्मको निषेधानाचक्ष्य,  
न तु वि(नि)योगवैवादिस्थोऽत्र विधिः । अतिवर्गास्तकालयोर्ह्यंशं लोद । भ्रमेति ।  
भगिण्योऽपि(नि) प्राप्स्यते भ्रमणमल । धार्मिकेति, कुतश्चाप्युपलक्षणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् ।  
विभ्रम इति शङ्काकारणवैकल्यात् । स इति कथं भयप्रकम्पाम् अङ्गलतिकामकृत । भवेति,  
निष्ठा वर्तमान इत्यर्थः । मारित इति, पुनस्त्यनुन्यायम् । तेनेति, य पूर्व कर्णोपकर्णिकया  
स्वाऽऽप्यकर्णितो गोदावरीकच्छमाहने प्रविश्यतीति । पूर्वमेव हि स्वदत्तस्यै तत्त्वस्योपभ्रमवितोऽस्तौ,  
स बाधुना तु हस्तत्वात्ततो गृह्णात् नि सतीति प्रमिदुगोदावरीतीरेपरित्यानुमरणमपि तावत्  
कथाशेषीभूतं वा कथं तद्व्यागहमप्रवेष्टाह्वा इति भाव इति ।

(४) इत आरभ्य (२७१) पृष्ठे हेतोरन्वयवृत्तित्वादितिपर्यन्तं य-पुस्तकपाठोऽप्यस्मै  
विभिन्नोऽपि विशेषार्थप्रतिपादक इति लिप्यन्यामेव उद्दिश्यते—

‘इदञ्च वाक्यं सङ्केतस्थानस्य सिंहवत्त्वकथनात् तत्राभ्रमणव्यञ्जकम्, तत्राभ्रमणमनुमानगम्य-  
मेवेत्याह—अत्रेति । विहितमित्यन्त गोदावरीतीरेदेशस्य वाक्यस्य पक्षदत्तानपरम् । विहित-  
मित्यस्य कुल्यतेति शेषः । सिंहोपलब्धेरिति हेतुप्रदर्शकम् अभ्रमणं भीरुधार्मिकस्य, सिंहोप-  
लब्धिरपि पुनर्वाक्यग्रन्था सम्यैव, अनुमानं च पुनस्त्यनुन्यायार्थं सामाखिकानाम् । अनुमापयती-  
त्यत्र सिंहोपलब्धिजनकमेतद्वाक्यमेव कर्तुं बोध्यम् । सिंहोपलब्धिरिति पाठे सिंहोपलब्धिरूप-  
हेतोरत्र विवक्षावशात् कर्तुं स्य बोध्यम् । सिंहोपलब्धेश्च विषयतासम्बन्धेन पक्षवृत्तित्वं बोध्यम् ।  
स्याचार्यं प्रयोग—गोदावरीतीरेदेशो भीरुधार्मिकेण अभ्रमणोऽथ सदीयसिंहोपलब्धेरिति ।  
तेन अन्यदीयसिंहोपलब्धित्वे चतुर्भ्रमणमत्वेऽपि न व्यभिचारः । पक्षोऽत्र ह्यसिंहोपलब्धि-  
मत्वेन विशेषणीय, तेन अन्यद्वा सद्भ्रमणमत्वेऽपि न बाधा, एकतापक्षोदकापक्षेदेन साध्यस्य

लब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोप-  
लब्धिः ।

पाठे कुलदाया पापयमेव कर्तुं । अत्र च गोदावरीतीरे निवृत्त तद्गीतास्मरणाय  
तत्र तस्य सिंहोपलब्धेरिति सामाजिकानामनुमानम् । अग्रमणश्च उपलब्धिनाले  
बाध्यम्, तेन अन्यत्र भ्रमश्चेऽपि न बाध । तत्र च एतादृशशब्दजन्योपलब्धिभिरेव  
एव हेतुः स च त्रिवयत्तसम्बन्धेन पञ्चमात्रवृत्तिबाधव्यतिरेकीत्यभिप्रायेण व्यतिरेका  
शहरणमाह—यद् यदिति । भीरोर्भ्रमण यत्रेति बहुमीहिषा 'भीरुभ्रमण' स्थानम्, तेन  
भीरोरभ्रमणरूपस्य साध्यस्य अभावेन भीरुभ्रमणेन विशिष्टं यद् यत् स्थानमित्यर्थः,  
तेन यद् यत् साध्याभाववदित्यर्थः । तद्व्यपकारणेति । भयकारणमत्र सिंह तस्य  
निवृत्त्युपलब्धि उपलब्धिनिवृत्ति राजदन्तादिनमासात् । निवृत्तिरत्र अभाव एव,  
पूर्वकमित्यस्यापि विशिष्टमित्येवार्थः । तेन यद् यद् भीरुभ्रमणविशिष्टं स्थानं  
तत् सिंहोपलब्ध्यभावविशिष्टमित्युदाहरणाय । साध्याभावव्यपकारमात्रप्रतिपादित  
हेतुः पक्षे उपनयति—गोदावरीतीरे चेति । साध्याभावव्यपकारमात्रप्रतिपादित  
बोधात् । तन्मिहोपलब्धिमात्रं तच्छब्द(तच्छब्द)वृत्त्यैव सामाजिकैवगतनि मैवात्र हेतुः ।  
स च पञ्चमात्रवृत्तित्वेन व्यतिरेकपक्षेणो व्यतिरेकेणोद्घाटनं प्रयुक्ते यत् यदिति । भीरुभ्रमण  
मिदत्र भीरोर्भ्रमणं यत्रेति बहुमीहिषा भीरुभ्रमणवदित्यर्थः, तत्राभ्रमणस्य साध्यव्याभावानां  
भ्रमणानामधिरणानुक्तानि । तथा हेतुमात्राधिकरणवत्माह—तत्र(इति) । भयकारणमत्र सिंह  
तस्य निवृत्त्युपलब्धिस्तच्छब्दनिवृत्तिः ; राजदन्तादिरत्र हृतं यस्मात् पूर्वज्ञानस्य व्याकरण-  
मुत्पत्तिर्नास्ति । निवृत्तिर्नाभाव मिहोपलब्धि अ(लब्ध)भावो भयकारणनिवृत्त्युत्पत्तिरित्यत्र त-  
स्यापि विनिवृत्ती विनिवृत्त्यैव पूर्वपक्षेण तदनुसारतः पूर्वपक्षे विनिवृत्त्यर्थकम् बहुमीही  
च कथयति । तथाच सिंहोपलब्ध्यभावविशिष्टकामिति तत्तत्त्व्याग्निसमुत्पत्त्य । तथाच  
यत् यत् भीरुभ्रमणवत् तत् तत् सिंहोपलब्ध्यभाववदिति व्यतिरेकणोद्घाटनमुक्तम् । कथयति  
भवपक्षं प्रयुक्ते—गोदावरीतीरे चेति । सिंहोपलब्धेर्ना साध्याभाव(व्यापकभाव)प्रति-  
योगित्वं दर्शयति—व्यापकति । व्यापकस्य साध्याभावव्यापकस्य अभावस्य विना प्रतियोगिनी  
उपलब्धि सिंहोपलब्धिर्गोदावरीतीरे इत्यर्थः । सिंहोपलब्धेर्गोदावरीतीरेति तत्त्वमुक्तं तस्या  
व्यापकविरुद्धत्वं वाक्यान्तरेण कथितमिति च पौनरुक्तम् । आहर्षयति । भीरोद्घाटिका  
उपीत्यर्थः, अन्यभीरुभ्रमणस्य साध्याभावव्यपकारमात्रात् । त्रियानुरागवति सिंहोपलब्धेर्गोदावरी-  
तीरेदेशप्रविष्टप्रियानुरागेत्यर्थः । अयं चेति यन्त्रैयप्रविष्टात्यर्थः । अत्रैकचित् इति,  
पक्ष एव व्यभिचारित्यर्थः ; कथयति तच्छब्दे सिंहोपलब्धेरभावमात्रम् इति ।

अत्रोच्यते । भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण  
अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे अमतीत्यनैकान्तिको  
हेतुः । शुनो विभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न विभेतीति विरुद्धोऽपि ।  
गोदावरीतीरे सिंहसङ्गावः प्रलक्ष्यादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु  
वचनात् ; न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिपत्त्यादित्य  
सिद्धश्च<sup>(A)</sup> । तत्कथमेवंविधाद्वेतोः साध्यसिद्धिः ।

हेतोरशयति—व्यापकेति । व्यापकः साध्याभावस्य हेत्वभावः, तस्य विरुद्ध  
प्रतियोगिनी हेतुभूता उपलब्धि सिंहस्य पक्षेऽस्तीत्यर्थः । प्रियानुरागेणेति,  
सिंहपक्षेऽप्यविद्यां प्रियमानेतुमित्यर्थः । 'अनैकान्तिक' व्यभिचारी, स च पक्षेति  
बोध्यम्, हेतोरन्वयवृत्तित्वात् । विरुद्धोऽपीति, शुनो भीरुरपि एव वीरस्तदा  
सिंहोपलब्धिमति गोदावरीतीरे भव्यं अमतीति साध्याभावस्य व्याप्य सिंहोपलब्धि-  
रूपो हेतुर्विरुद्ध इत्यर्थः । भव वचनार्थी—'आम्यदेशे सिंहोपलब्धिरस्ति, न च भीरोस्तत्र-  
अमपमिति 'साध्यमहवारी हेतुरयम्, न विरुद्ध, किन्तु व्यभिचारितो (व्यभिचारितो ?)  
व्यतिरेकी विरुद्ध इति पारिभाषिको विरुद्ध इत्येवार्थः' इत्याह, तत्र, हेतोरस्य  
व्यतिरेकित्वे पक्षमात्रवृत्तिश्चादगम्यदेशे तदसम्भवात्, अन्यत्र तत्सत्त्वे व्यतिरेकित्व-  
स्यैवासम्भवाच्च, व्यतिरेकिणां व्यभिचारित्वे विरुद्धत्वस्य सुतरां सिद्धत्वेन  
व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इत्येत्यर्थवशप्रान्तकथनरूपत्वेन परिभाषितत्वा-  
भावाच्च<sup>१०</sup> । सन्दिग्धासिद्धिमपि दर्शयति—गोदावरीति । अपि तु वचना-

(A) 'अत्र गृहे' इत्यादे 'असिद्धश्च' इत्यन्तस्य ग्रन्थस्य वृत्तभवति प्राचीनै ह्य  
व्याख्यानं न परितोऽमुदवाच्यम्, तदीक्षं तु प्राधान्येन इत्यम् । अङ्गात्वंशेषस्यानुमितित्वमस-

१ 'वैत' साध्यवृत्तित्वात् न विरुद्धत्वित्वात् व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इति पारिभाषिको  
विरुद्ध एवाचेत्याह, तत्र, भव्यार्थीहेतुादिवाच्यत्वोपपन्नमेव च हेतुत्वेन तस्यागम्यदेशे चवत्वेन  
साध्यमहवारीभावात् अन्यथा व्यतिरेकित्वेन तत्र न च सात्त्व्यभिचारस्य ज्ञातुं दर्शितत्वेन पौनःपुन्य-  
पक्षे, न । साध्यमहवारीत्वं विरुद्धत्वित्वात् व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इति पारिभाषिकविरुद्ध एवेत्याह—  
तत्र, भव्यं धर्म्यं इत्यादि शब्दत्रयविहीनत्वमेव हेतुत्वेन तत्र गोदावरीतीरेमात्रवृत्तिः) एवमदमे-  
भावात्, अन्यथा व्यतिरेकित्वेनाभावेन परिभाषाविषयत्वाभावाद् व्यभिचारस्य ज्ञातुं दर्शितत्वेन  
पौनःपुन्यपक्षे न ।

दिति, भ्रमेत्यादिकुल्यवचनादित्यर्थः । न च वचनस्येति, 'सन्दिग्धप्रामाण्यात् तद्वाक्याद् भीरोः सिहोपलब्धिं पत्ते जाता न वेति अनुमातृसामाजिकानां सन्देहरिषयो हेतुः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः' १ । 'अत्यतिबन्धात्' असम्भवात् ।

सङ्गनार्थं हि प्रत्येकतामयमुच्यते । तत्र भ्रमेत्यादिवाक्यात् प्रतिपाद्यपुल्लग्नित्वस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितिसिद्ध्यस्यमनुपाद्य पार्यन्तिकचमत्कारस्यान्यस्य सामाजिकनिष्ठस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितित्वोपपादनेऽपि प्रतिपाद्यपुल्लग्नबोधो व्यङ्ग्यतां विना न सम्भवतीति तदर्थं व्यङ्ग्यतायाः स्वीकार्यत्वेन पूर्वपक्षसमर्थनवर्तकं स्यात्, एवं 'गृहे' इत्यादीनां वेदाश्रितपदानां व्याख्यानमपि न सङ्गुह्या प्रतिभातीति सदृशस्योक्त्यापि अन्यथा व्याख्यायते । तथाहि—

अत्र पारमिषेतिपदात् प्रतिपाद्यपुल्लग्नस्य प्रथमम् 'अत्र भ्रमणमिष्टमाधनम्' इति पारमिषेतिपदम्, ततः श्रुतिवृत्तौ हेतुभूतं यत् स्वमरणं तत्कारणानुसन्धानेन तत्र सिद्ध्यमान-  
शनम्, ततः 'सिद्ध्यमानमिष्टमाधनम्' इति ज्ञानेन भ्रमणे द्वयोस्तदस्य नूनमर्थं माहवदुर्निवृत्तौ भविष्यति, तथा च निम्नतः आरभ्यो समाप्तम् इत्याहूयत्वमेतत्पदप्रति-  
पादिकाया 'भ्रुनोऽपि भयमनुभवन्ती ससिद्धेऽपि स्थाने भ्रमणोपदनेन सिद्ध्यन् सम्भाव्यमानं  
गुल्लामनिष्पन्नानली अवशिष्टेयमिति भ्रमपूर्वकं 'सर्वथा देतोऽयं मम भ्रमणमार्गः' इति व्यङ्ग्यार्थ-  
बोधः । तदनन्तरम् 'अहो गृहकुल्यया प्रताणानैपुण्य येनाम्यथा भ्रमणमाचिन्तयामोऽपि वारित'  
इति व्यङ्ग्यार्थं सामानिषैर्बोद्धव्यं । वाक्यस्य अन्तान्तं तु 'गृहे क्तायाः कृतवत्या प्रच्छन्नत्वेन गृहायमाणे  
सिद्ध्यमाने, 'श्रुतिवृत्त्या' श्रुतं कदाऽपि पुनरागमनं न सम्भावितमिति ज्ञापनेन, 'विहित'  
कुल्लामनिष्पन्नानली अवशिष्टेयमिति दृष्टमाधनत्वेन बोधितं भ्रमणम् अभ्रमणमनुवाचयति'  
अस्मिन् स्थाने पुनरागमनं न अनिष्टमनुवन्धित्वविशिष्टमाधनताकम् इत्यनुमानं तद्वामिषस्य  
अवयवीत्वम्, श्रुतं आगमने सति भ्रमणे अनिष्टमनुवन्धित्वज्ञानेन सतिवृत्त्या भ्रमणे भविष्यन्त-  
वन्धित्वविशिष्टमाधनत्वज्ञानोत्पत्ती वाचकाभावात् । भ्रमेति शब्दो प्राप्नोत्येवार्थं विहित-  
मित्यनेन सूचितः । एवञ्च एवदेशा न समानिष्टमनुवन्धित्वमाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणकः  
सिद्ध्यमाना ज्ञातव्या दित्याकारकोऽत्र प्रयोगः ।

अत्र साध्यहेत्वोक्त्यासिद्ध्यभावेन तत्पुण्यस्य तथाऽनुमानमेव न सम्भवतीति व्यङ्ग्यतावान्ति-  
मभिप्रायमाहूय अनुमितिविश्रान्तिमन्तदुपपादनपरो वक्तव्यो यद् यदित्यादि । यत्र यस्य भय-  
कारणज्ञानं तत्र तस्य भ्रमणमनिष्टमाधनमिति प्रयोगे निम्नान्तिद्वये भयकारणज्ञानेऽपि भीराणां  
शृङ्गण्या तत्र भ्रमणमनिष्टमाधनत्वाद् व्यभिचार इति भीरुभ्रमणमित्यत्र भीरुपदं पृथगागीकारादि-

१. 'भीरुषा तद्वाच्यं चामात्मन्यस्य गृहीतजनं तस्य शाब्दो चरन्निर्वाता न वेति सन्देहात् पक्षः सन्दिग्धासिद्धिरित्याद्यं च भीरुषा तत्तद्वाच्यमात्मनिर्वातत्वेन तन्मोपनिर्वाता न वेति च सामाजिकानां सन्देहात् पक्षे हेतुः सन्दिग्धासिद्धिरित्याद्यं च ।

तत्तद्व्यवस्थितवारकम् । तत्रैवंविधत्वञ्चे सामान्यव्याप्ते प्रसिद्धत्वाद् अदाहरणेन तामेव दर्शयति—  
 यद् यदिति । अत्र सिद्धज्ञानमात्रे मयकारणत्वज्ञानमौत्सर्गिकमित्यभिप्रायेण साध्यांशे भयकारणेति ।  
 तेन प्रकृतानुमितित्वेन मयकारणत्वस्यावदकत्वेन तादृशोदाहरणमप्रासङ्गिकमित्याशङ्काया नावसर ।  
 एवञ्च यद् यत् स्थान अवीरपुरुषीयानिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणक तत्तद् भय-  
 कारणाभावप्रकारकज्ञानविशेषमिति स्थिते व्याप्तितीरे व्यापकस्य मयकारणाभावप्रकारकज्ञान-  
 विशेष्यत्वस्य अभावेन व्यापकस्य अवीरपुरुषीयानिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनत्वप्रकारकसम्भावनाविषय-  
 भ्रमणकत्वस्य अभाव सिध्यति, व्यापकभावेन व्याप्याभावसिद्धे सर्वममृतत्वादित्यभिप्राय ।  
 तादृशव्यापकाभावस्य सिद्धिमेव दर्शयति—गोदावरीतीरे चेति । गोदावरीतीरेवासिद्धस्य  
 अत्रोपलब्धिरिति तदर्थ । यथाश्रुते तु गोदावरीतीरे यदि सिद्धोपलब्धिर्विशेष्य तदा एतत्स्थाने  
 भ्रमणे न बाधकमिति दोष्यम् । एतद्वैश्यापि गोदावरीतीरेत्याभिप्राये तु यथाभूतमेव सम्यक् ।  
व्यापकविरुद्धेति, भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्व व्यापकं तद्विरुद्धं मयकारणप्रकारकज्ञान-  
 विशेष्यत्वमेव, तस्य उपलब्धे सद्भूतस्थाने तज्ज्ञानादित्यर्थ । ईदृशव्यापकविरुद्ध एव व्यापका-  
 भावेन व्याप्याभावानुमाने व्यापकाभावत्वेन विवक्षित ।

एतन्निरस्यति—अत्रोच्यते इति । गुरोरित्यादे अनैकान्तिको हेतुरित्यन्तस्य इत्यन्य अयमभाव —  
 यादृश स्थान मयकारणवत्तया ज्ञात तत्र सञ्चरणे यदि गुरनिदेशास्मिन्तदा तदुल्लङ्घनादौ सादृशानिष्ट-  
 सम्भावना, कथञ्चित् पतिराणम्यापि सम्भवेन मिहादिभयकारणविशिष्टे भ्रमन न तदोद्देशा  
 अनिष्ठानुबन्धीति औत्सर्गिकज्ञानेन, मिहादिभयकारणवत्तया ज्ञाते यस्मिन् स्थाने भीरुपुरुषीया-  
 निष्ठाननुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपो हेतुरस्ति न तत्र मयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूप  
 साध्यमिति व्यभिचारेण निरक्त साध्य न हेतोर्व्यापकम्, तथाच व्यापकाभावाद् व्याप्याभाव  
 इति रीतेरानुमत्य छद्मपराइवमिति । ननु तादृशस्थाने सिद्धादभीतानां वीराणां मयकारणा-  
 भावप्रकारक यज्ञान तद्विशेष्यत्वरूपं साध्यमप्यस्तीत्यनो न व्यभिचार इति चेत् उत्तराह—भुन  
 इति । अस्याप्यभिप्राय, गीरपुरुषीयानिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपस्य हेतोर्गुहाङ्गत्वादी  
 सत्त्वेन तत्र वीरत्वेन सिद्धादभीतानां वस्तुवैधित्याच्च भुनोऽपि भीतानाम् अशौचविशाचा-  
 क्लान्तानां धार्मिकादीनां च मयकारणप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूपस्य निरक्तसाध्यविरुद्धधर्मस्य  
 सत्त्वेन उत्तरेनो साध्यविरुद्धव्याप्त्यत्वरूप विरुद्धत्वमिति । अथ तथाश्रुत्वं विरुद्धत्वं न  
 सङ्गच्छते, तथाहि उक्तेतोरधिकरणमात्रे एव कस्यचिन् मयकारणाभावप्रकारकज्ञान-  
 सम्भवेन तद्विशेष्यत्वस्य सत्र सत्त्वाद् व्यभिचार एव न सम्भवति का कथा विरोधस्येति चेत्  
 तदुभयमपहाय असिद्धिरूप दोषान्तरमाह—गोदावरीतीरे सिद्धमन्त्राव इति । तदुग्रन्यासायस्तु—  
 प्रतिपाद्यधार्मिकेण साधव् सद्भूतस्थाने सिद्धवत्तया ज्ञातत्वेन हेतुना अनिष्टसाधनभ्रमण-  
 कत्वमनुमाय ततो निर्वृत्तित्वम्, तस्य सिद्धवत्ताज्ञानं तु शाब्दबोध, शाब्दबोधे अप्रामाण्य-  
 शङ्का तु तज्जनकशब्दे आसोक्तत्वानिश्चयेन भवति, धार्म्यस्त्रीप्रसुप्ते यथसि तु आसोक्तत्वनिश्चायका-



तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादी  
न्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव लान  
कार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।  
व्यक्तिवादिना च (A)अधमपदसहायानामेयां व्यञ्जकत्वमुक्तम् ।

तयेति द्वौ उपवायकोपभुक्ता चन्दनच्यवनादिमत्वादित्यनुमाने व्यभिचार  
इत्यर्थः । न च चन्दनच्यवनादौ घैलक्षणादिप्रसङ्गात् न व्यभिचार इति वाच्यं ज्ञात्वा  
तदनुपस्थितम् । नन्वीदृशात् ततः कथमुपभागस्य व्यञ्जनाऽपीत्यत आह—व्यक्ति  
वादिना चेति व्यञ्जनावादिना चेत्यर्थः । अधमपदसहायानामिति द्वौल्लेख्ये  
नैवाधमत्वमित्यभिप्रायः । एतदपि द्वौल्लेख्येणकृतसङ्कतनायकाभिप्रायपैवान्तम् तद्वन्य  
नायकपक्षे तु द्वौल्लेख्येणमापेक्षत्वेनाप्यधमालिसम्भवात् न तन्महापतयत्ववधयम् ।

भावन सादृशबोधे अप्रामाण्यसादृश ओलमार्गिकी । तथाच ज्ञानधार्मिकाप्रामाण्यमन्वहन्  
धिवदमन्तापपक्षानवद वचने आसौल्लेखानिश्रयन प्रतिपादधार्मिकस्य मिहवत्तया ज्ञान  
मपानाण्यसादृशकलितमिति मङ्गलस्थानरूप कथं अप्रामाण्यज्ञानानाम्कन्वितेहेतुनिश्चय एवं  
भास्तीति कथं तस्य एतत् स्थानं मम भ्रमजानहन्वित्यनुमिते सम्भव इति । अधनाप्रति  
बन्धात् अर्थेन सह व्याप्यव्यापकभावस्वरूपमन्वधिरहादित्यर्थः । एतन् प्रवृत्तापदिकशब्द  
वापे वाक्य भासाकत्वनिश्चयोऽपेक्षित इति सूचितम् ।

अथ तथाऽपि अप्रामाण्यमन्वहकारणस्य तन्मात्रपक्षधरस्ति तस्य अप्रामाण्यनानानाम्कन्वित  
हेतुगन्तम् तत्तदनुमितिनिष्प्रत्ययहेति चत् एतदन्वयसमेव नि शब्दस्याद्यौ हेतोर्व्यभिचार-  
प्रदानमिति सुधीभिर्विभावनीयम् ।

(A) अधमतिः । एतन् द्वौल्लेख्येणसापेक्षतया यादृशमधमत्व तदपक्षया एवद्वैतापराधम  
अधनत्वस्य गरीयस्त्व परिस्फुटमिति उभयसाधारणाधप्रतिपादक मि शेषच्युता निष्पक्षया अधम-  
पदस्य प्राधान्येन सहायत्वमिति बोध्यम् । इदानीन्तनद्वौतीन्तुत्वेन प्राधान्यं तु प्रत्युक्त-  
मवस्तात् ( २९ पृष्ठे ) ।

न चात्र अधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् ? एवंविधादर्था-  
देवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशत इति व्यक्तिवादिनः  
पुनस्तद् अदृष्टयाम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयं

नाम पञ्चम उल्लास ॥ ५ ॥

नन्वेव मयाऽपि अधमस्तन्निहितप्रेरितत्वे सतीति हेतुविशेषणं देयमित्यत आह—  
न चेति, आरोप्यनिन्दयाऽव्ययमोक्तिस्तन्मयादिति भावः । तनु तथापि कथमेव-  
विधादर्थादुपभोग्यजनैत्यत आह—एवंविधादिति । 'उपपत्ति' अव्यभिचारादि ।  
'तददृष्टयामिति, व्यञ्जनया प्रतिपादने अव्यभिचारादेरनपेक्षणादिति भावः' ॥

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृते काव्यप्रकाशादर्श

गुणीभूतव्यङ्ग्यनिर्णयस्य पञ्चम प्रतिबिम्बः ।

